आचार्य बुद्धघोष-कृत

विशुद्धिमार्ग

दूसरा भाग

[ऋद्धिविध-निर्देश से अन्त तक]

अनुवादक

त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित

प्रकाशक

महाबोधि सभा

सारनाथ, वाराणसी

प्रथम संस्करण   बुद्धाब्द [illegible]   मूल्य

प्रकाशक—भिक्षु एम० संघरत्न, मन्त्री, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी (बनारस)
मुद्रक—ओम् प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस) ४९३९-१३

सम्मतियाँ

"विशुद्धि मार्ग" बौद्ध-धर्म-दर्शन का सारभूत ग्रन्थ है। ऐसे ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद होन आवश्यक था। सारभूत होते हुये भी सरल नहीं है। इसलिये इसके अनुवाद के लिये बड़े योग विद्वान् की आवश्यकता थी। त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित जी ही ऐसे काम को योग्यतापूर्वक क सकते थे। अनुवाद को देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई।

सारनाथ — राहुल सांकृत्यायन

१३–१०–५७

बौद्ध योगसाधनाका सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ 'विशुद्धिमार्ग'का हिन्दी रूपान्तर करके त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षितने इस विषयके अध्ययनके लिए हिन्दी पाठकोंका द्वार खोल दिया है। वर्तमान भारती भाषाओंमें इस ग्रन्थका अविकल अनुवाद एकमात्र यही है। विद्वान् अनुवादकने अनुवाद करने लङ्का और बर्माके पालिके विभिन्न टीका-ग्रन्थोंका आधार लिया है। इसके अतिरिक्त 'विशुद्धिमार्ग पर उपलब्ध टीका-ग्रन्थोंका आधार लेकर महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ भी दी हैं। भिक्षुजीने यत्र-त टिप्पणियोंमें स्वतन्त्र रूपसे भी आलोचना की है, जो विशेष अध्ययन करनेवालोंके लिए लाभप्र होगी। ग्रन्थको उपयोगी बनानेके लिए पादटिप्पणियोंमें पारिभाषिक शब्दोंका यथासम्भव अ भी दिया गया है। अनुवादके बीच-बीचमें कुछ महत्त्वपूर्ण स्थलोंपर मूल पालिपाठ भी दे दिये ग हैं, जिनसे पाठकोंको ग्रन्थका अभिप्राय समझनेमें सहायता मिलेगी और मूलग्रन्थके वातावरण उनका सम्बन्ध बना रहेगा।

यह ग्रन्थ त्रिपिटकके अध्ययनके लिए कुंजी है। पूरे अनुपिटकमें इसके जोड़का कोई दूसर ग्रन्थ नहीं है। स्थविरवादकी साधना और सिद्धान्त दोनोंका यह प्रतिनिधि ग्रन्थ है। शील, समा और प्रज्ञा ये भगवान् बुद्धके मूलभूत शिक्षात्रय हैं। उसीके अनुसार ग्रन्थकारने शील, समाधि औ प्रज्ञा इन तीन खण्डों एवं २३ परिच्छेदोंमें इस ग्रन्थका विभाग किया है। योगसाधना ही इ ग्रन्थका प्रधानतम विषय है। वस्तुतः इसके बिना बौद्ध योग-साधनाकी दुरूहताको समझना कठि है। इस ग्रन्थके विद्वान् अनुवादकने हिन्दी अनुवाद द्वारा साधक और अध्येता दोनोंक महान् उपकार किया है।

भिक्षुजीने अनुवादकी अपनी विस्तृत भूमिकामें अट्ठकथाचार्य बुद्धघोषके जीवनचरित्रके संबंध महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक आलोचना की है। ग्रन्थकारकी रचनाएँ तथा उनका महत्त्व दिखाते हु

'विशुद्धिमार्ग'का महत्व और उसके प्रतिपाद्य विषयोंका संक्षेप भी दे दिया है। इस ग्रन्थ-संक्षेपके पढ़नेके बाद अध्येताओंको ग्रन्थकी दुरूहता अवश्य ही कुछ कम होगी।

कहना नहीं है कि 'विशुद्धिमार्ग'के जैसे पारिभाषिक शब्दोंसे लदे, साधनाकी दृष्टिसे अत्यन्त दुरूह, दर्शनकी दृष्टिसे अत्यन्त गहन ग्रन्थका अनुवाद करके विद्वान् लेखकने प्रारम्भिक पाठकोंका ही नहीं, विद्वानोंका भी बड़ा उपकार किया है। निस्सन्देह इस अनुवादसे हिन्दीका गौरव बढ़ेगा। लेखकसे यह अनुरोध करना अनुचित न होगा कि 'कथावत्थु', 'पुग्गल पञ्ञत्ति', 'पट्ठान' आदि अभिधर्मके दुरूह ग्रन्थोंका भी अनुवाद करके हिन्दीकी गौरव-वृद्धि करें।

वाराणसी
८—१०—५७

दैनिक "आज"

.........आचार्य बुद्धघोषके विशुद्धि मार्गका भाग्योदय समझिये कि उसे धर्मरक्षित जी जैसे जागरूक एवं कर्मठ भिक्षुकी तपस्या प्राप्त हुई है। भिक्षुजीने पालि विशुद्धिमार्गको हिन्दीमें रूपान्तरित करके उसमें प्राण डाल दिया है।...

धर्मरक्षितजीका व्यापक शास्त्र-मन्थन अपनी देनमें स्थायी एवं कल्याणकारी सिद्ध होगा, ऐसी आशा है।......

वाराणसी
६–१०–५७

(डा०) सूर्यकान्त
अध्यक्ष, संस्कृत-पालि-विभाग
काशी विश्वविद्यालय

...इस पुस्तकका हिन्दीमें प्रकाशन होना बहुत अच्छा रहा। जो लोग हमारी प्राचीन संस्कृति और साहित्यका अध्ययन करेंगे, उनके लिए यह पुस्तक बहुत ही मूल्यवान् है।...

दिल्ली

"आजकल"

वस्तु-कथा

'विशुद्धि मार्ग' के दूसरे भाग को प्रकाशित होते देखकर मुझे प्रसन्नता का अनुभव हो
है। प्राचीन परम्परा के अनुसार पहले भाग में समाधि-निर्देश-पर्यन्त ग्यारह परिच्छेद दिए गरे
और शेष बारह परिच्छेद इसमें दिए गए हैं। मेरी इच्छा थी कि प्रज्ञाभूमि-निर्देश पर
विस्तृत व्याख्या इसके साथ ही दे दूँ, किन्तु ऐसा करने में ग्रन्थ की कलेवर-वृद्धि का भय
आया, अतः उसे इसमें नहीं दे सका।

मैंने ग्रन्थ की भाषा को भरसक सरल बनाने का प्रयत्न किया है और विषय को सम
के लिए पादटिप्पणियाँ भी दी हैं। अन्त में उपमा-सूची आदि भी पहले भाग की भाँति ही दे
हैं। इन सूचियों को तैयार करने में श्री शिव शर्मा से बड़ी सहायता मिली है।

सारनाथ
७ नवम्बर, कार्तिक पूर्णिमा,
बुद्धाब्द २५०१, सन् १९५७

भिक्षु धर्मरक्षित

विषय-सूची

दूसरा भाग

उन भगवान् अर्हत् सम्यक्-सम्बुद्ध को नमस्कार है

विशुद्धि मार्ग

दूसरा भाग

बारहवाँ परिच्छेद

ऋद्धिविध-निर्देश

अब, जिन लौकिक अभिज्ञाओं के अनुसार "यह समाधि-भावना अभिज्ञा के आनृशंस वाली है' कहा गया है, उन अभिज्ञाओं की प्राप्ति के लिये, चूँकि पृथ्वीकसिण आदि में प्राप्त चतुर्थ ध्यानवाले योगी को योग करना चाहिये, ऐसे उसे वह समाधि-भावना आनृशंस-प्राप्त और स्थिरतर होगी। वह आनृशंस-प्राप्त, स्थिरतर समाधि-भावनासे समन्नागत (= युक्त) सुखपूर्वक ही प्रज्ञा-भावना को पूर्ण कर लेता है; इसलिये पहले अभिज्ञा का वर्णन प्रारम्भ करेंगे।

भगवान् ने चतुर्थ ध्यानकी समाधिको प्राप्त हुए कुलपुत्रों के लिये समाधि-भावना के आनृशंस बतलाने और आगे-आगे उत्तम-उत्तम धर्मोपदेश करने के लिए—"वह ऐसे एकाग्रचित्त, परिशुद्ध, स्वच्छ, मलरहित, क्लेशरहित, मृदु हुए, कर्म करने के योग्य, स्थिरता-प्राप्त ऋद्धिविध के लिये चित्त को ले जाता है, झुकाता है, वह अनेक प्रकार के ऋद्धिविध का अनुभव करता है, एक भी होकर बहुत होता है।"[1] आदि प्रकार से (१) ऋद्धिविध, (२) दिव्यश्रोत्र, (३) चेतोपर्य ज्ञान, (४) पूर्वेनिवासानुस्मृति ज्ञान, (५) प्राणियों की च्युति-उत्पत्ति में ज्ञान—इस प्रकार पाँच लौकिक अभिज्ञायें कही गई हैं। वहाँ, 'एक भी होकर बहुत होता है' आदि ऋद्धि-विकुर्वण (= प्राकृतिक वर्ण को त्यागने की क्रिया) करने की इच्छावाले प्रारम्भिक योगी को अवदात कसिण तक आठों कसिणों में आठ-आठ समापत्तियों को उत्पन्न करके कसिण के अनुलोम से, कसिण के प्रतिलोम से, कसिण के अनुलोम और प्रतिलोम से, ध्यान के अनुलोम से, ध्यान के प्रतिलोम से, ध्यान के अनुलोम और प्रतिलोम से, ध्यान को लाँघने (= उत्क्रान्ति) से, कसिण को लाँघने से, ध्यान और कसिण को लाँघने से, अङ्ग के व्यवस्थापन से, आलम्बन के व्यवस्थापन से—इन चौदह आकारों से चित्त का भली प्रकार दमन करना चाहिये।

कौन-सा कसिण का अनुलोम है? ......कौन-सा आलम्बन का व्यवस्थापन है? यहाँ भिक्षु पृथ्वी-कसिण में ध्यान को प्राप्त होता है, उसके पश्चात् आप्-कसिण में—ऐसे क्रमशः आठों कसिणों में सौ बार भी, हजार बार भी, समापन्न होता है। यह कसिण का अनुलोम है। अवदात-कसिण से लेकर वैसे ही प्रतिलोम के क्रम से समापन्न होना कसिण का प्रतिलोम है। पृथ्वी-कसिण से लेकर अवदात कसिण तक, और अवदात कसिण से लेकर पृथ्वी कसिण तक—ऐसे अनुलोम-प्रतिलोम के अनुसार बार-बार समापन्न होना कसिण का अनुलोम और प्रतिलोम है।

---

१. दीघ नि० १, २।

प्रथम ध्यान से लेकर क्रमशः नैवसंज्ञानासंज्ञायतन तक बार-बार समापन्न होना **ध्यान का अनुलोम** है। नैवसंज्ञानासंज्ञायतन से लेकर प्रथम ध्यान तक बार-बार समापन्न होना **ध्यान का प्रतिलोम** है। प्रथम ध्यान से लेकर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन तक और नैवसंज्ञानासंज्ञायतन से लेकर प्रथम ध्यान तक—ऐसे अनुलोम-प्रतिलोम के अनुसार बार-बार समापन्न होना **ध्यान का अनुलोम और प्रतिलोम** है।

पृथ्वी कसिण में प्रथम ध्यान को समापन्न होकर, वहीं तृतीय को समापन्न होता है, उसके पश्चात् उसी को उघाड़ कर आकाशानन्त्यायतन को। उसके पश्चात् आकिंचन्यायतन को—ऐसे कसिण को न लाँघकर ध्यान को ही एक-एक का अन्तर डालते हुए लाँघना **ध्यान का लाँघना** है। इस प्रकार आप्-कसिण आदि को भी मिलाकर वर्णन करना चाहिये। पृथ्वी कसिण में प्रथम ध्यान को समापन्न होकर फिर उसी को तेज कसिण में, उसके पश्चात् नील कसिण में, तत्पश्चात् लोहित कसिण में—इस प्रकार से ध्यान को न लाँघकर कसिण को ही एक-एक के अन्तर से लाँघना **कसिण का लाँघना** है। पृथ्वी कसिण में प्रथम ध्यान को प्राप्त होकर उसके पश्चात् तेज कसिण में तृतीय को। नील कसिण को उघाड़ कर आकाशानन्त्यायतन को, लोहित कसिण से आकिंचन्यायतन को—इस प्रकार ध्यान और कसिण का लाँघना **ध्यान और कसिण का लाँघना** है।

पृथ्वी कसिण में प्रथम ध्यान को समापन्न होकर, वहीं दूसरे (ध्यानों) को भी समापन्न होना **अङ्ग का अतिक्रमण** है। पृथ्वी कसिण में प्रथम ध्यान को समापन्न होकर उसी को आप् कसिण में, उसी को अवदात कसिण में,—ऐसे सब कसिणों में एक ही ध्यान का समापन्न होना **आलम्बन का अतिक्रमण** है। पृथ्वी कसिण में प्रथम ध्यान को समापन्न होकर आप् कसिण में द्वितीय, तेज कसिण में तृतीय, वायु-कसिण में चतुर्थ, नील कसिण को उघाड़ कर आकाशानन्त्यायतन को, पीत कसिण से विज्ञानन्त्यायतन को, लोहित कसिण से आकिंचन्यायतन को, अवदात कसिण से नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को—ऐसे एक-एक का अन्तर डालने के रूप से अङ्गों और आलम्बनों का अतिक्रमण **अङ्ग और आलम्बन का अतिक्रमण** है।

प्रथम ध्यान पाँच अंगों वाला है—ऐसा विचार करके, द्वितीय तीन अंगों वाला, तृतीय दो अंगों वाला, वैसे ही चतुर्थ आकाशानन्त्यायतन......नैवसंज्ञानासंज्ञायतन—इस प्रकार ध्यानों के अङ्गमात्र का ही विचार करना **अङ्ग का व्यवस्थापन** है। वैसे ही यह पृथ्वी कसिण है—ऐसा विचार करके, यह आप् कसिण है......यह अवदात कसिण है—ऐसे आलम्बन मात्र का ही विचार करना **आलम्बन का व्यवस्थापन** है। अङ्ग और आलम्बन के व्यवस्थापन को भी कोई चाहते हैं, किन्तु अट्ठकथाओं में नहीं आने से बिल्कुल वह भावना का द्वार नहीं होता है।

इन चौदह आकारों से चित्त का भली प्रकार दमन न कर पहले भावना नहीं किया हुआ प्रारम्भिक कर्मस्थानिक (= योगाभ्यासी) ऋद्धि-विकुर्वण को पूर्ण करेगा—यह सम्भव नहीं। प्रारम्भिक योगी के लिए कसिण-परिकर्म भी कठिन है। सैकड़ों या हजारों में कोई एक ही (कर) सकता है। कसिण का परिकर्म किये हुए को (प्रतिभाग) निमित्त को उत्पन्न करना कठिन है। सैकड़ों या हजारों में कोई एक ही (उत्पन्न) कर सकता है। निमित्त के उत्पन्न होने पर उसे बढ़ाकर अर्पणा को पाना कठिन है। सैकड़ों या हजारों में कोई एक ही पा सकता है। अर्पणा-प्राप्त हुए को चौदह प्रकार से चित्त का भलीभाँति दमन करना कठिन है। सैकड़ों या हजारों में कोई एक ही कर सकता है। चौदह प्रकार से भलीभाँति दमन किये गये चित्तवाले को भी ऋद्धि-

विकुर्वण कठिन है। सैकड़ों या हजारों में कोई एक ही कर सकता है। विकुर्वण-प्राप्त हुए को भी शीघ्रतर ध्यान को समापन्न होना कठिन है। सैकड़ों या हजारों में कोई एक ही शीघ्रतर ध्यान को समापन्न होनेवाला होता है। **महामहेन्द्र स्थविर** के उतरने के आम्रस्थान पर[1] **महारोहण गुप्त** स्थविर की बीमारी में सेवा करने के लिये आये हुए तीस हजार ऋद्धिमानों में उपसम्पदा से आठ वर्ष की आयुवाले **रक्षित स्थविर** के समान। उनका अनुभाव पृथ्वी-कसिण निर्देश में कहा ही गया है। उनके उस अनुभाव को देखकर स्थविर ने कहा—"आवुस, यदि रक्षित न होता, तो हम सभी निन्दित होते—'नागराज को नहीं बचा सके'। इसलिये अपने लेकर विचरने योग्य हथियार के मल को साफ करके ही लेकर विचरना उचित है।" वे स्थविर के उपदेश पर चलकर तीस हजार भी भिक्षु शीघ्रतर ध्यान-समापन्न होनेवाले हुए।

शीघ्रतर ध्यान-समापन्न होनेवाला होने पर भी दूसरे की प्रतिष्ठा होना (=उपद्रव को शान्त करना) कठिन है। सैकड़ों या हजारों में कोई एक ही होता है। **गिरिभण्ड-वाहन-पूजा**[2] में मार द्वारा अंगार की वर्षा करने पर आकाश में पृथ्वी बनाकर अंगारवर्षा से बचानेवाले स्थविर के समान। किन्तु, बलवान् पूर्व योगवाले बुद्ध, प्रत्येक-बुद्ध, अग्रश्रावक आदि को बिना भी उक्त प्रकार की भावना के अनुक्रम से अर्हत्व की प्राप्ति से ही यह विकुर्वण और अन्य प्रतिसम्भिदा आदि नाना प्रकार के गुण प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये जैसे किसी प्रकार के आभूषण को बनाने की इच्छावाला सोनार आग को धमने आदि से सोने को मृदु, काम करने योग्य करके ही बनाता है और जैसे किसी प्रकार के वर्तन को बनाने की इच्छावाला कुम्हार मिट्टी को भली प्रकार गूँधकर मृदु करके बनाता है, ऐसे ही प्रारम्भिक (योगाभ्यासी) द्वारा इन चौदह आकारों से चित्त का भली प्रकार दमन करके छन्दशीर्ष, चित्तशीर्ष, वीर्यशीर्ष, मीमांसाशीर्ष के समापन्न होने और आवर्जन आदि वशीभाव के रूप से मृदु, कर्मण्य करके ऋद्धि-विध के लिये योग करना चाहिये। पूर्वहेतु से युक्त को कसिणों में चतुर्थ ध्यान मात्र में अभ्यस्त वशीवाले को भी करना उचित है। जैसे योग करना चाहिये, उस विधि को बतलाते हुए भगवान् ने—"वह ऐसे समाहित चित्त होने पर" आदि कहा।

यह पालि* के अनुसार ही विनिश्चय-कथा है—वहाँ, **सो**—वह चतुर्थ ध्यान को प्राप्त योगी। **एवं**—यह चतुर्थ ध्यान के क्रम का निदर्शन है। इस प्रथम ध्यान प्राप्त आदि के क्रम से चतुर्थ ध्यान को पाकर कहा गया है। **समाहिते**—इस चतुर्थ ध्यान को समाधि से समाहित (= एकाग्र) होने पर। **चित्ते**—रूपावचर-चित्त में।

परिसुद्धे—आदि में उपेक्षा से उत्पन्न स्मृति की पारिशुद्धि से परिशुद्ध होने पर। परिशुद्ध

---

१. वर्तमान् अनुराधपुर (लंका) से ८ मील दूर मिहिन्तले पर्वत पर वह स्थान है, जहाँ पर महामहेन्द्र स्थविर उतरे थे, उसे "अम्बॅतल" कहते हैं।

२. प्राचीन काल में लंका में चैत्यगिरि (=सैंगिरि = मिहिन्तले) से लेकर सम्पूर्ण द्वीप और समुद्र में योजन-योजन भर तक महती प्रदीप पूजा होती थी, उसे ही गिरिभण्ड-वाहन-पूजा कहा जाता था।

* पालि इस प्रकार है—"सो एवं समाहिते चित्ते परिसुद्धे परियोदाते अनङ्गणे विगतूपक्किलेसे मुदुभूते कम्मनिये ठिते आनेञ्जप्पत्ते इद्धिविधाय चित्तं अभिनीहरति अभिनिन्नामेति। सो अनेकविहितं इद्धिविधं पच्चनुभोति, एकोपि हुत्वा बहुधा होति।" दीघ नि० १, २।

होने से ही **परियोदाते**। प्रभास्वर कहा गया है। सुख आदि के प्रत्ययों के नाश होने से राग आदि अङ्गण से रहित होने से **अनङ्गणे**। अनङ्गण होने से ही **विगतूपक्किलेसे**। अङ्गण से ही चित्त उपक्लिष्ट होता है। भली प्रकार भावना किये जाने से **मुदुभूते**। वशीभाव को पाने पर कहा गया है। वश में रहनेवाला चित्त ही मृदु कहा जाता है और मृदु होने से ही **कम्मनिये**। काम में समर्थ, काम के योग्य कहा गया है। मृदु चित्त ही काम करने के योग्य होता है। अच्छी तरह तपाये गये सोने की भाँति। वह दोनों भी भली प्रकार भावना करने से ही। जैसे कहा गया है—

"भिक्षुओ! मैं एक भी ऐसे धर्म को नहीं देखता हूँ, जो इस प्रकार भावना और अभ्यास करने से मृदु तथा कर्म करने के योग्य होता है, जैसा कि भिक्षुओ! यह चित्त है।"[१]

इन परिशुद्ध आदि होने में रहने से **ठिते**। रहने से ही **आनेञ्जप्पत्ते**। अचल, प्रकम्पन रहित कहा गया है अथवा मृदु और कर्म करने के योग्य होने के कारण अपने वश में रहने से **ठिते**। श्रद्धा आदि से सम्हाला गया होने से **आनेञ्जप्पत्ते**। क्योंकि श्रद्धा आदि से सम्हाला हुआ ही चित्त अ-श्रद्धा से नहीं डिगता है। प्रयत्न से सम्हाला गया आलस्य से नहीं डिगता है। स्मृति से सम्हाला गया प्रमाद से नहीं डिगता है। समाधि से सम्हाला गया औद्धत्य (=चंचलता) से नहीं डिगता है। प्रज्ञा से सम्हाला गया अविद्या से नहीं डिगता है। अवभास (=प्रकाश=ज्ञानोभास) को प्राप्त, क्लेश के अन्धकार से नहीं डिगता है। इन छः बातों से सम्हाला गया (चित्त) अचलता को प्राप्त होता है।

ऐसे आठ अंगों से युक्त चित्त अभिज्ञा से साक्षात्कार करने योग्य धर्मों को अभिज्ञा से साक्षात्कार करने के लिये अभिनीहार (=उसकी ओर ले जाना) में समर्थ होता है।

दूसरी विधि—चतुर्थ ध्यान की समाधि से **समाहिते** (=एकाग्र होने पर)। नीवरणों के दूर होने से **परिसुद्धे**। वितर्क आदि के अतिक्रमण से **परियोदाते**। ध्यान की प्राप्ति के कारण उत्पन्न होने वाली बुरी इच्छाओं के वश में नहीं होने से **अनङ्गणे**। लोभ आदि चित्त के उपक्लेशों के दूर होने से **विगतूपक्किलेसे**। यह दोनों भी अनङ्गण [२]सूत्र, वत्थ[३] सूत्र के अनुसार जानना चाहिये। वशीभाव की प्राप्ति से **मुदुभूते**। ऋद्धिपाद की प्राप्ति से **कम्मनिये**। भावना की परिपूर्णता से प्रणीत-भाव की प्राप्ति से **ठिते आनेञ्जप्पत्ते**। जैसे अचलता प्राप्त होती है, ऐसे स्थित-अर्थ है। ऐसे भी आठ अंगों से युक्त अभिज्ञा से साक्षात्कार करने योग्य धर्मों को अभिज्ञा से साक्षात्कार करने के लिये पादक और पदस्थान (=सामीप्य हेतु) हुआ अभिनीहार में समर्थ होता है।

इद्धिविधाय चित्तं अभिनीहरति अभिनिन्नामेति—यहाँ, सिद्ध होने के अर्थ में ऋद्धि होती है। प्राप्ति और प्रतिलाभ—कहा गया है। जो प्राप्त और प्रतिलाभ होता है, वह सिद्ध होना कहा जाता है। जैसे कहा है—"यदि काम की चाह रखने वाले को उसकी सिद्धि हो जाती है।"[४]

---

१. अंगुत्तर नि० १, ९।

२. मज्झिम नि० १, १, ५।

३. मज्झिम नि० १, १, ७।

४. सुत्तनिपात ७६६।

वैसे ही—"नैष्क्रम्य की सिद्धि होती है, इसलिये ऋद्धि है।......विरोधी धर्मों को दूर करती है, इसलिये प्रातिहार्य है।......अर्हत् मार्ग की सिद्धि होती है, इसलिये ऋद्धि है।......विरोधी धर्मों को दूर करती है, इसलिये प्रातिहार्य है।"[1]

दूसरी विधि—पूर्ण होने के अर्थ में ऋद्धि होती है। उपाय-सम्पदा का यह नाम है। उपाय-सम्पदा ही अभिप्रेत फल की प्राप्ति से पूर्ण होती है। जैसे कहा है—"यह चित्त गृहपति शीलवान् और पुण्यात्मा है, यदि कामना करेगा कि भविष्यत् काल में चक्रवर्ती राजा होऊँ, तो शीलवान् के चित्त की कामना के विशुद्ध होने से फल देगा।[2]"

दूसरी विधि—इससे प्राणी बढ़ते हैं, इसलिये ऋद्धि है। बढ़ते हैं का अर्थ है ऋद्धि, वृद्धि को प्राप्त होते हैं। उन्नति करते हैं।······वह दस प्रकार की होती है। जैसे कहा है—"ऋद्धियाँ कहते हैं दस ऋद्धियों को।" फिर कहा गया है—"कौन सी दस ऋद्धियाँ हैं? (१) अधिष्ठान ऋद्धि (२) विकुर्वण ऋद्धि (३) मनोमय ऋद्धि (४) ज्ञान-विस्फार ऋद्धि (५) समाधि विस्फार ऋद्धि (६) आर्य ऋद्धि (७) कर्म विपाकज ऋद्धि (८) पुण्यवान् की ऋद्धि (९) विद्यामय ऋद्धि (१०) उन-उन स्थानों पर सम्यक् प्रयोग के कारण सिद्ध होने के अर्थ में ऋद्धि।[3]"

१. अधिष्ठान ऋद्धि

"एक स्वभाव से बहुत का आवर्जन करता है। सौ, हजार या लाख का आवर्जन कर ज्ञान से अधिष्ठान करता है—'मैं बहुत होऊँ'।" ऐसे बाँट कर दिखलाई गई ऋद्धि अधिष्ठान से सिद्ध होने से अधिष्ठान ऋद्धि है।

२. विकुर्वण ऋद्धि

"वह स्वाभाविक रूप को छोड़कर कुमार का रूप या नाग का रूप दिखलाता है···नाना प्रकार के भी सेना-व्यूह को दिखलाता है।" ऐसे आई हुई ऋद्धि स्वाभाविक रूप को त्यागने के अनुसार होने वाली विकुर्वण ऋद्धि है।

३. मनोमय ऋद्धि

"यहाँ भिक्षु इस शरीर से अन्य रूपी, मनोमय शरीर को बनाता है।" इस प्रकार से आई हुई ऋद्धि शरीर के भीतर अन्य ही मनोमय शरीर को बनाने के अनुसार होने वाली मनोमय ऋद्धि है।

४. ज्ञान विस्फार ऋद्धि

ज्ञान की उत्पत्ति से पहले, पीछे या उसी क्षण ज्ञान के अनुभाव से उत्पन्न हुआ विशेष, ज्ञान विस्फार ऋद्धि है। कहा गया है—"अनित्य की अनुपश्यना से नित्य-संज्ञा (=नित्य होने का ख्याल) का प्रहाण (=त्याग) सिद्ध होता है, इसलिये ज्ञान विस्फार ऋद्धि है।······अर्हत्-मार्ग से सब क्लेशों का प्रहाण सिद्ध होता है, इसलिये ज्ञान विस्फार ऋद्धि है। आयुष्मान्

१. पटिसम्भिदामग्ग १, ४९।
२. संयुत्त नि० ३९, १, १०।
३. पटिसम्भिदामग्ग २, २।

बक्कुल की ज्ञान विस्फार ऋद्धि है। आयुष्मान् सांकृत्य की ज्ञान विस्फार ऋद्धि है। आयुष्मान् भूतपाल की ज्ञान विस्फार ऋद्धि है।"

बक्कुल स्थविर की कथा

आयुष्मान् बक्कुल बचपन में ही उत्सव के दिन नदी में नहलाये जाते समय धाय के प्रमाद से स्रोत में गिर पड़े। उन्हें (एक) मत्स्य निगल कर वाराणसी (=बनारस) के घाट पर गया। वहाँ मछुआ ने उसे पकड़ कर (एक) सेठ की स्त्री को बेच दिया। वह मत्स्य के ऊपर स्नेह कर "मैं ही इसे पकाऊँगी" (सोच) उसे फाड़ती हुई मत्स्य के पेट में सोने की मूर्ति के समान बच्चे को देख "मुझे पुत्र मिला" (कहकर) बहुत प्रसन्न हुई। इस प्रकार मत्स्य के पेट में निरोग होना, अन्तिम जन्मवाले आयुष्मान् बक्कुल की—उसी आत्म-भाव (=शरीर) से प्राप्त करने के योग्य अर्हत्-मार्ग के ज्ञान के अनुभाव से उत्पन्न होने से—ज्ञान विस्फार ऋद्धि है। कथा को विस्तारपूर्वक कहना चाहिये।[1]

सांकृत्य स्थविर की कथा

सांकृत्य स्थविर के गर्भ में रहते ही माँ मर गई। उसे चिता पर रखकर शूलों से खोंच-खोंच कर जलाये जाने के समय बच्चा शूल की नोक से आँख के सिरे पर चोट पाकर शब्द किया। तत्पश्चात् उसे—"बच्चा जीता है" (सोच) उतार, पेट को फाड़कर बच्चे को (उसकी) दादी (=आर्या) को दिये। वह उसके द्वारा पाला गया, सयाना हो, प्रव्रजित हुआ और प्रतिसम्भिदा के साथ अर्हत्व को प्राप्त कर लिया। इस प्रकार कहे गये के अनुसार ही लकड़ी की चिता पर निरोग होना आयुष्मान् सांकृत्य की ज्ञान-विस्फार ऋद्धि है।

भूतपाल की कथा

भूतपाल बच्चे का पिता राजगृह में दरिद्र व्यक्ति था। वह लकड़ी के लिये गाड़ी के साथ जंगल गया। वहाँ लकड़ी लादकर सन्ध्या को नगर-द्वार के समीप आया। तब उसके बैल जुआठ (=युग) को फेंककर नगर में घुस गये। वह गाड़ी के पास बच्चे को बैठाकर बैलों के पीछे-पीछे जाते हुए नगर में ही घुसा। उसके नहीं निकलने पर ही द्वार बन्द हो गया। क्रूर यक्षों के घूमने के योग्य भी नगर के बाहर[2] तीन पहर की रात्रि में बच्चे का निरोग होना, कहे गये प्रकार से ही ज्ञान-विस्फार ऋद्धि है। कथा को विस्तारपूर्वक कहना चाहिये।[3]

५. समाधि-विस्फार ऋद्धि

समाधि से पहले, पीछे या उसी क्षण शमथ के अनुभाव से उत्पन्न हुआ विशेष, समाधि-विस्फार ऋद्धि है। कहा गया है—"प्रथम ध्यान से नीवरणों का प्रहाण सिद्ध होता है, इसलिये समाधि-विस्फार ऋद्धि है।......नैवसंज्ञानासंज्ञायतन-समापत्ति से आकिंचन्यायतन-संज्ञा का प्रहाण सिद्ध होता है, इसलिये समाधि-विस्फार ऋद्धि है। आयुष्मान् सारिपुत्र की समाधि-

१. विस्तार के लिये देखिये, मज्झिम नि० अट्ठ० ३, ३, ४।

२. राजगृह नगर यक्षों से घिरा हुआ है—टीका।

३. उक्त दोनों कथायें पटिसम्भिदामग्ग की अट्ठकथा में वर्णित हैं।

विस्फार ऋद्धि है। आयुष्मान् संजीव की'''आयुष्मान् स्थाणु कौडिन्य की'''उत्तरा उपासिका की''''''श्यामावती उपासिका की समाधि-विस्फार ऋद्धि है।"

आयुष्मान् सारिपुत्र की कथा

जब आयुष्मान् सारिपुत्र को महामौद्गल्यायन स्थविर के साथ कपोत-कन्दरा[1] में विहरते हुए चाँदनी रात्रि में नये बाल मुड़े, खुले मैदान में बैठे हुए, एक दुष्ट यक्ष ने सहायक यक्ष द्वारा मना करने पर भी शिर पर मारा, जिसका शब्द गर्जते हुए बादल के समान हुआ; तब स्थविर उसके मारने के समय समापत्ति को समापन्न हुए। उन्हें उसकी मार से कोई कष्ट नहीं हुआ। यह उस आयुष्मान् की समाधि-विस्फार ऋद्धि है। कथा उदान में आई हुई ही है।

संजीव स्थविर की कथा

निरोध समापन्न हुए संजीव स्थविर[2] को "मर गये" सोचकर ग्वाले आदि तृण, लकड़ी, गोबर एकत्र कर आग लगा दिये। स्थविर के चीवर में सूत मात्र भी नहीं जला। यह इनके अनुपूर्व समापत्ति के रूप से प्रवर्तित शमथ के अनुभाव से उत्पन्न होने से समाधि-विस्फार ऋद्धि है। कथा सूत्र में आयी हुई ही है।[3]

स्थाणु कौडिन्य स्थविर की कथा

स्थाणु कौडिन्य स्थविर स्वभाव से ही समापत्ति-बहुल थे। वे किसी एक जंगल में रात्रि में समापत्ति को प्राप्त हो बैठे। पाँच सौ चोर समान चुराकर जाते हुए, 'अब हम लोगों के पीछे-पीछे आने वाले नहीं हैं' (सोचकर) विश्राम करने की इच्छा से सामान को उतारते हुए 'यह स्थाणु (= कटे हुए वृक्ष की जड़) है' ऐसा जानते हुए स्थविर के ही ऊपर सब सामानों को रखे। उनके विश्राम करके जाते समय, प्रथम रखे गये सामान को लेते हुए,[4] काल के परिच्छेद के अनुसार स्थविर उठे। उन्होंने स्थविर के चलने के आकार को देखकर भयभीत हो चिल्लाया।[5] स्थविर ने—"उपासको, मत डरो, मैं भिक्षु हूँ" कहा। वे आकर प्रणाम कर स्थविर के ऊपर श्रद्धा करके प्रव्रजित हो प्रतिसम्भिदा के साथ अर्हत्व को पा लिये[6]। यहाँ पाँच सौ सामानों से दबे हुए स्थविर के कष्ट का न होना समाधि-विस्फार ऋद्धि है।

---

१. इस नाम के आरण्यक विहार में।

२. ककुसन्ध भगवान् के द्वितीय अग्रश्रावक का नाम संजीव था।...उनके चीवर का सूत मात्र भी नहीं जला, शरीर का क्या कहना? उसी से स्थविर संजीव नाम से पुकारे जाने लगे—टीका।

३. मज्झिम नि० १, ५, १०।

४. सबसे पहले रखा गया सामान नीचे होने से उठाते समय सबसे पीछे लिया गया।

५. अन्धेरी रात्रि में चोरों ने रूप को देखने से ही समझा कि यह कोई पिशाच उठ रहा है और भयभीत होकर चिल्लाया।

६. धम्मपदट्ठकथा ८, १०।

उत्तरा उपासिका की कथा

उत्तरा उपासिका पूर्णक सेठ की बेटी थी। उसकी ईर्ष्या प्रकृति-वाली सिरिमा नामक गणिका ने गर्म तेल की कड़ाही को शिर पर उडेल दिया। उत्तरा उस क्षण ही मैत्री को समापन्न हो गई। तेल कमल के पत्ते से पानी की बूँद के समान लुढ़कते हुए चला गया। यह इसकी समाधि विस्फार-ऋद्धि है। कथा को विस्तारपूर्वक कहना चाहिये।[१]

श्यामावती की कथा

श्यामावती राजा उदयन की पटरानी थी। मागन्दिय ब्राह्मण ने अपनी बेटी के लिये पटरानी के स्थान को चाहते हुए, उसकी वीणा में आशीविष सर्प को डालकर राजा से कहा—"महाराज, श्यामावती तुझे मारना चाहती हुई वीणा में आशीविष को लेकर ढोती है।" राजा ने उसे देखकर क्रोधित हो—"श्यामावती को मार डालूँगा" (कह) धनुष को चढ़ाकर विष-बुझे बाण को ताना। श्यामावती अपने परिवार के साथ राजा को मैत्री से स्पर्श की। राजा बाण को न तो फेंक और न उतार ही सकते हुए काँपते खड़ा हो गया। उसके पश्चात् देवी ने उसे कहा—

"क्या महाराज, थक रहे हो?"

"हाँ, थक रहा हूँ।"

"ऐसा है तो धनुष को उतारो।"

बाण राजा के पैर के पास ही गिरा। उसके पश्चात् देवी ने उसे—"महाराज, दोषरहित के प्रति दोष नहीं करना चाहिये।" ऐसे उपदेश दिया। इस प्रकार राजा को बाण के छोड़ने के लिये असमर्थ होना, श्यामावती उपासिका की समाधि विस्फार-ऋद्धि है।

६. आर्य-ऋद्धि

प्रतिकूल आदि में अ-प्रतिकूल-संज्ञी (= अप्रतिकूलता का ख्याल वाला) होकर विहार करना आदि आर्य-ऋद्धि है। जैसे कहा है—"कौन सी है आर्य-ऋद्धि? यहाँ भिक्षु यदि चाहता है कि 'मैं प्रतिकूल में अप्रतिकूल-संज्ञी होकर विहरूँ' तो अप्रतिकूल-संज्ञी होकर विहार करता है।……उपेक्षक होकर विहार करता है स्मृति और सम्प्रजन्य के साथ।" यह चित्त पर वशीभाव प्राप्त हुए आर्यों को ही होने से आर्य-ऋद्धि कही जाती है।

इससे युक्त क्षीणाश्रव भिक्षु प्रतिकूल अनिष्ट वस्तु में मैत्री करते या धातु से मनस्कार करते हुए अप्रतिकूल-संज्ञी होकर विहार करता है। अप्रतिकूल इष्ट वस्तु में अशुभ या अनित्य है—ऐसे मनस्कार करते हुए प्रतिकूल-संज्ञी विहरता है। वैसे ही प्रतिकूल और अप्रतिकूल में उसी को मैत्री करते या धातु-मनस्कार करते अप्रतिकूल-संज्ञी विहरता है। अप्रतिकूल और प्रतिकूल में उसी को अशुभ या अनित्य है—ऐसे मनस्कार करते हुए प्रतिकूल-संज्ञी होकर विहार करता है। "चक्षु से रूप को देखकर प्रसन्न नहीं होता है।" आदि प्रकार से कही गई छः अंगोंवाली उपेक्षा को प्रवर्तित करते हुए प्रतिकूल और अप्रतिकूल—उन दोनों को हटाकर उपेक्षक हो, स्मृति और सम्प्रजन्य के साथ विहार करता है।

प्रतिसम्भिदा में "कैसे प्रतिकूल में अप्रतिकूल-संज्ञी होकर विहार करता है? अनिष्ट वस्तु में मैत्री करता है या धातु से चित्त को ले जाकर देखता है।" आदि प्रकार से यहाँ अर्थ विभक्त है। इस प्रकार चित्त को वश में किये हुए आर्यों को ही होने से आर्य-ऋद्धि कही जाती है।

१. धम्मपदट्ठकथा १७, ३।

७. कर्म-विपाकज ऋद्धि

पक्षी आदि का आकाश में जाना आदि कर्म-विपाकज ऋद्धि है। जैसे कहा है—"कौन-सी है कर्म-विपाकज ऋद्धि ? सब पक्षियों का, सब देवताओं का, किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियों का और किन्हीं-किन्हीं विनिपातिकों का—यह कर्म-विपाकज ऋद्धि है।" यहाँ, सब पक्षियों का ध्यान या विपश्यना के बिना ही आकाश से जाना, वैसे सब देवताओं का, प्रथम कल्प के किन्हीं-किन्हीं मनुष्यों का, वैसे ही **प्रियङ्कर माता यक्षिणी,**[1] **उत्तर माता,**[2] **पुष्यमित्ता,**[3] **धर्मगुप्ता**—आदि किन्हीं-किन्हीं विनिपातिकों का आकाश से जाना कर्म-विपाकज ऋद्धि है।

८. पुण्यवान् की ऋद्धि

चक्रवर्ती आदि का आकाश से जाना आदि पुण्यवान् की ऋद्धि है। जैसे कहा है—"कौन सी पुण्यवान् की ऋद्धि है ? चक्रवर्ती राजा चतुरंगिणी सेना के साथ आकाश से जाता है, यहाँ तक कि सईस, ग्वाले भी (उसके) साथ रहते हैं। **ज्योतिक गृहपति** की पुण्यवान् की ऋद्धि है। **मेण्डक गृहपति** की पुण्यवान् की ऋद्धि है। पाँच महापुण्यवानों की पुण्यवान् की ऋद्धि है।" संक्षेप से परिपक्व होने पर पुण्य-सम्भार के सिद्ध होनेवाला विशेष, पुण्यवान् की ऋद्धि है।

ज्योतिक गृहपति[4] का पृथ्वी को छेदकर मणिमय प्रासाद उठा और चौसठ कल्पवृक्ष उठे—यह उसकी पुण्यवान् की ऋद्धि है। जटिलक को अस्सी हाथ का सोने का पर्वत उत्पन्न हुआ। घोषित[5] को सात स्थानों में मारने के लिये प्रयत्न करने पर भी निरोग होना पुण्यवान् की ऋद्धि है। मेण्डक[6] का एक हराई मात्र की जगह[7] में सात रत्नमय भेड़ों का प्रादुर्भाव होना पुण्यवान् की ऋद्धि है।

पाँच महापुण्यवान् हैं—**मेण्डक सेठ,** उसकी स्त्री **चन्द्रपद्मश्री,** पुत्र **धनञ्जय सेठ,** बहू **सुमना देवी,** दास **पूर्ण**। उनमें सेठ के सिर से नहाकर आकाश को ऊपर देखने के समय साढ़े बारह हजार (=१२५००) कोष्ठ (=बखार) आकाश से (गिरे) शाल धान से भर जाते हैं। स्त्री के एक नाली मात्र भी भात को लेकर सम्पूर्ण जम्बूद्वीप के रहनेवालों को परोसने पर भात नहीं समाप्त होता है। पुत्र के हजार की थैली को लेकर सम्पूर्ण जम्बूद्वीप के रहनेवालों को भी देते कार्षापण नहीं समाप्त होते हैं। बहू के एक तुम्बें (=चार सेर) धान को लेकर सम्पूर्ण जम्बूद्वीप के रहनेवालों को भी बाँटते हुए धान नहीं समाप्त होता है। दास के एक हल

१. संयुत्त नि० अट्ठ० १, १०, ६।

२. पेतवत्थु अट्ठ० २,१०।

३. द्रष्टव्य।

४. धम्मपदट्ठ० २६, ३३।

५. धम्मपदट्ठ० २, १।

६. धम्मपदट्ठ० १८, १०।

७. सिंहल सन्नय में "एक करीष के बराबर प्रदेश में" तथा धम्मपदट्ठकथा में "आठ करीष के बराबर स्थान में" लिखा है, किन्तु विशुद्धिमार्ग की मूल पालि और टीका में उक्त पाठ ही आया हुआ है।

से जोतते हुए इधर से सात और उधर से सात—चौदह हराई (=मार्ग) होती हैं। यह उनकी पुण्यवान् की ऋद्धि है।[१]

९. विद्यामय ऋद्धि

विद्याधर आदि का आकाश से जाना आदि विद्यामय ऋद्धि है। जैसे कहा है—"कौन सी है विद्यामय ऋद्धि ? विद्याधर मंत्र का पाठ करके आकाश में जाते हैं, आकाश = अन्तरिक्ष में हाथ भी दिखलाते हैं...नाना प्रकार के सेना-व्यूह को भी दिखलाते हैं।"

१०. सिद्ध होने के अर्थ में ऋद्धि

उस-उस (काम) में सम्यक् प्रयोग से उस-उस काम का सिद्ध होना, वहाँ-वहाँ सम्यक् प्रयोग के कारण सिद्ध होने के अर्थ में ऋद्धि है। जैसे कहा है—"नैष्क्रम्य से कामच्छन्द (=भोग विलास की इच्छा) का प्रहाण सिद्ध होता है, इसलिये वहाँ, वहाँ सम्यक् प्रयोग के कारण सिद्ध होने के अर्थ में ऋद्धि है......अर्हत् मार्ग से सब क्लेशों का प्रहाण सिद्ध होता है, इसलिये वहाँ-वहाँ सम्यक् प्रयोग से सिद्ध होने के अर्थ में ऋद्धि है।" यहाँ, प्रतिपत्ति कहे जानेवाले सम्यक् प्रयोग के ही प्रकाशित करने के अनुसार पहली पालि के समान ही पालि आई है। अट्ठकथा में—"शकट-व्यूह आदि बनाने के अनुसार जो कुछ शिल्प-कर्म (=गणित, गन्धर्व आदि) जो कुछ वैद्य-कर्म, तीनों वेदों को पढ़ना, तीनों पिटकों को पढ़ना, अन्ततोगत्वा जोतने-बोने आदि से लेकर उस-उस कार्य को करके उत्पन्न विशेषता, वहाँ-वहाँ सम्यक प्रयोग से सिद्ध होने के अर्थ में ऋद्धि है।" ऐसा आया हुआ है।

इस प्रकार इन दस ऋद्धियों में "इद्धिविधाय" इस पद में अधिष्ठान ऋद्धि ही आई हुई है। इस अर्थ में विकुर्वण ऋद्धियाँ भी होनी चाहिये ही।

इद्धिविधाय—ऋद्धि के भाग के लिये या ऋद्धि के विभाजन के लिये। **चित्तं अभिनीहरति अभिनिन्नामेति**—वह भिक्षु उक्त प्रकार से उस चित्त के अभिज्ञा के पादक होने पर ऋद्धिविध की प्राप्ति के लिये परिकर्म के चित्त को ले जाता है। कसिण के आलम्बन से हटा करके ऋद्धिविध की ओर भेजता है। **अभिनिन्नामेति**—प्राप्त करनेवाली ऋद्धि की ओर झुकाता है, ऋद्धि की ओर नमाता है।

सो—वह ऐसा चित्त का अभिनीहार किया हुआ भिक्षु। **अनेकविहितं**—अनेक-विध, नाना प्रकार के। **इद्धिविधं**—ऋद्धि के भाग को। **पच्चनुभोति**—अनुभव करता है। स्पर्श करता है, साक्षात् करता है, प्राप्त करता है—अर्थ है।

अब इसके अनेक प्रकार के होने को दिखलाते हुए—"एक भी होकर" आदि कहा है। वहाँ, **एकोपि हुत्वा**—ऋद्धि करने से पहले प्रकृति से एक भी होकर। **बहुधा होति**—बहुत से (लोगों) के पास चंक्रमण करने, पाठ करने या प्रश्न पूछने की इच्छावाला होकर सौ भी, हजार भी होता है। कैसे यह ऐसा होता है ? ऋद्धि की चार भूमि, चार पाद, आठ पद और सोलह मूल को पूर्ण करके ज्ञान से अधिष्ठान करते हुए।

चार भूमि

उनमें **चार भूमि**—चार ध्यानों को जानना चाहिये। धर्म सेनापति ने कहा है—"ऋद्धि

१. देखिये, विनयपिटक का महावग्ग।

की कौन सी चार भूमि हैं ? विवेक से उत्पन्न हुई भूमि प्रथम ध्यान, प्रीति-सुख की भूमि द्वितीय ध्यान, उपेक्षा-सुख की भूमि तृतीय ध्यान, अ-दुःख-अ-सुख की भूमि चतुर्थ ध्यान है। ऋद्धि की ये चार भूमि ऋद्धि के लाभ, ऋद्धि की प्राप्ति, ऋद्धि के विकुर्वण, ऋद्धि के नाना आनृशंस के उत्पन्न करने, ऋद्धि के वशीभाव, ऋद्धि की विशारदता के लिये होती हैं।" यहाँ पहले के तीन ध्यान, चूँकि प्रीति और सुख के फैलने से सुख-संज्ञा और लघु-संज्ञा में पड़कर लघु, मृदु, कर्मण्य काय वाला होकर ऋद्धि को पाता है, इसलिये इस पर्याय से ऋद्धि को लाभ कराने से सम्भार की भूमि हैं—ऐसा जानना चाहिये। चौथा, ऋद्धि के लाभ के लिये प्राकृत भूमि ही है।

चार पाद

चार पाद—चार ऋद्धिपादों को जानना चाहिये। कहा गया है—"ऋद्धि के कौन से चार पाद हैं ? यहाँ भिक्षु छन्द-समाधि-प्रधान-संस्कार से युक्त ऋद्धिपाद की भावना करता है। वीर्य···चित्त···मीमांसा-समाधि-प्रधान-संस्कार से युक्त ऋद्धिपाद की भावना करता है। ऋद्धि के ये चार पाद ऋद्धि के लाभ···ऋद्धि की विशारदता के लिये होते हैं।"

और यहाँ, छन्द के हेतुवाली या अधिक छन्दवाली समाधि **छन्द समाधि** है। करने की इच्छावाले छन्द को अधिपति (=प्रधान) बनाकर प्राप्त की हुई समाधि का यह नाम है। प्रधान (=प्रयत्न) हुए संस्कार **प्रधान संस्कार** हैं। चार कामों को सिद्ध करनेवाले सम्यक् प्रधान-वीर्य (प्रयत्न) का यह नाम है। युक्त (=समन्नागत)—छन्द-समाधि और प्रधान-संस्कारों से युक्त।

ऋद्धिपाद—पूर्ण होने के पर्याय से, सिद्ध होने के अर्थ में या इससे प्राणी उन्नति करते हैं, ऋद्धि, वृद्धि को प्राप्त होते हैं, ऊपर उठते हैं—इस पर्याय से ऋद्धि नाम से पुकारी जानेवाली अभिज्ञा के चित्त से युक्त छन्द-समाधि-प्रधान-संस्कारों के अधिष्ठान के अर्थ में पाद हुई, शेष चित्त-चैतसिक राशि—यह अर्थ है। कहा गया है—"ऋद्धिपाद—वैसे हुए का वेदना-स्कन्ध···विज्ञान-स्कन्ध।"

अथवा, इससे चलाया जाता है, इसलिये पाद है। पाया जाता है—यह अर्थ है। ऋद्धि का पाद **ऋद्धिपाद** है। छन्द आदि का यह नाम है। जैसे कहा है—"भिक्षुओ, यदि भिक्षु छन्द के सहारे समाधि को प्राप्त करता है, चित्त की एकाग्रता को पाता है—यह छन्द-समाधि कही जाती है। वह नहीं उत्पन्न हुए बुरे···प्रयत्न करता है। ये प्रधान-संस्कार कहे जाते हैं। इस प्रकार यह छन्द, यह छन्द-समाधि और ये प्रधान-संस्कार—यह कहा जाता है भिक्षुओ, छन्द-समाधि-प्रधान-संस्कार से युक्त ऋद्धिपाद है।" ऐसे शेष पादों में भी अर्थ जानना चाहिये।

आठ पद

आठ पद—छन्द आदि आठ जानने चाहिये। कहा गया है—"ऋद्धि के कौन से आठ पद हैं ? यदि भिक्षु छन्द के सहारे समाधि को प्राप्त करता है, चित्त की एकाग्रता को पाता है, छन्द-समाधि नहीं होती है, समाधि-छन्द नहीं होता है, तब दूसरा ही छन्द होता है, दूसरी ही समाधि। यदि भिक्षु वीर्य···चित्त···मीमांसा के सहारे समाधि को प्राप्त करता है, चित्त की एकाग्रता को पाता है, मीमांसा-समाधि नहीं होती है, समाधि-मीमांसा नहीं होती है, तो दूसरी ही मीमांसा होती है, दूसरी ही समाधि। ऋद्धि के ये आठ पद ऋद्धि के लाभ···ऋद्धि की विशारदता के लिये हैं।" यहाँ, ऋद्धि को उत्पन्न करने की इच्छावाला छन्द-समाधि से एक में लगा

हुआ ही ऋद्धि के लाभ के लिये समर्थ होता है। वैसे ही वीर्य आदि। इसलिये ये आठ पद कहे गये हैं—ऐसा जानना चाहिये।

सोलह मूल

सोलह मूल—सोलह प्रकार से चित्त का प्रकम्पित न होना जानना चाहिये। कहा गया है—"ऋद्धि के कितने मूल हैं? सोलह मूल हैं। (१) नहीं झुका हुआ चित्त आलस्य में प्रकम्पित नहीं होता है, इसलिए प्रकम्पित नहीं होनेवाला है। (२) ऊपर नहीं उठा हुआ चित्त औद्धत्य (= चंचलता) में प्रकम्पित नहीं होता है, इसलिये प्रकम्पित नहीं होनेवाला है। (३) नहीं नमा हुआ चित्त राग में प्रकम्पित नहीं होता है, इसलिये प्रकम्पित नहीं होनेवाला है। (४) दोष रहित चित्त व्यापाद में प्रकम्पित नहीं होता है, इसलिये प्रकम्पित नहीं होनेवाला है। (५) (दृष्टि) से अ-निश्रित[1] चित्त दृष्टि में प्रकम्पित नहीं होता है, इसलिये प्रकम्पित नहीं होनेवाला है। (६) अ-प्रतिबद्ध (= छन्द, राग आदि से नहीं बँधा हुआ) चित्त छन्द-राग में प्रकम्पित नहीं होता है, इसलिये प्रकम्पित नहीं होनेवाला है। (७) (पाँच प्रकार की मुक्तियों से) विप्रयुक्त चित्त कामराग में प्रकम्पित नहीं होता है, इसलिये प्रकम्पित नहीं होनेवाला है। (८) (क्लेशों से) अलग हुआ चित्त क्लेश में प्रकम्पित नहीं होता है, इसलिये प्रकम्पित होने वाला नहीं है। (९) (क्लेशों की) सीमा से अलग हुआ चित्त क्लेश की सीमा में प्रकम्पित नहीं होता है, इसलिये प्रकम्पित होनेवाला नहीं है। (१०) एक आलम्बन में लगा हुआ चित्त नाना प्रकार के क्लेशों में प्रकम्पित नहीं होता है, इसलिये प्रकम्पित नहीं होनेवाला है। (११) श्रद्धा से भली प्रकार पकड़ा गया चित्त अ-श्रद्धा में प्रकम्पित नहीं होता है, इसलिये प्रकम्पित नहीं होने वाला है। (१२) वीर्य (= प्रयत्न) से भली प्रकार पकड़ा गया चित्त आलस्य में प्रकम्पित नहीं होता है, इसलिये प्रकम्पित नहीं होनेवाला है। (१३) स्मृति से भली प्रकार पकड़ा गया चित्त प्रमाद में प्रकम्पित नहीं होता है, इसलिये प्रकम्पित नहीं होनेवाला है। (१४) समाधि से भली प्रकार पकड़ा गया चित्त औद्धत्य (= चंचलता) में प्रकम्पित नहीं होता है, इसलिये प्रकम्पित नहीं होनेवाला है। (१५) प्रज्ञा से भली प्रकार पकड़ा गया चित्त अविद्या में प्रकम्पित नहीं होता है, इसलिये प्रकम्पित नहीं होनेवाला है। (१६) अवभास (= प्रकाश = ज्ञानोभास) प्राप्त चित्त अविद्या के अन्धकार में प्रकम्पित नहीं होता है, इसलिये प्रकम्पित नहीं होनेवाला है। ऋद्धि के ये सोलह मूल ऋद्धि के लाभ······ऋद्धि की विशारदता के लिये होते हैं।"

यद्यपि यह अर्थ "ऐसे चित्त के एकाग्र होने पर" आदि से भी सिद्ध ही है, किन्तु प्रथम ध्यान आदि का, ऋद्धि की भूमि, (ऋद्धि का) पाद, पद, मूल होने को दिखलाने के लिये पुनः कहा गया है। पहला, सूत्रों में आया हुआ ढंग है और यह प्रतिसम्भिदा में। इस प्रकार दोनों स्थानों में अ-संमोह के लिये भी फिर कहा गया है।

ज्ञान से अधिष्ठान करना

ज्ञान से अधिष्ठान करते हुए—वह (योगी) इन ऋद्धि की भूमि, पाद, पद, मूल हुये धर्मों को पूर्ण कर अभिज्ञा के पादक ध्यान को प्राप्त हो उठकर, यदि सौ चाहता है तो "सौ होऊँ, सौ होऊँ" ऐसा परिकर्म करके फिर अभिज्ञा के पादक ध्यान को प्राप्त हो उठकर अधिष्ठान

१. 'मैं', 'मेरा' आदि के निश्रय से।

करता है। अधिष्ठान के चित्त के साथ ही सौ होता है। हजार आदि में भी इसी प्रकार। यदि ऐसा नहीं सिद्ध होता है, तो फिर परिकर्म करके दूसरी बार भी (ध्यान) प्राप्त हो उठकर अधिष्ठान करना चाहिये। संयुत्त (निकाय) की अट्ठकथा में—एक बार, दो बार प्राप्त होना उचित कहा गया है।

वहाँ, पादक-ध्यान[1] का चित्त निमित्त[2] के आलम्बन वाला होता है, परिकर्म-चित्त सौ या हजार के आलम्बन वाले और वे वर्ण के अनुसार होते हैं, प्रज्ञप्ति के अनुसार नहीं। अधिष्ठान चित्त भी वैसे ही सौ या हजार के आलम्बन वाला होता है। वह पहले कहे गये अर्पणा-चित्त के समान गोत्रभू के अनन्तर एक ही रूपावचर चतुर्थ ध्यान वाला (चित्त) उत्पन्न होता है।

जो कि प्रतिसम्भिदा में कहा गया है—"स्वभाव से एक बहुत का आवर्जन करता है, सौ, हजार या लाख का आवर्जन करके ज्ञान से अधिष्ठान करता है कि "बहुत होऊँ" तो बहुत होता है, जैसे आयुष्मान् चूलपन्थक।" वहाँ भी 'आवर्जन करता है' यह परिकर्म के अनुसार ही कहा गया है। आवर्जन करके ज्ञान से अधिष्ठान करता है—यह अभिज्ञा-ज्ञान के अनुसार कहा गया है। इसलिये बहुत का आवर्जन करता है, तत्पश्चात् उन परिकर्म-चित्तों के अन्त में भी समापन्न होता है। समापत्ति से उठकर फिर 'बहुत होऊँ' ऐसा आवर्जन कर उसके बाद होने वाले तीन या चार पूर्वभाग वाले चित्तों के पश्चात् उत्पन्न हुए निष्पादन के अनुसार 'अधिष्ठान' —नामवाले एक ही अभिज्ञा-ज्ञान से अधिष्ठान करता है—इस प्रकार यहाँ अर्थ जानना चाहिये।

किन्तु, जो कहा गया है—"जैसे आयुष्मान् चूलपन्थक।" वह बहुत होने के साक्षी को दिखलाने के लिये कहा गया है। उसे कथा से प्रकाशित करना चाहिये—

आयुष्मान् चूलपन्थक की कथा

वे दोनों भाई पन्थ (=मार्ग) में उत्पन्न होने से "पन्थक" कहलाये। उनमें ज्येष्ठ महापन्थ थे। वह प्रव्रजित होकर प्रतिसम्भिदाओं के साथ अर्हत्व पा लिये। अर्हत् होकर चूलपन्थक को प्रव्रजित करके—

"पदुमं यथा कोकनदं सुगन्धं,
पातो सिया फुल्लमवीत गन्धं।
अंगीरसं पस्स विरोचमानं,
तपन्त-मादिच्चमिवन्तलिक्खे ॥"[3]

[जैसे कोकनद नामक (रक्त) कमल प्रातः पुष्पित हुआ अत्यन्त सुगन्धित होता है, (ऐसे ही शरीर और गुण की गन्ध से) सुगन्धित, आकाश में चमकते हुए सूर्य के समान सुशोभित अङ्गीरस[4] (=भगवान् बुद्ध) को देखो।]

---

१. अभिज्ञा का पाद हुआ कसिण आदि आलम्बन वाला चतुर्थ ध्यान।

२. प्रतिभाग निमित्त—सिंहल सन्नय।

३. संयुत्त नि० ३, २, २।

४. अंगों से निकलती हुई रश्मियों के होने से भगवान् अङ्गीरस कहे जाते हैं, किन्तु सिंहल की पुरानी सन्नय (=व्याख्या) में लिखा है—"रस" मधुरार्थ है, भगवान् के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के कोमल होने से वे अङ्गीरस कहे जाते हैं।

—इस गाथा को दिया। वह उसे चार महीने में याद नहीं कर सके। तब उन्हें स्थविर ने 'तू शासन (=बुद्धधर्म) में अयोग्य हो' (कह कर) विहार से निकाल दिया।

उस समय स्थविर भोजन-प्रबन्धक[1] (=भत्तुद्देसक) थे। जीवक स्थविर के पास आकर "भन्ते, कल भगवान् के साथ पाँच सौ भिक्षुओं को लेकर हमारे घर में भिक्षा ग्रहण कीजिये।" कहा। स्थविर ने भी "चूलपन्थक को छोड़कर शेष के लिए स्वीकार करता हूँ।" (कह कर) स्वीकार किया। चूलपन्थक द्वार-कोष्ठक (=ड्योढ़ी) पर खड़ा होकर रो रहे थे। भगवान् ने दिव्यचक्षु से देख, उनके पास जाकर "क्यों रो रहे हो?" कहा। उन्होंने उस समाचार को कहा।

भगवान् ने—"पाठ नहीं कर सकनेवाला मेरे शासन (=धर्म) में अयोग्य नहीं होता है, मत शोक करो भिक्षु!" (कह कर) उन्हें बाँह से पकड़ कर विहार में प्रवेश कर ऋद्धि से पकड़े के टुकड़े को बनाकर दिया (और कहा—) "अच्छा भिक्षु, इसे (हाथ से) मलते हुए 'धूल दूर हो जाय, धूल दूर हो जाय' (=रजो हरणं, रजो हरणं) ऐसे बार बार पाठ करो।" उनके वैसे करते हुए, वह काले रंग का हो गया। वे "कपड़ा परिशुद्ध है, इसमें दोष नहीं है, किन्तु यह शरीर का दोष है।" ऐसा विचार कर पञ्चस्कन्ध में ज्ञान को उतार कर विपश्यना को बढ़ा, अनुलोम से (= सीधे तौर पर) गोत्रभू के पास तक ले गये। तब उन्हें भगवान् ने ज्ञानो-भास की गाथा कही—

रागो रजो न च पन रेणु वुच्चति,
रागस्सेतं अधिवचनं रजो'ति।
एतं रजं विप्पजहित्व पण्डिता,
विहरन्ति ते विगतरजस्स सासने॥
दोसो रजो न च पन रेणु वुच्चति,
दोसस्सेतं अधिवचनं रजो'ति।
एतं रजं विप्पजहित्व पण्डिता,
विहरन्ति ते विगतरजस्स सासने॥
मोहो रजो न च पन रेणु वुच्चति,
मोहस्सेतं अधिवचनं रजो'ति।
एतं रजं विप्पजहित्व पण्डिता,
विरहन्ति ते विगतरजस्स सासने॥

[राग ही धूल है, रेणु (धूल) नहीं कही जाती है, 'धूल' यह राग का ही नाम है। इस धूल को त्यागकर, धूल-रहित (= बुद्ध) के शासन में वे पण्डित होकर विहरते हैं।

द्वेष ही धूल है, रेणु (धूल) नहीं कही जाती है, 'धूल' यह द्वेष का ही नाम है। इस धूल को त्यागकर, धूल-रहित (= बुद्ध) के शासन में वे पण्डित होकर विहरते हैं।

मोह ही धूल है, रेणु (धूल) नहीं कही जाती है, 'धूल' यह मोह का ही नाम है। इस धूल को त्यागकर, धूल-रहित (= बुद्ध) के शासन में वे पण्डित होकर विहरते हैं।]

---

१. दायकों द्वारा दिये गये सांघिक भोजन की आराधना को स्वीकार करनेवाले को भोजन-प्रबन्धक कहते हैं।

—उन्हें गाथा के अन्त में चार प्रतिसम्भिदा और छः अभिज्ञाओं के साथ नव लोकोत्तर[1] धर्म हाथ में आ गये।

शास्ता दूसरे दिन जीवक के घर भिक्षु-संघ के साथ गये। तब दक्षिणोदक[2] के अन्त में यवागु के दिये जाने पर पात्र को ढँके। जीवक ने "भन्ते, क्या है?" पूछा। "विहार में एक भिक्षु है।" वह आदमी भेजा—"जाओ, आर्य को लेकर शीघ्र आओ।"

भगवान् को विहार से निकलने पर—

> सहस्सक्खत्तुं अत्तानं, निम्मिनित्वान पन्थको।
> निसीदि अम्बवने रम्मे, याव कालप्पवेदना॥

[पन्थक अपने को हजार प्रकार का बनाकर, समय के कहे जाने तक रमणीय आम के बगीचे में बैठे रहे।]

वह आदमी जाकर काषाय-वस्त्रों से एक ज्योति हुए आराम (= विहार) को देखकर आ "भन्ते, आराम भिक्षुओं से भरा हुआ है, मैं नहीं जानता हूँ कि वे आर्य कौन हैं?" कहा। तत्पश्चात् उसे भगवान् ने कहा—"जाओ, जिसे पहले देखना, उसके चीवर के कोने को पकड़कर—'शास्ता आपको बुला रहे हैं।' कहकर लाओ।" वह जाकर स्थविर के ही चीवर के कोने को पकड़ा। उसी समय सब बनाये गये अन्तर्धान हो गये। स्थविर—"तू आओ" (कह कर) उसे भेज, मुख धोना आदि शरीर-कृत्य करके पहले ही जाकर अपने योग्य आसन पर बैठ गये। इसीके प्रति कहा गया है—"जैसे आयुष्मान् चूल पन्थक।"

वहाँ जो बहुत बनाये गये थे, वे नियम नहीं करके बनाने से ऋद्धिमान के समान ही होते हैं। खड़ा होने, बैठने आदि में या बोलने, चुप होने आदि में जिसे-जिसे ऋद्धिमान करता है, उसे उसी समय करते हैं। यदि नाना रूप का बनाना चाहता है—किन्हीं को पहली अवस्था का, किन्हीं को बिचली अवस्था का, किन्हीं को पिछली अवस्था का, वैसे ही, लम्बे बाल वालों को, आधे मुड़े हुए (शिर) वालों को, (सम्पूर्ण) मुड़े हुए (शिर) वालों को, मिश्रित बाल वालों को, आधा लाल चीवर वालों को, पीला चीवर वालों को, शब्दार्थ कहने वालों को, धर्म-कथा कहने वालों को, स्वर से (सूत्र आदि का) पाठ करने वालों को, प्रश्न पूछने वालों को, प्रश्नोत्तर कहने वालों को, रँगने, पकाने, चीवर सीने, धोने आदि का काम करने वालों को, अथवा दूसरे भी नाना प्रकार के (रूपों को) बनाना चाहता है, तो उसे पादक-ध्यान से उठकर—"इतने भिक्षु पहली अवस्था वाले हों" आदि प्रकार से परिकर्म करके, फिर समापन्न होकर (उससे) उठ अधिष्ठान करना चाहिये। अधिष्ठान-चित्त के साथ चाहे-चाहे हुए प्रकार के ही होते हैं। इसी प्रकार "बहुत-भी होकर एक होता है" आदि में भी जानना चाहिये।

किन्तु यह विशेष है—इस भिक्षु को ऐसे बहुत होने को बनाकर फिर एक ही होकर चंक्रमण करूँगा, स्वाध्याय (=पाठ) करूँगा, प्रश्न पूछूँगा" ऐसा सोचकर या यह विहार थोड़े से भिक्षु वाला है, यदि कोई-कोई आयेंगे, तो इतने ये कहाँ से एक समान के भिक्षु आये, अवश्य ही स्थविर का यह अनुभाव है।" इस प्रकार मुझे जानेंगे। अथवा अल्पेच्छता से उसके पश्चात् एक होऊँ—ऐसा चाहने वाले को पादक-ध्यान को समापन्न होकर उठ 'एक होऊँ' ऐसा परिकर्म करके,

१. चार मार्ग, चार फल और निर्वाण—ये नव लोकोत्तर धर्म हैं।

२. दान के समय जिस जल से अर्पण करते हैं, उसे दक्षिणोदक कहते हैं।

फिर समापन्न हो उठकर 'एक होऊँ' ऐसा अधिष्ठान करना चाहिये। अधिष्ठान करने वाले चित्त के साथ ही एक होता है। किन्तु इस प्रकार नहीं करते हुए काल के परिच्छेद के अनुसार अपने-आप ही एक होता है।

प्रगट और अन्तर्धान होना

आविभावं तिरोभावं[१]—प्रगट होता है, अन्तर्धान होता है—यह अर्थ है। इसी के प्रति प्रतिसम्भिदा में कहा गया है—"प्रगट होना—किसी (वस्तु) से अनावृत, नहीं ढँका, खुला, प्रगट होता है। अन्तर्धान होना—किसी (वस्तु) से आवृत, ढँका, बन्द, ऊपर से ढँका होता है।" ऋद्धिमान प्रगट होने की इच्छा से अन्धकार या प्रकाश करता है, ढँके हुए को खुला हुआ या नहीं दिखाई देनेवाले को दिखाई देनेवाला बनाता है।

कैसे? जैसे ढँका हुआ भी या दूर में स्थित भी दिखाई देता है, ऐसे अपने या दूसरे को करना चाहते पादक-ध्यान (= चतुर्थ ध्यान) से उठकर "यह अन्धकार की जगह प्रकाशमय हो जाय" "यह ढँका हुआ खुल जाय" या "यह नहीं दिखाई देनेवाला दिखाई देने लगे" ऐसे आवर्जन करके परिकर्म को कर उक्त प्रकार से ही अधिष्ठान करता है। अधिष्ठान के साथ अधिष्ठान किया हुआ ही होता है। दूसरे दूर खड़े हुए भी देखते हैं, स्वयं भी देखना चाहते हुए देखता है।

यह प्रातिहार्य्य (= चमत्कार) पहले किसके द्वारा किया गया? भगवान् द्वारा।

साकेत जाने का प्रातिहार्य्य

भगवान् ने चूल सुभद्रा[२] से निमंत्रित हो विश्वकर्मा द्वारा बनाये गये पाँच सौ कूटागारों से श्रावस्ती से सात योजन के बीच साकेत को जाते हुए, जैसे साकेत नगरवासी श्रावस्ती-वासियों को और श्रावस्तीवासी साकेत-वासियों को देखें—ऐसा अधिष्ठान किया और नगर के बीच उतर कर पृथ्वी को दो भागों में फाड़कर अवीचि (नरक) तक और आकाश को दो भागों में हटाकर ब्रह्म-लोक तक दिखलाया।[३]

देवलोक से अवरोहण

देवलोक से उतरने से भी इस अर्थ को स्पष्ट करना चाहिये। भगवान् ने यमक-प्रातिहार्य्य करके चौरासी हजार प्राणियों को बन्धन से छुड़ाकर, अतीतकाल के बुद्ध यमक-प्रातिहार्य्य के अन्त में कहाँ गये? ऐसे आवर्जन कर "तावतिंस (= त्रायस्त्रिंश) देवलोक को गये।" देखा। तब एक पैर से पृथ्वी-तल पर खड़ा हो, दूसरे को युगान्धर पर्वत पर प्रतिष्ठित कर, फिर पहले पैर को उठा सिनेरु को सिरे पर रखकर वहाँ पाण्डुकम्बल शिला-तल पर वर्षावास करते हुए दस हजार चक्रवालों के एकत्र हुए देवों को प्रारम्भ से लेकर अभिधर्म का उपदेश देना आरम्भ किया। भिक्षाटन के समय निर्मित-बुद्ध को बनाया। उस समय वे उपदेश देते थे।

---

१. मूल पालि पाठ के लिये देखिये दीघनि० १, २।

२. अनाथपिण्डिक की पुत्री।

३. देखिये, धम्मपदट्ठकथा २१, ८।

भगवान् नाग-लता (= पान) की दातौन कर अनवतप्त-झील (= मानसरोवर) में मुँह धो उत्तर-कुरु में भिक्षान्न ग्रहण कर अनवतप्त झील के किनारे भोजन करते थे। सारिपुत्र स्थविर वहाँ जाकर भगवान् को प्रणाम करते थे। भगवान् "आज इतने धर्म का उपदेश दिया" ऐसे स्थविर को ढंग बतलाते थे। इस प्रकार तीन महीने लगातार अभिधर्म का उपदेश दिये। उसे सुनकर अस्सी करोड़ देवताओं को धर्म का ज्ञान हुआ।

यमक प्रातिहार्य्य में एकत्र हुई परिषद भी बारह योजन की थी। 'भगवान् को देखकर ही जायेंगे'—इस प्रकार (सोच) पड़ाव डालकर रहती थी। चूल अनाथपिण्डिक सेठ[1] ने ही सब प्रत्ययों से उसका उपस्थान किया। मनुष्य "भगवान् कहाँ हैं ?" जानने के लिये अनुरुद्ध स्थविर से याचना किये। स्थविर ने आलोक को बढ़ाकर दिव्य-चक्षु से वहाँ वर्षावास करते हुए भगवान् को देखा और देखकर कहा।

उन्होंने भगवान् की वन्दना करने के लिए महामौद्गल्यायन स्थविर से याचना की। स्थविर ने परिषद् के बीच में ही महापृथ्वी में डूबकर सिनेरु पर्वत को छेद, तथागत के पैर के पास भगवान् के पैरों की वन्दना करते हुए ही ऊपर निकल कर भगवान् से कहा—"भन्ते, जम्बूद्वीप-वासी 'भगवान् के पैरों की वन्दना कर, देखकर ही जायेंगे' कहते हैं।" भगवान् ने कहा—"मौद्गल्यायन, इस समय तेरा बड़ा भाई धर्मसेनापति कहाँ है ?"

"भन्ते, शंकास्य[2] नगर में।"

"मौद्गल्यायन, मुझे देखने की इच्छा वाले कल शंकास्य नगर में आवें, मैं कल महाप्रवारण[3] की पूर्णमाँसी[4] के उपोसथ के दिन शंकास्य नगर में उतरूँगा।"

"भन्ते, बहुत अच्छा।" (कह कर) स्थविर दशबल की वन्दना कर आये हुए मार्ग से ही उतर कर मनुष्यों के पास पहुँचे। जाने और आने के समय जैसे उन्हें मनुष्य देखें, ऐसे (उन्होंने) अधिष्ठान किया। मौद्गल्यायन स्थविर ने इस प्रगट होने के प्रातिहार्य्य को किया। उन्होंने इस प्रकार आ, उस समाचार को कहकर 'दूर है' ऐसा ख्याल न कर 'जलपान (= प्रातराश) करके ही चल दो' कहा।

भगवान् ने देवताओं के राजा शक्र (= इन्द्र) से कहा—"महाराज, कल मनुष्य-लोक जाऊँगा।" देवराज ने विश्वकर्मा को आज्ञा दी—"तात, भगवान् कल मनुष्य-लोक जाना चाहते हैं, तीन सीढ़ी की पंक्ति बनाओ—एक सोने की, एक चाँदी की, एक मणि की।" उसने वैसा किया।

भगवान् ने दूसरे दिन सिनेरु के सिरे पर खड़े होकर पूर्वी लोक-धातु को देखा। अनेक हजार चक्रवाल खुले हुए एक आँगन के समान प्रकाशित हुए। जैसे पूरब में, ऐसे ही पश्चिम में भी, उत्तर में भी, दक्षिण में भी, सबको खुला हुआ देखा। नीचे भी अवीचि तक, ऊपर जहाँ तक अकनिष्ठ-भवन है, वहाँ तक देखा। उस दिन लोक-विवरण हुआ था। मनुष्य भी देवों को देखते थे, देव भी मनुष्यों को। वहाँ, न मनुष्य ऊपर देखते थे और न तो देव नीचे ही देखते थे, सब सामने ही एक दूसरे को देखते थे।

---

१. अनाथपिण्डिक का छोटा भाई—टीका

२. वर्तमान संकिसा, जिला फर्रुखाबाद।

३. तीन मास के वर्षावास के पश्चात्, वर्षावास त्यागने की एक क्रिया।

४. कार्तिक मास की पूर्णमाँसी।

भगवान् बीच के मणिमय सोपान से उतर रहे थे। 'कामावचर के देव बायीं ओर सुवर्ण-मय और **शुद्धावास**[1] तथा **महाब्रह्मा**[2] दायीं ओर रजतमय सोपान से। देवराज ने पात्र, चीवर ग्रहण किया। महाब्रह्मा तीन योजन के श्वेत-छत्र, **सुयाम** चँवर (= वालवीजनी), **पञ्चशिख गन्धर्व पुत्र** तीन गव्यूति* की **वेणुव** नामक पाण्डु-वीणा लेकर तथागत की पूजा करते हुए उतर रहा था। उस दिन भगवान् को देखकर बुद्ध होने की अभिलाषा नहीं करके खड़ा हुआ सत्त्व नहीं था। भगवान् ने यह प्रगट होने का प्रातिहार्य्य किया।

धर्मदिन्न स्थविर का प्रातिहार्य्य

ताम्रपर्णी-द्वीप (= लंका) में तलङ्गरवासी[3] धर्मदिन्न स्थविर ने भी **तिष्य महाविहार**[4] के चैत्य के आँगन में बैठकर "भिक्षुओ, तीन बातों से युक्त भिक्षु अपर्णक (= बिल्कुल सीधा) मार्ग पर चलनेवाला होता है।"[5] इस प्रकार 'अपण्णक' सूत्र को कहते हुए पंखे को नीचे की ओर किया। ब्रह्मलोक तक एक आँगन हो गया। स्थविर ने नरक के भय से भयभीत कर और स्वर्ग के सुख से प्रलोभित कर धर्मोपदेश दिया। कोई-कोई स्रोतापन्न हुए, कोई-कोई सकृदागामी, अनागामी, अर्हत्।

अन्तर्धान करने की इच्छा से आलोक या अन्धकार करता है। नहीं ढँके हुए को ढँका या दिखाई देते हुए को नहीं दिखाई देनेवाला करता है। कैसे? यह जैसे नहीं ढँका हुआ भी या पास में खड़ा भी नहीं दिखाई देता है, ऐसे अपने या दूसरे को करना चाहते हुए पादक ध्यान से उठकर 'यह आलोक की जगह अन्धकार हो जाय, यह नहीं ढँका हुआ ढँक जाय या यह दिखाई देता हुआ न दिखाई दे—ऐसे आवर्जन करके परिकर्म कर उक्त प्रकार से ही अधिष्ठान करता है। अधिष्ठान चित्त के साथ अधिष्ठान किया हुआ ही होता है। दूसरे (व्यक्ति) पास में खड़े हुए भी नहीं देखते हैं, स्वयं भी नहीं देखना चाहते हुए नहीं देखता है।

यह प्रातिहार्य्य किसके द्वारा पहले किया गया? भगवान् द्वारा।

भगवान् के अन्तर्धान-प्रातिहार्य्य

भगवान् ने पास में बैठे हुए **यश** कुलपुत्र को ही जैसे उसे (उसका) पिता नहीं देखे, वैसा किया।

---

१. शुद्धावास के अनागामी ब्रह्मा।

२. सहम्पति ब्रह्मा।

* दो हजार धनुष की दूरी। दो कोश = ४ मील। किन्तु अभिधानप्पदीपिका में—

रतनं तानि सत्तेव यट्ठि ता वीसतूसभं।

गावुतं मुसभासीति योजनं चतुगावुतं ॥१९६॥ कहा गया है और अभिधर्म-कोश में—धनुपञ्चशतान्येषां क्रोशो, अरण्यं तच्छतम् ॥८७॥

तेषौ योजनमित्याहु" कहा गया है।

३. वालंकरवासी—सिंहल सन्नय।

४. लंका में, वर्तमान तिस्स नगर के पास महाचैत्य।

५. अंगुत्तर नि० ३।

कप्पिन के लिये प्रातिहार्य्य

वैसे ही एक सौ बीस योजन (जाकर) महाकप्पिन की अगवानी कर उन्हें अनागामी-फल और उनके हजार अमात्यों को स्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित करके, उसके पीछे-पीछे हजार स्त्रियों के परिवार के साथ आई हुई अनोजा देवी आकर पास में बैठी हुई भी जैसे परिषद् के साथ राजा को नहीं देखे, वैसे करके "क्या भन्ते, राजा को देखे हैं ?" कहने पर "क्या तुझे राजा को ढूँढ़ना उत्तम है या अपने को ?" "भन्ते, अपने को।" कहकर उसके बैठने पर वैसे धर्मोपदेश दिये, जैसे वह हजार स्त्रियों के साथ स्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हुई, अमात्य अनागामी-फल और राजा अर्हत्व में।[1]

और भी, ताम्रपर्णी द्वीप (=लंका) में आने के दिन (ई० पूर्व ३२५) जैसे अपने साथ आये शेष जनों[2] को राजा नहीं देखे, ऐसा करने वाले महामहेन्द्र स्थविर द्वारा भी यह किया ही गया।

सभी व्यक्त रूप से होने वाले प्रातिहार्य्य प्रगट हैं और अ-व्यक्त रूप से होने वाले प्रातिहार्य्य अन्तर्धान। उनमें, प्रगट-प्रातिहार्य्य में ऋद्धि भी जान पड़ती है और ऋद्धिमान भी। उसे यमक-प्रातिहार्य्य से प्रकाशित करना चाहिये। वहाँ "तथागत यमक-प्रातिहार्य्य करते हैं, श्रावकों से असाधारण; ऊपरी शरीर से अग्नि-स्कन्ध निकलता है, निचले शरीर से जल-धारा निकलती है।" ऐसे दोनों जान पड़ा था। अ-व्यक्त प्रातिहार्य्य में ऋद्धि ही जान पड़ती है, ऋद्धिमान नहीं। उसे महक सूत्र[3] और ब्रह्मनिमन्तनिक सूत्र[4] से प्रकाशित करना चाहिये। वहाँ, आयुष्मान् महक और भगवान् की ऋद्धि ही जान पड़ती थी, ऋद्धिमान नहीं।

आयुष्मान् महक का ऋद्धि-प्रातिहार्य्य

जैसे कहा है—"एक ओर बैठा हुआ चित्तगृहपति आयुष्मान् महक को यह कहा—बहुत अच्छा भन्ते, मेरे आर्य्य महक, मनुष्य-धर्म[5] से आगे (=अलौकिक) ऋद्धि-प्रातिहार्य्य को दिखलायें।"

"तो, तू गृहपति, बरामदे में उत्तरासंग (= ओढ़ने वाली चादर) को बिछाकर तृण के ढेर को बिखेरो।"

"अच्छा भन्ते" कह कर चित्त गृहपति आयुष्मान् महक को उत्तर देकर बरामदे में उत्तरासङ्ग को बिछाकर तृण के ढेर को बिखेरा। तब आयुष्मान् महक विहार में प्रवेश कर उस प्रकार के ऋद्धिअभिसंस्कार (= प्रयोग) किये, जैसे ताला के छेद और किवाड़ के छेद से लपट निकल कर तृणों को जला दी। उत्तरासंग नहीं जलायी।"

---

१. कथा विस्तारपूर्वक महावग्ग में आई हुई है।

२. महामहेन्द्र स्थविर के साथ इट्टिय, उत्तिय, सम्बल, भद्दसाल—ये चार भिक्षु लंका-द्वीप गये थे।

३. संयुत्त नि० ३९, ४।

४. मज्झिम नि० १, ४, ९।

५. दस कुशल कर्म-पथ को मनुष्य-धर्म कहा जाता है।

और जैसे कहा है—"तब मैं भिक्षुओ, उस प्रकार के ऋद्धि-प्रयोग को किया कि इतने में ब्रह्मा, ब्रह्मपरिषद् और ब्रह्म-सभासद मेरे शब्द को सुनते थे, किन्तु मुझे नहीं देखते थे। अन्तर्धान होकर (मैंने) इस गाथा को कहा—

भवे' वाहं भयं दिस्वा भवञ्च विभवेसिनं।
भवं नाभिवदिं किञ्चि, नन्दिञ्च न उपादियिं॥[1]

[मैं संसार में (जन्म, बुढ़ापा आदि के) भय को देखकर ही और धन-सम्पत्ति के इच्छुक को भी संसार में ही देखकर, (तृष्णा-दृष्टि के रूप में) कुछ भी संसार को नहीं ग्रहण किया और नन्दि (= भव-तृष्णा) को भी नहीं ग्रहण किया।]

बिना टकराये हुए जाना

तिरोकुड्डं तिरोपाकारं तिरोपब्बतं असज्जमानो गच्छति सेय्यथापि आकासे'[2]— यहाँ, **तिरोकुड्डं**—दीवार के आरपार। दीवार के दूसरे भाग को—कहा गया है। इसी प्रकार दूसरे (शब्द) में भी। **कुड्डो**—घर की भीत का यह नाम है। **पाकारो**—गृह, विहार, गाँव आदि का घिरा हुआ प्राकार। **पब्बतो**—पंशु का पर्वत, या पत्थर का पर्वत। **असज्जमानो**—नहीं लगते हुए (= बिना टकराये हुए)। **सेय्यथापि आकासे**—आकाश में होने के समान।

ऐसे जाना चाहने वाले को आकाश-कसिण को समापन्न होकर, (उससे) उठ प्राकार या सिनेरु, चक्रवाल में से किसी एक पर्वत का आवर्जन कर परिकर्म करके "आकाश हो जाय" ऐसा अधिष्ठान करना चाहिये। आकाश ही होता है। नीचे उतरना चाहने वाले या ऊपर बढ़ना चाहने वाले को खोखला होता है। छेदकर जाना चाहने वाले को छेद। वह वहाँ बिना टकराये हुए जाता है।

त्रिपिटकधारी चूलाभय स्थविर ने यहाँ कहा—"आवुसो, आकाश-कसिण को किसलिये समापन्न हुआ जाता है? क्या हाथी-घोड़ा आदि बनाने की इच्छा वाला हाथी-घोड़ा आदि कसिणों को समापन्न होता है? जिस किसी भी कसिण में परिकर्म करके आठ समापत्तियों[3] में वशी-भाव प्राप्त करना ही पर्याप्त है, जो जो चाहता है, वह वह होता है न?" भिक्षुओं ने कहा—"भन्ते, पालि में आकाश कसिण ही आया हुआ है, इसलिये अवश्य यह कहना चाहिये।"

यह पालि है—"प्रकृति से आकाश-कसिण समापत्ति का लाभी होता है, दीवार के आरपार, प्राकार के आरपार, पर्वत के आरपार का आवर्जन करता है। आवर्जन करके ज्ञान से अधिष्ठान करता है—'आकाश हो' आकाश ही होता है। दीवार के आरपार, प्राकार के आरपार, पर्वत के आरपार बिना टकराये हुए जाता है। जैसे प्रकृति से बिना ऋद्धिवाले व्यक्ति किसी से अनावृत, नहीं घिरे हुए में बिना टकराते हुए जाते हैं। ऐसे ही वह ऋद्धिमान चित्त पर वशीभाव को प्राप्त, दीवार के आरपार, प्राकार के आरपार, पर्वत के आरपार बिना टकराये हुए जाता है जैसे कि आकाश में।

---

१. मज्झिम नि० १, ५, ९।

२. दीघ नि० १, २।

३. चार ध्यान और चार आरूप्य।

यदि अधिष्ठान करके जाने वाले भिक्षु को बीच में पर्वत या पेड़ उगता है, तो क्या फिर समापन्न होकर अधिष्ठान करना चाहिये? दोष नहीं है। फिर समापन्न होकर अधिष्ठान करना उपाध्याय के पास निश्रय[1] ग्रहण करने के समान होता है। इस भिक्षु द्वारा "आकाश हो" ऐसा अधिष्ठान करने के कारण आकाश होता ही है। पूर्व-अधिष्ठान के बल से ही उसके बीच दूसरा पर्वत या वृक्ष ऋतु के अनुसार उगेगा—यह असम्भव ही है। दूसरे ऋद्धिमान द्वारा निर्मित होने पर प्रथम-निर्माण बलवान होता है। दूसरे को उसके ऊपर या नीचे जाना चाहिये।

पृथ्वी में गोता लगाना

पठवियापि उम्मुज्जनिम्मुज्जं—यहाँ, **उम्मुज्जं**—उगना कहा जाता है। **निमुज्जं**—डूबना। उगना और डूबना (= गोता लगाना) ही **उम्मुज्जनिमुज्जं** है। ऐसा करना चाहनेवाले को आप्-कसिण को समापन्न होकर (उससे) उठ, 'इतने स्थान में पृथ्वी जल हो जाय' इस प्रकार परिच्छेद करके परिकर्म कर उक्त प्रकार से ही अधिष्ठान करना चाहिये। अधिष्ठान के साथ परिच्छेद किये गये स्थान में पृथ्वी जल ही हो जाती है। वह वहाँ गोता लगाता है।

यह पालि है—"प्रकृति से आप-कसिण समापत्ति का लाभी होता है, पृथ्वी का आवर्जन करता है, आवर्जन करके ज्ञान से अधिष्ठान करता है—'जल हो जाय' जल हो जाता है। वह पृथ्वी में गोता लगाता है। जैसे प्रकृति से अ-ऋद्धिमान् जल में गोता लगाते हैं, ऐसे ही वह ऋद्धिमान चित्त पर वशीभाव को प्राप्त, पृथ्वी में गोता लगाता है जैसे कि जल में।"

केवल गोता लगाना ही नहीं, स्नान करना, पीना, मुख धोना, सामान धोना आदि में जिसे-जिसे चाहता है, उसे-उसे करता है। और केवल जल ही नहीं, घी, तेल, मधु, राब आदि में जिसे-जिसे चाहता है, उसे-उसे 'यह-यह इतना होवे' ऐसे आवर्जन करके परिकर्म कर अधिष्ठान करने वाले को अधिष्ठान किया हुआ ही होता है। उठाकर बर्तन में रखने वाले को घी, घी ही होता है। तेल आदि तेल आदि ही, जल जल ही। वह वहाँ भिगोना चाहते हुए ही भिगोता है, नहीं भिगोना चाहते हुए नहीं भिगोता है। उसके लिए ही पृथ्वी जल होती है, शेष लोगों के लिए पृथ्वी ही। वहाँ, मनुष्य पैदल भी जाते हैं, सवारी आदि से भी जाते हैं, खेती आदि भी करते हैं ही। यदि यह 'उनके लिए भी जल होवे' ऐसा चाहता है, तो होता ही है। किन्तु परिच्छेद किये हुए समय को व्यतीत कर जो प्रकृति से बड़ा, तालाब आदि में जल होता है, उसे छोड़ कर अवशेष परिच्छेद किया हुआ स्थान पृथ्वी ही होता है।

जल पर चलना

उदकेपि अभिज्जमाने—यहाँ, जो जल पैर रखने पर डूबता है, वह भेद्यमान कहा जाता है। (इसके) विपरीत अभेद्यमान। ऐसे चलना चाहने वाले को पृथ्वी-कसिण को समापन्न होकर (उससे) उठ 'इतने स्थान में जल पृथ्वी होवे' ऐसे परिच्छेद करके परिकर्म कर उक्त प्रकार से ही अधिष्ठान करना चाहिये। अधिष्ठान के साथ जैसे परिच्छेद किये हुए स्थान में जल पृथ्वी ही होता है। वह वहाँ चला जाता है।

---

१. "भन्ते, मेरे आचार्य होइये, आयुष्मान् के सहारे मैं रहूँगा" ऐसे निश्रय ग्रहण करके आचार्य के पास भिक्षु रहता है, किन्तु उपाध्याय के पास निश्रय ग्रहण करने का काम नहीं है, ऐसा होने पर भी निश्रय-ग्रहण करने में दोष नहीं है।

यह पालि है—"प्रकृति से पृथ्वी-कसिण समापत्ति का लाभी होता है, जल का आवर्जन करता है, आवर्जन कर ज्ञान से अधिष्ठान करता है—'पृथ्वी हो जाय' पृथ्वी हो जाती है। वह अभेद्यमान जल पर चलता है। जैसे अ-ऋद्धिमान प्रकृति से अभेद्यमान पृथ्वी पर चलते हैं, ऐसे ही वह ऋद्धिमान चित्त पर वशीभाव को प्राप्त अभेद्यमान जल पर चलता है जैसे कि पृथ्वी पर।"

न केवल चलता ही है, जिस जिस ईर्य्यापथ को चाहता है, उसको करता है और न केवल पृथ्वी पर ही, मणि, सुवर्ण, पर्वत, वृक्ष आदि पर भी जिसे-जिसे चाहता है, उसे-उसे उक्त प्रकार से ही आवर्जन करके अधिष्ठान करता है, अधिष्ठान किया हुआ ही होता है। उसके लिये ही वह जल पृथ्वी होता है, शेष लोगों के लिये जल ही। मछली, कछुये और कौआसारि (=उदक-काक) आदि इच्छानुसार विचरण करते हैं। यदि अन्य मनुष्यों के लिए भी उसे पृथ्वी बनाना चाहता है, तो बनाता ही है। परिच्छेद किये हुए समय के बीतने पर जल ही हो जाता है।

आकाश से जाना

पल्लङ्केन कमति—पालथी मारे हुए जाता है। **पक्खिसकुणो**—पाँखों से युक्त पक्षी (=सकुण)। ऐसा करना चाहने वाले को पृथ्वी-कसिण को समापन्न होकर (उससे) उठ, यदि बैठे हुए जाना चाहता है, तो पालथी के बराबर जगह का परिच्छेद करके परिकर्म कर उक्त प्रकार से ही अधिष्ठान करना चाहिये। यदि सोये हुए जाना चाहता है तो चारपाई के बराबर। यदि पैर से जाना चाहता है तो मार्ग के बराबर। ऐसे यथानुरूप स्थान का परिच्छेद करके उक्त प्रकार से ही "पृथ्वी हो जाय" अधिष्ठान करना चाहिये। अधिष्ठान के साथ पृथ्वी ही होती है।

यह पालि है—"आकाश में पालथी मार कर जाता है, जैसे कि पाँखों वाला पक्षी, प्रकृति से पृथ्वी-कसिण समापत्ति का लाभी होता है, आकाश का आवर्जन करता है, आवर्जन करके ज्ञान से अधिष्ठान करता है 'पृथ्वी हो जाय' तो पृथ्वी हो जाती है। वह आकाश=अन्तरिक्ष में चंक्रमण भी करता है, खड़ा भी होता है, बैठता भी है, सोता भी है, । जैसे अऋद्धिमान प्रकृति से पृथ्वी पर चंक्रमण भी करते हैं...सोते भी हैं, ऐसे ही वह ऋद्धिमान चित्त पर वशीभाव को प्राप्त, आकाश = अन्तरिक्ष में चंक्रमण भी करता है...सोता भी है।"

आकाश में जाने के इच्छुक भिक्षु को दिव्य-चक्षु का लाभी भी होना चाहिये। क्यों? बीच में ऋतु से उत्पन्न पर्वत, वृक्ष आदि होते हैं या (दिव्य) नाग, गरुड़ आदि ईर्ष्या करते हुए बनाते हैं, उन्हें देखने के लिए। उन्हें देखकर क्या करना चाहिये? पादक ध्यान को समापन्न होकर (उससे) उठ 'आकाश हो जाय' ऐसा परिकर्म करके अधिष्ठान करना चाहिये।

स्थविर[1] ने कहा—"आवुस, समापत्ति का समापन्न होना किसलिये है? इसका चित्त एकाग्र ही है न? वह जिस-जिस स्थान को 'आकाश हो जाय' अधिष्ठान करता है, तो आकाश ही होता है।" यद्यपि ऐसा कहा है, किन्तु दीवार के आरपार जाने वाले प्रातिहार्य्य में उक्त प्रकार से ही करना चाहिये। अवकाश-स्थान में उतरने के लिए भी इसे दिव्य चिक्षु का लाभी होना चाहिये। यदि यह अवकाश रहित स्थान करने के घाट या गाँव के द्वार पर उतरता है, तो महा-जन-समूह के लिये प्रगट हो जाता है। इसलिये दिव्य-चक्षु से देखकर अवकाश रहित स्थान को छोड़ कर अवकाश युक्त स्थान में उतरता है।

१. वही, त्रिपिटकधारी चूलाभय स्थविर।

चन्द्र-सूर्य्य को स्पर्श करना

"इमेपि चन्दिमसुरिये एवं महिद्धिके एवं महानुभावे पाणिना परामसति परिमज्जति[1]—यहाँ, चन्द्र-सूर्य्य को बयालीस हजार (= ४२,०००) योजन[2] ऊपर घूमने से महा-तेजस्वी होना और तीनों द्वीपों में एक क्षण में प्रकाश करने से महा-अनुभाव का होना जानना चाहिये। इस प्रकार ऊपर घूमने या प्रकाश करने से महिद्धिके। उसी महातेज के होने से महा-नुभावे। परामसति—पकड़ता है, या एक भाग में छूता है। परिमज्जति—चारों ओर से आदर्श-तल के समान मलता है।

यह इसकी ऋद्धि अभिज्ञा-पादक ध्यान से ही सिद्ध होती है, यहाँ कसिण-समापत्ति का नियम नहीं है। प्रतिसम्भिदा में कहा गया है—"इन चन्द्र-सूर्य्य को······मलता है = यहाँ वह चित्त पर वशी भाव को प्राप्त ऋद्धिमान······चन्द्र-सूर्य्य का आवर्जन करता है, आवर्जन करके ज्ञान से अधिष्ठान करता है—'हाथ के पास हो' तो हाथ के पास होता है। वह बैठे हुए या सोये हुए चन्द्र-सूर्य्य को हाथ से छूता है, स्पर्श करता है, मलता है। जैसे मनुष्य प्रकृति से ऋद्धिमान नहीं होते हुए, किसी रूप को हाथ के पास छूता है, स्पर्श करता है, मलता है। ऐसे ही वह ऋद्धिमान······मलता है।

यदि वह जाकर स्पर्श करना चाहता है, तो जाकर स्पर्श करता है। यदि यहीं बैठा हुआ या सोया हुआ स्पर्श करना चाहता है, तो 'हाथ के पास हो' ऐसा अधिष्ठान करता है। अधिष्ठान के बल से भेंटी से मुक्त ताड़ के फल के समान आकर हाथ के पास खड़े स्पर्श करता है या हाथ को बढ़ाकर। बढ़ाने वाले का क्या उपादिन्नक[3] बढ़ता है या अनुपादिन्नक[4]? उपादिन्नक के सहारे अनुपादिन्नक बढ़ता है।

इस सम्बन्ध में त्रिपिटकधारी चूलनाग स्थविर ने कहा—"क्या आवुस, उपादिन्नक छोटा भी, बड़ा भी नहीं होता है? जब भिक्षु ताला के छेद आदि से निकलता है, तब उपादिन्नक छोटा होता है, जब शरीर को बड़ा बनाता है, तब महामौद्गल्यायन स्थविर के समान बड़ा होता है न?

नन्दोपनन्द-दमन प्रातिहार्य्य

एक समय अनाथपिण्डिक गृहपति भगवान् का धर्मोपदेश सुनकर—"भन्ते, कल पाँच सौ भिक्षुओं के साथ हमारे घर भिक्षा ग्रहण कीजिये।" निमंत्रित कर चला गया। भगवान् ने स्वीकार कर उस दिन के अवशेष भाग और रात्रि को व्यतीत कर ऊषा के समय दस हजार लोकधातु को देखा। तब उन्हें नन्दोपनन्द नामक नागराजा ज्ञान-मुख में दिखाई दिया।

भगवान् ने—'यह नागराजा मेरे ज्ञान-मुख में दिखाई दे रहा है, क्या इसे उपनिश्रय है?' ऐसे आवर्जन करते हुए—'यह मिथ्यादृष्टि वाला है, त्रिरत्न (= बुद्ध, धर्म, संघ) में श्रद्धा

---

१. ऐसे महा-तेजस्वी सूर्य्य और चाँद को भी हाथ से छूता और मलता है।

२. बयालीस हजार योजन प्रथम कल्प के अनुसार कहा गया है, किन्तु प्रतिवर्ष पृथ्वी थोड़ी थोड़ी मोटी हो रही है, अतः चन्द्रसूर्य्य की ऊँचाई आजकल उक्त दूरी से कम होगी।

३. कर्म से उत्पन्न रूप।

४. यहाँ चित्त से उत्पन्न मात्र ही अभिप्रेत हैं।

नहीं रखता है।' यह देख 'कौन इसे मिथ्यादृष्टि से छुड़ायेगा?' ऐसा विचार करते हुए महामौद्गल्यायन स्थविर को देखा। तत्पश्चात् रात्रि के बीतने पर शरीर-कृत्य कर आयुष्मान् आनन्द को आमंत्रित किया-"आनन्द, पाँच सौ भिक्षुओं को कहो कि तथागत देवलोक में घूमने जा रहे हैं।"

और उस दिन नन्दोपनन्द के भोजन करने का स्थान सजाया गया था। वह दिव्य रत्न के पलंग पर, दिव्य श्वेत छत्र से धारण किया गया, तीन प्रकार[1] की नर्तकियों और नाग-परिषद् से घिरा, दिव्य बर्तनों में सजाये गये अन्न, पेय की विधि का अवलोकन करते हुए बैठा था। तब भगवान् जैसे नागराजा देखे, वैसे करके उसके वितान के ऊपर से ही पाँच सौ भिक्षुओं के साथ तावतिंस (=त्रायस्त्रिंश) देवलोक की ओर गये।

उस समय नन्दोपनन्द नागराजा को ऐसी बुरी दृष्टि (=धारणा) उत्पन्न हुई थी—"ये मुण्डे श्रमण हमारे भवन के ऊपर ही ऊपर से तावतिंस-देवों के भवन में प्रवेश भी कर रहे हैं, निकल भी रहे हैं। अब आज से लेकर इन्हें अपने शिर पर पैर की धूल बिखेरते हुए नहीं जाने दूँगा।" (वह) उठकर सिनेरु के नीचे जाकर उस अपने रूप को त्याग, सिनेरु को सात बार भोगों[2] से लपेट कर ऊपर फण को करके तावतिंस भवन को झुके हुए फण से पकड़कर अदृश्य कर दिया।

तब आयुष्मान् राष्ट्रपालने भगवान् से यह कहा—"भन्ते, पहले इस प्रदेश में खड़ा हुआ सिनेरु को देखता था, सिनेरु के परिभाण्ड* (=मेखला) को देखता था, तावतिंस को देखता था, वैजयन्त को देखता था, वैजयन्तप्रासाद के ऊपर ध्वजा को देखता था। भन्ते, कौन-सा हेतु है, कौन-सा प्रत्यय है, जो कि इस समय न तो सिनेरु को देखता हूँ......न वैजयन्त-प्रासाद के ऊपर ध्वजा को ही देखता हूँ?"

"राष्ट्रपाल, यह नन्दोपनन्द नामक नागराजा तुम लोगों के ऊपर क्रोधित होकर सिनेरु को सात बार भोगों से लपेट, ऊपर फण से ढँककर अन्धकार किया हुआ है।"

"भन्ते, मैं उसका दमन करूँ?"

भगवान् ने आज्ञा न दी। तब आयुष्मान् भद्दिय, आयुष्मान् राहुल, इस प्रकार क्रमशः सभी भिक्षु उठे। भगवान् ने आज्ञा न दी।

अन्त में महामौद्गल्यायन स्थविर ने—"भन्ते, मैं दमन करूँ?" कहा।

"मौद्गल्यायन, दमन करो।" भगवान् ने आज्ञा दे दी।

स्थविर ने अपना रूप त्याग कर बहुत बड़े नागराजा का रूप बनाकर नन्दोपनन्द को चौदह बार भोगों से लपेट कर, उसके फण के ऊपर अपने फण को रख, सिनेरु के साथ दबाया। नागराजा धूँआ छोड़ने लगा। स्थविर ने भी—"तेरे ही शरीर में धूँआ नहीं है, मेरे भी है।" (कहकर) धूँआ छोड़ा। नागराजा का धूँआ स्थविर को नहीं कष्ट देता था, किन्तु स्थविर का धूँआ नागराजा को कष्ट देता था। तत्पश्चात् नागराजा प्रज्वलित हो उठा। स्थविर भी "तेरे ही

---

१. वधू, कुमारी और कन्या।

२. शरीर के भोगों से।

* सिनेरु के चारों ओर से चौड़ा और मोटा पाँच हजार योजन के बराबर चार परिभाण्ड तावतिंस-भवन की आरक्षा के लिये नाग, गरुड़ और कुम्भांड-यक्षों से परिगृहीत हैं, वे परिभाण्ड के समान होने से एक में करके परिभाण्ड कहे जाते हैं—टीका।

शरीर में आग नहीं है, मेरे भी है।" (कहकर) प्रज्वलित हुए। नागराजा की आग स्थविर को पीड़ित नहीं करती थी, किन्तु स्थविर की आग नागराजा को पीड़ित करती थी।

नागराजा ने—"यह मुझे सिनेरु से दबाकर धूँआ छोड़ रहा है और प्रज्वलित हो रहा है।" सोचकर "हे, तू कौन हो ?" पूछा।

"नन्द, मैं मौद्गल्यायन हूँ।"

"भन्ते, अपने भिक्षु रूप में होवें।"

स्थविर उस अपने रूप को छोड़कर उसके दाहिने कान के छेद से प्रवेश कर बायें कान के छेद से निकल आये। बायें कान के छेद से प्रवेश कर दाहिने कान के छेद से निकले। वैसे ही दाहिने नाक के छेद से प्रवेश कर बायें नाक के छेद से निकले, बायें नाक के छेद से प्रवेश कर दाहिने नाक के छेद से निकले। तत्पश्चात् नागराजा ने मुख फैलाया। स्थविर मुख से प्रवेश कर भीतर पेट में पूरब से और पश्चिम से, चंक्रमण करने लगे।

भगवान् ने—"मौद्गल्यायन ! मौद्गल्यायन !! ख्याल करो, यह नाग महा-ऋद्धिमान है।" कहा। स्थविर ने "भन्ते, मैंने चारों ऋद्धिपादों की भावना की है, अभ्यास किया है, रास्ता कर लिया है, घर कर लिया है, अनुस्थित, परिचित और सुसमारब्ध हैं। भन्ते, नन्दोपनन्द ठहरे, मैं नन्दोपनन्द के समान सौ भी, हजार भी, लाख भी नागराजाओं का दमन करूँगा।" कहा।

नागराजा ने सोचा—"प्रवेश करते हुए मैंने नहीं देखा, निकलते समय अब उसे दाँतों के बीच डालकर चबा डालूँगा।" इस प्रकार सोच कर "भन्ते, निकलिये, मत भीतर पेट में इधर से उधर चंक्रमण करते हुए मुझे पीड़ित कीजिये।" कहा। स्थविर निकल कर बाहर खड़े हो गये। नागराजा ने "वह यह है" देखकर नाक की हवा को छोड़ा। स्थविर चतुर्थध्यान को समापन्न हुए। रोओं के छेद को भी उसकी हवा नहीं डुला सकी। अवशेष भिक्षु प्रारम्भ से लेकर सब प्रातिहार्यों को कर सकते, किन्तु इस स्थान को पाकर ऐसे शीघ्र ध्यान समापन्न नहीं हो सकते, इसलिये भगवान् ने उन्हें नागराजा के दमन के लिये आज्ञा न दी।

नागराजा ने—"मैं इस श्रमण का, नाक की हवा से रोयें का छेद भी नहीं डुला सका। श्रमण महा-ऋद्धिमान् है।" सोचा। स्थविर अपने रूप को छोड़कर गरुड़ का रूप बना, गरुड़ की हवा दिखलाते हुए नागराजा के पीछे पड़े। नागराजा ने उस अपने रूप को छोड़कर माणवक का रूप बनाकर—"भन्ते, मैं आपकी शरण जाता हूँ" कहते हुए स्थविर के पैरों की वन्दना की। स्थविर "नन्द, शास्ता आये हैं, आओ, चलें।" नागराजा का दमन करके, निर्विष कर ले, भगवान् के पास गये।

नागराजा ने भगवान् की वन्दना कर—"भन्ते, मैं आपकी शरण जाता हूँ" कहा। भगवान्—"नागराज, सुखी हो" कह कर भिक्षु-संघ से घिरे हुए अनाथपिण्डिक के घर गये। अनाथपिण्डिक ने—"भन्ते, क्यों बहुत समय बीतने पर आये हैं ?" कहा।

"मौद्गल्यायन और नन्दोपनन्द का संग्राम हो रहा था।"

"भन्ते, किसकी जीत और किसकी हार हुई ?"

"मौद्गल्यायन की जीत और नन्द की हार हुई।"

अनाथपिण्डिक ने—"भन्ते, भगवान्, लगातार एक सप्ताह के लिये मेरा भोजन स्वीकार करें, स्थविर का सप्ताह भर सत्कार करूँगा।" कहकर एक सप्ताह बुद्ध-प्रमुख पाँच सौ भिक्षुओं का महासत्कार किया।

इस प्रकार इस नन्दोपनन्द के दमन में बनाये गये बड़े शरीर के सम्बन्ध में कहा गया है—"जब बड़ा शरीर बनाता है, तब महामौद्गल्यायन के समान बड़ा होता है।" ऐसा कहने पर भी भिक्षुओं ने—"उपादिन्नक के सहारे अनुपादिन्नक ही बढ़ता है।" कहा। यही यहाँ युक्ति है।

वह ऐसा करके न केवल चन्द्र-सूर्य का स्पर्श करता है, यदि चाहता है, तो पदासन (=पैर रखने का आसन) करके पैर के नीचे रखता है। कुर्सी (=पीठ) बनाकर बैठता है। चारपाई बनाकर सोता है। ओठगनियाँ बनाकर ओठगँता है। और जैसे एक, ऐसे ही दूसरा भी। अनेक लाख भिक्षुओं को भी ऐसा करते हुए होने पर, उन एक-एक को वैसे ही सिद्ध होता है। जैसे कि चन्द्र-सूर्य का चलना भी, प्रकाश करना भी वैसा ही होता है जैसे कि जल से भरी हुई हजार थालियों में से सब थालियों में चन्द्र-मण्डल दिखाई देते हैं, चन्द्र का चलना और प्रकाश करना स्वाभाविक ही होता है, उसी प्रकार का यह प्रातिहार्य्य है।

ब्रह्मलोक-गमन

याव ब्रह्मलोकापि—ब्रह्मलोक का भी परिच्छेद करके। **कायेन वसं वत्तेति**—ब्रह्म-लोकों को शरीर से अपने वश में करता है। उसका अर्थ पालि के अनुसार जानना चाहिये। यह पालि है—"ब्रह्मलोक तक को भी शरीर से वश में करता है = यदि चित्त पर वशीभाव को प्राप्त वह ऋद्धिमान ब्रह्मलोक जाना चाहता है, तो दूर में रहने वाले को भी पास में होने के लिए अधि-ष्ठान करता है—'पास में हो जाय' तो पास में हो जाता है। पास में होने वाले को दूर में होने का अधिष्ठान करता है—'दूर में हो जाय' तो दूर में हो जाता है। बहुत होने वाले को थोड़ा होने का अधिष्ठान करता है—'थोड़ा हो जाय' तो थोड़ा हो जाता है। थोड़े को भी बहुत होने का अधिष्ठान करता है—'बहुत हो जाय' तो बहुत हो जाता है। दिव्य-चक्षु से उस ब्रह्मा के रूप को देखता है। दिव्य श्रोत्रधातु (= कान) से उस ब्रह्मा के शब्द को सुनता है। चेतोपर्यज्ञान से उस ब्रह्मा के चित्त को भली प्रकार जानता है। यदि चित्त पर वशी-भाव को प्राप्त वह ऋद्धिमान दिखाई देते हुए शरीर से ब्रह्मलोक जाना चाहता है, तो शरीर के तौर पर चित्त को परिणत करता है, शरीर के तौर पर चित्त का अधिष्ठान करता है। शरीर के तौर पर चित्त को परिणत करके, चित्त के तौर पर चित्त का अधिष्ठान करके सुख-संज्ञा और लघुसंज्ञा को प्राप्त होकर, दिखाई देते हुए शरीर से ब्रह्मलोक जाता है। यदि वह चित्त पर वशीभाव को प्राप्त ऋद्धिमान अदृश्यमान शरीर से ब्रह्मलोक जाना चाहता है, तो चित्त के तौर पर शरीर को परिणत करता है, चित्त के तौर पर शरीर का अधिष्ठान करता है। चित्त के तौर पर शरीर को परिणत करके, चित्त के तौर पर शरीर का अधिष्ठान करके सुख-संज्ञा और लघु-संज्ञा को प्राप्त होकर अदृश्यमान शरीर से ब्रह्मलोक जाता है। वह उस ब्रह्मा के सामने मनोमय, सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग से परिपूर्ण रूप को बनाता है। यदि वह ऋद्धि-मान चंक्रमण करता है, तो निर्मित भी वहाँ चंक्रमण करता है। यदि वह ऋद्धिमान खड़ा होता है ...... बैठता है ...... सोता है, तो निर्मित भी वहाँ सोता है। यदि वह ऋद्धिमान धूँआ छोड़ता है......प्रज्वलित होता है......धर्म कहता है......प्रश्न पूछता है......प्रश्न पूछे जाने पर उत्तर देता है, तो निर्मित भी वहाँ प्रश्न पूछे जाने पर उत्तर देता है। यदि वह ऋद्धिमान उस ब्रह्मा के पास खड़ा होता है। बात-चीत करता है, वार्तालाप करता है, निर्मित भी वहाँ उस ब्रह्मा के साथ खड़ा होता है, बातचीत करता है, वार्तालाप करता है। जिसे-जिसे ही वह ऋद्धिमान करता है, उसे-उसे ही निर्मित करता है।"

दूर को पास करना

वहाँ, दूरेपि सन्तिके अधिट्ठाति—पादक ध्यान से उठकर दूर (रहने वाले) देवलोक या ब्रह्मलोक का आवर्जन करता है—"पास में हो जाय।" आवर्जन करके, परिकर्म कर फिर समापन्न हो ज्ञान से अधिष्ठान करता है—"पास में हो जाय।" तो पास में हो जता है। इसी प्रकार शेष पदों में भी।

किसने दूर रहने वाले को लेकर पास किया? भगवान् ने। भगवान् ने यमक-प्रातिहार्य्य के अन्त में देवलोक को जाते हुए युगान्धर और सिनेरु को पास करके पृथ्वी-तल से एक पैर को युगान्धर पर रखकर दूसरे को सिनेरु के सिरे पर रखा।

अन्य किसने किया? महामौद्गल्यायन स्थविर ने श्रावस्ती से भोजन करके निकली हुई बारह योजन की परिषद् को तीस योजन[1] के शंकास्य नगर जाने वाले मार्ग को छोटा करके उसी क्षण पहुँचा दिया।

चूलसमुद्र का मार्ग छोटा करना

और भी, ताम्रपर्णी द्वीप (=लंका) में चूलसमुद्र स्थविर ने भी किया। दुर्भिक्ष (=अकाल) के समय स्थविर के पास प्रातः ही सात सौ भिक्षु आये। स्थविर ने—'भिक्षु संघ बहुत बड़ा है, कहाँ भिक्षाटन होगा?' सोचते हुए सम्पूर्ण ताम्रपर्णी द्वीप में नहीं देखकर, दूसरे-तीर पाटलिपुत्र (=वर्तमान पटना) में होगा।" देखकर भिक्षुओं को पात्र-चीवर पकड़वा कर—"आवुसो, आओ भिक्षाटन के लिये चलें।" (कह कर) पृथ्वी को छोटा करके पाटलिपुत्र गये। भिक्षुओं ने—"भन्ते, यह कौन सा नगर है?" पूछा।

"आवुसो, पाटलिपुत्र है।"

"भन्ते, पाटलिपुत्र बहुत दूर है।"

"आवुसो, वृद्ध स्थविर दूर में रहने वाले को भी लेकर पास में कर देते हैं।"

"भन्ते, महासमुद्र कहाँ है?"

"आवुसो, बीच में एक नीली नाली को लाँघकर आये हो न?"

"हाँ भन्ते, किन्तु महासमुद्र बहुत बड़ा है।"

"आवुसो, वृद्ध स्थविर बहुत बड़े को भी छोटा कर देते हैं।"

तिष्यदत्त की बोधि-वन्दना

और जैसे यह, ऐसे ही तिष्यदत्त स्थविर ने भी सन्ध्या के समय स्नान करके उत्तरासङ्ग को ओढ़ने पर महाबोधि (=बुद्धगया का बोधिवृक्ष) की वन्दना करूँगा।" चित्त उत्पन्न होने पर किया।

पास को दूर करना

किसने पास रहने वाले को दूर किया? भगवान् ने। भगवान् ने अपने और अङ्गुलिमाल के बीच पास वाले को भी दूर किया।[2]

---

१. श्रावस्ती से शंकास्य ३० योजन है।

२. देखिये, मज्झिम नि० २, ३, ६।

बहुत को थोड़ा करना

किसने बहुत को थोड़ा किया ? महाकाश्यप स्थविर ने। राजगृह में उत्सव के दिन[1] पाँच सौ कुमारियाँ चाँद के समान गोल-गोल बनी पूड़ियाँ (=चन्द-पूव) को लेकर उत्सव-क्रीड़ा के लिये जाती हुई भगवान् को देखकर कुछ नहीं दीं। पीछे से आते हुए स्थविर को देखकर "हमारे स्थविर आ रहे हैं, पूड़ियाँ देवें।" (सोच) सब पूड़ियों को लेकर स्थविर के पास गईं। स्थविर ने पात्र को निकाल कर सबको एक पात्र भर किया। भगवान् स्थविर के आने को देखते हुए आगे बैठ रहे। स्थविर ने लाकर भगवान् को दिया।

थोड़े को बहुत करना

इल्लीस सेठ[2] की कथा में महामौद्गल्यायन स्थविर ने थोड़े को बहुत किया और काकवलिय की कथा में भगवान् ने।

काकवलिय की कथा

महाकाश्यप स्थविर एक सप्ताह समापत्ति से बिताकर दरिद्रों का उपकार करते हुए काकवलिय नामक निर्धन व्यक्ति के घरके द्वार पर खड़े हुए। उसकी स्त्री स्थविर को देखकर पति के लिये पकायी हुई बिना नमक की खट्टी यवागु को पात्र में डाली। स्थविर ने उसे लेकर भगवान् के हाथ पर रखा। भगवान् ने महाभिक्षु संघ के लिये यथेष्ट करके अधिष्ठान किया। एक पात्र से लाई हुई (यवागु) सबके लिये पर्याप्त हुई। काकवलिय भी सातवें दिन सेठ (=श्रेष्ठी) का स्थान पाया।

अनुल स्थविर का पानी को घी बनाना

न केवल थोड़े को बहुत करना, मधुर को अ-मधुर, अ-मधुर को मधुर आदि भी, जो-जो चाहता है, सब ऋद्धिमान् को सिद्ध होता है। वैसा ही, महाअनुल स्थविर ने बहुत से भिक्षुओं की भिक्षा के लिये घूम कर सूखा भात ही पा, गंगा[3] के किनारे बैठकर भोजन करते हुए देख कर गंगा के जल को परिशुद्ध घी का अधिष्ठान कर श्रामणेरों को संकेत किया। उन्होंने पात्र के ढकनों से लाकर भिक्षु-संघ को दिया। सब ने मधुर घी से भोजन किया।

दिव्य चक्षु से—यहीं स्थित आलोक को बढ़ाकर उस ब्रह्मा के रूप को देखता है। और यहीं स्थित उसके कहने के **शब्द को सुनता है, चित्त को भली प्रकार जानता है।**

शरीर के तौर पर चित्त को परिणत करता है—करज-काय[4] के तौर पर चित्त को परिणत करता है। पादक-ध्यान के चित्त को लेकर शरीर में रखता है। धीरे-धीरे चलने वाला शरीर की चाल का बनाता है। शरीर का गमन मन्द होता है।

---

१. पूजा के दिन—सिंहल सन्नय।

२. देखिये, धम्मपदट्ठकथा ४, ५ और जातकट्ठ० ७८।

३. ताम्रपर्णी द्वीप में गंगा नदी के किनारे—टीका। वर्तमान नाम है—महवेलि गँग। गंगा शब्द सिंहल भाषा में नदी के अर्थ में प्रयुक्त होता है। सब नदियों के नाम के अन्त में गँग (=गंगा) शब्द जुड़ा होता है

४. चार महाभूतों से बने रूप-काय को करज-काय कहते हैं।

सुख-संज्ञा और लघु-संज्ञा को प्राप्त करता है—पादक-ध्यान के आलम्बन के ऋद्धि-चित्त के साथ उत्पन्न हुए सुख-संज्ञा और लघु-संज्ञा को प्राप्त करता है। (उसमें) प्रवेश करता है, स्पर्श करता है, (वहाँ) पहुँचता है। सुख-संज्ञा कहते हैं उपेक्षा से युक्त संज्ञा को। उपेक्षा, शान्त, सुख कही गई है। उसी संज्ञा को नीवरणों और वितर्क आदि खिलाफ धर्मों से विमुक्त होने से लघु-संज्ञा जानना चाहिये। उसे पाने वाले का करज-काय भी रूई के फाहे के समान हल्का होता है। वह ऐसे हवा में फेंके रूई के फाहा के समान हल्का दिखाई देते हुए शरीर से ब्रह्मलोक जाता है।

और ऐसे जाते हुए, यदि चाहता है, तो पृथ्वी-कसिण द्वारा आकाश में मार्ग बनाकर पैदल जाता है। यदि चाहता है, वायु-कसिण द्वारा वायु का अधिष्ठान कर रूई के फाहे के समान वायु से जाता है। फिर भी यहाँ, जाने की इच्छा ही प्रमाण है। जाने की इच्छा होने पर चित्त से अधिष्ठान किया हुआ, अधिष्ठान के वेग से फेंके जाते ही वह धनुष से फेंके बाण के समान दिखाई देते हुए जाता है।

चित्त के तौर पर शरीर को परिणत करता है—शरीर को लेकर चित्त में रखता है, चित्त की गति के समान शीघ्र जाने वाला बनाता है। चित्त की चाल तेज होती है। **सुख-संज्ञा और लघु-संज्ञा को प्राप्त करता है**—रूप-काय के आलम्बन हुए ऋद्धि-चित्त के साथ उत्पन्न, सुख-संज्ञा और लघु संज्ञा को प्राप्त करता है। शेष उक्त प्रकार से जानना चाहिये। किन्तु यह चित्त की चाल के समान ही होता है।

ऐसे अदृश्यमान शरीर से जाते हुए यह, क्या अधिष्ठान-चित्त के उत्पन्न होने के क्षण जाता है, स्थिति के क्षण या भंग (=नाश) के क्षण ?" ऐसा कहने पर "तीनों क्षणों में जाता है।" स्थविर[1] ने कहा।

"क्या वह स्वयं जाता है या निर्मित को भेजता है ?"

"यथा-रुचि करता है।"

किन्तु, यहाँ इसका स्वयं जाना ही आया हुआ है।

मनोमय—अधिष्ठान के मन से बनने से मनोमय है। **परिपूर्ण इन्द्रियों वाला**—यह चक्षु, श्रोत्र आदि की बनावट के अनुसार कहा गया है। किन्तु निर्मित रूप में प्रसाद[2] नहीं होता है। **यदि ऋद्धिमान चंक्रमण करता है, तो निर्मित भी वहाँ चंक्रमण करता है**—आदि सब श्रावकों द्वारा निर्मित (रूप) के प्रति कहा गया है। बुद्ध द्वारा निर्मित, जिसे-जिसे भगवान् करते हैं, उसे-उसे भी करता है। भगवान् के इच्छानुसार दूसरे (कार्य) भी करता है।

और, यहाँ जो वह ऋद्धिमय यहीं स्थित दिव्य चक्षु से रूप को देखता है, दिव्य श्रोत्र-धातु (=कान) से शब्द को सुनता है, चैतोपर्यज्ञान से चित्त को भली प्रकार जानता है, इतने से शरीर से वश में नहीं करता है। जो भी वह यहीं स्थित उस ब्रह्मा के साथ खड़ा होता है, बात करता है, वार्तालाप करता है, इतने से भी शरीर से वश में नहीं करता है। जो भी इसका 'दूर में रहने वाले को भी पास में होने का अधिष्ठान करता है'—आदि अधिष्ठान है, इतने से भी शरीर से वश में नहीं करता है। जो भी दृश्यमान या अदृश्यमान शरीर से ब्रह्मलोक जाता है, इतने तक भी शरीर से वश में नहीं करता है और जो वह 'उस ब्रह्मा के सामने रूप का निर्माण करता

---

१. अट्ठकथा के आचार्यों में से किसी एक स्थविर ने कहा—टीका।

२. चक्षु-प्रसाद आदि पाँच प्रकार के प्रसाद होते हैं, देखिये चौदहवाँ परिच्छेद।

है'—आदि प्रकार से उक्त विधान को करता है, इतने से शरीर से वश में करता है। शेष यहाँ शरीर से वश में करने के पूर्व भाग को दिखलाने के लिये कहा गया है।

—यह अधिष्ठान-ऋद्धि है।

विकुर्वण-ऋद्धि

विकुर्वण और मनोमय का यह अन्तर है—विकुर्वण करनेवाले को—"वह प्रकृति रूप को त्याग कर कुमार का रूप दिखलाता है, नाग का रूप दिखलाता है, गरुण का रूप दिखलाता है, असुर का रूप दिखलाता है, इन्द्र का रूप दिखलाता है, देव का रूप दिखलाता है, ब्रह्म का रूप दिखलाता है, समुद्र का रूप दिखलाता है, पर्वत का रूप दिखलाता है, सिंह का रूप दिख-लाता है, व्याघ्र का रूप दिखलाता है, चीता का रूप दिखलाता है, हाथी को भी दिखलाता है, घोड़ा को भी दिखलाता है, रथ को भी दिखलाता है, पैदल सेना को भी दिखलाता है, नाना प्रकार के सेना-व्यूह को भी दिखलाता है।" ऐसे कहे गये कुमार का रूप आदि में जो-जो चाहता है, उसे-उसे अधिष्ठान करता है।

अधिष्ठान करनेवाले को पृथ्वी-कसिण आदि में से किसी एक आलम्बन से, अभिज्ञा-पादक-ध्यान से उठकर अपने कुमार के रूप का आवर्जन करना चाहिये। आवर्जन करके परिकर्म के अन्त में फिर समापन्न हो, उठकर 'इस प्रकार का कुमार होऊँ' अधिष्ठान करना चाहिये। अधि-ष्ठान-चित्त के साथ देवदत्त के समान[1] कुमार होता है। इसी प्रकार सर्वत्र। 'हाथी को भी दिख-लाता है', आदि यहाँ बाहर[2] भी हाथी आदि को दिखलाने के अनुसार कहा गया है। वहाँ, 'हाथी होऊँ' अधिष्ठान करके "हाथी हो जाय" अधिष्ठान करना चाहिये। घोड़ा आदि में भी इसी प्रकार।

—यह विकुर्वण ऋद्धि है।

मनोमय ऋद्धि

मनोमय को करने का इच्छुक पादक-ध्यान से उठकर (अपने) शरीर का आवर्जन करके उक्त प्रकार से ही 'खोंखला हो जाय' अधिष्ठान करता है, तो खोंखला हो जाता है। तब उसके भीतर दूसरे शरीर का आवर्जन करके परिकर्म कर उक्त प्रकार से ही अधिष्ठान करता है। उसके भीतर दूसरा शरीर होता है। वह उसे मूँज से कण्डे के समान, म्यान से तलवार के समान और झँपोले से साँप के समान निकालता है। उसी से कहा गया है—"यहाँ भिक्षु, इस शरीर से दूसरे रूपी (= भौतिक), मनोमय, सभी अंग-प्रत्यंगों से युक्त परिपूर्ण इन्द्रियोंवाले शरीर का निर्माण करता है। जैसे कोई पुरुष मूँज से कण्डे को निकाले। उसके मन में ऐसा हो—'यह मूँज है, यह कण्डा है', दूसरी ही मूँज है और कण्डा दूसरा है। मूँज से ही कण्डा निकाला गया है।" आदि। जैसे यहाँ कण्डा आदि मूँज आदि के समान होते हैं, ऐसे ही मनोमय रूप ऋद्धिमान के समान ही होता है—इसे बतलाने के लिये ये उपमायें कही गई हैं।

—यह मनोमय ऋद्धि है।

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धि-मार्ग में
ऋद्धि-विध निर्देश नामक बारहवाँ परिच्छेद
समाप्त।

---

१. कथा के लिए दे० चुल्लवग्ग।

२. अपने को छोड़ दूसरे को बाहर कहते हैं।

तेरहवाँ परिच्छेद

अभिज्ञा-निर्देश

अब, दिव्य श्रोत्र-धातु का निर्देश-क्रम आ गया। उसके बाद की तीन अभिज्ञाओं में "सो एवं समाहिते चित्ते"[१] आदि का अर्थ उक्त प्रकार से ही जानना चाहिये। सब जगह विशेष-मात्र का ही वर्णन करेंगे।

२. दिव्य-श्रोत्र-धातु

यहाँ, **दिब्बाय सोतधातुया**—देवताओं के समान होने से दिव्य है। देवताओं की, सुचरित कर्म से उत्पन्न होने से पित्त, कफ, लोहू आदि के विघ्न रहित, उपक्लेश से विमुक्त होने से, दूर के भी आलम्बन को ग्रहण करने में समर्थ दिव्य प्रसाद वाली श्रोत्र-धातु होती है और यह भी, इस भिक्षु के उद्योग के भावना-बल से उत्पन्न ज्ञान श्रोत्र-धातु वैसी ही है, इसलिये देवताओं के समान होने से दिव्य है। दिव्य विहार के तौर पर प्राप्त होने और अपने दिव्य-विहार से युक्त होने से भी दिव्य है। सुनने और निर्जीव होने के अर्थ में श्रोत्र-धातु के काम को करने और श्रोत्र-धातु के समान होने से भी श्रोत्र-धातु है। उस दिव्य श्रोत्र-धातु से। **विसुद्धाय**—परिशुद्ध, क्लेश रहित से। **अतिक्कन्तमानुसिकाय**—मनुष्य के गोचर का अतिक्रमण कर शब्द सुनने से मानुषिक मांस की श्रोत्र-धातु का अतिक्रमण करने से, लाँघ कर स्थित होने से।

उभो सद्दे सुणाति—दोनों शब्दों को सुनता है। कौन से दोनों? दिव्य और मानुषिक। देवों और मनुष्यों के शब्दों को सुनता है—कहा गया है। इससे प्रदेश को ग्रहण करना जानना चाहिये। **ये दूरे सन्तिके च**—जो शब्द दूर दूसरे चक्रवाल में भी हैं और जो पास, यहाँ तक कि अपने शरीर में आश्रय किये हुए कीड़ों के शब्द भी हैं, उन्हें सुनता है—यह कहा गया है। इससे प्रदेश को नहीं ग्रहण करना जानना चाहिये।

कैसे इसे उत्पन्न करना चाहिये? उस भिक्षु को अभिज्ञा के पादक ध्यान को समापन्न होकर (उससे) उठ परिकर्म समाधि के चित्त से पहले प्रकृति श्रोत्र-पथ पर दूर के स्थूल जंगल में सिंह आदि के शब्द का आवर्जन करना चाहिये। विहार में घंटी के शब्द, भेरी के शब्द, शंख के शब्द, श्रामणेर-तरुण भिक्षुओं के खूब जोर-जोर से पाठ करते समय पाठ करने के शब्द, साधारण बातचीत करने वालों के "क्या है भन्ते, आवुसो" आदि शब्द, पक्षी के शब्द, वायु के शब्द, पैर के शब्द, खौलते हुए जल के चिटचिटाने के शब्द, धूप में सूखते हुए ताड़ के पत्ते के शब्द, चींटा-चींटी आदि के शब्द—ऐसे सब स्थूल से लेकर क्रमशः सूक्ष्म-सूक्ष्म शब्दों का आवर्जन करना चाहिये। उसे पूरब की दिशा के शब्दों के शब्द-निमित्त का मनस्कार करना चाहिये।

---

१. "सो एवं समाहिते चित्ते परिसुद्धे परियोदाते अनङ्गणे विगतूपक्किलेसे मुदुभूते कम्मनिये ठिते आनेञ्जप्पत्ते दिब्बाय सोतधातुया चित्तं अभिनीहरति अभिनिन्नामेति। सो दिब्बाय सोतधातुया विसुद्धाय अतिक्कन्तमानुसिकाय उभो सद्दे सुणाति दिब्बे च मानुसे च ये दूरे सन्तिके च।" [दीघ नि० १, २] परिपूर्ण पालि इस प्रकार है।

पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, नीचे, ऊपर की दिशा के और पूर्व की अनुदिशा (=कोण), पश्चिम, उत्तर, दक्षिण की भी अनुदिशा के शब्दों के शब्द-निमित्त का मनस्कार करना चाहिये। स्थूल और सूक्ष्म शब्दों के भी शब्द-निमित्त का मनस्कार करना चाहिये।

वे शब्द उसके प्राकृति-चित्त के लिये भी प्रगट होते हैं। किन्तु परिकर्म-समाधि के चित्त के लिये अत्यन्त प्रगट। उसे ऐसे शब्द-निमित्त का मनस्कार करते "अब दिव्य श्रोत्र-धातु उत्पन्न होगी" (सोच) उन शब्दों में से किसी एक को आलम्बन करके मनोद्वारावर्जन[1] उत्पन्न होता है। उसके निरुद्ध होने पर चार या पाँच जवन-चित्त दौड़ते हैं। जिनके पहले के तीन या चार परिकर्म, उपचार, अनुलोम, गोत्रभू नाम वाले कामावचर (के चित्त); चौथा या पाँचवाँ अर्पणा चित्त रूपावचर चतुर्थ-ध्यान वाला।

जो उस अर्पणा-चित्त के साथ उत्पन्न ज्ञान है, यह दिव्य श्रोत्र-धातु है—ऐसा जानना चाहिये। उसके पश्चात् उस स्रोत में पड़ी होती है। उसे बलवान् करने वाले को—"इसके बीच शब्द को सुनूँ" ऐसे एक अङ्गुल मात्र का परिच्छेद करके बढ़ाना चाहिये। उसके बाद दो अङ्गुल, चार अङ्गुल, आठ अङ्गुल, एक बालिश्त, एक हाथ, कोठरी के भीतर, बरामदा, प्रासाद, परिवेण (= आँगन), संघाराम, गोचर गाँव (= भिक्षाटन जाने का समीप का गाँव) जनपद आदि के अनुसार चक्रवाल तक या उससे भी अधिक का परिच्छेद करके बढ़ाना चाहिये।

ऐसे अभिज्ञा को प्राप्त किया हुआ यह (भिक्षु) पादक-ध्यान के आलम्बन से स्पर्श किये स्थान के बीच भी शब्दों को सुनता है। और ऐसे सुनते हुए यदि ब्रह्मलोक तक भी शंख, भेरी, नगाड़ा (= पणव) आदि के शब्दों से एक शोर होता है, तो अलग करके व्यवस्थापन की इच्छा होने पर—'यह शंख का शब्द है, यह भेरी का शब्द है' ऐसे व्यवस्थापन कर सकता ही है।

दिव्य-श्रोत्र-धातु-कथा समाप्त।

३. चैतोपर्य-ज्ञान

चैतोपर्य-ज्ञान-कथा में **चेतोपरियञाणाय**[2]—यहाँ, (सराग आदि के विभाग से) परिच्छेद करके जानता है, इसलिये पर्य कहते हैं। परिच्छेद करता है—अर्थ है। चित्त का पर्य चैतोपर्य है। वह चैतोपर्य है और ज्ञान भी है, इसलिये चैतोपर्य ज्ञान है। उसी के लिए—कहा गया है। **परसत्तानं**—अपने को छोड़कर शेष सत्त्वों का। **पर पुग्गलानं**—यह भी इससे एक ही अर्थ वाला है। किन्तु वैनेय (= सिखाये जाने वाले) व्यक्ति के अनुसार और उपदेश के ढंग से व्यञ्जनों का नानत्व किया गया है। **चेतसा चेतो**—अपने चित्त से उनके चित्त को। **परिच्च**—परिच्छेद करके। **पजानाति**—सराग आदि के रूप से नाना प्रकार से जानता है।

कैसे इस ज्ञान को उत्पन्न करना चाहिये? यह दिव्य-चक्षु के रूप में सिद्ध होता है।

---

१. दे० पहला भाग, पृष्ठ २३।

२. "चेतोपरियञाणाय चित्तं अभिनीहरति अभिनिन्नामेति। सो परसत्तानं परपुग्गलानं चेतसा चेतो परिच्च पजानाति, सरागं वा चित्तं……वीतरागं वा चित्तं…पे…अविमुत्तं वा चित्तं अविमुत्तं चित्तन्ति पजानाति" विस्तार के लिए देखिये, दीघ नि० १, २।

वह इसका परिकर्म है। इसलिये उस भिक्षु को आलोक को बढ़ाकर दिव्य-चक्षु से दूसरे के हृदय-रूप के सहारे वर्तमान लोहू के रंग को देखकर चित्त को ढूँढ़ना चाहिये। जब सौमनस्य-चित्त होता है, तब लाल पके बरगद के (फल के) समान होता है। जब दौर्मनस्य-चित्त होता है, तब काले पके जामुन के (फल के) समान और जब उपेक्षा-चित्त होता है, तब परिशुद्ध तिल के तेल के समान। इसलिए उसे, 'यह रूप सौमनस्येन्द्रिय से उत्पन्न हुआ है, यह दौर्मनस्येन्द्रिय से उत्पन्न हुआ है, यह उपेक्षेन्द्रिय से उत्पन्न हुआ है' दूसरे के हृदय के लोहू के रंग को देखकर चित्त को ढूँढ़ने से चैतोपर्य-ज्ञान को बलवान् करना चाहिये।

ऐसे उसके बलवान् होने पर क्रमशः सभी कमावचर-चित्त और रूपावचर-चित्त को बिना हृदय-रूप[1] को देखे, एक चित्त से (दूसरे) चित्त में ही जाते हुए भली प्रकार जानता है। अट्ठकथा में यह कहा भी गया है—"अरूप लोक में दूसरे के चित्त को जानने के लिये किसके हृदय-रूप को देखता है ? किसकी इन्द्रियों के विकार का अवलोकन करता है ? किसी के नहीं। यह ऋद्धिमान का विषय है, जो कि यह जहाँ कहीं भी चित्त का आवर्जन करते हुए सोलह प्रकार के चित्त को जानता है। किन्तु यह कथा अभिनिवेश नहीं किये हुए के अनुसार है।"

सरागं वा चित्तं—आदि में आठ प्रकार के[2] लोभ-सहगत चित्त को सराग चित्त जानना चाहिये। शेष चातुर्भूमक (=कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर, लोकोत्तर) चित्त को **वीतराग**। दो दौर्मनस्य-चित्त, दो विचिकित्सा और औद्धत्य—ये चार चित्त इस जोड़े में संगृहीत नहीं होते हैं। कोई-कोई स्थविर उन्हें भी संगृहीत करते हैं। दो प्रकार का दौर्मनस्य-चित्त **स-द्वेषचित्त** है। सभी चातुर्भूमक कुशल-अव्याकृत[3] चित्त **वीत-द्वेष** (=द्वेष से रहित) हैं। शेष दस अकुशल चित्त इस जोड़े में संगृहीत नहीं होते हैं। कोई-कोई स्थविर उन्हें भी संगृहीत करते हैं। **समोह-वीतमोह**—यहाँ, व्यक्तिगत रूप से विचिकित्सा और औद्धत्य सहगत दो ही **समोह** (=मोह सहित) हैं। किन्तु मोह के सब अकुशलों में होने से बारहों प्रकार के भी अकुशल चित्त को स-मोह जानना चाहिये, और शेष को **वीत-मोह**।

स्त्यान-मृद्ध में पड़ा हुआ (चित्त) **संक्षिप्त** (= संकुचित) है। औद्धत्य में पड़ा हुआ **विक्षिप्त** है। रूपावचर और अरूपावचर का (चित्त) **महद्गत** है। शेष **अ-महद्गत**। सभी त्रैभूमिक (= कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर) का (चित्त) **स-उत्तर** है। लोकोत्तर **अनुत्तर** है। उपचार और अर्पणा को प्राप्त हुआ (चित्त) **समाहित** (= एकाग्र) है और दोनों को नहीं प्राप्त हुआ **अ-समाहित**। (१) तदाङ्ग (२) विष्कम्भन (=दबा देना), (३) समुच्छेद (४) प्रतिप्रश्रब्धि (५) निस्तरण विमुक्तियों को प्राप्त **विमुक्त** है और पाँच प्रकार की भी इस विमुक्ति को नहीं प्राप्त किये हुये को **अ-विमुक्त** जानना चाहिये। इस प्रकार चैतोपर्य ज्ञान का लाभी भिक्षु इस सब प्रकार के भी, सराग चित्त को······या अविमुक्त चित्त को अ-विमुक्त चित्त है—भली प्रकार जानता है।

चैतोपर्य-ज्ञान कथा समाप्त।

---

१. हृदय-रूप, यहाँ हृदय-वस्तु को नहीं कहते हैं, प्रत्युत हृदय की मांस-पेशी का यह नाम है—टीका।

२. देखिये, अभिधम्मत्थ संगह १, ३।

३. विपाक और क्रिया-चित्त।

४. पूर्वेनिवासानुस्मृति-ज्ञान

पूर्वेनिवासानुस्मृति-ज्ञान की कथा में—**पुब्बेनिवासानुस्सतिञाणाय**[1]—पूर्वेनिवासानुस्मृति में जो ज्ञान है, उसके लिये। पूर्वेनिवास कहते हैं पहले भूतकाल के जन्मों में निवास किये हुए स्कन्धों को। निवास किये हुए का अर्थ है बसे हुए, अनुभव किये हुए, अपनी सन्तति (=परम्परा) में उत्पन्न होकर निरुद्ध हो गये। या निवास किये हुये धर्म। निवास किये हुए का अर्थ है गोचर-निवास से वास किये हुए, अपने विज्ञान से जाने हुए, परिच्छेद किये हुए। या दूसरे के विज्ञान से जाने गये हुए भी छिन्न हो गए संसार-चक्र वालों के अनुस्मरण करने आदि में, वे बुद्धों को ही प्राप्त होते हैं। पूर्वेनिवासानुस्मृति का अर्थ है—जिस स्मृति से पूर्वेनिवास का अनुस्मरण करता है, वह पूर्वेनिवासानुस्मृति है। ज्ञान कहते हैं—उस स्मृति से युक्त ज्ञान को। ऐसे, इस पूर्वेनिवासानुस्मृति ज्ञान के लिए।……। इस ज्ञान के अधिगम, प्राप्ति के लिए कहा गया है।

अनेक विहितं—अनेक विध या अनेक प्रकार से प्रवर्तित। विस्तार किया हुआ—अर्थ है। **पूर्वेनिवास को**—समानान्तर भूतकाल के जन्म को प्रारम्भ करके, वहाँ-वहाँ निवास की हुई सन्तति को। **अनुस्मरण करता है**—स्कन्धों की परिपाटी के तौर पर या च्युति, प्रतिसन्धि के तौर पर जा-जाकर स्मरण करता है।

इस पूर्वेनिवास को छः व्यक्ति अनुस्मरण करते हैं—दूसरे मतावलम्बी (=तीर्थ), प्रकृति-श्रावक[2], महाश्रावक[3], अग्रश्रावक, प्रत्येक-बुद्ध, बुद्ध।

अन्य मतावलम्बी चालीस कल्पों को ही अनुस्मरण करते हैं, उसके पश्चात् नहीं। क्यों? प्रज्ञा के दुर्बल होने से। उनकी प्रज्ञा नाम-रूप के परिच्छेद से विरहित होने से दुर्बल होती है। प्रकृति-श्रावक सौ कल्प को भी, हजार कल्प को भी अनुस्मरण करते हैं प्रज्ञा के बलवान् होने से। अस्सी महाश्रावक लाख कल्पों को अनुस्मरण करते हैं। दो अग्रश्रावक एक असंख्य लाख कल्पों को, प्रत्येक-बुद्ध दो असंख्य लाख कल्पों को। इतना ही उनका अभिनीहार[4] होता है। किन्तु बुद्धों के लिये परिच्छेद नहीं है।

अन्य मतावलम्बी स्कन्ध की परिपाटी को ही स्मरण करते हैं। परिपाटी को छोड़कर च्युति-प्रतिसन्धि के अनुसार स्मरण नहीं कर सकते हैं। उन्हें अन्धों के समान इच्छित प्रदेश में जाना नहीं है। जैसे कि अन्धे लाठी को नहीं छोड़कर चलते हैं, ऐसे ही वे स्कन्धों की परिपाटी को नहीं छोड़कर ही स्मरण करते हैं। प्रकृति-श्रावक स्कन्ध की परिपाटी से भी अनुस्मरण करते हैं और च्युति-प्रतिसन्धि के अनुसार भी संक्रमण करते हैं। वैसे ही अस्सी महाश्रावक। दोनों अग्र-श्रावकों को स्कन्ध की परिपाटी का काम नहीं है। एक आत्म-भाव (=शरीर) की च्युति को

---

१. पालि इस प्रकार है—"पुब्बेनिवासानुस्सतिञाणाय चित्तं अभिनीहरति अभिनिन्नामेति। सो अनेकविहितं पुब्बेनिवासं अनुस्सरति, सेय्यथीदं—एकम्पि जातिं··पे··इति साकारं सउद्देसं अनेकविहितं पुब्बेनिवासं अनुस्सरति।" दीघ नि० १, २।

२. अग्रश्रावक और महाश्रावकों को छोड़कर शेष सब बुद्ध के श्रावक प्रकृति श्रावक हैं।

३. अस्सी महाश्रावक।

४. पारमिताओं को पूर्ण करने का समय—सिंहल सन्नय।

देखकर प्रतिसन्धि को देखते हैं, फिर दूसरे की च्युति को देखकर प्रतिसन्धि को। ऐसे च्युति-प्रतिसन्धि के अनुसार ही संक्रमण करते हुए जाते हैं, वैसे ही प्रत्येकबुद्ध।

बुद्धों को न तो परिपाटी का काम है, न च्युति-प्रतिसन्धि के संक्रमण का काम है। उन्हें अनेक करोड़ कल्पों में नीचे या ऊपर जिस-जिस स्थान को चाहते हैं, प्रगट ही होता है। इसलिये अनेक भी करोड़ कल्पों को पेय्याल-पालि के समान संक्षेप करके जो-जो चाहते हैं, वहाँ-वहाँ ही जाते हुए सिंह के जाने के अनुसार जाते हैं। और ऐसे जाने वालों का ज्ञान, जैसे बाल को छेदने के लिये अभ्यास किये हुए सरभङ्ग[1] के समान धनुषधारी का फेंका हुआ बाण बीच में वृक्ष, लता आदि में नहीं चूकता हुआ निशाने पर ही गिरता है, नहीं चूकता है, नहीं विचलित होता है, ऐसे ही बीच-बीच के जन्मों में नहीं चूकते हैं, नहीं विचलित होते हैं, नहीं चूकते हुए, नहीं विचलित होते हुए चाहे-चाहे हुए स्थान को ही ग्रहण करते हैं।

और इन पूर्वेनिवास को अनुस्मरण करने वाले सत्त्वों में अन्य मतावलम्बियों का पूर्वे-निवास का दर्शन जुगनू (=खद्योत) की प्रभा के समान होकर जान पड़ता है। प्रकृति-श्रावकों का दीपक की प्रभा के समान, महाश्रावकोंका उल्का[2](=मशाल) की प्रभा के समान, अग्र-श्रावकों का औषधि-तारा (=शुक्रतारा) की प्रभा के समान, प्रत्येकबुद्धों का चन्द्रमा की प्रभा के समान, बुद्धों का हजारों रश्मियों से युक्त शरद के सूर्य्य-मण्डल के समान होकर जान पड़ता है।

अन्य मतावलम्बियों का पूर्वेनिवासानुस्मरण अन्धों की लाठी के सिरे के समान होता है, प्रकृति-श्रावकों का (एक) डण्डे से बनाये हुए पुल पर चलने के समान, महाश्रावकों का पैर से जानेवाले पुल के समान, अग्रश्रावकों का बैलगाड़ी के जानेवाले पुल के समान, प्रत्येकबुद्धों का महा-जनसमूह के जानेवाले मार्ग के समान, बुद्धों का महा-बैलगाड़ियों के जाने के मार्ग के समान। किन्तु इस अधिकार (= निर्दिष्ट समाधि-भावना) में श्रावकों का पूर्वेनिवासानुस्मरण (ही) अभिप्रेत है। इसलिए कहा है—"**अनुस्मरण करता है**—स्कन्धों की परिपाटी के तौर पर या च्युति-प्रतिसन्धि के तौर पर जा-जाकर स्मरण करता है।"

इसलिये ऐसे अनुस्मरण करना चाहनेवाले आदिकर्म्मिक (= प्रारम्भिक योगाभ्यासी) भिक्षु को भोजन के पश्चात् पिण्डपात से छुट्टी पाकर एकान्त में जा, चित्त को एकाग्र कर परि-पाटी से चार-ध्यानों को समापन्न होकर अभिज्ञा-पादक चतुर्थ-ध्यान से उठकर सबसे पिछली बैठक का आवर्जन करना चाहिये। उसके पश्चात् आसन का बिछाना, शयनासन में प्रवेश करना, पात्र-चीवर को सम्हालना, भोजन का समय, गाँव से आने का समय, गाँव में भिक्षा के लिये घूमा हुआ समय, गाँव में भिक्षा के लिये प्रविष्ट हुआ समय, विहार से निकलने का समय, चैत्य और बोधि को वन्दना करने का समय, पात्र धोने का समय, पात्र को फिर से लेने का समय, पात्र को फिर से लेने से लेकर मुख धोने तक के किये हुए काम, ऊषा के समय में किये हुए काम, बिचले पहर में किये हुए काम, प्रथम पहर में किये हुए काम—ऐसे प्रतिलोम के क्रम से सम्पूर्ण रात्रि-दिन के किये हुए काम का आवर्जन करना चाहिये।

इतना प्रकृति-चित्त के लिए भी प्रगट होता है, किन्तु परिकर्म-समाधि चित्त के लिये तो अत्यन्त ही प्रगट होता है। यदि यहाँ कुछ प्रगट नहीं होता है, तो फिर पादक-ध्यान को समापन्न हो उठकर आवर्जन करना चाहिये। इतने से दीपक के जलने के समान प्रगट होता है।

१. दे० जातकट्ठकथा ५२१।

२. 'उल्का दण्ड बेठक'— पुराण सन्नय।

ऐसे प्रतिलोम के क्रम से ही दूसरे दिन भी, तीसरे, चौथे, पाँचवें दिन भी, दस दिन पर भी, आधा महीना पर भी, एक महीना पर भी, वर्ष तक भी किये हुए काम का आवर्जन करना चाहिये।

इसी उपाय से, दस वर्ष, बीस वर्ष—जब तक इस जन्म में अपनी प्रतिसन्धि है, तब तक आवर्जन करनेवाले को पहले जन्म के च्युति-क्षण में प्रवर्तित नामरूप का आवर्जन करना चाहिये। पण्डित भिक्षु पहली बार में ही प्रतिसन्धि को उघाड़ कर च्युति-क्षण में नामरूप को आलम्बन करने में समर्थ होता है।

चूँकि पहले जन्म में नामरूप बिल्कुल निरुद्ध हो गया, दूसरा उत्पन्न हुआ, इसलिये वह स्थान ऊपर और चारों ओर से ढँके हुए सँकरे स्थान के अन्धकार के समान होता है। वह दुष्प्रज्ञ के लिए दुर्दृश्य होता है। किन्तु उसे भी "मैं प्रतिसन्धि को उघाड़कर च्युति के क्षण-प्रवर्तित नामरूप को आलम्बन नहीं कर सकता हूँ।" ऐसे बिल्कुल अलग नहीं हो जाना चाहिये। उसी पादक-ध्यान को बार-बार समापन्न होना चाहिये और उससे उठ-उठकर उस स्थान का आवर्जन करना चाहिये।

ऐसा करते हुए, जैसे कि बलवान् पुरुष कूटागार की कर्णिका (= कूट) के लिये बहुत बड़े वृक्ष को काटते हुए शाखा-पलाश (= डाल-पात) मात्र के काँटने से ही टाँगी की धार के भोथर हो जाने पर बड़े वृक्ष को नहीं काट सकते हुए भी भार नहीं टाल कर ही लोहार की शाला (=लोहसाँइ) में जाकर टाँगी को तेज करवा, फिर आकर काटे और फिर भोथर होने पर फिर भी वैसा ही करवा काटे। वह ऐसे काटते हुए, कटे-कटे हुए को फिर काटने के अभाव से और नहीं कटे हुए को काटने से थोड़े ही समय में बड़े वृक्ष को गिरा डाले, ऐसे ही पादक-ध्यान से उठकर पहले आवर्जन करते हुए थोड़े ही समय में प्रतिसन्धि को उघाड़ कर च्युति के क्षण प्रवर्तित नामरूप का अवलम्बन करे। काष्ठ फाड़ने वाले और बाल बनाने वाले आदि (व्यक्तियों) से भी इस अर्थ को प्रकाशित करना चाहिये।

वहाँ, पिछली बैठक से लेकर प्रतिसन्धि तक आलम्बन करके प्रवर्तित ज्ञान पूर्वेनिवास-ज्ञान नहीं होता है। वह परिकर्म-समाधि-ज्ञान होता है। अतीतांश-ज्ञान भी कोई-कोई कहते हैं, किन्तु वह रूपावचर के लिए युक्त नहीं होता है। जब इस भिक्षु को प्रतिसन्धि का अतिक्रमण कर च्युति के क्षण प्रवर्तित नामरूप को आलम्बन करके मनोद्वारावर्जन उत्पन्न होता है और उसके निरुद्ध होने पर उसी को आलम्बन करके चार या पाँच जवन दौड़ते हैं, जिनके पहले कहे गये प्रकार से ही पहले के परिकर्म आदि नामवाले कामावचर के होते हैं और पिछला रूपावचर के चतुर्थ-ध्यान का अर्पणा-चित्त। तब इसे, जो उस चित्त के साथ ज्ञान उत्पन्न होता है, इसे पूर्वे निवासानुस्मृति-ज्ञान कहते हैं। उस ज्ञान से युक्त स्मृति से—"नाना प्रकार पूर्वेनिवास का अनुस्मरण करता है। जैसे कि, एक भी जन्म को, दो भी जन्मों को······इस तरह आकार-प्रकार के साथ पूर्वेनिवास का अनुस्मरण करता है।"[1]

वहाँ, **एक भी जन्म को**—एक भी प्रतिसन्धि-मूल को च्युति के अन्त तक, एक जन्म में हुए स्कन्धों की परम्परा को। इसी प्रकार **दो भी जन्मों को** आदि में भी। **अनेक संवर्त्त कल्पों को** आदि में परिहानि होता हुआ कल्प संवर्त्त-कल्प और बढ़ता हुआ कल्प विवर्त्त-कल्प है—ऐसा जानना चाहिये।

---

१. दीघ नि० १, २।

चार असंख्य कल्प

संवर्त्त (-कल्प) में संवर्त्त-स्थायी (-कल्प) भी उसका मूल होने से आया हुआ है और विवर्त्त में विवर्त्तस्थायी। ऐसा होने पर जो वे—"भिक्षुओ, ये चार असंख्य कल्प हैं। कौन से चार ? संवर्त्त, संवर्त्तस्थायी, विवर्त्त, विवर्त्तस्थायी।[1]" कहे गये हैं, वे आये हुए हैं।

संवर्त्त-कल्प : प्रलय

तीन संवर्त्त हैं—(१) जल-संवर्त्त (२) अग्नि-संवर्त्त (३) वायु-संवर्त्त। तीन संवर्त्त की सीमायें हैं—आभास्वर, शुभकृष्ण, वृहत्फल।

अग्नि से प्रलय

जब कल्प का अग्नि से संवर्त्त (=प्रलय) होता है, तो आभास्वर से नीचे अग्नि से जल जाता है। जब जल से संवर्त्त होता है, तो शुभकृष्ण से नीचे जल से घुल जाता है। जब वायु से संवर्त्त होता है, तो वृहत्फल से नीचे वायु से विध्वंस हो जाता है। विस्तार से सर्वदा भी एक बुद्ध-क्षेत्र का विनाश होता है।

बुद्ध-क्षेत्र

बुद्ध-क्षेत्र तीन प्रकार का होता है—उत्पत्ति-क्षेत्र, आज्ञा-क्षेत्र और विषय-क्षेत्र। उनमें उत्पत्ति-क्षेत्र दस हजार चक्रवालों तक होता है, जो तथागत के प्रतिसन्धि ग्रहण करने आदि के समय प्रकम्पित होता है। आज्ञा-क्षेत्र दस खरब चक्रवालों तक होता है, जहाँ **रतन-सुत्त**[2], **खन्ध-परित्त**[3], **धजग्ग-परित्त**[4], **अटानाटिय परित्त**[5], **मोर परित्त**[6]—इन परित्तों (=परित्राणों) का आनुभाव होता है। विषय-क्षेत्र अनन्त, अपरिमाण है, जो 'जितना चाहे'[7] कहा गया है। जहाँ जिसे-जिसे तथागत चाहते हैं, उसे-उसे जानते हैं। ऐसे इन तीनों बुद्ध-क्षेत्रों में एक आज्ञा क्षेत्र विनष्ट हो जाता है। उसके विनष्ट होने पर उत्पत्ति-क्षेत्र भी विनष्ट ही हो जाता है और विनष्ट होते हुए एक ही साथ विनष्ट होता है, बनते हुए भी एक ही साथ बनता है।

उसके प्रलय और सृष्टि को इस प्रकार जानना चाहिये—जिस समय कल्प अग्नि से नष्ट होता है, प्रारम्भ से ही कल्प को विनाश करनेवाला महामेघ उठकर दस खरब चक्रवालों में एक महावृष्टि करता है। मनुष्य अत्यन्त प्रसन्न होकर सब बीजों को निकालकर बो देते हैं। फसल के गायों द्वारा खाने योग्य मात्र के होने पर गदहे की बोली बोलते हुए एक भी बूँद (जल) नहीं बरसता है। उस समय खुली हुई वर्षा, खुली ही रह जाती है। इसके प्रति ही भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ, एक वह समय होता है, जब कि बहुत वर्ष, बहुत सैकड़ों वर्ष, बहुत

---

१. अंत्तर नि० ४, १, ६।
२. सुत्तनिपात २, १।
३. चुल्लवग्ग।
४. संयुत्त नि० ११, १, ३।
५. दीघ नि० ३, ९।
६. जातकट्ठ० १५९।
७. अंगुत्तर नि० ३, ३, १०।

हजारों वर्ष, बहुत लाखों वर्ष पानी नहीं बरसता है।[1]" वर्षा से जीनेवाले प्राणी और पुष्प, फल से जीनेवाले देवता मरकर ब्रह्मलोक में उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार दीर्घकाल के बीत जाने पर उस-उस स्थान का जल सूख जाता है, तब क्रमशः मछली, कछुये भी मरकर ब्रह्मलोक[2] में उत्पन्न होते हैं, निरय (=नरक) के प्राणी भी। उनमें निरयवाले (प्राणी) सातवें सूर्य के प्रादुर्भाव से विनष्ट हो जाते हैं—ऐसा कोई-कोई कहते हैं। ध्यान के बिना ब्रह्मलोक में उत्पत्ति नहीं होती है और इनमें से कोई-कोई दुर्भिक्ष से पीड़ित होते हैं, कोई-कोई ध्यान की प्राप्ति के लिये अभव्य (=अयोग्य) होते हैं, वे कैसे वहाँ उत्पन्न होते हैं? देवलोक में प्राप्त हुए ध्यान से।

उस समय 'लाख वर्ष के बीतने पर कल्प का विनाश (=प्रलय) होगा' लोक-व्यूह[3] नामक कामावचर के देवता खुले शिर, बाल बिखेरे रोते हुए मुख वाले, आँसुओं को हाथों से पोंछते हुए, लाल रंग के वस्त्र पहने अत्यन्त विरूप भेष धारण करके मनुष्य लोक में घूमते हुए ऐसा कहते हैं—"मार्ष[4], अब से लाख वर्ष के बीतने पर कल्प का विनाश होगा, यह लोक विनष्ट हो जायेगा, महासमुद्र भी बिल्कुल सूख जायेगा, यह महापृथ्वी और पर्वतराज सिनेरु जल जायेंगे, विनष्ट हो जायेंगे, ब्रह्मलोक तक लोक का विनाश होगा। मार्ष, मैत्री की भावना करो, करुणा, मुदिता, उपेक्षा की भावना करो। माता की सेवा करो। पिता की सेवा करो। कुल के ज्येष्ठ लोगों का सत्कार करने वाला बनो।"

उनकी बात सुनकर अधिकांश मनुष्य और भूमि पर रहने वाले देवता संवेग (=खेद) को प्राप्त हो, परस्पर मृदु-चित्त वाले होकर मैत्री आदि पुण्य (कर्मों) को करके देवलोक में उत्पन्न होते हैं। वहाँ दिव्य सुधा-भोजन को खाकर वायु-कसिण में परिकर्म करके ध्यान को प्राप्त होते हैं। किन्तु अन्य (=निरय वाले) अपरापर्य वेदनीय[5] कर्म से देवलोक में उत्पन्न होते हैं। अपरापर्य वेदनीय कर्म रहित संसार में चक्कर काटता हुआ कोई सत्व नहीं है। वे भी वहाँ, वहीं ध्यान को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार देवलोक में ध्यान प्राप्त किये हुए सभी ब्रह्मलोक में उत्पन्न होते हैं।

वर्षा के बन्द होने के आगे दीर्घकाल के बीतने पर दूसरा सूर्य्य निकलता है। भगवान् ने यह कहा भी है—"भिक्षुओ, एक वह समय होता है।"[6] सप्तसूर्य्य (सूत्र) का विस्तार करना चाहिये। उसके निकलने पर न तो रात्रि का परिच्छेद जान पड़ता है और न दिन का ही। एक सूर्य्य निकलता है, तो एक डूबता है। लोक अटूटसूर्य-सन्ताप वाला ही होता है। जैसे कि साधारण सूर्य्य में सूर्य्य देवपुत्र होता है, ऐसे कल्प-विनाश (=प्रलय) करने वाले सूर्य्य में नहीं होता

१. अंगुत्तर नि० ७, ७ २।

२. परित्राभ आदि ब्रह्मलोक में जानना चाहिये, जो कि दूसरी भूमि है, प्रथम-भूमि सर्वदा विनष्ट होती है।

३. लोगों को एकत्र करने से उन्हें लोक-व्यूह कहते हैं, क्योंकि मनुष्य उन्हें देखकर संविग्न और दुःखित हो, उनके पास एकत्र होते हैं—टीका।

४. यह देवताओं के बातचीत करने का प्रिय वचन है।

५. देखिये, उन्नीसवाँ परिच्छेद।

६. अंगुत्तर नि० ७, ७, २।

हैं। साधारण-सूर्य के आकाश में रहते हुए बादल भी, धूँआ भी घूमते हैं, किन्तु कल्प को विनाश करने वाले सूर्य्य के होने पर धूँआ-बादल रहित आकाश-मण्डल के समान निर्मल आकाश होता है। पाँच महानदियों[1] को छोड़कर शेष छोटी नदी आदि का पानी सूख जाता है।

उससे भी दीर्घकाल के बीतने पर तीसरा सूर्य्य निकलता है, जिसके निकलने से महानदियाँ भी सूख जाती हैं। उससे भी दीर्घकाल बीतने पर चौथा सूर्य्य निकलता है, जिसके निकलने से हिमालय में महानदियों के निकलने के स्थान सिंहप्रपातन, हंसप्रपातन, कर्णमुण्डक, रथकार ह्रद, अनवतप्त ह्रद, छद्दन्त ह्रद, कुणाल ह्रद—ये सात महासरोवर सूख जाते हैं। उससे भी दीर्घकाल के बीतने पर पाँचवाँ सूर्य्य निकलता है, जिसके निकलने से क्रमशः महासमुद्र में अंगुली के पर्व को भिगोने मात्र के लिये भी पानी नहीं रहता है। उससे भी दीर्घकाल के बीतने पर छठाँ सूर्य्य निकलता है, जिसके निकलने से सारा चक्रवाल एक धूँआ वाला हो जाता है। धूँए से उसकी तरलता सूख जाती है। जैसे यह (चक्रवाल) ऐसे ही दस खरब चक्रवाल भी।

उससे भी दीर्घकाल के बीतने पर सातवाँ सूर्य्य निकलता है, जिसके निकलने से सारा चक्रवाल दस खरब चक्रवालों के साथ एक ज्वाला हो जाता है। सौ योजन वाली सिनेरु की चोटियाँ भी टूटकर आकाश में ही अन्तर्धान हो जाती हैं। वह अग्नि की ज्वाला उठकर चातुर्महाराजिकों को पकड़ती है। वहाँ, कनक-विमान, रत्न-विमान, मणि-विमान को जलाकर तावतिंस (=त्रायस्त्रिंश) भवन को पकड़ती है। इसी क्रम से प्रथम ध्यान की भूमि तक पकड़ती (चली जाती) है। वहाँ तीनों भी ब्रह्मलोकों को जलाकर आभास्वर में लग कर रुकती है। वह जब तक अणु मात्र भी संस्कार-गत होता है, तब तक नहीं बुझती है। सब संस्कारों के क्षीण हो जाने पर घी, तेल से जलानेवाले अग्नि की शिखा के समान छार को भी शेष न रखकर बुझती है। नीचे के आकाश के साथ ऊपर का आकाश एक महाअन्धकार होता है।

विवर्त्त-कल्प : सृष्टि

तब दीर्घकाल के बीतने पर महामेघ उठकर पहले सूक्ष्म वर्षा करता है, क्रमशः मृणाल, लाठी, मूसल, ताड़-स्कन्ध आदि प्रमाण की (जल-) धाराओं से बरसते हुए दस खरब चक्रवालों में सब जले हुए स्थान को भरकर अन्र्धान हो जाता है। वह जल नीचे और तिरछे, वायु उठाकर गोल पद्मिनी के पत्ते में पानी की बूँद के समान घना करता है। कैसे महान जल-राशि को घना करता है? विवर को पूर्ण करने से। वह (वायु) इसमें जहाँ तहाँ विवर कर देता है।

वह ऐसे वायु से गोल किया जाता, घना किया जाता, खत्म किया जाता, क्रमशः नीचे उतरता है। पानी के उतरे-उतरे हुए स्थान पर ब्रह्मलोक के स्थान में ब्रह्मलोक और ऊपर के

---

१. पाँच महानदियाँ हैं—गङ्गा, यमुना, अचिरवती (= राप्ती), सरयू और मही (= बड़ी गंडक); किन्तु सिंहल सन्नय में अचिरवती के स्थान पर सरस्वती आया है, जो ठीक नहीं है, क्योंकि अभिधानप्पदीपिका में कहा है—"गंगाचिरवती चेव यमुना सरभू मही। इमा महानदी पञ्च... ॥ ६८२ ॥"

चार कामावचर के देवलोकों के स्थान में देवलोक प्रगट होते हैं।[1] पूर्व की पृथ्वी के स्थान में उतरने पर बड़ी तेज वायु उत्पन्न होती है, वह उसे मुँह बन्द धर्मकरक (=पानी छानने का बर्तन विशेष) में स्थित पानी के समान जोर-रहित करके रोकती है। मीठा जल क्षय होते हुए, (उसके) ऊपर रस-पृथ्वी को उत्पन्न करता है। वह वर्ण, गन्ध और रस से युक्त पानी रहित पकायी हुई खीर के ऊपरी पटल के समान होती है।

उस समय आभास्वर ब्रह्मलोक में प्रथमतर उत्पन्न हुए सत्त्व आयु के क्षय से या पुण्य के क्षय से वहाँ से च्युत होकर यहाँ उत्पन्न होते हैं। वे प्रभावान् और आकाश में विचरण करनेवाले होते हैं। अग्गञ्ञ सुत्त[2] में कहे गये प्रकार से वे उस रस-पृथ्वी को चाटकर (रस-) तृष्णा के वशीभूत हो आलोप करके[3] खाने का प्रयत्न करते हैं। तब उनकी प्रभा अन्तर्धान हो जाती है। अन्धकार हो जाता है। वे अन्धकार को देखकर डरते हैं।

उसके पश्चात् उनके डर का नाश कर सूर-भाव को उत्पन्न करता हुआ परिपूर्ण पचास योजन का सूर्य्य-मण्डल प्रगट होता है। वे उसे देखकर "हम लोक-आलोक को पाये" बहुत ही प्रसन्न होकर "हम डरे हुये लोगों के भय को नाश करके सूर-भाव को उत्पन्न करता हुआ निकला है, इसलिये इसका नाम 'सूर्य्य' हो" (कह कर) सूर्य्य ही उसका नाम रखते हैं। तब दिन भर आलोक करके सूर्य्य के डूबने पर "जिस भी आलोक को हम पाये, वह भी हम लोगों का नाश हो गया" फिर भयभीत होते हैं। उन्हें ऐसा होता है—"बहुत अच्छा हो, यदि अन्य आलोक पायें।"

उनके चित्त को जानकर (निकलने) के समान उंचास (४९) योजन का चन्द्रमण्डल प्रगट होता है। वे उसे देखकर अत्यन्त अधिक प्रसन्न होकर "हम लोगों के छन्द (= चित्त की गति) को जानकर (निकलने के) समान निकला है, इसलिये (इसका नाम) 'चन्द्र' हो।" चन्द्र ही उसका नाम रखते हैं।

ऐसे चन्द्र-सूर्य्य के प्रगट होने पर नक्षत्र, तारे प्रगट होते हैं। उस समय से लेकर रात्रि, दिन जान पड़ते हैं। क्रमशः महीना, आधा महीना, ऋतु, वर्ष।

चन्द्र-सूर्य्य के प्रगट होने के दिन ही सिनेरु,[4] चक्रवाल, हिमालय पर्वत प्रगट होते हैं और वे न पहले, न पीछे फाल्गुण पूर्णिमा के दिन ही प्रगट होते हैं। कैसे? जैसे कि टाँगुन (=कङ्गु) के भात को पकाने के समय एक साथ ही बुलबुले उठते हैं, कोई-कोई भाग ऊँचे-ऊँचे होते हैं, कोई-कोई नीचे-नीचे और कोई-कोई बराबर-बराबर। ऐसे ही ऊँचे-ऊँचे स्थान में पर्वत होते हैं, नीचे-नीचे स्थान में समुद्र और बराबर-बराबर स्थान में द्वीप।

तब उन सत्त्वों के रस-पृथ्वी को खाते हुए क्रम से कोई-कोई रूपवान्, कोई-कोई कुरूप होते हैं। उनमें रूपवान् कुरूपों का अपमान करते हैं। उनके अतिमान के कारण वह भी रस-पृथ्वी अन्तर्धान हो जाती है। भूमि की पपड़ी प्रगट होती है। तब उनके उसी प्रकार (होने से)

---

१. याम देवलोक आदि चारों के प्रतिष्ठित होने के स्थान पर प्रगट होते हैं, किन्तु पृथ्वी से सम्बन्ध होने के कारण चातुर्महाराजिक और त्रायस्त्रिंश देवलोक अभी प्रगट नहीं होते हैं—टीका।

२. दीघ नि० ३, ४।

३. लूट-लूटकर—टीका और सिंहल सन्नय।

४. सिनेरु पर्वत का ही नाम नेरु, सुमेरु, मेरु और त्रिदिवाधार है—दे० अभिधान० २६।

वह भी अन्तर्धान हो जाती है। बदालता[1] प्रगट होती है। उसी प्रकार वह भी अन्तर्धान हो जाती है। अकृष्ट-पच्य (= बिना बोया जोता) धान प्रगट होता है, जो कण-भूसी रहित, शुद्ध, सुगन्धित, चावल-फल वाला होता है।

उसके पश्चात् उनके लिये बर्तन प्रगट होते हैं। वे चावल को बर्तन में रखकर पत्थर के ऊपर रखते हैं। स्वयं आग की लपट उठकर उसे पकाती है। वह भात चमेली (=सुमन जाति) के समान होता है। उसे सूप या व्यञ्जन से काम नहीं होता है। जिस-जिस रस का भोजन करना चाहते हैं, वह-वह रस ही होता है।

उन्हें उस स्थूल आहार को खाने से पेशाब-पाखाना उत्पन्न होता है। तब उन्हें उसके निकलने के लिये व्रण-मुख फूटते हैं। पुरुष को पुल्लिंग, स्त्री को स्त्रीलिंग प्रगट होता है। उनमें स्त्री पुरुष को और पुरुष स्त्री को बहुत देर तक टकटकी लगाकर देखता है। उनके बहुत देर तक टकटकी लगाकर देखने के कारण काम (-भोग सम्बन्धी) परिदाह उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् मैथुन-धर्म का सेवन करते हैं।

वे अ-सद्धर्म के सेवन के कारण विज्ञों द्वारा निन्दित होते, परेशान होते, उस अ-सद्धर्म को ढँकने के लिये घर बनाते हैं। वे घर में रहते हुए क्रमशः किसी एक आलसी सत्त्व की देखा-देखी एकत्र करने लगते हैं। तब से लेकर कण भी, भूसी भी चावल को ऊपर से ढँक लेती हैं। काटा हुआ स्थान भी फिर नहीं बढ़ता है। वे एकत्र होकर चिल्लाने लगते हैं—"हम प्राणियों में पाप-धर्म प्रगट हो रहे हैं, हम लोग पहले मनोमय थे।" अग्गञ्ञ सुत्त[2] में कहे गये प्रकार से विस्तार करना चाहिये।

उसके पश्चात् मेंड़ (= मर्यादा) बाँधते हैं। तब कोई सत्त्व दूसरे के भाग की चोरी करता है। उसे दो बार परिभाषण (= निन्दा) करके, तीसरी बार हाथ, ढेले, डण्डे आदि से मारते हैं। वे इस प्रकार चोरी, निन्दा, झूठ, डण्डा लेने के उत्पन्न होने पर इकट्ठे होकर विचार करते हैं—"क्यों न हम एक सत्त्व को चुनें, जो हम लोगों की यथायोग्य निन्दा करने लायक की निन्दा करे, अपमान करने लायक का अपमान करे, निर्वासन करने लायक का निर्वासन करे, हम लोग उसे धान का भाग देंगे।"

ऐसे सत्त्वों के निश्चय करने पर इस कल्प में यही भगवान् बोधिसत्त्व हुए, उस समय उन सत्त्वों में सुन्दरतर, दर्शनीय, प्रासादिक और महाशक्तिशाली, बुद्धिमान्, निग्रह और संग्रह करने में दक्ष हुए थे। वे उनके पास गये और याचना करके चुने। वे उस महाजन-समूह द्वारा सम्मत होने से **महासम्मत**, क्षेत्रों का स्वामी होने से **क्षत्रिय-धर्म** और सम (-चर्या) से दूसरों को रञ्जन (= प्रसन्न) करने से **राजा**—इस प्रकार तीन नामों से जाने गये। यह लोक में आश्चर्य की बात है कि बोधिसत्त्व ही आदिपुरुष हैं। ऐसे बोधिसत्त्व से लेकर क्षत्रिय-मण्डल (= राजवंश) के बनने पर क्रमशः ब्राह्मण आदि भी वर्ण बने।

वहाँ, कल्प को विनाश करने वाले महामेघ से ज्वाला के नाश होने तक—यह एक असंख्य **संवर्त्त** (-कल्प) कहा जाता है। कल्प को विनाश करने वाली ज्वाला के नाश होने से दस खरब चक्रवालों को परिपूर्ण करने वाले महामेघ के आने तक—यह दूसरा असंख्य **संवर्त्तस्थायी** (-कल्प)

१. मधुर रसवाली एक लता विशेष। दीघनिकाय में 'भद्रलता' कहा गया है।

२. दीघ नि० ३, ४।

कहा जाता है। महामेघ के आने से चन्द्र-सूर्य्य के प्रगट होने तक—यह तीसरा असंख्य **विवर्त्त** (-कल्प) कहा जाता है। चन्द्र-सूर्य्य के प्रगट होने से फिर कल्प को विनाश करने वाले महामेघ तक—यह चौथा असंख्य **विवर्त्तस्थायी** (-कल्प) कहा जाता है। इन चार असंख्य कल्पों का एक **महाकल्प** होता है। इस प्रकार अग्नि से प्रलय और सृष्टि को जानना चाहिये।

जल से प्रलय और सृष्टि

जिस समय जल से कल्प का विनाश होता है, प्रारम्भ से ही कल्प को विनाश करनेवाला महामेघ उठकर—ऐसे पहले कहे गये प्रकार से ही विस्तार करना चाहिये।

यह विशेषता है—जैसे वहाँ दूसरा सूर्य्य होता है, ऐसे यहाँ कल्प को विनाश करने वाला खारे जल का महामेघ उठता है। वह प्रारम्भ से सूक्ष्म-सूक्ष्म वर्षा करते हुए क्रमशः महाधाराओं से दस खरब चक्रवालों को पूर्ण करते हुए बरसता है। खारे जल से स्पर्श किये—स्पर्श किये हुए स्थान पृथ्वी, पर्वत आदि घुल जाते हैं। जल चारों ओर वायु से धारण किया जाता है। पृथ्वी से द्वितीय-ध्यान की भूमि तक जल चला जाता है। वहाँ तीनों भी ब्रह्मलोकों[1] को घुलाकर शुभकृष्ण से लगकर ठहरता है। वह जब तक अणु मात्र भी संस्कार-गत होता है, तब तक नहीं शान्त होता है। जल में गये हुए सब संस्कारों का नाश करके सहसा शान्त हो जाता है। अन्तर्धान हो जाता है। नीचे के आकाश के साथ ऊपर का आकाश एक अन्धकार हो जाता है—ऐसे सब कहे गये के समान। केवल यहाँ आभास्वर ब्रह्मलोक से प्रारम्भ करके लोक प्रगट होता है और शुभकृष्ण से च्युत होकर आभास्वर स्थान आदि में सत्त्व उत्पन्न होते हैं।

वहाँ, कल्प को विनाश करने वाले महामेघ से लेकर कल्प को विनाश करने वाले जल के बन्द होने तक—यह एक असंख्य है। जल के बन्द होने से महामेघ के आने तक—यह दूसरा असंख्य है। महामेघ के आने से······इन चार असंख्यों का एक महाकल्प होता है। इस प्रकार जल से प्रलय और सृष्टि को जानना चाहिये।

वायु से प्रलय और सृष्टि

जिस समय वायु से कल्प का विनाश होता है, प्रारम्भ से ही कल्प को विनाश करने वाला महामेघ उठकर—ऐसे पहले कहे गये प्रकार से ही विस्तार करना चाहिए।

यह विशेषता है—जैसे वहाँ दूसरा सूर्य्य होता है, ऐसे ही यहाँ कल्प को विनाश करने के लिए वायु चलती है, वह पहले मोटी धूल उड़ाती है, उसके बाद सूक्ष्म धूल, सूक्ष्म बालू, मोटी बालू, कंकड़-पत्थर आदि—ऐसे कूटागार के बराबर पत्थर और विषम स्थान में रहने वाले महावृक्षों तक को उड़ाता है। वे पृथ्वी से आकाश में ऊपर जाकर फिर नहीं गिरते हैं, वहीं चूर्ण-विचूर्ण होकर अभाव को प्राप्त हो जाते हैं।

तब क्रमशः महापृथ्वी के नीचे से वायु उठकर पृथ्वी को उलट कर मूल को ऊपर करके आकाश में फेंक देती है। सौ योजन के बराबर भी पृथ्वी का प्रदेश दो, तीन, चार, पाँच सौ योजन के बराबर भी टूटकर वायु के वेग से फेंके हुए आकाश में ही चूर्ण-विचूर्ण होकर अभाव को प्राप्त हो जाते हैं। चक्रवाल पर्वत को भी, सिनेरु पर्वत को भी, वायु उड़ाकर आकाश में फेंक देती

१. परित्ताभ, अप्रमाणाभ, आभास्वर ब्रह्मलोकों को।

है। वे परस्पर टक्कर मारकर चूर्ण-विचूर्ण हो विनष्ट हो जाते हैं। इसी क्रम से भूमि पर रहनेवाले विमानों और आकाश में रहनेवाले विमानों को विनाश करते हुए छः कामावचर के देवलोकों को विनष्ट कर दस खरब चक्रवालों को विनाश कर देती है। चक्रवाल चक्रवालों से, हिमालय हिमालयों से, सिनेरु सिनेरुओं से परस्पर टक्कर मार कर चूर्ण-विचूर्ण हो विनष्ट हो जाते हैं।

पृथ्वी से तृतीय-ध्यान की भूमि तक वायु चली जाती है। वहाँ तीनों ब्रह्मलोकों को विनष्ट करके वृहत्फल से लगकर ठहरती है। इस प्रकार सब संस्कारगत को विनाश कर स्वयं भी नाश हो जाती है। नीचे के आकाश के साथ ऊपर का आकाश एक महाअन्धकार हो जाता है। ऐसे सब कहे गये के समान। यहाँ शुभकृष्ण ब्रह्मलोक से प्रारम्भ करके लोक प्रगट होता है और वृहत्फल से च्युत होकर शुभकृष्ण स्थान आदि में सत्त्व उत्पन्न होते हैं।

वहाँ, कल्प को विनाश करनेवाले महामेघ से लेकर कल्प को विनाश करनेवाली वायु के बन्द होने तक—यह एक असंख्य है। वायु के बन्द होने से लेकर महामेघ के आने तक—यह दूसरा असंख्य है।···इन चार असंख्यों का एक महाकल्प होता है। इस प्रकार वायु से प्रलय और सृष्टि को जानना चाहिए।

प्रलय और उसका कारण

किस कारण से लोक ऐसे विनष्ट होता है? अकुशल-मूल के कारण से। अकुशल के मूलों की अधिकता होने पर लोक ऐसे विनष्ट होता है और वह राग के अधिकतर होने पर अग्नि से विनष्ट होता है। द्वेष के अधिकतर होने पर जल से विनष्ट होता है। कोई-कोई द्वेष के अधिकतर होने पर अग्नि से, और राग के अधिकतर होने पर जल से—कहते हैं। मोह के अधिकतर होने पर वायु से विनष्ट होता है।[१]

और ऐसे विनाश होते हुए भी लगातार सात बार अग्नि से नाश होता है, आठवीं बार जल से, फिर सात बार अग्नि से, आठवीं बार जल से—इस तरह आठवीं-आठवीं बार विनाश होते हुए सात वार जल से विनाश होकर, फिर सात बार अग्नि से विनाश होता है। इतने में तिरसठ कल्प बीत जाते हैं। इस बीच जल से नाश होने वाली आई हुई बार को भी हटाकर अवसर पा वायु परिपूर्ण चौंसठ कल्प की आयु वाले शुभकृष्णों को विध्वंस करती हुई लोक का विनाश करती है।[२]

पूर्वेनिवास का अनुस्मरण करते हुए भी कल्पों का अनुस्मरण करने वाला भिक्षु इन कल्पों में से अनेक संवर्त कल्पों को भी, अनेक विवर्त कल्पों को भी, अनेक संवर्त-विवर्त कल्पों को भी अनुस्मरण करता है। कैसे ? 'मैं अमुक जगह था' आदि प्रकार से। वहाँ, **मैं अमुक जगह था** का अर्थ है अमुक संवर्त कल्प में, मैं अमुक भव, योनि, गति, विज्ञान की स्थिति, सत्त्वों के रहने के स्थान (=सत्तावास) या सत्त्व-समूह में था।

---

१. सत्त्वों को राग बहुत होता है, इसलिए राग द्वारा अधिकांश लोक का विनाश होता है—टीका।

२. इसलिये कहा है—"सत्त सत्तग्गिना वारा अट्ठमे अट्ठमेदका।
चतुसट्ठि यदा पुण्णा एको वायुवरो सिया॥
अग्गिनाभस्सरा हेट्ठा आपेन सुभकिण्हतो।
वेहप्फलतो वातेन एवं लोको विनस्सति॥

इस नाम का—तिष्य या पुष्य। **इस गोत्र का**—कात्यायन या काश्यप। यह इसके बीते हुए जन्मों में अपने नाम, गोत्र के अनुस्मरण करने के अनुसार कहा गया है। यदि उस समय अपनी सुन्दरता, निर्धन, धनवान होना, सुख-दुःख की अधिकता या कम आयु वाला, लम्बी आयु वाला होने का अनुस्मरण करना चाहता है तो उसे भी अनुस्मरण करता ही है। उसी से कहा है—"इस वर्ण का······इतनी आयु वाला था।"[1]

यहाँ, **इस वर्ण का**—सफेद या साँवला। **इस आहार का**—चावल, मांस, भात के आहार वाला या गिरे हुए फलों का भोजन करने वाला। **ऐसे सुख-दुःख का अनुभव करने वाला**—अनेक प्रकार से कायिक, चैतसिक, आमिष, निरामिष[2] आदि या सुख-दुःख का अनुभव करने वाला। **इतनी आयु वाला**—ऐसे सौ वर्ष की आयु वाला या चौरासी हजार कल्प की आयु वाला।

वह वहाँ से च्युत होकर अमुक स्थान में उत्पन्न हुआ—वह मैं उस भव, योनि, गति, विज्ञान की स्थिति, सत्व-आवास या सत्व-समूह में उत्पन्न हुआ। **वहाँ पर भी**—तत्र वहाँ भी भव, योनि, गति, विज्ञान की स्थिति, सत्व-आवास या सत्व-समूह में फिर हुआ था। **इस नाम का** आदि कहे गये ढंग से ही।

चूँकि 'अमुक जगह था' यह क्रमशः ऊपर जाने वाले का यथेच्छ अनुस्मरण और 'वहाँ से च्युत होकर' यह लौटते हुए का प्रत्यवेक्षण है। इसलिए 'यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ' इस, यहाँ की उत्पत्ति के बाद ही इसके उत्पत्ति-स्थान के प्रति 'अमुक जगह उत्पन्न हुआ' कहा गया जानना चाहिए। 'वहाँ भी था' ऐसे आदि इसके वहाँ इस उत्पत्ति के अनन्तर उत्पन्न होने के स्थान में नाम, गोत्र आदि का अनुस्मरण को दिखलाने के लिए कहा गया है। **वह यहाँ से च्युत होकर यहाँ उत्पन्न हुआ**—वह मैं उस अनन्तर उत्पत्ति-स्थान से च्युत हुआ यहाँ अमुक क्षत्रिय या ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ।

इस प्रकार—ऐसे। **आकार प्रकार के साथ**—नाम, गोत्र के अनुसार प्रकार और वर्ण आदि के अनुसार आकार के साथ। नाम, गोत्र से ही सत्व, तिष्य, काश्यप कहा जाता है। वर्ण आदि से साँवला, सफेद आदि—ऐसे नानत्व से जाना जाता है। इसलिए नाम, गोत्र प्रकार और दूसरे आकार हैं। **अनेक प्रकार से पूर्वनिवास का अनुस्मरण करता है**—इसका अर्थ सरल ही है।

पूर्वेनिवासानुस्मृति-ज्ञान-कथा समाप्त।

५. च्युत्योत्पाद-ज्ञान

सत्वों के च्युत्योत्पाद-ज्ञान की कथा में **चुतूपपातञाणाय**[3]—च्युति और उत्पादन में ज्ञान

१. दीघ नि० १, २।

२. पञ्च कामगुण से युक्त सुख-दुःख वेदना को आमिष और छः नैष्क्रम्य से युक्त सुख-दुःख वेदना निरामिष है—दीघ नि० अट्ठ० २, ९।

३. पूर्ण पालि पाठ इस प्रकार है—"सत्तानं चुतूपपातञाणाय चित्तं अभिनीहरति, अभिनिन्नामेति। सो दिब्बेन चक्खुना विसुद्धेन अतिक्कन्तमानुसकेन सत्ते पस्सति चवमाने उपपज्जमाने हीने पणीते सुवण्णे दुब्बण्णे सुगते दुग्गते यथाकम्मूपगे सत्ते पजानाति। इमे वत भोन्तो सत्ता कायदुच्-

के लिए, जिस ज्ञान से सत्वों की च्युति और उत्पत्ति जान पड़ती है, उसके लिए। दिव्य-चक्षु के ज्ञान के लिए—कहा गया है। **चित्तं अभिनीहरति अभिनिन्नामेति**—परिकर्म-चित्त को ले जाता है, और झुकाता है। **सो**—वह चित्त को ले जानेवाला भिक्षु।

दिब्बेन (=दिव्य से) आदि में देवताओं के समान होने से दिव्य है। देवताओं का सुचरित कर्म से उत्पन्न, पित्त, कफ, रुधिर आदि से विघ्न रहित और उपक्लेशों से विमुक्त होने से दूर में रहनेवाले भी आलम्बन को देखने में समर्थ दिव्य-प्रसाद-चक्षु होता है। यह भी वीर्य के भावना-बल से उत्पन्न ज्ञान-चक्षु वैसा ही होता है, इसलिए देवताओं के समान होने से दिव्य है। दिव्य-विहार के तौर पर प्राप्त होने और अपने दिव्य विहार से युक्त होने से भी दिव्य है। आलोक के परिग्रह से महाज्योति वाला होने से भी दिव्य है। भीत के आर-पार आदि में रहने वाले रूप को देखने से महागति वाला होने से भी दिव्य है। वह सब शब्द-शास्त्र (=व्याकरण) के अनुसार जानना चाहिए। देखने के अर्थ में चक्षु है, चक्षु का काम करने से चक्षु के समान होने से भी चक्षु है। च्युति-उत्पत्ति को देखने से दृष्टि-विशुद्धि के कारण विशुद्ध है।

जो च्युति (=मरण) मात्र को देखता है, उत्पत्ति को नहीं देखता है, वह उच्छेद-दृष्टि को पकड़ता है। जो उत्पत्ति मात्र को ही देखता है, च्युति को नहीं देखता है, वह नये सत्वों की उत्पत्ति होने की दृष्टि को ग्रहण करता है। जो उन दोनों को देखता है, वह चूँकि दोनों भी बुरी दृष्टियों का अतिक्रमण कर जाता है, इसलिए उसका वह दर्शन दृष्टि-विशुद्धि के लिए होता है। इन दोनों को भी बुद्ध-पुत्र (=भिक्षु) देखते हैं। इसलिए कहा है—"च्युति-उत्पत्ति के देखने से दृष्टि-विशुद्धि के कारण विशुद्ध है।"

मनुष्य के उपचार (=गोचर) का अतिक्रमण कर रूप को देखने से मानुषिक का अतिक्रमण कर जाता है। या मानुषिक मांस-चक्षु का अतिक्रमण करने से मानुषिक का अतिक्रमण करना—जानना चाहिये, उस **दिब्बेन चक्खुना विसुद्धेन अतिक्कन्त मानुसकेन** (=विशुद्ध और अलौकिक दिव्य-चक्षु से)। **सत्ते पस्सति** (=सत्वों को देखता है)—मांस के चक्षु से (देखने के) समान सत्वों का अवलोकन करता है।

रितेन समन्नागता, वचीदुच्चरितेन समन्नागता, मनोदुच्चरितेन समन्नागता, अरियानं उपवादका मिच्छादिट्ठिका मिच्छादिट्ठिकम्मसमादाना, ते कायस्स भेदा परम्मरणा अपायं दुग्गतिं विनिपातं निरयं उप्पन्ना। इमे वा पन भोन्तो सत्ता कायसुचरितेन समन्नागता···ते कायस्स भेदा परम्मरणा सुगतिं सग्गं लोकं उप्पन्नाति। इति दिब्बेन चक्खुना विसुद्धेन अतिक्कन्तमानुसकेन सत्ते पस्सति।"

अर्थ—वह प्राणियों के जन्म मरण (के विषय) में जानने के लिए अपने चित्त को लगाता है। वह शुद्ध और अलौकिक दिव्य चक्षु से मरते, उत्पन्न होते, हीन अवस्था में आये, अच्छी अवस्था में आये, अच्छे वर्ण (=रंग) वाले, बुरे वर्ण वाले, अच्छी गति को प्राप्त, बुरी गति को प्राप्त, अपने-अपने कर्म के अनुसार अवस्था को प्राप्त, प्राणियों को जान लेता है—ये प्राणी शरीर से दुराचरण, वचन से दुराचरण और मन से दुराचरण करते हुए, साधु पुरुषों की निन्दा करते थे, मिथ्या दृष्टि रखते थे, मिथ्यादृष्टि वाले काम करते थे। (अब) वह मरने के बाद नरक, और दुर्गति को प्राप्त हुए हैं। और यह (दूसरे) प्राणी शरीर, वचन और मन से सदाचार करते, साधुजनों की प्रशंसा करते, सम्यक् दृष्टि वाले, सम्यक् दृष्टि के अनुकूल आचरण करते थे; सो अब अच्छी गति और स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं—इस तरह शुद्ध अलौकिक दिव्य चक्षु से···जान लेता है।

चवमाने उपपज्जमाने (= च्युत और उत्पन्न होते हुए)—यहाँ, च्युति (= मृत्यु) के क्षण या उत्पत्ति के क्षण दिव्य चक्षु से नहीं देखा जा सकता है, किन्तु जो मरण के निकट होते हैं, अब मरेंगे, वे मरते हुए और जो प्रतिसन्धि ग्रहण किये हुए, सम्प्रति उत्पन्न हुए ही हैं, वे उत्पन्न होते हुए अभिप्रेत हैं। वह इस प्रकार के च्युत होते और उत्पन्न होते हुए (सत्त्वों) को देखता है—यह दिखलाया गया है।

हीने (= हीन अवस्था में आये)—मोह के फल से युक्त हुए हीन जाति, कुल, भोग आदि के अनुसार निन्दित, घृणित, बुरे माने गये, उपेक्षित। **पणीते** (= अच्छी अवस्था में आये) —अ-मोह के फल से युक्त होने से उसके (=मोह के) विपरीत। **सुवण्णे** (=अच्छे वर्ण वाले) —अ-द्वेष के फल से युक्त होने से इष्ट=कान्त = मनाप वर्ण से युक्त। **दुब्बण्णे** (=बुरे वर्ण वाले) —द्वेष के फल से युक्त होने से अनिष्ट = अ-कान्त = अ-मनाप वर्ण से युक्त। अशोभन, कुरूप—इसका अर्थ है। **सुगते** (= अच्छी गति को प्राप्त)—सुगति को गये हुए या अ-लोभ के फल से युक्त होने से आढ्य, महाधनवान्। **दुग्गते** (= बुरी गति को प्राप्त)—बुरी गति को गये हुए या लोभ के फल से युक्त होने से दरिद्र, अल्प-अन्न-पेय वाला।

यथाकर्मोपग-ज्ञान

यथाकम्मूपगे (= अपने कर्म के अनुसार अवस्था को प्राप्त)—जिस-जिस काम को किया है, उस-उस को प्राप्त हुआ। वहाँ, पहले 'च्युत होते हुए' आदि से दिव्य-चक्षु का काम कहा गया है, किन्तु इस पद से कर्म के अनुसार प्राप्त होने का काम।

उस ज्ञान का यह उत्पत्ति-क्रम है—यहाँ भिक्षु नीचे नरक की ओर आलोक को बढ़ाकर महादुःख को भोगते हुए नरक के सत्त्वों को देखता है। उसे देखना दिव्य-चक्षु का ही काम है। वह ऐसे मन में करता है—'किस कर्म को करके ये सत्व इस दुःख को भोग रहे हैं ?' तब उसे 'इसे करके' उस काम के आलम्बन का ज्ञान उत्पन्न होता है। वैसे ही ऊपर देवलोक की ओर आलोक को बढ़ाकर **नन्दनवन, मिश्रकवन, फारुसकवन** आदि में महासम्पत्ति को भोगते हुए सत्त्वों को देखता है। उसे भी देखना दिव्य-चक्षु का ही काम है। वह ऐसे मन में करता है—'किस कर्म को करके ये सत्व इस सम्पत्ति को भोग रहे हैं ?' तब उसे 'इसे करके' उस काम के आलम्बन का ज्ञान उत्पन्न होता है। यह यथाकर्मोपग-ज्ञान है।

अनागतंश-ज्ञान

इसका अलग परिकर्म नहीं है और जैसे इसका; ऐसे ही अनागतंश-ज्ञान का भी। ये दिव्य चक्षु के पादक हैं और दिव्य-चक्षु के साथ ही सिद्ध होते हैं।

कायदुच्चरितेन (=शरीर के दुराचरण से)—आदि में, बुरे प्रकार से किया गया काम, या क्लेश से गन्दा हुआ दुश्चरित (= दुराचरण) है। शरीर से किया हुआ दुश्चरित या शरीर से उत्पन्न हुआ दुश्चरित काय-दुश्चरित है। दूसरों में भी इसी प्रकार। **समन्नागता**—युक्त।

अरियानं उपवादका (= आर्यों की निन्दा करने वाले)—बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध, और श्रावक आर्यों का, यहाँ तक कि गृहस्थ स्रोतापन्नों का भी अहित चाहने वाला होकर अन्तिम-वस्तु[१]

१. चारों पाराजिकाओं को अन्तिम वस्तु कहते हैं, क्योंकि उनसे युक्त भिक्षु-जीवम में नहीं रहने पाता है।

(= पाराजिका) से या गुण को विध्वंस करने से अपवाद करने वाले । आक्रोषण करने वाले, निंदा करने वाले—कहा गया है ।

वहाँ, "इनको श्रमण-धर्म नहीं है, ये श्रमण नहीं हैं" ऐसे कहते हुए अन्तिम-वस्तु से अपवाद करता है । "इनको ध्यान, विमोक्ष, मार्ग, या फल नहीं है" आदि कहते हुए गुण का ध्वंस करने से अपवाद करता है—ऐसा जानना चाहिये । और वह जानते हुए अपवाद करे या नहीं जानते हुए; दोनों प्रकार से भी आर्यों का अपवाद ही होता है । आनन्तर्य[1] के समान वह महादोष वाला काम है, स्वर्ग और मार्ग का आवरण करने वाला है, किन्तु उसका प्रतिकार किया जा सकता है ।[2]

उसे प्रगट करने के लिये यह कथा जाननी चाहिये—किसी एक गाँव में एक स्थविर और तरुण भिक्षु भिक्षा के लिये घूम रहे थे । वे पहले घर में ही करछुल भर गर्म यवागु पाये । स्थविर के पेट में वायु-प्रकोप हुआ था । उन्होंने सोचा—यह यवागु मेरे योग्य है, जब तक शीतल नहीं होती है, तब तक उसे पीऊँ ।" वे मनुष्यों के चौखट के लिये लाये हुए काष्ठ-खण्ड पर बैठ कर पीये । दूसरा उन्हें घृणा करते हुए—"अत्यन्त भूख से पीड़ित (यह) बूढ़ा हम लोगों को लज्जित होने योग्य काम किया ।" कहा । स्थविर ने गाँव में विचरण करके विहार में जा तरुण भिक्षु को कहा—"आवुस, इस शासन में तेरी प्रतिष्ठा है ?"

"हाँ, भन्ते ! मैं स्रोतापन्न हूँ ।"

"तो आवुस, ऊपर के मार्गों (=सकृदागामी, अनागामी, अर्हत्) के लिये प्रयत्न मत करो । तूने क्षीणाश्रव का अपवाद किया है ।"

वह उसके लिये क्षमा माँगा । उससे उसका कर्म पहले जैसा हो गया ।

इसलिये, जो अन्य भी आर्य का अपवाद करता है, उसे जाकर यदि अपने से बूढ़ा हो, तो उकड़ू बैठ कर—"मैंने आयुष्मान् को यह, यह कहा था, उसे क्षमा करो ।" ऐसे क्षमा करवाना चाहिये । यदि कम आयु वाला हो, तो वन्दना कर उकड़ू बैठ हाथ जोड़—"भन्ते, मैंने आपको यह, यह कहा था, उसे क्षमा कीजिये ।" ऐसे क्षमा करवाना चाहिये । यदि दिशाओं में गया हो तो स्वयं जाकर या शिष्य आदि को भेजकर क्षमा करवाना चाहिये ।

यदि न जा सके और न भेज सके, तो उस विहार में जो भिक्षु रहते हों, उनके पास जाकर, यह कम आयु वाले हों, तो उकड़ू बैठकर और यदि बूढ़े हों, तो बूढ़े के लिए कहे गये (नियम) के अनुसार ही करके—"भन्ते, मैंने अमुक नाम के आयुष्मान् को यह-यह कहा था, वह आयुष्मान् मुझे क्षमा करें ।" ऐसा कहकर क्षमा करवाना चाहिये । सामने नहीं क्षमा करने पर भी यही करना चाहिये ।

यदि अकेले घूमने वाला भिक्षु हो, न उसके रहने का स्थान न जाने का स्थान जान पड़ता है, तो एक पण्डित भिक्षु के पास जाकर—"भन्ते, मैंने अमुक आयुष्मान् को यह-यह कहा था, उसे स्मरण करते हुए मुझे पछतावा होता है, क्या करूँ ?" कहना चाहिये । वह कहे—"मत

१. पिता को मारना, माता को मारना, अर्हत् को मारना, संघ में फूट पैदा करना और तथागत के शरीर से रक्तपात करना—ये पाँच आनन्तर्य कर्म हैं, जिनमें से किसी एक को करके सत्त्व सीधे महाअवीचि नरक में जाता है ।

२. क्षमा आदि माँगने से इस दोष से मुक्ति हो सकती है ।

आप चिन्ता करें, स्थविर आपको क्षमा कर रहे हैं, चित्त को शान्त करें।" उसे भी आर्य की गई हुई दिशा की ओर हाथ जोड़कर—"क्षमा करें" कहना चाहिये।

यदि वह परिनिर्वाण को प्राप्त हो गया हो, तो परिनिर्वृत होने की चारपाई के स्थान पर जाकर, श्मशान तक जाकर भी क्षमा करवानी चाहिये। ऐसा करने पर न तो स्वर्ग का आवरण होता है और मार्ग का ही। पहले के जैसा ही हो जाता है।

मिच्छादिट्ठिका (= मिथ्या दृष्टि वाले)—उल्टी धारणा वाले। **मिच्छादिट्ठिकम्मसमादाना** (= मिथ्या दृष्टि के काम करने से)—मिथ्या दृष्टि से ग्रहण किये गये नाना प्रकार के कर्म से। और जो मिथ्यादृष्टि-मूलक काय-कर्म आदि हैं, उन्हें दूसरों को भी ग्रहण कराते हैं। यहाँ, वचीदुश्चरित के ग्रहण से ही आर्यों का अपवाद और मन के दुश्चरित के ग्रहण से मिथ्यादृष्टि में आ जाने पर भी इन दोनों को, पुनः वचन के महादोषपूर्ण होने को दिखलाने के लिये जानना चाहिये।

आर्यों का अपवाद करना आनन्तर्य्य (-कर्म) के समान होने से महादोष वाला है। कहा भी गया है—"जैसे सारिपुत्र! शील, समाधि और प्रज्ञा से युक्त भिक्षु इसी जन्म में अर्हत्व (=आज्ञा) को पाये, वैसे ही सारिपुत्र! इसको भी मैं कहता हूँ कि उस वचन को बिना त्यागे, उस चित्त को बिना त्यागे, उस दृष्टि को बिना त्यागे, नरक में डाला जैसा होगा।"[1] और मिथ्यादृष्टि से अधिक महादोष वाला दूसरा (कुछ) नहीं है। जैसे कहा है—"भिक्षुओ, मैं ऐसी महादोष वाली एक भी दूसरी बात (= धर्म) को नहीं देखता हूँ, जैसी कि भिक्षुओ, यह मिथ्या-दृष्टि है। भिक्षुओ, दोषों में मिथ्यादृष्टि सबसे बढ़कर है।[2]"

कायस्स भेदा (= शरीर के भेद होने पर)—उपादिन्न स्कन्ध के परित्याग से। **परम्मरणा** (= परम मरण से)—उसके अनन्तर उत्पन्न होने वाले स्कन्ध के ग्रहण करने में, अथवा काय के भेद से का अर्थ है जीवितेन्द्रिय के नाश होने से। 'परम-मरण से' का अर्थ है च्युति-चित्त से ऊपर।

अपायं (= अपाय = नरक)—यह सब निरय का पर्याय शब्द है। निरय ही स्वर्ग, मोक्ष, के हेतु हुए पुण्य के 'अय' से दूर होने से या सुखों के 'आय' (= आगमन) के अभाव से अपाय है। दुःख की गति, प्रतिशरण' दुर्गति है। या द्वेष बाहुल्य अथवा बुरे कर्म से उत्पन्न हुई गति दुर्गति है। बुरे कर्म करने वाले विवश होकर यहाँ गिरते हैं। इसलिये विनिपात है। या विनाश को प्राप्त होते, अङ्ग-प्रत्यङ्गों के टूटते हुए यहाँ गिरते हैं—ऐसे भी **विनिपात** है। यहाँ, आस्वाद नामक 'अय' नहीं है, इसलिये **निरय** है।

अथवा अपाय के ग्रहण से तिर्यक् (= पशु)-योनि को बतलाता है, क्योंकि तिर्यक्-योनि सुगति से दूर होने से अपाय है, महाप्रतापी नागराजा आदि के होने से दुर्गति नहीं है। दुर्गति के ग्रहण से प्रेत्य-विषय को। वह सुगति से दूर होने और दुःख की गति होने से अपाय और दुर्गति है, किन्तु असुरों के समान विनिपात नहीं होने से विनिपात नहीं। विनिपात के ग्रहण से असुर-काय को वह यथोक्त अर्थ से अपाय और दुर्गति है तथा सब सम्पत्ति-समूह से विशेष रूप से पतित होने से विनिपात कहा जाता है। निरय के ग्रहण से अवीचि आदि अनेक प्रकार के निरय

१. मज्झिम नि० १, २, २।
२. अंगुत्तर नि० १, ३३।

को ही । **उपपन्ना** (=उत्पन्न हुए)—वहाँ गये हुए । वहाँ उत्पन्न हुए—अभिप्राय है।

कहे गये के विपरीत रूप से शुक्ल-पक्ष को जानना चाहिये । यह विशेषता है—वहाँ, **सुगति** के ग्रहण से मनुष्य गति भी संग्रहीत है, स्वर्ग के ग्रहण से देवगति ही। सुन्दर गति **सुगति** है। रूप आदि विषयों से भली प्रकार अग्र **स्वर्ग** है। वह सब भी नष्ट-विनष्ट होने के अर्थ में **लोक** है। यह शब्दार्थ है। **इति दिब्बेन चक्खुना** (=इस प्रकार दिव्य चक्षु से) आदि सब निगमन-वचन है। ऐसे दिव्य चक्षु से......देखता है—यह संक्षेप में अर्थ है।

ऐसे देखने की इच्छा वाले आदिकर्मिक (=प्रारम्भिक योगाभ्यासी) कुलपुत्र से कसिण के आलम्बन वाले अभिज्ञा के पादक ध्यान को सब प्रकार से अभिनीहार के योग्य करके तेज-कसिण, अवदात-कसिण, आलोक कसिण—इन तीनों कसिणों में से किसी एक को समीप करना चाहिये। उपचार-ध्यान को गोचर कर, बढ़ाकर रखना चाहिये। वहाँ अर्पणा नहीं उत्पन्न करना चाहिये—यह अभिप्राय है। यदि उत्पन्न करता है तो पादक-ध्यान का निश्रय (=आलम्बन) होता है, परिकर्म का निश्रय नहीं होता है। इन तीनों में आलोक-कसिण ही श्रेष्ठतर है। इसलिये उसे या दूसरे में से किसी एक को कसिण-निर्देश में कहे गये प्रकार से उत्पन्न करके उपचार-भूमि में ही रहकर बढ़ाना चाहिये। इसके बढ़ाने का ढंग भी वहाँ कहे गये प्रकार से ही जानना चाहिये। बढ़े हुए स्थान के भीतर ही रूप को देखना चाहिये।

रूप को देखते हुए इस परिकर्म के वार को लाँघ जाता है। उसके पश्चात् आलोक अन्तर्धान हो जाने पर रूप भी नहीं दिखाई देता है। तब इसे पुनः पुनः पादक-ध्यान को ही देखकर, उससे उठकर आलोक बढ़ाना चाहिये। ऐसे क्रमशः आलोक बलवान होता है। "यहाँ आलोक होवे" ऐसे जितने स्थान का परिच्छेद करता है, वहाँ आलोक होता ही है। दिन भर भी बैठकर देखने पर भी रूप दिखाई देता है।

यहाँ, रात में तृण की उल्का (=मशाल) से मार्ग चलने वाले पुरुष की उपमा है। एक पुरुष रात में तृण की उल्का (लेकर) मार्ग चलना प्रारम्भ किया। उसकी वह उल्का बुझ गई। तब उसे सम-विषम नहीं जान पड़े। वह उस तृण की उल्का को भूमि पर रगड़ कर जलाया। वह प्रज्वलित होकर पहले के आलोक से बहुत ही अधिक प्रकाश की। ऐसे पुनः पुनः बुझने पर जलाते हुए क्रमशः सूर्य्य निकल आया। सूर्य के निकलने पर उल्का का (कोई) काम नहीं—(सोच) उसे फेंककर दिन भर भी चला।

वहाँ, उल्का के आलोक के समान परिकर्म के समय कसिण का आलोक है। उल्का के बुझ जाने पर सम-विषम के नहीं दिखाई देने के समान रूप को देखने वाले के परिकर्म के वार को लाँघने से आलोक के अन्तर्धान होने पर रूपों का नहीं दिखाई देना है। उल्का को रगड़ने के समान पुनः पुनः प्रवेश करना है। उल्का के पहले के आलोक से बहुत अधिक आलोक करने के समान फिर परिकर्म करने वाले के बहुत ही अधिक आलोक का फैलाना है। सूर्य्य के निकलने के समान बलवान आलोक का परिच्छेद के अनुसार स्थान है। तृण की उल्का को फेंककर दिन भर भी चलने के समान थोड़े से आलोक को छोड़कर बलवान आलोक से दिन भर भी रूप को देखना है।

जब उस भिक्षु को मांस-चक्षु से नहीं दिखाई देने वाला, पेट के भीतर रहने वाला, हृदय-वस्तु से अवलम्बित, नीचे पृथ्वी के तल के आश्रित, भीत के आरपार, पर्वत, प्राकार में रहने वाला, दूसरे चक्रवाल में रहने वाला—यह रूप ज्ञान-चक्षु से दिखाई देता है, मांस-चक्षु को दृश्यमान होता

है, तब दिव्य चक्षु उत्पन्न होता है—ऐसा जानना चाहिये। वही रूप को देखने में समर्थ होता है, पूर्व-भाग (=आवर्जन, परिकर्म) के चित्त नहीं।

वह पृथक्जन के लिये विघ्नकारक होता है। क्यों ? चूँकि वह जहाँ-जहाँ 'आलोक होवे' अधिष्ठान करता है, वह-वह पृथ्वी, समुद्र, पर्वत को छेदकर भी एक आलोकमय हो जाता है। तब उसे वहाँ भयानक यक्ष, राक्षस आदि के रूपों को देखते हुए भय उत्पन्न होता है, जिससे चित्त-विक्षेप को प्राप्त हो ध्यान का पागल हो जाता है। इसलिये रूप को देखने में प्रमाद नहीं करना चाहिये।

यह दिव्य-चक्षु की उत्पत्ति का क्रम है—उक्त प्रकार के इस रूपालम्बन को करके मनोद्वारावर्जन के उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाने पर उसी रूप को आलम्बन करके चार या पाँच जवन (चित्त) उत्पन्न होते हैं। ऐसे सब पहले के ढंग से ही जानना चाहिये। यहाँ भी पूर्वभाग के चित्त वितर्क-विचार सहित कामावचर के होते हैं। अन्त में अर्थ को सिद्ध करने वाला चित्त चतुर्थ ध्यान वाला रूपावचर का होता है। उसके साथ उत्पन्न हुआ ज्ञान **'सत्त्वों की च्युति-उत्पत्ति में ज्ञान'** भी, **दिव्य-चक्षु ज्ञान** भी कहा जाता है।

च्युत्योत्पाद-ज्ञान कथा समाप्त।

प्रकीर्णक कथा

इति पञ्चक्खन्ध विदू, पञ्च अभिञ्ञा अवोच या नाथो।
ता ञत्वा तासु अयं पकिण्णककथापि विञ्ञेय्या ॥

[इस प्रकार पञ्चस्कन्ध के जानकार नाथ (=बुद्ध) ने जिन पाँच अभिज्ञाओं को कहा, उन्हें जानकर, उनमें यह और भी प्रकीर्णक-कथा जाननी चाहिये।]

इनमें जो यह च्युत्योत्पाद कही जाने वाली दिव्य-चक्षु है, उसका अनागतंश-ज्ञान और यथाकर्मोपग-ज्ञान—दोनों भी, परिवार ज्ञान है। इस प्रकार ये दो और ऋद्धिविध आदि पाँच—सात अभिज्ञा-ज्ञान यहाँ आये हुए हैं।

अब उनके आलम्बन के विभाग में अ-संमोह के लिये—

आरम्मणत्तिका वुत्ता ये चत्तारो महेसिना।
सत्तन्नम्पि हि ञाणानं पवत्तिं तेसु दीपये ॥

[महर्षि ने जो चार आलम्बन-त्रिक कहा है, उनमें सातों भी ज्ञानों का प्रवर्तित होना प्रगट करे।]

यह प्रगट करना है—चार आलम्बन त्रिक् महर्षि ने कहा है। कौन से चार ? (१) परित्र-आलम्बन त्रिक् (२) मार्ग-आलम्बन त्रिक् (३) अतीत-आलम्बन त्रिक् (४) आध्यात्म-आलम्बन त्रिक्।

उनमें, ऋद्धिविध ज्ञान परित्र, महद्गत, अतीत, अनागत, वर्तमान, भीतरी, बाहरी आलम्बन के अनुसार सातों आलम्बनों में प्रवर्तित होता है। कैसे ? वह, जब शरीर को चित्त के आश्रय करके अदृश्यमान शरीर से जाना चाहते हुए चित्त के तौर पर शरीर को परिणत करता है, महद्गत चित्त में रखता है, स्थिर करता है, तब उपयोग[1] (=कर्म कारक) को प्राप्त आलम्बन

१. यहाँ कर्म कारक करके कहा गया है—'चित्त के तौर पर शरीर को परिणत करता है, अर्थात् शरीर को चित्त में रखता है।'

होता है। ऐसा करके, रूप-काय के (वर्ण-) आलम्बन से परित्र-आलम्बन होता है। जब चित्त को शरीर के आश्रय करके दृश्यमान शरीर से जाना चाहते हुए शरीर के तौर पर चित्त को करता है, पादक-ध्यान के चित्त को रूप-काय में रखता है, स्थिर करता है, तब उपयोग (=कर्मकारक) को प्राप्त आलम्बन होता है—ऐसा करके महद्गत चित्त के आलम्बन से महद्गत आलम्बन होता है।

चूँकि वही चित्त भूतकाल के निरुद्ध हो गये को आलम्बन करता है, इसलिये अतीत-आलम्बन होता है। महाधातु निधान में महाकाश्यप स्थविर आदि के समान भविष्यत् काल का अधिष्ठान करने वालों का अनागत-आलम्बन होता है। महाकाश्यप स्थविर ने महाधातु-निधान को करते हुए—भविष्य काल में दो सौ अठारह वर्ष ये गन्ध मत सूखें, फूल मत कुम्हलायें, दीपक मत बुझें" अधिष्ठान किया। सब वैसा ही हुआ[1]। अश्वगुप्त स्थविर ने वत्तनिय शयनासन[2] में भिक्षु-संघ को सूखा भात खाते हुए देखकर 'पानी की पुष्करिणी (=पोखरी) प्रति दिन भोजन के पूर्व दही[3] हो जाय' अधिष्ठान किया। भोजन के पूर्व लेने पर दही होता और भोजन के बाद साधारण जल ही।

काय को चित्त के आश्रय करके अदृश्यमान शरीर से जाने के समय वर्तमान-आलम्बन होता है। शरीर के तौर पर चित्त को या चित्त के तौर पर शरीर को परिणत करने के समय और अपने को बच्चे का रूप आदि बनाने के समय अपने चित्त का आलम्बन करने से भीतरी-आलम्बन होता है। बाहरी हाथी, घोड़ा आदि को देखने के समय बाहरी आलम्बन होता है। ऐसे ऋद्धि-विज्ञान का सातों आलम्बनों में प्रवर्तित होना जानना चाहिये।

दिव्य श्रोत्र-धातु-ज्ञान परित्र, वर्तमान, भीतरी, बाहरी आलम्बन के रूप में चारों आलम्बनों में प्रवर्तित होता है। कैसे? चूँकि वह शब्द को आलम्बन करता है और शब्द परित्र है, इसलिये परित्र-आलम्बन होता है। विद्यमान ही शब्द को आलम्बन करके प्रवर्तित होने से वर्तमान-आलम्बन होता है। वह अपने पेट के शब्द को सुनने के समय भीतरी आलम्बन होता है और दूसरों के शब्द को सुनने के समय बाहरी-आलम्बन। ऐसे दिव्य-श्रोत्र-धातु ज्ञान का चारों आलम्बनों में प्रवर्तित होना जानना चाहिये।

चैतोपर्य्य ज्ञान परित्र, महद्गत, अप्रमाण, मार्ग, अतीत, अनागत, वर्तमान, बाहरी आलम्बन के अनुसार आठ आलम्बनों में प्रवर्तित होता है। कैसे? वह दूसरों के कामावचर-चित्त को जानने के समय परित्र-आलम्बन होता है। रूपावचर, अरूपावचर चित्त को जानने के समय महद्गत आलम्बन होता है। मार्ग-फल को जानने के समय अप्रमाण-आलम्बन होता है और यहाँ, पृथग्जन स्रोतापन्न के चित्त को नहीं जानता है, या स्रोतापन्न सकृदागामी के चित्त को—ऐसे अर्हत् तक ले जाना चाहिये। किन्तु अर्हत् सबके चित्त को जानता है, अन्य भी ऊपर वाले नीचे वालों के चित्त को जानते हैं—इस विशेषता को जानना चाहिये। मार्ग-चित्त के आलम्बन के समय मार्ग-आलम्बन होता है। जब भूतकाल के सात दिनों के भीतर और भविष्यत् काल के सात दिनों के भीतर, दूसरों के चित्त को जानता है, तब अतीत-आलम्बन और अनागत-आलम्बन होता है।

कैसे वर्तमान आलम्बन होता है? वर्तमान् तीन प्रकार का है—(१) क्षण-वर्तमान् (२)

१. देखिये, दीघ नि० अट्ठ० २, ३ और थूपवंसो।

२. विन्ध्याटवी का एक विहार।

३. 'दही का ओज'—पुराण सन्नय, 'दही का मण्ड'—टीका।

सन्तति वर्तमान् (३) अध्व वर्तमान्। उनमें उत्पत्ति, स्थिति, भङ्ग (= विनाश) को प्राप्त हुआ क्षण-वर्तमान् है। एक-दो सन्तति के वार में हुआ सन्तति-वर्तमान् है।

अन्धकार में बैठकर प्रकाश के स्थान में जाने वाले को प्रथम आलम्बन प्रगट नहीं होता है। किन्तु जब तक वह प्रगट होता है, तब तक इसके बीच एक-दो सन्तति के वार को जानना चाहिये। प्रकाश के स्थान में घूमकर कोठरी में प्रवेश करने वाले को भी सहसा रूप प्रगट नहीं होता है, जहाँ तक वह प्रकट होता है, तब तक इसके बीच एक-दो सन्तति के वार जानने चाहिये। दूर खड़े होकर धोबियों के हाथ के आकार और घण्टी, भेरी आदि पीटने के आकार को देखकर भी प्रथम शब्द नहीं सुनाई देता है। जब तक उसे सुनता है, उसके बीच एक-दो सन्तति के वारों को जानना चाहिये—ऐसा **मज्झिम** (निकाय) के **भाणक** कहते हैं; किन्तु **संयुत्त** (निकाय) के **भाणक** रूप-सन्तति, अरूप-सन्तति—दो सन्ततियों को कहकर, पानी से होकर जाने वाले को किनारे पर हुई पानी की (मैली) रेखा, जब तक परिशुद्ध नहीं होती है, दीर्घ-मार्ग चलकर आये हुए को जब तक शरीर की गर्मी नहीं शान्त होती है, धूप से आकर कोठरी में प्रवेश किये हुए को जब तक अन्धकार का होना नहीं दूर होता है, भीतर कोठरी में कर्मस्थान को मन में करके दिनमें खिड़की को खोलकर देखने वाले को जब तक आँखों की चंचलता नहीं दूर होती है—यह रूप सन्तति है। दो-तीन जवन के वार अरूप-सन्तति है—कह कर, उन दोनों को भी सन्तति-वर्तमान् कहते हैं।

एक जन्म (= भव) से अलग हुआ अध्व-वर्तमान् है। जिसके प्रति **भद्देकरत्त सुत्त**[1] में—"आवुस, जो मन है और जो धर्म हैं—ये दोनों वर्तमान् हैं। उस वर्तमान् में छन्दराग से बँधा हुआ विज्ञान होता है। विज्ञान को छन्दराग में बँधे होने से उसका अभिनन्दन करता है, उसका अभिनन्दन करते हुए वर्तमान् धर्मों में खिंच जाता है।" कहा गया है। अट्ठकथाओं में सन्तति-वर्तमान् आया हुआ है और सूत्र में अध्व-वर्तमान्।

कोई-कोई[2] क्षण-वर्तमान् चित्त चैतोपर्य्य-ज्ञान का आलम्बन होता है—कहते हैं। किस कारण से? चूँकि इसका और दूसरे का एक क्षण में चित्त उत्पन्न होता है। यह उसकी उपमा है—जैसे आकाश में मुट्ठी भर फूल को फेंकने पर अवश्य ही एक फूल, एक की भेंटी से भेंटी टकराता है, ऐसे ही 'दूसरे के चित्त को जानूँगा' (सोचकर) राशि के रूप में महा-जन-समूह के चित्तों का आवर्जन करने पर अवश्य ही एक का चित्त, एक के चित्त से उत्पत्ति के क्षण, स्थिति के क्षण या भङ्ग के क्षण में जानता है।

वह सौ वर्ष भी, हजार वर्ष भी आवर्जन करने वाले को, जिस चित्त से आवर्जन करता है और जिससे जानता है, उन दोनों के एक साथ स्थान के अभाव से और आवर्जन तथा जवन के अनिष्ट स्थान में नाना आलम्बन होने के दोष से अयुक्त है—ऐसा अट्ठकथाओं में स्वीकार नहीं किया गया है। किन्तु सन्तति-वर्तमान और अध्व-वर्तमान् आलम्बन होता है—ऐसा जानना चाहिये।

वहाँ, जो वर्तमान् जवन-वीथी से अतीत, अनागत के रूप में दो तीन वीथी जवन के बराबर समय में दूसरे का चित्त है, वह सभी सन्तति-वर्तमान् है। अध्व-वर्तमान् को जवन के वार से प्रगट करना चाहिये—**संयुत्त** (निकाय) की **अट्ठकथा** में कहा गया है। वह बहुत अच्छा कहा गया है।

---

१. मज्झिम नि० ३, ४, १।
२. अभयगिरि विहार के रहने वाले भिक्षु।

यह स्पष्टीकरण है—ऋद्धिमान् दूसरे के चित्त को जानने की इच्छा से आवर्जन करता है। आवर्जन क्षण-वर्तमान् को आलम्बन करके उसी के साथ निरुद्ध हो जाता है। उसके बाद चार या पाँच जवन होते हैं, जिनका पिछला ऋद्धि-चित्त होता है और शेष कामावचर वाले (चित्त)। उन सबका भी वही निरुद्ध हुआ चित्त आलम्बन होता है। वे अध्व के अनुसार वर्तमान आलम्बन होने से नाना आलम्बन वाले नहीं होते हैं। एक आलम्बन में भी ऋद्धि-चित्त ही दूसरे के चित्त को जानता है, दूसरे नहीं। जैसे चक्षु-द्वार पर चक्षु-विज्ञान[1] ही रूप को देखता है, दूसरे नहीं।

इस प्रकार सन्तति-वर्तमान् और अध्व-वर्तमान् के अनुसार वर्तमान् आलम्बन होता है। अथवा, चूँकि सन्तति-वर्तमान् भी अध्व-वर्तमान् में ही आ पड़ता है, इसलिये अध्व-वर्तमान् के अनुसार ही उसे वर्तमान् आलम्बन जानना चाहिये। दूसरे के चित्त के आलम्बन होने से ही बाहरी आलम्बन होता है। ऐसे चैतोपर्य्य-ज्ञान का आठ आलम्बनों में प्रवर्तित होना जानना चाहिये।

पूर्वेनिवास-ज्ञान परित्र, महद्गत, अप्रमाण, मार्ग, अतीत, भीतरी, बाहरी, न-वक्तव्य आलम्बन के अनुसार आठ आलम्बनों में प्रवर्तित होता है। कैसे ? वह कामावचर स्कन्ध को अनुस्मरण करने के समय परित्र-आलम्बन होता है, रूपावचर और अरूपावचर स्कन्ध को अनुस्मरण करने के समय महद्गत आलम्बन। भूतकाल में अपने से या दूसरों से भावना किये गये मार्ग और साक्षात् किये गये फल को अनुस्मरण करने के समय अप्रमाण आलम्बन। भावना किये गये मार्ग को ही अनुस्मरण करने के समय मार्ग-आलम्बन। नियम से यह अतीत-आलम्बन ही है।

यद्यपि चैतोपर्य्य-ज्ञान, यथाकर्मोपग-ज्ञान भी अतीत-आलम्बन होते हैं, किन्तु चैतोपर्य्य-ज्ञान का सात दिन के भीतर बीता हुआ चित्त ही आलम्बन है। वह अन्य स्कन्ध या स्कन्ध से सम्बन्ध रखने वाले को नहीं जानता है। मार्ग से युक्त चित्त का आलम्बन होने के कारण पर्याय से मार्ग-आलम्बन—कहा गया है। और यथाकर्मोपग—ज्ञान का अतीत चेतना मात्र ही आलम्बन है। पूर्वेनिवास-ज्ञान का अतीत स्कन्ध और स्कन्ध से सम्बन्ध रखनेवाले धर्मों में सर्वज्ञ-ज्ञान के समान गतिवाला होता है—यह विशेषता जाननी चाहिए। यह यहाँ अट्ठकथा का ढंग है।

चूँकि "कुशल स्कन्ध ऋद्धिविध-ज्ञान, चैतोपर्य्य-ज्ञान, पूर्वेनिवासानुस्मृति-ज्ञान, यथाकर्मोपग-ज्ञान, अनागतंश-ज्ञान का **आलम्बन प्रत्यय से प्रत्यय होता है।**"[2] **पट्ठान** में कहा गया है। इसलिये चारों भी स्कन्ध चैतोपर्य्य-ज्ञान, यथा कर्मोपग-ज्ञान के आलम्बन होते हैं। वहाँ भी यथाकर्मोपग-ज्ञान के आलम्बन होते हैं। वहाँ भी यथाकर्मोपग-ज्ञान का कुशल और अकुशल ही।

अपने स्कन्धों को अनुस्मरण करने के समय यह भीतरी आलम्बन होता है, दूसरे के स्कन्धों को अनुस्मरण करने के समय बाहरी-आलम्बन। भूतकाल में **विपश्यी भगवान्** हुए थे,[3] उनकी माता बन्धुमती और पिता बन्धुमा थे—आदि प्रकार से नाम, गोत्र, पृथ्वी के निमित्त आदि को अनुस्मरण करने के समय में न-वक्तव्य-आलम्बन होता है। नाम, गोत्र का अर्थ यहाँ स्कन्धों से बँधा हुआ, व्यवहार से सिद्ध, व्यञ्जनार्थ जानना चाहिये, व्यञ्जन नहीं। क्योंकि व्यञ्जन शब्दायतन में संगृहीत होने से परित्र होता है। जैसे कहा है—"निरुक्ति-प्रतिसम्भिदा परित्र आलम्बन वाली है।" यह, यहाँ हमारा मत है। ऐसे पूर्वेनिवास-ज्ञान को आठ आलम्बनों में प्रवर्तित होना जानना चाहिये।

१. देखिये विशुद्धि मार्ग पहला भाग; पृष्ठ २३।
२. तिकपट्ठान।
३. देखिये, दीघ नि० २, १।

दिव्य-चक्षु-ज्ञान परित्र, वर्तमान्, भीतरी, बाहरी के अनुसार चार आलम्बनों में प्रवर्तित होता है। कैसे ? वह चूँकि रूप को आलम्बन करता है और रूप परित्र है, इसलिए परित्र-आलम्बन होता है। रूप के विद्यमान होने पर ही प्रवर्तित होने से वर्तमान्-आलम्बन है। अपने पेट आदि में रहनेवाले रूपों को देखने के समय भीतरी-आलम्बन और दूसरे के रूप को देखने के समय बाहरी आलम्बन होता है। ऐसे दिव्य-चक्षु-ज्ञान को चार आलम्बनों में प्रवर्तित होना जानना चाहिए।

अनागतंश-ज्ञान परित्र, महद्गत, अप्रमाण, मार्ग, अनागत, भीतरी, बाहरी, न-वक्तव्य आलम्बन के अनुसार आठ आलम्बनों में प्रवर्तित होता है। कैसे ? वह "यह भविष्य में कामावचर में उत्पन्न होगा" जानने के समय परित्र-आलम्बन होता है। "रूपावचर या अरूपावचर में उत्पन्न होगा", जानने के समय महद्गत-आलम्बन। 'मार्ग की भावना करेगा, फल को साक्षात् करेगा' जानने के समय अप्रमाण-आलम्बन। 'मार्ग की भावना करेगा' ही जानने के समय मार्ग-आलम्बन। नियमतः वह अनागत आलम्बन ही है।

यद्यपि चैतोपर्य्य-ज्ञान भी अनागत-आलम्बन होता है, किन्तु उसका सात दिन के भीतर अनागत-चित्त ही आलम्बन होता है। वह अन्य स्कन्ध या स्कन्ध से सम्बन्ध रखने वाले को नहीं जानता है। अनागतंश-ज्ञान का पूर्वनिवास-ज्ञान में उक्त प्रकार से अनागत अन्-आलम्बन नहीं है।

"मैं अमुक स्थान में उत्पन्न होऊँगा" जानने के समय भीतरी आलम्बन होता है। "वह अमुक-अमुक स्थान में उत्पन्न होगा" जानने के समय बाहरी आलम्बन। भविष्य काल में मैत्रेय भगवान्[1] उत्पन्न होंगे, सुब्रह्मा नामक ब्राह्मण उनका पिता होगा, ब्रह्मवती नामक ब्राह्मणी माता।" आदि प्रकार से नाम-गोत्र को जानने के समय पूर्वनिवास-ज्ञान में कहे गये प्रकार से ही न-वक्तव्य-आलम्बन होता है। इस प्रकार अनागतंश-ज्ञान का आठ आलम्बनों में प्रवर्तित होना जानना चाहिए।

यथाकर्मोपग-ज्ञान परित्र, महद्गत, अतीत, भीतरी, बाहरी आलम्बन के अनुसार पाँच आलम्बनों में प्रवर्तित होता है। कैसे ? वह कामावचर-कर्म को जानने के समय परित्र-आलम्बन होता है और रूपावचर, अरूपावचर-कर्म को जानने के समय महद्गत-आलम्बन। अतीत को ही जानता है, इसलिये अतीत-आलम्बन है। अपने कर्म को जानने के समय भीतरी आलम्बन होता है और दूसरे के कर्म को जानने के समय बाहरी-आलम्बन होता है ऐसे यथाकर्मोपग-ज्ञान को पाँच आलम्बनों में प्रवर्तित होना जानना चाहिये।

और जो यहाँ—"भीतरी-आलम्बन और बाहरी आलम्बन" कहा गया है,[2] वह समय-समय पर भीतरी-बाहरी को जानने के समय भीतरी-बाहरी आलम्बन भी होता ही है।

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धिमार्ग में
अभिज्ञा-निर्देश नामक तेरहवाँ परिच्छेद
समाप्त।

---

१. देखिये, दीघ नि० ३, ३।

१. पुरानी अट्ठकथाओं में कहा गया है—टीका।

चौदहवाँ परिच्छेद

स्कन्ध-निर्देश

अब, चूँकि ऐसे अभिज्ञा के रूप से आनृशंस प्राप्त हुई स्थिरतर समाधि-भावना से युक्त भिक्षु द्वारा—

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो
चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।

[प्रज्ञावान् नर शील में प्रतिष्ठित हो, चित्त और प्रज्ञा की भावना करते हुए]

—यहाँ, चित्त के शीर्ष से निर्दिष्ट हुई समाधि की सब प्रकार से भावना हो जाती है, उसके पश्चात् प्रज्ञा की भावना करनी चाहिये और वह अत्यन्त संक्षेप में कही जाने से जानने के लिये भी सरल नहीं है, भावना करने की बात ही क्या ? इसलिये उसके विस्तार और भावना करने के ढंग को दिखलाने के लिये ये प्रश्न होते हैं—प्रज्ञा क्या है ? किस अर्थ में प्रज्ञा है? क्या इसका लक्षण (=स्वभाव), रस (=कृत्य), प्रत्युपस्थान (=जानने का आकार), पदस्थान (=समीपी कारण) है ? प्रज्ञा कितने प्रकार की होती है ? कैसे भावना करनी चाहिये ? प्रज्ञा की भावना करने का कौन-सा गुण (=आनृशंस) है ?

प्रज्ञा क्या है ?

यह उत्तर है—'प्रज्ञा क्या है ?' प्रज्ञा नाना प्रकार की होती है। उन सबकी व्याख्या करनी प्रारम्भ करने पर उत्तर इच्छित अर्थ की सिद्धि नहीं करेगा और आगे भी विक्षेप होगा, इसलिये यहाँ इच्छित के ही प्रति कहेंगे—कुशल-चित्त से युक्त विपश्यना-ज्ञान प्रज्ञा है।

किस अर्थ में प्रज्ञा है ?

'किस अर्थ में प्रज्ञा है ?' भली प्रकार जानने के अर्थ में प्रज्ञा है। क्या है यह भली प्रकार जानना ? विशेष रूप से जानने के विशिष्ट आकार को नाना प्रकार से जानना। संज्ञा, विज्ञान, प्रज्ञा का जानना समान होने पर भी संज्ञा नीला है, पीला है—आलम्बन को जानना मात्र ही होती है, 'अनित्य, दुःख, अनात्म' लक्षण के प्रतिवेध को नहीं पहुँचा सकती है। विज्ञान नीला है, ऐसे आलम्बन को जानता है और लक्षण के प्रतिवेध को भी पहुँचाता है, किन्तु प्रयत्न करके मार्ग को नहीं उत्पन्न कर सकता है। प्रज्ञा कहे हुए प्रकार से आलम्बन को जानती है और लक्षण के प्रतिवेध को भी पहुँचाती है, तथा प्रयत्न करके मार्ग के प्रादुर्भाव को भी पहुँचाती है।

जैसे सराफ (=हेरञ्ञिक)[1] के तख्ते पर रखी हुई कार्षापण की राशि को एक अनजान बच्चा, एक ग्रामीण पुरुष, एक सराफ—तीनों जनों के देखने पर अनजान बच्चा कार्षापणों के

---

१. सोनार—सिंहल सन्नय।

चित्र-विचित्र, लम्बा, चौकोर, गोल होना मात्र ही जानता है, यह मनुष्यों के उपभोग-परिभोग करने का रत्न है—ऐसा नहीं जानता है। ग्रामीण पुरुष चित्र-विचित्र आदि होने को जानता है, यह मनुष्यों के उपभोग-परिभोग करने का रत्न है, जानता है, किन्तु यह अच्छा है, यह खोटा है, यह आधे दाम का है—इस विभाग को नहीं जानता है। सराफ उन सब प्रकारों को जानता है, जानते हुए कार्षापण को देखकर भी जानता है, बजाने के शब्द को सुनकर भी, गन्ध को सूँघकर भी, रस को चाटकर भी, हाथ से लेकर भी, अमुक नाम के गाँव, निगम (=कस्बा), नगर, पर्वत, या नदी के किनारे बनाया गया है भी, अमुक आचार्य (=कारीगर) द्वारा बनाया गया है भी—जानता है। ऐसे ही इसे भी जानना चाहिये।

संज्ञा नीला आदि के अनुसार आलम्बन को जानने के आकार को ग्रहण करने से अनजान बच्चे के कार्षापण को देखने के समान होती है। विज्ञान नीला आदि के अनुसार आलम्बन के आकार को ग्रहण करने और ऊपर भी लक्षण के प्रतिवेध को पहुँचाने से ग्रामीण पुरुष के कार्षापण को देखने के समान होती है। प्रज्ञा नीला आदि के अनुसार आलम्बन के आकार को ग्रहण कर लक्षण के प्रतिवेध को भी पहुँचा कर उससे भी ऊपर मार्ग के प्रादुर्भाव तक पहुँचाने से सराफ के कार्षापण को देखने के समान होती है। इसलिये जो यह विशेष रूप से जानने के विशिष्ट आकार को नाना प्रकार से जानना है, इसे 'भली प्रकार जानना' (=प्रजानन) समझना चाहिये। इसके प्रति ही यह कहा गया है—"भली प्रकार जानने के अर्थ में प्रज्ञा है।"

वह, जहाँ (= जिस चित्त में) संज्ञा, विज्ञान होते हैं, वहाँ प्रज्ञा बिलकुल नहीं होती है।[1] किन्तु जब होती है, तब उन धर्मों से मिली हुई होती है। यह संज्ञा है, यह विज्ञान है, यह प्रज्ञा है—इस प्रकार अलग-अलग करके नहीं जानी जा सकने से सूक्ष्म, दुर्दश्य होती है। उसी से आयुष्मान् नागसेन ने कहा—"महाराज, भगवान् ने बहुत कठिन काम किया।"

"भन्ते नागसेन! भगवान् ने क्या बहुत कठिन काम किया?"

"महाराज! भगवान् ने बहुत कठिन काम किया, जो कि अरूपी एक आलम्बन में होने वाले चित्त-चैतसिक धर्मों को अलग-अलग करके कहा, यह स्पर्श है, यह वेदना है, यह संज्ञा है, यह चेतना है, यह चित्त है।"

लक्षण आदि क्या है?

क्या इसका लक्षण, रस, प्रत्युपस्थान, पदस्थान है? यहाँ, धर्म के स्वभाव को जानने के लक्षण वाली प्रज्ञा है; वह धर्मों के स्वभाव को ढँकने वाले मोह के अन्धकार का नाश करने के रस (=कृत्य) वाली है। अ-संमोह इसका प्रत्युपस्थान है।" एकाग्रचित्त वाला यथार्थ जानता है, देखता है।"[2] वचन से समाधि उसका पदस्थान है।

प्रज्ञा के भेद

प्रज्ञा कितने प्रकार की होती है? धर्म के स्वभाव के प्रतिवेध के लक्षण से एक प्रकार की होती है। लौकिक और लोकोत्तर से दो प्रकार की। वैसे ही साश्रव, अनाश्रव आदि से, नामरूप

१. प्रज्ञा सब चित्तों में नहीं होती है, वह द्विहेतुक चित्तों को छोड़कर केवल त्रिहेतुक चित्तों में ही होती है, इसलिये ऐसा कहा गया है।

२. अंगुत्तर नि० १०, १, १।

के व्यवस्थापन से, सौमनस्य-उपेक्षा से युक्त होने से और दर्शन-भावना की भूमि से। चिन्ता, श्रुत, भावनामय से तीन प्रकार की होती है। वैसे ही परित्र, महद्गत, अप्रमाण से, आय, अपाय, उपाय-कौशल्य से और आध्यात्म-अभिनिवेश आदि से। चार सत्यों के ज्ञान और चार प्रतिसम्भिदा से प्रज्ञा चार प्रकार की होती है।

उनमें, एक प्रकार के भाग का अर्थ सरल ही है। दो प्रकार के भाग में लौकिक मार्ग से युक्त लौकिक और लोकोत्तर मार्ग से युक्त लोकोत्तर है—ऐसे लौकिक-लोकोत्तर से (प्रज्ञा) दो प्रकार की होती है।

द्वितीय द्विक् में, आश्रवों का आलम्बन हुई साश्रव और उनका आलम्बन नहीं हुई अनाश्रव है। अर्थ से यह लौकिक और लोकोत्तर ही होती है। आश्रव से युक्त साश्रव और आश्रव से रहित अनाश्रव है—आदि में भी इसी प्रकार। ऐसे साश्रव, अनाश्रव आदि से दो प्रकार की होती है।

तृतीय द्विक् में, विपश्यना को आरम्भ करने की इच्छा वाले की चारों अरूपस्कन्धों के व्यवस्थापन में जो प्रज्ञा है, यह नाम-व्यवस्थापन-प्रज्ञा है और जो रूप-स्कन्ध के व्यवस्थापन में प्रज्ञा है, यह रूप-व्यवस्थापन-प्रज्ञा है। ऐसे नामरूप के व्यवस्थापन से दो प्रकार की होती है।

चतुर्थ द्विक् में, दो कामावचर के कुशल चित्तों में और सोलह पञ्चक नय से चतुर्थ ध्यान वाले मार्ग के चित्तों में प्रज्ञा सौमनस्य से युक्त, दो कामावचर के कुशल चित्तों में और चार पञ्चक ध्यान वाले मार्ग के चित्तों में प्रज्ञा उपेक्षा से युक्त होती है—ऐसे सौमनस्य-उपेक्षा से युक्त दो प्रकार की होती है।

पञ्चक् द्विक् में प्रथम मार्ग की प्रज्ञा दर्शन-भूमि है और शेष तीन मार्गों की प्रज्ञा भावना-भूमि है—ऐसे दर्शन और भावना-भूमि से दो प्रकार की होती है।

त्रिकों के पहले त्रिक् में दूसरे से नहीं सुनकर प्राप्त की हुई, अपनी चिन्ता से सिद्ध हुई प्रज्ञा चिन्तामय है। दूसरे से सुनकर प्राप्त की हुई, सुनने से सिद्ध हुई प्रज्ञा श्रुतमय है। जैसे-तैसे भावना से सिद्ध हुई अर्पणा को प्राप्त प्रज्ञा भावनामय है। यह कहा गया है—"कौनसी चिन्तामय प्रज्ञा है ? युक्ति से किये गये कामों में, युक्ति से किये गये शिल्पों में, युक्ति से की गई विद्याओं में, कर्म-स्वकता,[1] सत्यानुलोमिक (=विपश्यना ज्ञान), या रूप अनित्य है, वेदना... संज्ञा... संस्कार... विज्ञान अनित्य है—जो इस प्रकार की अनुलोम होने की क्षान्ति, दृष्टि, रुचि, मुति, अपेक्षा, धर्म-निध्यान-क्षान्ति को दूसरे से नहीं सुनकर प्राप्त करता है—यह चिन्तामय प्रज्ञा कही जाती है।... सुनकर प्राप्त करता है—यह श्रुतमय प्रज्ञा कही जाती है। सब भी (समापत्ति को) प्राप्त किये हुए की भावनामय प्रज्ञा है।"[2] ऐसे चिन्ता, श्रुत भावनामय के अनुसार तीन प्रकार की होती है।

दूसरे त्रिक् में, कामावचर-धर्मों के प्रति प्रवर्तित प्रज्ञा परित्र-आलम्बन वाली है। रूपावचर और अरूपावचर के प्रति प्रवर्तित महद्गत आलम्बन वाली है, वह लौकिक विपश्यना है। निर्वाण के प्रति प्रवर्तित अप्रमाण-आलम्बन वाली है, वह लोकोत्तर विपश्यना है—ऐसे परित्र, महद्गत, अप्रमाण आलम्बन के अनुसार तीन प्रकार की होती है।

तीसरे त्रिक् में, आय कहते हैं वृद्धि को। वह अर्थ की हानि और अर्थ की उत्पत्ति (=लाभ) से दो प्रकार की होती है। उनमें कुशल होना आय-कौशल्य है। जैसे कहा है—"कौन-सा है

१. प्राणियों का यह कर्म अपना है, यह अपना नहीं है—ऐसा जानने का ज्ञान।
२. विभङ्गपालि।

आय-कौशल्य ? इन धर्मों को मन में करने वाले को नहीं उत्पन्न हुए अकुशल धर्म नहीं उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हुए अकुशल धर्म दूर हो जाते हैं या इन धर्मों को मन में करने वाले को नहीं उत्पन्न कुशल धर्म उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न कुशल धर्म बढ़ते हैं, विपुल होते हैं, भावना की पूर्णता को प्राप्त होते हैं। जो वहाँ प्रज्ञा, भली प्रकार जानना'''अमोह,—धर्म-विचय, सम्यक् दृष्टि है, यह आय-कौशल्य कही जाती है।"[१]

अपाय कहते हैं अवनति (= अ-वृद्धि) को। वह भी अर्थ की हानि और अनर्थ की उत्पत्ति से दो प्रकार की होती है। उनमें कुशल होना अपाय-कौशल्य है। जैसे कहा है—"कौन-सा है अपाय-कौशल्य ? इन धर्मों को मन में करने वाले को नहीं उत्पन्न हुए कुशल धर्म नहीं उत्पन्न होते।"[२] आदि।

सर्वत्र उन-उन बातों की सिद्धि में उस समय उत्पन्न स्थानोचित कौशल्य उपाय-कौशल्य है। जैसे कहा है—"सब भी वहाँ उपाय वाली प्रज्ञा उपाय-कौशल्य है।"[३] ऐसे आय, अपाय, उपाय कौशल्य के अनुसार तीन प्रकार की होती है।

चौथे त्रिक् में, अपने स्कन्धों को लेकर प्रारम्भ की गई विपश्यना-प्रज्ञा आध्यात्म-अभिनिवेश वाली है, दूसरे के स्कन्धों को या बाह्य अन्-इन्द्रिय-बद्ध-रूप (= वृक्ष, पर्वत, लोह आदि) को लेकर आरम्भ की गई बाह्य-अभिनिवेश वाली है। दोनों को लेकर प्रारम्भ की गई आध्यात्म-बाह्य-अभिनिवेश वाली है—ऐसे आध्यात्म आदि से तीन प्रकार की होती है।

चतुष्कों के पहले चतुष्क् में, दुःख-सत्य के प्रति प्रवर्तित ज्ञान दुःख में ज्ञान है, दुःख के समुदय (= उत्पत्ति) के प्रति प्रवर्तित ज्ञान दुःख-समुदय में ज्ञान है, दुःख के निरोध के प्रति प्रवर्तित ज्ञान दुःख के निरोध में ज्ञान है, और दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा के प्रति प्रवर्तित ज्ञान दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा में ज्ञान है। ऐसे चार सत्यों में ज्ञान के अनुसार चार प्रकार की होती है।

दूसरे चतुष्क् में, चार प्रतिसम्भिदा कहते हैं—अर्थ आदि में प्रभेदगत चार ज्ञान को। कहा गया है—"अर्थ में ज्ञान अर्थ-प्रतिसम्भिदा है। धर्म में ज्ञान धर्म-प्रतिसम्भिदा है। वहाँ धर्म की निरुक्ति (= व्याकरण) के अभिलाप (= कथन) में ज्ञान निरुक्ति-प्रतिसम्भिदा है। ज्ञानों में ज्ञान प्रतिभान-प्रतिसम्भिदा है।"

वहाँ, अर्थ, संक्षेप में हेतु-फल का यह नाम है। हेतुफल चूँकि हेतु के अनुसार प्राप्त होता है, इसलिये अर्थ कहा जाता है, किन्तु प्रभेद से, जो कुछ प्रत्यय से उत्पन्न है, निर्वाण, कहे गये का अर्थ, विपाक, क्रिया—इन पाँच धर्मों को अर्थ जानना चाहिये। उस अर्थ का प्रत्यवेक्षण करने वाले का उस अर्थ में प्रभेदगत ज्ञान **अर्थ-प्रतिसम्भिदा** है।

धर्म, संक्षेप से प्रत्यय का यह नाम है। चूँकि प्रत्यय उस-उसका विधान करता है, प्रवर्तित करता है, या पहुँचा देता है, इसलिये धर्म कहा जाता है। प्रभेद से जो कोई फल को उत्पन्न करने वाला हेतु, आर्यमार्ग, भाषित (= कहा गया), कुशल, अकुशल—इन पाँच बातों को धर्म जानना चाहिये। उस धर्म का प्रत्यवेक्षण करनेवाले का उस धर्म में प्रभेदगत ज्ञान **धर्म-प्रतिसम्भिदा** है।

यही अर्थ अभिधर्म में—"दुःख में ज्ञान अर्थ-प्रतिसम्भिदा है। दुःख-समुदय में ज्ञान

१. विभङ्ग।

२. विभङ्ग पालि।

३. विभङ्ग।

धर्म-प्रतिसम्भिदा है।……हेतु में ज्ञान धर्म-प्रतिसम्भिदा है। हेतु-फल में ज्ञान अर्थ-प्रतिसम्भिदा है……जो धर्म जात = भूत = संजात = उत्पन्न = प्रादुर्भूत हैं, इन धर्मों में ज्ञान अर्थ-प्रतिसम्भिदा है। जिस धर्म से, वे धर्म जात = भूत = संजात = उत्पन्न = प्रादुर्भूत हैं, उन धर्मों में ज्ञान धर्म-प्रतिसम्भिदा है।……जरा, मरण में ज्ञान अर्थ प्रतिसम्भिदा है। जरा, मरण के समुदय में ज्ञान धर्म प्रतिसम्भिदा है।……संस्कार-निरोध में ज्ञान अर्थ-प्रतिसम्भिदा है। संस्कारों की निरोधगामिनी-प्रतिपदा में ज्ञान धर्म प्रतिसम्भिदा है।……यहाँ भिक्षु धर्म जानता है, सूत्र, गेय,……वेदल्ल—इसे धर्म प्रतिसम्भिदा कहते हैं। वह उन-उन कही गई बातों का अर्थ जानता है—'यह इस कहे गये का अर्थ है, यह इस कहे गये का अर्थ है'—इसे अर्थ-प्रतिसम्भिदा कहते हैं।……कौन से धर्म कुशल हैं ? जिस समय कामावचर कुशल-चित्त उत्पन्न होता है……ये धर्म कुशल हैं। इन धर्मों में ज्ञान धर्म-प्रतिसम्भिदा है। उसके विपाक में ज्ञान अर्थ-प्रतिसम्भिदा है।" आदि प्रकार से विभक्त करके दिखलाया गया है।

वहाँ धर्म निरुक्ति के अभिलाप में ज्ञान—उस अर्थ और धर्म में जो स्वभाव निरुक्ति है, अ-व्यभिचारी व्यवहार है, उसके अभिलाप में, उसके कहने में, बोलने में, उस कहे गये, बोले गये को सुनकर ही, यह स्वभाव निरुक्ति है, यह स्वभाव निरुक्ति नहीं है—ऐसे उस धर्म-निरुक्ति के नाम से कही जानेवाली स्वभाव निरुक्ति मागधी सब सत्वों की मूलभाषा में प्रभेदगत ज्ञान **निरुक्ति-प्रतिसम्भिदा** है। निरुक्ति-प्रतिसम्भिदा प्राप्त स्पर्श, वेदना ऐसे आदि वचन को सुनकर ही यह स्वभाव निरुक्ति है, जानता है। स्पर्श, वेदना—ऐसे आदि को, यह स्वभाव निरुक्ति नहीं है।

ज्ञानों में ज्ञान—सब (विषयों) में ज्ञान को आलम्बन करके प्रत्यवेक्षण करने वाले के ज्ञान का आलम्बन, ज्ञान है। या यथोक्त उन ज्ञानों में गोचर और कृत्य आदि के अनुसार विस्तार से ज्ञान, **प्रतिभान-प्रतिसम्भिदा** है—यह अर्थ है।

चारों भी ये प्रतिसम्भिदायें दो स्थानों में प्रभेद को प्राप्त होती हैं—शैक्ष्य और अशैक्ष्य भूमि में। वहाँ, अग्रश्रावकों और महाश्रावकों की अशैक्ष्य भूमि में प्रभेद को प्राप्त होती हैं। **आनन्द स्थविर, चित्त गृहपति, धार्मिक उपासक, उपालि गृहपति, खुज्जुत्तरा उपासिका** आदि की शैक्ष्य भूमि में।

ऐसे दो भूमियों में प्रभेद को प्राप्त होती हुई भी ये अधिगम, पर्य्याप्ति, श्रवण, परिपुच्छा (=प्रश्नोत्तर) और पूर्वयोग—इन पाँच प्रकारों से विस्तृत होती हैं। वहाँ, **अधिगम** कहते हैं अर्हत्व की प्राप्ति को। **पर्य्याप्ति** कहते हैं बुद्धवचन के स्वाध्याय करने को। **श्रवण** कहते हैं सत्कार पूर्वक चित्त को एकाग्र करके सद्धर्म के सुनने को। **परिपुच्छा** कहते हैं पालि अर्थकथा आदि में कठिन पद, अर्थ-पद की विनिश्चय-कथा को। **पूर्वयोग** कहते हैं पूर्व बुद्धों के शासन में जाने और फिर आने वाला (=गतप्रत्यागतिक)[1] होने से जब तक अनुलोम, गोत्रभू के समीप जाना है, तब तक विपश्यना में लगे रहने को। दूसरे लोगों ने कहा है—

> **पुब्बयोगो बाहुसच्चं देसभासा च आगमो।**
> **परिपुच्छा अधिगमो गुरुसन्निस्सयो तथा।**
> **मित्त सम्पत्ति चेवा' ति पटिसम्भिद पच्चया॥**

---

१. यह एक व्रत है, जिसे 'गतप्रत्यागत' कहते हैं। रहने के स्थान से गोचर गाँव तक और फिर वहाँ से रहने के स्थान तक जाते-आते कर्मस्थान के अनुयोग में युक्त रहना इसका अर्थ है।

[पूर्वयोग, बहुश्रुत होना, देशभाषा, आगम, परिपुच्छा, अधिगम, गुरु का आश्रय और वैसे ही मित्र की प्राप्ति—ये प्रतिसम्भिदा के प्रत्यय हैं।]

वहाँ, **पूर्वयोग** कहे हुए ढंग से ही जानना चाहिये। **बहुश्रुत होना** कहते हैं अनेक शास्त्रों और शिल्पों में कुशल होने को। **देशभाषा** कही जाती है एक सौ एक भाषाओं[1] में कुशल होना, विशेष रूप से मागधी (=पालि) में दक्षता। **आगम** कहते हैं अन्तिमतः ओपम्म[2] वर्ग मात्र भी बुद्धवचन का स्वाध्याय करना। **परिपुच्छा** कहते हैं एक गाथा का भी अर्थविनिश्चय पूछने को। **अधिगम** कहते हैं स्रोतापन्न होने या······अर्हत् होने को। **गुरु का निश्रय** कहते हैं श्रुत, प्रतिभान बहुल गुरुओं के पास वास करने को। **मित्र की प्राप्ति** कहते हैं उस प्रकार के ही मित्रों के प्रतिलाभ को।

बुद्ध और प्रत्येकबुद्ध पूर्वयोग तथा अधिगम के सहारे प्रतिसम्भिदाओं को प्राप्त करते हैं। श्रावक सम्पूर्ण इन कारणों के। प्रतिसम्भिदा की प्राप्ति के लिये अलग कोई एक कर्मस्थान और भावना का अनुयोग नहीं है। शैक्ष्यों की शैक्ष्य-फल, विमोक्ष के अन्त में होनेवाली और अशैक्ष्यों की अशैक्ष्य फल, विमोक्ष के अन्त में होनेवाली प्रतिसम्भिदा की प्राप्ति होती है। तथागतों के दशबलों के समान आर्यों को आर्य फल से ही प्रतिसम्भिदायें प्राप्त हो जाती हैं। इन प्रतिसम्भिदाओं के प्रति कहा गया है—"चार प्रतिसम्भिदा के अनुसार चार प्रकार की।"

भावना-विधि

कैसे भावना करनी चाहिये? यहाँ, चूँकि इस प्रज्ञा स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि प्रकार की धर्म भूमि है। शीलविशुद्धि और चित्त विशुद्धि—ये दो विशुद्धियाँ मूल है। दृष्टि विशुद्धि, कांक्षा वितरण विशुद्धि, मार्गामार्ग दर्शन विशुद्धि, प्रतिपदा ज्ञान दर्शन विशुद्धि, ज्ञान दर्शन विशुद्धि—ये पाँच विशुद्धियाँ शरीर है। इसलिये उन भूमि हुए धर्मों में उद्-ग्रहण (=अभ्यास), परिपुच्छा के अनुसार ज्ञान का परिचय करके मूल हुईं दो विशुद्धियों का सम्पादन करके, शरीर हुई पाँच विशुद्धियों का सम्पादन करते हुए भावना करनी चाहिये। यह यहाँ संक्षेप है।

यह विस्तार है—जो कहा गया है—'स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, सत्य, प्रतीत्य समुत्पाद आदि प्रकार की धर्म भूमि है' इसमें **स्कन्ध**—पाँच स्कन्ध हैं—(१) रूपस्कन्ध, (२) वेदना स्कन्ध, (३) संज्ञा स्कन्ध, (४) संस्कार स्कन्ध, (५) विज्ञान स्कन्ध।

(१) रूपस्कन्ध

उनमें, जो कुछ शीत आदि से विकार प्राप्त होने के स्वभाव वाला धर्म है, वह सब एक में करके रूप-स्कन्ध जानना चाहिए। वह विकार प्राप्त होने के स्वभाव से एक प्रकार का भी, भूत और उपादा के भेद से दो प्रकार का होता है।

१. पूर्वकाल के एक सौ एक राजाओं के देश में एक सौ एक भाषा के व्यवहार में दक्ष होना—सिंहल सन्नय।

२. धम्मपद का यमकवर्ग ही ओपम्मवर्ग है, ऐसा कहते हैं। दूसरे लोग मज्झिम निकाय के यमक वर्ग को ओपम्मवग्ग कहते हैं—टीका।

उनमें, **भूतरूप** चार प्रकार का होता है—पृथ्वीधातु, जलधातु, तेजधातु, वायुधातु। उनके लक्षण, रस (=कृत्य), प्रत्युपस्थान, चतुर्धातुव्यवस्थान में कहे गये हैं[1]। पदस्थान से वे सभी अवशेष तीन धातुओं के पदस्थान हैं।

उपादारूप चौबीस प्रकार का होता है—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्त्री-इन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, हृदयवस्तु, काय विज्ञप्ति, वची विज्ञप्ति, आकाश धातु, रूप की लघुता, रूप की मृदुता, रूप की कर्मण्यता, रूप का उपचय, रूप की सन्तति (=अ-विच्छिन्न धारा), रूप की जरता (=वृद्धापन), रूप की अनित्यता, कवलिंकार आहार।

उनमें, रूपों के संघर्षण करने के योग्य भूतों के प्रसाद लक्षणवाला या देखने की इच्छा (=रूप तृष्णा) के कारण कर्म से उत्पन्न भूतों के प्रसाद लक्षण वाला चक्षु है। रूपों की ओर खिंच जाना इसका कृत्य है। चक्षु विज्ञान का आधार होना प्रत्युपस्थान है और देखने की इच्छा के कारण कर्म से उत्पन्न होना पदस्थान है।

शब्दों के संघर्षण करने के योग्य भूतों के प्रसाद लक्षणवाला या सुनने की इच्छा के कारण कर्म से उत्पन्न भूतों के प्रसाद लक्षण वाला श्रोत्र है। शब्दों की ओर खिंच जाना इसका कृत्य है। श्रोत्र-विज्ञान का आधार होना प्रत्युपस्थान है और सुनने की इच्छा के कारण कर्म से उत्पन्न होना पदस्थान है।

गन्धों के संघर्षण करने के योग्य भूतों के प्रसाद लक्षण वाला या सूँघने की इच्छा के कारण कर्म से उत्पन्न भूतों के प्रसाद लक्षण वाला घ्राण है। गन्धों की ओर खिंच जाना इसका कृत्य है। घ्राण-विज्ञान का आधार होना प्रत्युपस्थान है और सूँघने की इच्छा के कारण कर्म से उत्पन्न होना पदस्थान है।

रसों के संघर्षण करने योग्य भूतों के प्रसाद लक्षण वाली या चाटने की इच्छा के कारण कर्म से उत्पन्न भूतों के प्रसाद लक्षण वाली जिह्वा है। रसों की ओर खिंच जाना इसका कृत्य है। जिह्वा-विज्ञान का आधार होना प्रत्युपस्थान है और चाटने की इच्छा के कारण कर्म से उत्पन्न होना पदस्थान है।

स्पर्शों (=स्प्रष्टव्य) में संघर्षण करने के योग्य भूतों के प्रसाद लक्षण वाला या स्पर्श करने की इच्छा के कारण कर्म से उत्पन्न भूतों के प्रसाद लक्षण वाला काय है। स्पर्शों की ओर खिंच जाना इसका कृत्य है। काय-विज्ञान का आधार होना प्रत्युपस्थान है और स्पर्श करने की इच्छा के कारण कर्म से उत्पन्न होना पदस्थान है।

कोई-कोई[2]—अग्नि अधिक रहने वाले भूतों का प्रसाद चक्षु; वायु, पृथ्वी, जल अधिक रहने वाले भूतों का प्रसाद श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा; काय सबका (=सब समान) है—कहते हैं। दूसरे[3]—अग्नि अधिक रहने वाले का प्रसाद चक्षु; विवर (=आकाश), वायु, जल, पृथ्वी अधिक रहने वालों का श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय—कहते हैं। उन्हें कहना चाहिये—"सूत्र लाइये।" यह निश्चित है कि (वे) सूत्र ही नहीं देखेंगे।

---

१. देखिये, ग्यारहवाँ परिच्छेद।

२. महासांघिकों में से कोई-कोई आचार्य। उनमें वसुधर्म (=वसुबन्धु ?) ऐसा कहते हैं—"चक्षु में तेज अधिक है, श्रोत्र में वायु, घ्राण में पृथ्वी, जिह्वा में जल, किन्तु काय में सभी समान हैं।"—टीका।

३. अभयगिरि वासी।

कोई-कोई[1], यहाँ—अग्नि आदि के गुणों से रूप आदि के अनुग्रहण प्राप्त होने से, कारण बतलाते हैं। उन्हें कहना चाहिये—कौन ऐसा कहा कि रूप आदि अग्नि आदि के गुण हैं ? अलग-अलग होकर नहीं रहने के स्वभाव वाले भूतों में—'यह इसका गुण है, यह इसका गुण है' ऐसा कहा नहीं जा सकता।

तब भी कहें—"जैसे उन-उन वस्तुओं में उस-उस भूत की अधिकता से पृथ्वी आदि के धारण करने आदि कृत्यों को मानते हैं, ऐसे ही अग्नि आदि अधिक वस्तुओं में रूप आदि के अधिक होने को देखने से यह मानना ही पड़ेगा कि रूप आदि उनके गुण हैं।" उन्हें कहना चाहिये—"मानेंगे, यदि जल अधिक वाले आसव (= शराब) के गन्ध से पृथ्वी अधिक वाले कपास में गन्ध अधिकतर हो और अग्नि अधिक वाले गर्म जल के वर्ण से ठंडे जल का वर्ण घट जाय।"

चूँकि यह दोनों भी नहीं होता है, इसलिये इन (चक्षु आदि प्रसाद) के आश्रित महाभूतों की विशेष कल्पना को छोड़िये। जैसे भूतों के अ-विशेष होने पर भी रूप-रस आदि परस्पर भिन्न होते हैं, ऐसे ही चक्षु-प्रसाद आदि अन्य विशेष कारण के नहीं रहने पर भी—मानना चाहिये। वह क्या है जो परस्पर असाधारण हो ? कर्म ही उनका विशेष कारण है। इसलिये कर्म की विशेषता से इनकी विशेषता है, भूतों की विशेषता से नहीं। भूतों की विशेषता होने पर प्रसाद ही नहीं उत्पन्न होता है। बराबर वालों को ही प्रसाद है, विषमवालों को नहीं—ऐसा पुराने लोगों ने कहा है।

ऐसे इन विशेष कर्म से विशेष होने वालों में चक्षु, श्रोत्र अपने निश्रय में नहीं लगाकर[2] निश्रय हुए विषय (= रूप, शब्द) में ही विज्ञान का हेतु होने से अप्राप्त विषय को ग्रहण करने वाले हैं। घ्राण, जिह्वा, काय, निश्रय से और स्वयं (= स्प्रष्टव्य) अपने निश्रय हुए (भूतों) से नहीं लगे हुए ही विषय में विज्ञान का हेतु होने से सम्प्राप्त विषय को ग्रहण करने वाले हैं।

यहाँ, चक्षु—जो लोक में नीले प्लक्ष्मों से समाकीर्ण काले, श्वेत, मण्डलों से चित्रित, नीले कमल दल के समान चक्षु कहा जाता है, उस सम्भार-चक्षु के श्वेत मण्डल को घेरे हुए कृष्ण मण्डल के बीच, सामने खड़े होने वालों के शरीर की बनावट के उत्पत्ति-प्रदेश में तेल से भिगोये हुए सात रूई के पटलों के समान, सात चक्षु के पटलों में व्याप्त होकर, चार धाइयों के क्षत्रिय-कुमार (= राजकुमार) को धारण करने, स्नान कराने, सजाने, पंखा झलने—इन चार कामों के समान चार धातुओं से धारण करने, बाँधने, पकाने, चलाने के कामों से उपकृत, ऋतु, आहार से सम्हाला जाता, आयु से पाला जाता, वर्ण, गन्ध, रस आदि से घिरा हुआ, प्रमाण से ऊका (= जूँ) के सिर के बराबर चक्षु-विज्ञान आदि का यथायोग्य वस्तु, द्वार होता हुआ स्थित है। धर्मसेनापति ने यह कहा भी है—

> येन चक्खुप्पसादेन रूपानि मनुपस्सति।
> परित्तं सुखुमं एतं ऊका सिर समूपमं॥

---

१. वसुधर्माचार्य और अभयगिरि वासियों में से कोई-कोई—सिंहल सन्नय।

२. चूँकि चक्षु-प्रसाद में आये हुए रूप चक्षु-प्रसाद से ही लगते हैं, चक्षु उन्हें नहीं देखता है, ऐसे ही घ्राण के विवर में आये हुए शब्द घ्राण-प्रसाद से ही लगते हैं, घ्राण उन्हें नहीं सुनता है, इसलिये अपने निश्रय में नहीं लगकर—कहा गया है।

[जिस चक्षु-प्रसाद से व्यक्ति रूपों को देखता है, यह अत्यन्त छोटा जूँ के शिर के समान है।]

स-सम्भार श्रोत्र-बिल के भीतर पतले ताँबे के रंग के लोमों से भरे अंगुलि-वेष्टन की बनावट के प्रदेश में श्रोत्र, उक्त प्रकार की धातुओं से उपकृत, ऋतु, चित्त, आहार से सम्हाला जाता, आयु से पाला जाता, वर्ण आदि से घिरा, श्रोत्र-विज्ञान आदि का यथायोग्य वस्तु और द्वार होता हुआ स्थित है।

स-सम्भार घ्राण-बिल के भीतर बकरी के खुर की बनावट के प्रदेश में घ्राण, यथोक्त प्रकार से उपकृत, सम्हाले जाने, पाले जाने, घिरे रहने, घ्राण-विज्ञान आदि का यथायोग्य वस्तु और द्वार होने को सिद्ध करता हुआ स्थित है।

स-सम्भार जिह्वा के बीच में ऊपर कमल-दल के अग्रभाग की बनावट के प्रदेश में जिह्वा, यथोक्त प्रकार से उपकृत, सम्हाली जाती, पाली जाती, घेरी हुई, विज्ञान आदि का यथायोग्य वस्तु और द्वार होने को सिद्ध करती हुई स्थित है।

इस शरीर में जहाँ तक उपादिन्न रूप है, वहाँ तक सर्वत्र काय कपास के पटल में तेल के समान उक्त प्रकार से उपकृत, सम्हाला जाता, पाला जाता, घिरा हुआ ही होकर काय-विज्ञान आदि का यथायोग्य वस्तु और द्वार होने को सिद्ध करता हुआ स्थित है।

वल्मीक (=दीमक), पानी, आकाश, गाँव, श्मशान कहे जाने वाले अपने-अपने गोचर की ओर झुके हुए होने के समान साँप, घड़ियाल, पक्षी, कुत्ता, शृगाल (=गीदड़), रूप आदि गोचर की ओर झुके हुए ही इन चक्षु आदि को जानना चाहिये।

इसके पश्चात् अन्य रूप आदि में चक्षु को संघर्षण करने के लक्षण वाला रूप है। चक्षु-विज्ञान का विषय (=आलम्बन) होना इसका कृत्य है। उसी का गोचर होना प्रत्युपस्थान है। चारों महाभूत पदस्थान हैं। जैसे यह है, ऐसे ही सारे भी उपादा रूप। जहाँ विशेषता है, वहाँ कहेंगे। वह नीला, पीला आदि (भेदों) से अनेक प्रकार का है।

श्रोत्र को संघर्षण करने के लक्षण वाला शब्द है, श्रोत्र-विज्ञान का विषय होना इसका कृत्य है, उसी का गोचर होना प्रत्युपस्थान है। भेरी का शब्द, मृदंग का शब्द—आदि प्रकार से अनेक तरह का होता है।

घ्राण को संघर्षण करने के लक्षण वाला गन्ध है। घ्राण-विज्ञान का विषय होना इसका कृत्य है। उसी का गोचर होना प्रत्युपस्थान है। जड़ की गन्ध, सार की गन्ध आदि प्रकार से अनेक तरह का होता है।

जिह्वा को संघर्षण करने के लक्षण वाला रस है। जिह्वा-विज्ञान का विषय होना इसका कृत्य है। उसी का गोचर होना प्रत्युपस्थान है। जड़ का रस, स्कन्ध का रस। आदि प्रकार से अनेक तरह का होता है।

स्त्री होने का लक्षण स्त्री-इन्द्रिय है। 'स्त्री है' प्रकट करना इसका कृत्य है। स्त्रीलिंग, निमित्त[1], क्रिया[2] (=कुत्त), हावभाव (=आकप्प) का कारण प्रत्युपस्थान है।

१. स्तन के मांस का बढ़ना, मूँछ दाढ़ी का न होना, केश बाँधना, वस्त्र का ग्रहण करना आदि स्त्री होने के प्रत्यय को निमित्त कहते हैं।

२. बचपन में भी सूप, मूसल आदि के खेल, मिट्टी की तकली, सूत का कातना आदि स्त्रियों की क्रियायें स्त्री-कुत्त (=स्त्री-क्रिया) कही जाती हैं।

पुरुष होने का लक्षण **पुरुषेन्द्रिय** है। 'पुरुष है' प्रगट करना इसका कृत्य है। पुरुष-लिङ्ग (=पुल्लिङ्ग), निमित्त, क्रिया, हावभाव का कारण प्रत्युपस्थान है। वह दोनों भी काय-प्रसाद के समान सारे शरीर में व्याप्त ही है। किन्तु काय-प्रसाद के स्थित हुए अवकाश (=स्थान) में स्थित है या नहीं स्थित हुए अवकाश में स्थित है—नहीं कहा जा सकता। रूप आदि के समान परस्पर मिला हुआ नहीं है।

अपने साथ उत्पन्न हुए रूपों को पालने के स्वभाव वाली **जीवितेन्द्रिय** है। उन्हें प्रवर्तित करना इसका कृत्य है। उनकी स्थिति ही प्रत्युपस्थान है। पालने के योग्य भूतों का पदस्थान है। और पालन करने के स्वभाव आदि के विधान के रहने पर भी होने के समय में ही वह अपने साथ उत्पन्न हुए रूपों का पालन करती है, जैसे कि जल कमल आदि को पालता है। अपने-अपने प्रत्ययों से उत्पन्न धर्मों को भी पालती है। जैसे कि धाई कुमार को पालती है। और मल्लाह के समान स्वयं प्रवर्तित धर्म के सम्बन्ध से ही प्रवर्तित होती है। अपने प्रवर्तित किये जाने वालों के अभाव से भङ्ग से आगे नहीं प्रवर्तित करती है। स्वयं नाश होने से भङ्ग के क्षण में बत्ती-तेल के समाप्त होते हुए दीपक की लौ के समान नहीं रखती है। यथोक्त क्षण में उस-उसको सिद्ध करने से पालने, प्रवर्तित करने, बनाये रखने के अनुभाव से विरहित नहीं है। ऐसा जानना चाहिये।

मनोधातु और मनोविज्ञान-धातु के आश्रय के लक्षण वाली **हृदय-वस्तु** है। उन्हीं धातुओं को धारण करना इसका कृत्य है। ऊपर उठा कर ढोना प्रत्युपस्थान है। हृदय के भीतर कायगता स्मृति की कथा[1] में कहे गये प्रकार से लोहू के सहारे धारण करने आदि के कामों से (चार महा-) भूतों द्वारा उपकृत, ऋतु, चित्त, आहार से सम्हाला जाता, आयु से पाला जाता, मनोधातु, मनोविज्ञान-धातु और उससे युक्त धर्मों की वस्तु को सिद्ध करता हुआ स्थित है।

आगे चलने आदि को प्रवर्तित करने वाली चित्त से उत्पन्न वायु-धातु के साथ उत्पन्न रूप को सम्हालने, धारण करने, चलाने के कारण हुआ आकार-विकार **काय-विज्ञप्ति** है। आशय को प्रगट करना इसका कृत्य है। काय की चंचलता के कारण जानी जाती है। चित्त से उत्पन्न वायु-धातु पदस्थान है। वह चाल से आशय को प्रगट करने के कारण और स्वयं उस काय के चलने से, काय द्वारा विज्ञप्त होने के कारण काय-विज्ञप्ति कही जाती है। उसके द्वारा चित्त से उत्पन्न हुए रूपों के चलने पर उससे सम्बन्धित ऋतु से उत्पन्न हुए आदि (रूपों) के भी चलने से आगे बढ़ना आदि होते हैं—ऐसा जानना चाहिये।

(अर्थ को अवबोध कराने में समर्थ) वाग्विशेष के प्रवर्तक चित्त से उत्पन्न हुई पृथ्वी धातु के उपादिन्न के संघर्षण का कारण हुआ आकार-विकार **वची-विज्ञप्ति** है। आशय को प्रगट करना इसका कृत्य है। वाक् के घोष (=शब्द) के कारण जानी जाती है। चित्त से उत्पन्न पृथ्वी-धातु पदस्थान है। वह वाक् के घोष से आशय को प्रगट करने के कारण और स्वयं उस वाक् के घोष से वाणी द्वारा विज्ञप्त होने के कारण **वची विज्ञप्ति** कही जाती है। जैसे जंगल में ऊँचे उठाकर बाँधे हुए गोशीर्ष आदि जल के निमित्त को देखकर 'यहाँ पानी है' जाना जाता है, ऐसे ही काय की चंचलता और वाक् के घोष को लेकर काय और वची विज्ञप्तियाँ भी जान पड़ती हैं।

---

१. देखिये, आठवाँ परिच्छेद।

रूपों को अलग करने के स्वभाव वाली **आकाश धातु** है। रूप के अन्तिम छोर को प्रकाशित करना इसका कृत्य है। रूप की सीमा प्रत्युपस्थान है। या सटा हुआ न होना, छेद, विवर होना प्रत्युपस्थान है। परिच्छिन्न रूप के पदस्थान वाली है, जिससे परिच्छिन्न रूपों में 'यह यहाँ से ऊपर है, नीचे है, तिर्छे है' ऐसा होता है।

भारी न होने के स्वभाव वाली **रूप की लघुता** है। रूपों के भारीपन को दूर करना इसका कृत्य है। शीघ्र परिवर्तन होना प्रत्युपस्थान है। लघु-रूप का होना पदस्थान है। ठोस न होने के स्वभाव वाली **रूप की मृदुता** है। रूपों के ठोसपन को दूर करना इसका कृत्य है। सब क्रियाओं में विरोध का न होना प्रत्युपस्थान है। मृदु-रूप का होना पदस्थान है। शरीर की क्रिया के अनुकूल काम करने में समर्थ होने के स्वभाव वाली **रूप की कर्मण्यता** है। अ-कर्मण्यता को दूर करना इसका कृत्य है। दुर्बल न होना प्रत्युपस्थान है। कर्मण्य रूपों का होना पदस्थान है।

ये तीनों एक दूसरे को नहीं त्यागती हैं। ऐसा होने पर भी, जो अ-रोगी के समान रूपों का लघु होना, हल्कापन, शीघ्रता से परिवर्तन होने का प्रकार, रूपों को भारी करना, धातुओं का प्रकोप[1] और विरोधी प्रत्यय[2] से उत्पन्न है, वह रूप-विकार **रूप की लघुता** है। जो भली प्रकार मर्दित चर्म के समान रूपों का मृदु होना, सब विशेष क्रियाओं में वश में रखने वाला मृदु प्रकार, रूपों को ठोस करना, धातुओं का प्रकोप और विरोधी प्रत्यय से उत्पन्न है, वह रूप-विकार **रूप की मृदुता** है। जो भली प्रकार तपाकर शुद्ध किये गये सुवर्ण के समान रूपों का कर्मण्य होना, शरीर की क्रिया के अनुकूल होने का प्रकार, शरीर की क्रियाओं का अननुकूल करना, धातुओं का प्रकोप और विरोधी प्रत्यय से उत्पन्न है, वह रूप-विकार **रूप की कर्मण्यता** है।

—इस प्रकार इनकी विशेषता जाननी चाहिये।

आचय (= चयन) के स्वभाव वाला **रूप का उपचय** है। पूर्वान्त से रूपों को ऊपर उठाना इसका कृत्य है। सौंपना प्रत्युपस्थान है या परिपूर्ण होना। उपचित रूपों का होना पदस्थान है। जारी रहने के स्वभाव वाली **रूप की सन्तति** है। पीछे-पीछे लगा रहना इसका कृत्य है। अटूट होना प्रत्युपस्थान है। पूर्व-पूर्व के उत्पन्न रूपों के साथ लगा रहना पदस्थान है। यह दोनों भी रूप की उत्पत्ति का ही नाम है। किन्तु आकार के नानत्व और वैनेय के अनुसार "उपचय, सन्तति"[3] कहकर धर्मोपदेश किया गया है। चूँकि यहाँ अर्थ से नानत्व नहीं है, इसलिये इन शब्दों के निर्देश में "जो आयतनों का आचय (= चयन) है, वह रूप का उपचय है...जो रूप का उपचय है, वह रूप की सन्तति है।"[4] कहा गया है।

अट्ठकथा में भी "आचय कहते हैं उत्पत्ति को, उपचय कहते हैं वृद्धि को, सन्तति कहते हैं जारी रहने को।" यह कह कर "नदी के किनारे खोदे हुए कूँयें में पानी के ऊपर उठने के समय के समान आचय उत्पत्ति है। परिपूर्ण होने के समय के समान उपचय वृद्धि है। ऊपर फैलकर जाने के समय के समान सन्तति जारी रहना है।" यह उपमा की गई है। और उपमा के अन्त में "ऐसे क्या कहा गया है? आयतन से आचय कहा गया है, आचय से आयतन कहा गया है।" कहा गया है। इसलिये जो रूपों की प्रथमोत्पत्ति है, वह आचय है; जो उनके ऊपर दूसरे भी

१. वात, पित्त, श्लेष्मा का प्रकोप अथवा रस आदि धातुओं के विकार की अवस्था।

२. अनुकूल ऋतु, आहार से विक्षिप्त चित्त होने से उत्पन्न।

३. धम्मसङ्गणी।

४. धम्मसङ्गणी।

उत्पन्न होने वाले (रूपों) की उत्पत्ति है, वह वृद्धि के आकार में जान पड़ने से उपचय है और जो उनके भी ऊपर पुनः पुनः दूसरे उत्पन्न होने वाले (रूपों) की उत्पत्ति है, वह पीछे-पीछे लगे रहने के आकार में जान पड़ने से सन्तति कही जाती है—ऐसा जानना चाहिये।

रूपों को परिपक्व करने के स्वभाव वाली जरता (=जीर्णता=बुढ़ापा) है। (विनाश के पास) ले जाना इसका कृत्य है। (ठोस आदि) स्वभाव के दूर न होने पर भी, नये-भाव (=उत्पाद अवस्था) के दूर होने से धान के पुराना होने के समान जान पड़ने वाली है। (दाँत के) टूटने आदि से दाँत आदि में विकार को देखने से परिपक्व होते हुए रूप के पदस्थान वाली है। यह प्रगट जरा (=वृद्धापन) के प्रति कहा गया है, किन्तु अरूप धर्मों की प्रतिच्छन्न जरा होती है। उसे यह विकार नहीं है और जो पृथ्वी, जल, पर्वत, चन्द्र, सूर्य्य आदि में अवीचि जरा[1] है, (उसे भी यह विकार नहीं है)।

(रूपों का) भेदन (=विनाश) करने के स्वभाव वाली रूप की अनित्यता है। (विनाश करने के रूप में) डुबाना इसका कृत्य है। क्षय-व्यय इसका प्रत्युपस्थान है। विनाश होते हुए रूपों के पदस्थान वाली है।

ओज[2] के स्वभाव वाला कवलिङ्कार आहार है। रूप को लाना इसका कृत्य है। (ओज अष्टमक[3] के रूपोत्पाद से) सम्हाला जाना इसका प्रत्युपस्थान है। कौर करके खाने योग्य वस्तु इसका पदस्थान है। जिस ओज से प्राणी (जीवन-यापन) करते हैं, उसका यह नाम है।

ये पालि में आये हुए ही रूप हैं, किन्तु अट्ठकथा में बलरूप, सम्भव (= शुक्र) रूप, जाति (=उत्पत्ति) रूप, रोग रूप, किन्हीं के मत[4] से मृद्ध रूप—ऐसे अन्य भी रूपों को लाकर—

"अद्धा मुनीसि सम्बुद्धो, नत्थि नीवरणा तव।"[5]

[निश्चय ही (आप) मुनि, सम्बुद्ध हैं, आपको नीवरण नहीं हैं।]

—आदि कहकर "मृद्ध रूप नहीं ही है" ऐसे अस्वीकार किया गया है।[6] दूसरों में, रोग-रूप, जरता और अनित्यता के ग्रहण से गृहीत ही है। जाति-रूप उपचय और सन्तति के ग्रहण से। सम्भव-रूप जल धातु के ग्रहण से। बलरूप वायु-धातु के ग्रहण से गृहीत ही है। इसलिये उनमें से एक भी अलग नहीं है—निश्चय किया गया है। इस प्रकार यह चौबीस प्रकार के उपादारूप

---

१. इस जरा में वीचि (=अन्तर) नहीं होती है, इसलिये अवीचि कही जाती है।

२. अङ्ग-प्रत्यङ्ग में घूमने वाले रस का सार, जो कि बल उत्पन्न करने वाला भूतों के आश्रित एक वस्तु विशेष है।

३. चार महाभूत और वर्ण, गन्ध, रस, ओज—यह ओज अष्टमक् कहा जाता है।

४. अभयगिरि वासियों के मत से—टीका।

५. सुत्त निपात ३, ६, ३२।

६. मृद्ध पाँच नीवरणों में संगृहीत होने से रूप नहीं होता है, यदि मृद्ध रूप हो तो दो प्रकार का होगा—रूप और अरूप। फिर ऐसा होने पर उक्त गाथा का विरोध होता है; क्योंकि उसमें "आपको नीवरण नहीं है" कहा गया है। वस्तुतः अभयगिरिवासी भिक्षुओं का यह धर्म तथा तर्क बुद्धधर्म के विरुद्ध है।

और पहले कहे गये चार प्रकार के भूत—अन्यूनाधिक (कुल) अट्ठाइस प्रकार के रूप होते हैं।※

वह सब भी—"हेतु नहीं है, अहेतुक है, हेतु से रहित है, प्रत्यय सहित है, लौकिक साश्रव ही है।"[1] आदि ढंग से एक प्रकार का है। बाहरी, भीतरी ; स्थूल, सूक्ष्म ; दूरस्थ, समीपस्थ ; निष्पन्न, अ-निष्पन्न ; प्रसाद रूप, न-प्रसाद रूप ; इन्द्रिय, अनीन्द्रिय ; उपादिन्न, अनुपादिन्न आदि ढंग से दो प्रकार का है।

वहाँ, चक्षु आदि पाँच प्रकार के (रूप) अपने शरीर के सम्बन्ध से प्रवर्तित होने से **भीतरी** हैं। शेष (तेइस प्रकार के रूप) उससे बाहर होने से **बाहरी** हैं। चक्षु आदि नव और जलधातु को छोड़कर तीन धातुयें—यह बारह प्रकार के (रूप) संघर्षण के अनुसार ग्रहण करने के योग्य होने से **स्थूल** हैं। शेष (सोलह प्रकार के रूप) उससे विपरीत होने से **सूक्ष्म** हैं, वही कठिनाई से जान पड़ने के स्वभाव वाले होने से **दूरस्थ** हैं। दूसरे भली प्रकार जान पड़ने के स्वभाव वाले होने से **समीपस्थ** हैं। चार धातुयें, चक्षु आदि तेरह[2] और कवलिङ्कार आहार—यह अठारह प्रकार के रूप परिच्छेद, विकार, लक्षण होने का अतिक्रमण कर स्वभाव से ही परिग्रह करने के योग्य होने से **निष्पन्न** हैं। शेष (दस प्रकार के रूप) उसके विपरीत होने से **अ-निष्पन्न** हैं। चक्षु आदि पाँच प्रकार के रूप आदि का ग्रहण करने का प्रत्यय होने से आदर्श-तल के समान परिशुद्ध होने से **प्रसाद-रूप** हैं। दूसरे उससे विपरीत होने से **अ-प्रसाद-रूप** हैं। प्रसाद रूप ही स्त्री-इन्द्रिय आदि तीन के साथ अधिपति होने के अर्थ से **इन्द्रिय** है। शेष उससे विपरीत होने से **अनीन्द्रिय**। जो कर्म से उत्पन्न है—पीछे कहेंगे—वह कर्म से ग्रहण किये जाने से **उपादिन्न** है। शेष उससे विपरीत होने से **अनुपादिन्न** है।

※ अट्ठाइस प्रकार के रूपों का ग्यारह प्रकार से संग्रह होता है, जो दो भागों में बँटे हुये हैं—

(१) निष्पन्न रूप

१. पृथ्वी धातु, जल धातु, अग्नि धातु, वायु धातु	= ४ भूत रूप।
२. चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय,	= ५ प्रसाद रूप।
३. रूप, शब्द, गन्ध, रस,	= ४ विषय या गोचर रूप।
४. स्त्री-इन्द्रिय (=स्त्रीत्व), पुरुषेन्द्रिय (= पुरुषत्व)	= २ भाव रूप।
५. हृदय वस्तु	= १ हृदय रूप।
६. जीवितेन्द्रिय	= १ जीवित रूप।
७. कवलिङ्कार आहार	= १ आहार रूप।
	१८ निष्पन्न रूप।

(२) अ-निष्पन्न रूप

८. आकाश-धातु	= १ परिच्छेद रूप।
९. काय विज्ञप्ति, वची विज्ञप्ति,	= २ विज्ञप्ति रूप।
१०. रूप की लघुता, मृदुता, कर्मण्यता	= ३ विकार रूप।
११. रूप का उपचय, सन्तति, जरता, अनित्यता	= ४ लक्षण रूप।
	१० अ-निष्पन्न रूप।

१. धम्मसङ्गणी।
२. चक्षु आदि पाँच, रूप आदि चार, दो भाव रूप, जीवितेन्द्रिय और हृदय वस्तु।

फिर सारा ही रूप सनिदर्शन और कर्मज आदि त्रिकों के अनुसार तीन प्रकार का होता है। उसमें स्थूल (बारह प्रकार) में रूप सनिदर्शन स-प्रतिघ है। शेष अनिदर्शन, स-प्रतिघ। सारा भी सूक्ष्म (रूप) अनिदर्शन, अ-प्रतिघ है। ऐसे सनिदर्शन त्रिक् के अनुसार तीन प्रकार का होता है।

कर्मज आदि त्रिक् के अनुसार कर्म से उत्पन्न हुआ कर्मज है, उससे अन्य प्रत्ययों से उत्पन्न अ-कर्मज है और कहीं से नहीं उत्पन्न हुआ न तो कर्मज है और न अकर्मज। चित्त से उत्पन्न चित्तज है; उससे अन्य प्रत्ययों से उत्पन्न अ-चित्तज और कहीं से नहीं उत्पन्न न तो चित्तज है और न अ-चित्तज। आहार से उत्पन्न आहारज है, उससे अन्य प्रत्ययों से उत्पन्न अन्-आहारज और कहीं से नहीं उत्पन्न न तो आहारज है और न अन्-आहारज। ऋतु से उत्पन्न ऋतुज है, उससे अन्य प्रत्ययों से उत्पन्न अन्-ऋतुज है और कहीं से नहीं उत्पन्न न तो ऋतुज है और न अन्-ऋतुज। ऐसे कर्मज आदि त्रिक् के अनुसार तीन प्रकार का होता है।

फिर दृष्ट आदि, रूप-रूप आदि, वस्तु आदि चतुष्क् के अनुसार चार प्रकार का होता है। उनमें रूपायतन दर्शन का विषय होने से दृष्ट है। शब्दायतन श्रवण का विषय होने से श्रुत है। गन्ध, रस, स्पृष्टव्य[1] (= स्पर्श) तीन सम्प्राप्त ग्राहक इन्द्रियों के विषय होने से मुत है। शेष विज्ञान का ही विषय होने से विज्ञान है। ऐसे दृष्ट आदि चतुष्क् के अनुसार चार प्रकार का होता है।

निष्पन्न रूप यहाँ रूप-रूप है। आकाश-धातु परिच्छेद रूप है। काय-विज्ञप्ति आदि कर्मण्यता तक[2] विकार रूप है। जाति, जरा, भंग (=नाश) लक्षण रूप है। ऐसे रूप-रूप आदि चतुष्क् के अनुसार चार प्रकार का होता है।

जो यहाँ हृदय-रूप है, वह वस्तु है, द्वार नहीं है। दोनों विज्ञप्तियाँ द्वार हैं, वस्तु नहीं हैं। प्रसाद रूप वस्तु और द्वार भी है। शेष[3] न तो वस्तु हैं, न द्वार। ऐसे वस्तु आदि चतुष्क् के अनुसार चार प्रकार का होता है।

फिर, एक से उत्पन्न, दो से उत्पन्न, तीन से उत्पन्न, चार से उत्पन्न, कहीं से नहीं उत्पन्न— इनके अनुसार पाँच प्रकार का (रूप) होता है। कर्मज और चित्तज ही एकज हैं। उनमें हृदयवस्तु के साथ इन्द्रियरूप कर्मज ही है। दोनों विज्ञप्तियाँ चित्तज ही हैं। जो चित्त और ऋतु से उत्पन्न हुआ (रूप) है, वह दो से उत्पन्न है। वह शब्दायतन ही है। जो ऋतु, चित्त, आहार से उत्पन्न है, वह तीन से उत्पन्न है। वह लघुता आदि तीन ही हैं। जो चारों भी कर्म आदि से उत्पन्न है, वह चार से उत्पन्न है। वह लक्षण रूप को छोड़कर अवशेष होता है।

---

१. स्पृष्टव्य क्या है? पृथ्वी, अग्नि, वायु—ये तीन धातुयें। क्यों यहाँ जलधातु नहीं ग्रहण की गई है, जब कि शीतलता को छूकर जानते हैं और वह जलधातु ही होती है? वह जलधातु नहीं, प्रत्युत अग्निधातु है। ऊष्ण के कम होने पर शीतल संज्ञा होती है।

२. काय विज्ञप्ति, वची विज्ञप्ति, रूप की लघुता, मृदुता, कर्मण्यता।

३. हृदय वस्तु, दो विज्ञप्तियाँ और पाँच प्रसाद—इन आठ को छोड़कर बीस प्रकार के रूप। यदि जलधातु शीतल हो तो एक कलाप में ऊष्णता के साथ ही रहे, किन्तु ऐसा नहीं है। वायु में भी शीतलता नहीं है, केवल अग्नि-धातु की ऊष्णता की कमी से शीतलता का भान होता है। जो जल धातु की द्रवता को मानते हैं, उनकी भी केवल कल्पना मात्र है, क्योंकि द्रवता तीन भूतों के योग से होती है, अन्यथा द्रवता का अभाव है।

किन्तु, लक्षण रूप कहीं से नहीं उत्पन्न है। क्यों? उत्पाद की उत्पत्ति नहीं होती है और उत्पन्न हुए (रूपों) का परिपक्व होना तथा नाश को प्राप्त हो जाना मात्र अन्य दो हैं। जो भी—"रूपायतन, शब्दायतन, गन्धायतन, रसायतन, स्पर्शायतन, आकाशधातु, जलधातु, रूप की लघुता, रूप की मृदुता, रूप की कर्मण्यता, रूप का उपचय, रूप की सन्तति, कवलिङ्कार आहार—ये धर्म चित्त से उत्पन्न होने वाले हैं।"[1] आदि में, उत्पत्ति से कहीं से उत्पन्न होना माना गया है, वह रूप के जनक प्रत्ययों के कृत्य के अनुभाव के क्षण में दिखाई देने से—जानना चाहिये।

---

(२) विज्ञान स्कन्ध

दूसरे (स्कन्धों) में, जो अनुभव करने के लक्षण वाला है, वह सब एक में करके वेदना स्कन्ध है। जो कुछ पहचानने के लक्षण वाला है, वह सब एक में करके संज्ञा-स्कन्ध है। जो कुछ राशि करने के लक्षण वाला है, वह सब एक में करके संस्कार स्कन्ध है—ऐसा जानना चाहिये उनमें, चूँकि विज्ञान-स्कन्ध को जान लेने पर अन्य भली प्रकार जाने जा सकते हैं, इसलिये विज्ञान स्कन्ध से प्रारम्भ करके वर्णन करूँगा।

'जो कुछ जानने के लक्षण वाला है, वह सब एक में करके विज्ञान स्कन्ध है—ऐसा जानना चाहिये।' कहा गया है। जानने के लक्षण वाला क्या है? विज्ञान है। जैसे कहा है—"जानता है, जानता है आवुस, इसलिये विज्ञान कहा जाता है।"[2] विज्ञान, चित्त, मन—अर्थ से एक है। यह जानने के लक्षण से स्वभाव से एक प्रकार का भी होते हुए उत्पत्ति के अनुसार तीन प्रकार का होता है,—कुशल, अकुशल और अव्याकृत। उनमें कुशल भूमि के भेद से चार प्रकार का होता है—कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर और लोकोत्तर।

कामावचर के चित्त

उनमें कामावचर, सौमनस्य, उपेक्षा, ज्ञान, संस्कृत के भेद से आठ प्रकार का होता है। जैसे—(१) सौमनस्य सहगत ज्ञान से युक्त असंस्कृत और (२) स-संस्कृत। वैसे ही (३-४) ज्ञान से विप्रयुक्त (= रहित) (५) उपेक्षा सहगत ज्ञान से युक्त असंस्कृत और (६) स-संस्कृत। वैसे ही (७-८) ज्ञान से विप्रयुक्त।

जब दान की वस्तु, प्रतिग्राहक (= ग्रहण करने वाले) आदि[3] की सम्पत्ति, या अन्य सौमनस्य के कारण, अत्यन्त प्रसन्न चित्त "दान का (फल) है" आदि प्रकार से होने वाली सम्यक् दृष्टि को आगे करके संकोच नहीं करते हुए, किसी दूसरे द्वारा उत्साहित नहीं किये जाने पर दान आदि पुण्य (कर्म) करता है, तब उसका चित्त सौमनस्य सहगत ज्ञान से युक्त असंस्कृत होता है। जब उक्त प्रकार से अत्यन्त प्रसन्न चित्त सम्यक् दृष्टि को आगे करके भी किसी चीज के पाने की इच्छा को त्याग कर दान देने आदि के अनुसार संकोच करते हुए या दूसरे द्वारा उत्साहित किये

---

१. धम्मसङ्गणी।

२. मज्झिम नि० १, ४, ३।

३. आदि शब्द से देश, काल, कल्याण मित्र आदि की सम्पत्ति भी संगृहीत है।

जाने पर करता है, तब उसका वही चित्त स-संस्कृत होता है। इस अर्थ में 'संस्कृत' = यह अपने या दूसरे से होने वाले पूर्व-प्रयोग का नाम है।

जब अपने सम्बन्धी लोगों की प्रतिपत्ति को देखने से परिचित होकर छोटे बच्चे भिक्षुओं को देखकर प्रसन्न-चित्त होकर सहसा हाथ में रहने वाली किसी चीज को देते हैं या प्रणाम करते हैं, तब तीसरा चित्त उत्पन्न होता है। किन्तु जब 'दो' 'प्रणाम करो' इस प्रकार कह कर सम्बन्धियों द्वारा उत्साहित करने पर ऐसा करते हैं, तब चौथा चित्त उत्पन्न होता है। जब देने की वस्तु और प्रतिग्राहक आदि नहीं मिलते हैं या अन्य सौमनस्य के कारण के अभाव से चारों भी प्रकारों में सौमनस्य रहित होते हैं, तब शेष चार उपेक्षा सहगत (चित्त) उत्पन्न होते हैं। ऐसे सौमनस्य, उपेक्षा, ज्ञान, संस्कृत के भेद से आठ प्रकार का कामावचर कुशल जानना चाहिये।

रूपावचर के चित्त

रूपावचर ध्यानाङ्ग के योग के भेद से पाँच प्रकार का होता है। जैसे—वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, समाधि से युक्त प्रथम, उससे वितर्क को अतिक्रमण किया हुआ द्वितीय, उससे विचार को अतिक्रमण किया हुआ तृतीय, उससे प्रीति से विरक्त हुआ चतुर्थ, और सुख के अस्त हो जाने पर उपेक्षा, समाधि से युक्त पञ्चम।

अरूपावचर के चित्त

अरूपावचर चार आरुप्यों के योग से चार प्रकार का होता है। उक्त प्रकार से ही आकाशानन्त्यायतन-ध्यान से सम्प्रयुक्त प्रथम, विज्ञानानन्त्यायतन आदि से द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ।

लोकोत्तर-चित्त

लोकोत्तर चार मार्गों के सम्प्रयोग से चार प्रकार का होता है। ऐसे कुशल विज्ञान ही इक्कीस प्रकार का होता है।

अकुशल भूमि से एक प्रकार का कामावचर ही होता है। मूल से तीन प्रकार का—लोभ-मूल, द्वेष-मूल और मोह-मूल।

वहाँ, लोभ-मूल—सौमनस्य, उपेक्षा, दृष्टिगत (=मिथ्या दृष्टि), संस्कृत के भेद से आठ प्रकार का होता है। जैसे कि—सौमनस्य सहगत दृष्टिगत सम्प्रयुक्त ससंस्कृत और असंस्कृत। वैसे ही दृष्टिगत-विप्रयुक्त। उपेक्षा सहगत दृष्टिगत सम्प्रयुक्त असंस्कृत और ससंस्कृत। वैसे ही दृष्टिगत-विप्रयुक्त।

जब "काम-भोगों में दोष नहीं है" आदि प्रकार से मिथ्यादृष्टि[1] को आगे करके प्रसन्न चित्त हो काम-भोगों का सेवन करता है, या[2] दृष्ट-मङ्गल[3] आदि को सार के तौर पर मानता है। क्रूर-स्वभाव से ही न उत्साहित चित्त से, तब प्रथम अकुशल चित्त उत्पन्न होता है। जब मन्द उत्सा-

---

१. उच्छेद दृष्टि आदि बासठ प्रकार की मिथ्यादृष्टियाँ।

२. यहाँ, 'या' शब्द में ब्राह्मणों का सुवर्ण-चोरी में ही दोष है, दूसरी चोरी में दोष नहीं है, गुरुओं की गौवों, अपने जीवन तथा विवाह आदि के लिए झूठ बोलने में दोष नहीं है, दूसरे में दोष है। गुरु आदि के लिए चुगलखोरी करना, दोष रहित है......भारतयुद्ध, सीताहरण आदि की कथायें पाप को शान्त करती हैं आदि इस प्रकार के मिथ्या ग्रहण भी आ जाते हैं।

३. साइत आदि शकुन को मानना।

हित चित्त से, तब द्वितीय। जब मिथ्या दृष्टि को न आगे कर केवल प्रसन्न चित्त मैथुन का सेवन करता है, दूसरे की सम्पत्ति में लालच उत्पन्न करता है, दूसरे का सामान चुराता है, क्रूर स्वभाव से ही न उत्साहित चित्त से, तब तृतीय। जब मन्द समुत्साहित चित्त से, तब चतुर्थ। जब काम-भोगों को न पाने से या दूसरों के सौमनस्य-हेतु के अभाव से चार प्रकारों में सौमनस्य रहित होते हैं, तब शेष चार उपेक्षा सहगत उत्पन्न होते हैं। ऐसे सौमनस्य, उपेक्षा, दृष्टिगत, संस्कृत के भेद से आठ प्रकार के लोभ-मूल (चित्त) को जानना चाहिये।

द्वेषमूल—दौर्मनस्य सहगत, प्रतिघ से युक्त असंस्कृत और स-संस्कृत—दो प्रकार का ही होता है। उसका होना जीवहिंसा आदि में तीक्ष्ण, मन्द की प्रवृत्ति के समय जानना चाहिये।

मोहमूल—उपेक्षा सहगत, विचिकित्सा और औद्धत्य से युक्त दो प्रकार का होता है। उसका होना संशय, भ्रान्ति होने के समय में जानना चाहिये। ऐसे ही अकुशल विज्ञान बारह प्रकार का होता है।

अव्याकृत—उत्पत्ति के भेद से दो प्रकार का होता है—विपाक और क्रिया। उनमें विपाक भूमि से चार प्रकार का होता है—(१) कामावचर (२) रूपावचर (३) अरूपावचर और (४) लोकोत्तर। कामावचर दो प्रकार का होता है—कुशल विपाक और अकुशल विपाक। कुशल विपाक भी दो प्रकार का होता है अहेतुक और सहेतुक।

अलोभ आदि विपाक-हेतु से रहित अहेतुक होता है। वह चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय-विज्ञान, सम्प्रतिच्छन्न कृत्य वाली मनोधातु और सन्तीरण (=निश्चय करना) का कृत्य करने वाली दो मनोविज्ञान धातुयें[1]—आठ प्रकार का होता है।

चक्षु के आश्रित रूपों को जानने के लक्षण वाला चक्षु-विज्ञान है। रूप मात्र को आलम्बन करना इसका कृत्य है। रूपों की ओर होना इसका प्रत्युपस्थान है। रूपों के आलम्बन से क्रिया मनोधातु का दूर होना पदस्थान है। श्रोत्र आदि के आश्रित शब्द आदि को जानने के लक्षण वाले श्रोत्र-घ्राण-जिह्वा-काय-विज्ञान हैं। शब्द आदि मात्र को आलम्बन करना इनका कृत्य है। शब्द आदि की ओर होना प्रत्युपस्थान है। शब्द के आलम्बन आदि से क्रिया-मनोधातुओं का दूर होना पदस्थान है।

चक्षु-विज्ञान आदि के अनन्तर रूप आदि को जानने के लक्षण वाली मनोधातु है। रूप आदि को स्वीकार करना इसका कृत्य है। वैसे ही भाव से जान पड़ने वाली है। चक्षु-विज्ञान आदि का दूर होना पदस्थान है। अहेतुक विपाकों के छः आलम्बन को जानने के लक्षण वाली दो प्रकार की भी सन्तीरण आदि के कृत्य को करने वाली मनोविज्ञान धातु है। सन्तीरण करना आदि इसका कृत्य है। वैसे भाव से जान पड़ने वाली है। हृदयवस्तु के पदस्थान वाली है।

सौमनस्य-उपेक्षा के योग्य और द्वि-पञ्च[2]-स्थान के भेद से उसका भेद होता है। इनमें एक अत्यन्त इष्ट आलम्बन में प्रवर्तित होने से सौमनस्य से सम्प्रयुक्त होकर सन्तीरण, तदालम्बन के अनुसार पाँचों द्वारों पर और जवन (चित्त) के अन्त में प्रवर्तित होने से उपेक्षा से सम्प्रयुक्त सन्तीरण, तदालम्बन, प्रतिसन्धि, भवाङ्ग, च्युति के अनुसार प्रवर्तित होने से पाँच स्थान वाली होती है।

आठ प्रकार का भी यह अहेतुक-विपाक-विज्ञान नियत और अनियत आलम्बन वाला होने

१. सौमनस्य सहगत और उपेक्षा सहगत।

२. सौमनस्य सहगत दो स्थान और उपेक्षा सहगत पाँच स्थान।

से दो प्रकार का होता है। उपेक्षा, सुख, सौमनस्य के भेद से तीन प्रकार का होता है। पाँच विज्ञान क्रमानुसार रूप आदि में ही प्रवर्तित होने से नियत आलम्बन वाले हैं। शेष अनियत आलम्बन वाले हैं। मनोधातु पाँचों भी रूप आदि में प्रवर्तित होती है। दो मनोविज्ञान धातु छः में। यहाँ काय-विज्ञान सुख-युक्त होता है। दो स्थान वाली मनोविज्ञान धातु सौमनस्य युक्त होती हैं और शेष उपेक्षा युक्त। ऐसे ही कुशल विपाक हेतु वाले आठ प्रकार के (चित्तों को) जानना चाहिये।

अलोभ आदि विपाक—हेतु से सम्प्रयुक्त सहेतुक है। वह कामावचर कुशल के समान सौमनस्य आदि के भेद से आठ प्रकार का होता है। जैसे कि कुशल दान आदि के अनुसार छः आलम्बनों में प्रवर्तित होता है, यह वैसा नहीं है। यह प्रतिसन्धि, भवांग, च्युति, तदालम्बन के अनुसार कामावचर (=परित्र धर्म) वाले ही छः आलम्बनों में प्रवर्तित होता है। संस्कृत-असंस्कृत का होना यहाँ, आगमन आदि के अनुसार जानना चाहिये, सम्प्रयुक्त धर्मों की विशेषता न होने पर भी आदर्श-तल आदि में मुखनिमित्त के समान उत्साह रहित विपाक और मुख के समान उत्साह-युक्त कुशल को जानना चाहिये।

सम्पूर्ण अकुशल-विपाक अहेतुक ही है। वह चक्षु-श्रोत्र-घ्राण-जिह्वा-काय-विज्ञान, स्वीकार करनेवाली मनोधातु, सन्तीरण आदि कृत्य को करने वाली पाँच स्थानों वाली मनोविज्ञान-धातु—सात प्रकार का होता है। उसे लक्षण आदि से कुशल-अहेतुक विपाक में कहे गये प्रकार से जानना चाहिये।

केवल कुशल-विपाक ही इष्ट-मध्यस्थ आलम्बन वाले हैं। ये अनिष्ट-अनिष्ट मध्यस्थ आलम्बन वाले हैं। वे उपेक्षा, सुख, सौमनस्य के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। ये दुःख, उपेक्षा के अनुसार दो प्रकार के होते हैं। यहाँ, काय-विज्ञान दुःख सहगत ही है, शेष उपेक्षा सहगत। और वह उनमें उपेक्षा हीन होती है, दुःख के समान बहुत तीक्ष्ण नहीं होती है। दूसरों[1] में उपेक्षा प्रणीत होती है, सुख के समान बहुत तीक्ष्ण नहीं होती है। इस प्रकार इन सातों अकुशल विपाकों और पूर्व के सोलह कुशल विपाकों के अनुसार कामावचर-विपाक-विज्ञान तेइस प्रकार का होता है।

रूपावचर (विपाक रूपावचर-) कुशल के समान पाँच प्रकार का होता है। किन्तु कुशल समापत्ति के अनुसार जवन-वीथि में प्रवर्तित होता और है यह उत्पत्ति में प्रतिसन्धि, भवांग और च्युति के अनुसार।

और जैसे रूपावचर है, ऐसे ही अरूपावचर भी कुशल के समान चार प्रकार का होता है। इसके प्रवर्तित होने का प्रकार भी रूपावचर में कहे गए ढंग से ही होता है।

लोकोत्तर-विपाक चार मार्गों से युक्त (कुशल-) चित्त का फल होने से चार प्रकार का होता है। वह मार्ग की वीथि और फल-समापत्ति के अनुसार दो प्रकार से प्रवर्तित होता है। ऐसे चारों भूमियों में सभी छत्तिस प्रकार का विपाक-विज्ञान होता है।

क्रिया भूमि के भेद से तीन प्रकार की होती है—कामावचर, रूपावचर और अरूपावचर। कामावचर दो प्रकार का होता है—अहेतुक और सहेतुक। अलोभ आदि क्रिया-हेतु से रहित अहेतुक है। वह मनोविज्ञान-धातु के भेद से दो प्रकार का होता है।

वहाँ, चक्षु-विज्ञान आदि के आगे चलने वाली होकर रूप आदि आलम्बनों को जानने के

१. अहेतुक-कुशल-विपाकों में।

लक्षण वाली मनोधातु है। आवर्जन करना इसका कृत्य है। रूप आदि के अभिमुख होना प्रत्यु-पस्थान है। वह उपेक्षा-युक्त ही होती है।

मनोविज्ञान धातु दो प्रकार की होती है—साधारण[1] और असाधारण। उनमें साधारण उपेक्षा-सहगत-अहेतुक-क्रिया छः आलम्बनों को जानने के लक्षण वाली है। कृत्य के अनुसार पञ्चद्वार और मनोविज्ञान द्वार में व्यवस्थापन और आवर्जन का काम करती है। वैसा होना ही इसका प्रत्युपस्थान है। अहेतुक-विपाक-मनोविज्ञान-धातु भवांगों में से किसी एक का न रहना इसका पदस्थान है। असाधारण सौमनस्य-सहगत-अहेतुक-क्रिया छः आलम्बनों को जानने के लक्षण वाली है, कृत्य के अनुसार अर्हत् को अप्रणीत वस्तुओं में हँसी उत्पन्न करने के कृत्य वाली है। वैसा होना इसका प्रत्युपस्थान है। सर्वांशतः हृदयवस्तु के पदस्थान वाली है। इस प्रकार कामावचर अहेतुक क्रिया तीन प्रकार की होती है।

सहेतुक सौमनस्य आदि के भेद से कुशल के समान आठ प्रकार की होती है। केवल कुशल चित्त शैक्ष्य और पृथग्जनों को उत्पन्न होता है और यह अर्हत् को ही—यहाँ, यही विशेषता है। ऐसे कामावचर की क्रिया ग्यारह प्रकार की होती है। रूपावचर और अरूपावचर कुशल के समान पाँच प्रकार और चार प्रकार की होती है। अर्हत् को उत्पत्ति के अनुसार ही उसकी कुशल से विशेषता जाननी चाहिये। ऐसे तीन भूमियों में सभी बीस प्रकार का क्रिया-विज्ञान होता है।

इस प्रकार इक्कीस कुशल, बारह अकुशल, छत्तिस विपाक, बीस क्रिया—सभी नवासी (८९) विज्ञान होते हैं, [2]जो प्रतिसन्धि, भवाङ्ग, आवर्जन, देखना, सुनना, सूँघना, चाटना, स्पर्श करना, सम्प्रतिच्छन्न (=स्वीकार करना), सन्तीरण (=निश्चय करना), व्यवस्थापन, जवन, तदालम्बन, च्युति के अनुसार चौदह प्रकार से प्रवर्तित होते हैं।

कैसे ? जब आठ कामावचर-कुशल (चित्तों) के अनुभाव से देव-मनुष्यों में प्राणी उत्पन्न होते हैं, तब उनके मरने के समय में उपस्थित कर्म, कर्म-निमित्त, गति-निमित्त में से किसी एक को आलम्बन करके आठ सहेतुक कामावचर विपाक और मनुष्यों में हिजड़ा (=पण्डक) आदि होने वाले (व्यक्ति) का दुर्बल द्विहेतुक कुशल-विपाक-उपेक्षा-सहगत-अहेतुक-विपाक-मनोविज्ञान-धातु—इस प्रकार प्रतिसन्धि के अनुसार नव विपाक चित्त प्रवर्तित होते हैं।

जब रूपावचर और अरूपावचर कुशल के अनुभाव से रूप और अरूप भवों में उत्पन्न होते

१. शैक्ष्य, अशैक्ष्य और पृथग्जन की साधारण होती है, किन्तु असाधारण तो अशैक्ष्यों की ही है। २. विज्ञान-विवरणः—

भूमि	कुशल	अकुशल	विपाक	क्रिया	योग
कामावचर	८	१२	२३	११	५४
रूपावचर	५	×	५	५	१५
अरूपावचर	४	×	४	४	१२
लोकोत्तर	४	×	४	×	८
योग	२१	१२	३६	२०	८९

हैं, तब उनके मरने के समय में उपस्थित कर्म-निमित्त को ही आलम्बन करके नव रूपावचर और अरूपावचर-विपाक प्रतिसन्धि के अनुसार प्रवर्तित होते हैं।

जब अकुशल के अनुभाव से अपाय में उत्पन्न होते हैं, तब उनके मरने के समय में उपस्थित कर्म, कर्म-निमित, गति-निमित्त में से किसी एक को आलम्बन करके एक अकुशल-विपाक-अहेतुक-मनोविज्ञान-धातु प्रतिसन्धि के अनुसार प्रवर्तित होती है। ऐसे उन्नीस विपाक-विज्ञानों की प्रतिसन्धि के अनुसार प्रवर्ति को जानना चाहिये।

प्रतिसन्धि-विज्ञान के निरुद्ध होने पर उस प्रतिसन्धि-विज्ञान के पीछे लगा हुआ उस-उस कर्म का विपाक, उसी आलम्बन में उसी प्रकार का भवाङ्ग-विज्ञान प्रवर्तित होता है। पुनः वैसा ही—ऐसे, चित्त-प्रवाह (= सन्तान) के रुक जाने पर, अन्य चित्त के उत्पन्न होने पर, नदी के स्रोत के समान स्वप्न नहीं देखते हुए निद्रा में निमग्न होने के समय आदि में असंख्य बार भी प्रवर्तित होता ही है। ऐसे उन्हीं विज्ञानों को भवाङ्ग के रूप में प्रवर्ति जाननी चाहिये।

इस प्रकार भवाङ्ग-परम्परा के प्रवर्तित होने पर जब प्राणियों की इन्द्रियाँ आलम्बन को ग्रहण करने योग्य होती हैं, तब चक्षु के द्वार पर रूपों के आने पर रूप के प्रत्यय से चक्षु-प्रसाद का संघर्ष होता है, उसके बाद संघर्ष के अनुभाव से भवाङ्ग-चलन होता है। तब भवाङ्ग के निरुद्ध हो जाने पर, उसी रूप को आलम्बन करके भवाङ्ग को विच्छेद करने के समान आवर्जन के कृत्य को सिद्ध करती हुई क्रिया मनोधातु उत्पन्न होती है। श्रोत्र-द्वार आदि में भी ऐसे ही।

किन्तु मनोद्वार पर छः प्रकार के भी आलम्बन में द्वार पर आने पर भवाङ्ग-चलन के अनन्तर भवाङ्ग का विच्छेद करने के समान आवर्जन के कृत्य को सिद्ध करती हुई उपेक्षा-सहगत अहेतुक-क्रिया-मनोविज्ञान-धातु उत्पन्न होती है। ऐसे दोनों विज्ञानों के आवर्जन के अनुसार प्रवर्ति को जानना चाहिये।

आवर्जन के अनन्तर चक्षु द्वार पर दर्शन-कृत्य को सिद्ध करता हुआ चक्षु-प्रसाद वस्तु वाला चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र द्वार आदि में श्रवण आदि कृत्य को सिद्ध करते हुए श्रोत्र-घ्राण-जिह्वा-काय-विज्ञान प्रवर्तित होते हैं। वे इष्ट-मध्यस्थ विषयों में कुशल विपाक और अनिष्ट-अनिष्ट-मध्यस्थ में अकुशल विपाक होते हैं। ऐसे दस विपाक-विज्ञानों की प्रवर्ति देखना, सुनना, सूँघना, चाटना, स्पर्श करना—के अनुसार जाननी चाहिये।

"चक्षु-विज्ञान-धातु के उत्पन्न होकर निरुद्ध होने के समानान्तर उत्पन्न होता है चित्त, मन, मानस......उससे उत्पन्न मनोधातु।"[1]आदि वचन से चक्षु-विज्ञान आदि के अनन्तर उन्हीं के विषय को ग्रहण करती हुई कुशल-विपाक के पश्चात् कुशल विपाक वाली और अकुशल विपाक के पश्चात् अकुशल विपाक वाली मनोधातु उत्पन्न होती है। ऐसे दोनों विपाक-विज्ञानों को ग्रहण करने के अनुसार प्रवर्ति जाननी चाहिये।

"मनोधातु के भी उत्पन्न होकर निरुद्ध होने के पश्चात् उत्पन्न होता है चित्त, मन, मानस ...उससे उत्पन्न मनोविज्ञान-धातु।" वचन से मनोधातु ग्रहण किये हुए ही विषय का सन्तीरण करती हुई अकुशल विपाक मनोधातु के अनन्तर अकुशल-विपाक और कुशल विपाक के अनन्तर इष्ट (= प्रिय) आलम्बन में सौमनस्य-सहगत तथा इष्ट-मध्यस्थ में उपेक्षा-सहगत विपाक-अहेतुक मनोविज्ञान-धातु उत्पन्न होती है। ऐसे तीन विपाक-विज्ञानों के सन्तीरण के अनुसार प्रवर्ति जाननी चाहिये।

---

१. विभङ्ग।

सन्तीरण के अनन्तर उसी विषय का व्यवस्थापन करती हुई उपेक्षा सहगत क्रिया-अहेतुक मनोविज्ञान धातु उत्पन्न होती है। ऐसे एक ही क्रिया-विज्ञान के व्यवस्थापन के अनुसार प्रवर्ति जाननी चाहिये।

व्यवस्थापन के पश्चात् यदि रूप आदि आलम्बन महत्[1] (= महन्त) होता है, तब व्यवस्थापित किये गये विषय में आठ कामावचर कुशल, बारह अकुशल या नव अवशेष कामावचर-क्रिया में से किसी एक के अनुसार छः या सात जवन (-चित्त) दौड़ते हैं। यह पञ्चद्वार में नियम है। किन्तु मनोद्वार में, मनोद्वार के आवर्जन के बाद वे ही। गोत्रभू से ऊपर रूपावचर से पाँच कुशल, पाँच-क्रिया, अरूपावचर से चार कुशल, चार क्रिया, लोकोत्तर से चार मार्गचित्त, चार फलचित्त— इनमें जो जो प्रत्यय को पाता है, वह वह दौड़ता है। ऐसे पचपन (५५) कुशल, अकुशल, क्रिया, विपाक-विज्ञानों के जवन के अनुसार प्रवर्ति जाननी चाहिये।

जवन के अन्त में यदि पञ्चद्वार पर अतिमहन्त और मनोद्वार पर प्रगट (= विभूत) आलम्बन होता है, तब कामावचर के सत्त्वों को कामावचर-जवन के अन्त में प्रिय आलम्बन आदि और पूर्व के कर्म, जवन-चित्त आदि के अनुसार जो जो प्रत्यय प्राप्त होता है, उस उस के अनुसार आठ सहेतुक कामावचर विपाकों में तथा तीनों विपाक-अहेतुक मनोविज्ञान धातुओं में से कोई एक उल्टीधार गई नौका के पीछे-पीछे कुछ क्षण तक जाते हुए जल के समान भवांग के आलम्बन से दूसरे आलम्बन में दौड़े हुए जवन के पीछे-पीछे लगा हुआ दो या एक बार विपाक-विज्ञान उत्पन्न होता है। वह जवन के अन्त में भवांग के आलम्बन में प्रवर्तित होने के योग्य होते हुए उस जवन के आलम्बन का आलम्बन करके प्रवर्तित होने से तदालम्बन कहा जाता है। इस प्रकार विपाक-विज्ञानों के तदालम्बन के अनुसार प्रवर्ति जाननी चाहिये।

तदालम्बन के अन्त में पुनः भवांग ही प्रवर्तित होता है। भवांग के विच्छिन्न होने पर फिर आवर्जन आदि—इस प्रकार प्रत्यय को प्राप्त चित्त की परम्परा भवांग के बाद आवर्जन और आवर्जन के बाद दर्शन आदि—ऐसे चित्त के नियम के अनुसार ही पुनः पुनः तब तक प्रवर्तित होती है, जब तक एक भव (=जन्म) में भवांग का नाश होता है। एक भव (=जन्म) में जो सबसे पिछला भवांग-चित्त होता है, वह उस भव से चूने से च्युति कहा जाता है। इसलिये वह भी उन्नीस प्रकार का ही होता है। इस प्रकार उन्नीस विपाक-विज्ञानों की च्युति के अनुसार प्रवर्ति जाननी चाहिये।

च्युति से पुनः प्रतिसन्धि, प्रतिसन्धि से पुनः भवाङ्ग—इस प्रकार भव, गति, स्थिति, निवास[2] में चक्र काटते हुए प्राणियों की अटूट चित्त-धारा जारी ही रहती है। यहाँ जो अर्हत्व को प्राप्त करता है, उसके च्युति-चित्त के निरुद्ध होने पर निरुद्ध ही होता है।

(३) वेदना स्कन्ध

अब, जो कहा गया है—"जो कुछ अनुभव करने के लक्षण वाला है, वह सब एक में करके

---

१. चौदह चित्त-क्षण की आयुवाला आलम्बन यहाँ महन्त (= महत्) कहा जाता है, उसे भी उत्पन्न होकर दो-तीन चित्त-क्षण व्यतीत हुआ द्वार पर जाने के अनुसार जानना चाहिये।

२. तीन भव, पाँच गति, सात विज्ञान की स्थिति और नव सत्त्वों के वास-स्थान में चक्र काटते हैं।

वेदना-स्कन्ध जानना चाहिये। यहाँ भी अनुभव करने के लक्षण वाली वेदना ही है। जैसे कहा है—"आवुस, अनुभव करता है, अनुभव करता है, इसलिये वेदना कही जाती है।"[१]

वह अनुभव करने के लक्षण से स्वभाव से एक प्रकार की भी उत्पत्ति के अनुसार तीन प्रकार की होती है—कुशल, अकुशल और अव्याकृत। वहाँ, कामावचर सौमनस्य, उपेक्षा, ज्ञान, संस्कृत के भेद से आठ प्रकार की (वेदना) होती है—आदि प्रकार से कहे गये कुशल विज्ञान से सम्प्रयुक्त कुशल, अकुशल से सम्प्रयुक्त अकुशल और अव्याकृत से सम्प्रयुक्त अव्याकृत जाननी चाहिये।

वह स्वभाव के भेद से पाँच प्रकार की होती है—सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य और उपेक्षा। उनमें कुशल-विपाक काय-विज्ञान से सम्प्रयुक्त सुख और अकुशल विपाक से दुःख है। कामावचर से चार कुशलों से, चार सहेतुक विपाकों से, एक अहेतुक विपाक से, चार सहेतुक क्रियाओं से, एक अहेतुक क्रिया से, चार अकुशलों से ; रूपावचर से पञ्चम ध्यान के विज्ञान को छोड़कर चार कुशलों से, चार विपाकों से, चार क्रियाओं से—चूँकि लोकोत्तर बिना ध्यान का नहीं है, इसलिये आठ लोकोत्तर, पाँच ध्यानों के अनुसार चालीस होते हैं। उनमें आठ पञ्चम ध्यान वालों को छोड़कर शेष बत्तीस कुशल, विपाकों से—ऐसे सौमनस्य बासठ विज्ञानों से सम्प्रयुक्त है। दौर्मनस्य दो अकुशलों से और उपेक्षा शेष पचपन विज्ञानों से सम्प्रयुक्त है। दौर्मनस्य दो अकुशलों से और उपेक्षा शेष पचपन विज्ञानों से सम्प्रयुक्त है।

उनमें प्रिय (=इष्ट) स्पर्श को अनुभव करने के लक्षण वाला सुख है। अपने से युक्तों को बढ़ाना इसका कृत्य है। यह कायिक आस्वाद से जान पड़ने वाला है। काय-इन्द्रिय का पद-स्थान वाला है। अप्रिय स्पर्श को अनुभव करने के लक्षण वाला दुःख है। अपने से युक्तों को म्लान करना इसका कृत्य है। यह कायिक रोग से जान पड़ने वाला है। काय-इन्द्रिय के पदस्थान वाला है। प्रिय आलम्बन को अनुभव करने के लक्षण वाला **सौमनस्य** है। जैसे-तैसे प्रिय आकार को अनुभव करने के कृत्य वाला है। चैतसिक आस्वाद से जान पड़ने वाला है। प्रश्रब्धि इसका पदस्थान है। अप्रिय आलम्बन को अनुभव करने के लक्षण वाला **दौर्मनस्य** है। जैसे-तैसे अप्रिय आकार को अनुभव करने के कृत्य वाला है। चैतसिक रोग से जान पड़ने वाला है। सर्वांशतः हृदय-वस्तु इसका पदस्थान है। मध्यस्थ को अनुभव करने के लक्षण वाली **उपेक्षा** है। अपने से युक्तों को न बढ़ाना और म्लान न करना इसका कृत्य है। शान्त भाव से यह जान पड़ने वाली है। प्रीति रहित चित्त इसका पदस्थान है।

(४) संज्ञा स्कन्ध

अब, जो कहा गया है—"जो कुछ पहचानने के लक्षण वाला है, वह सब एक में करके संज्ञा-स्कन्ध जानना चाहिये।" यहाँ भी पहचानने के लक्षण वाली संज्ञा ही है। जैसे कहा है—"आवुस, पहचानता है, पहचानता है, इसलिये संज्ञा कही जाती है।"[२] वह पहचानने के लक्षण से एक प्रकार की भी उत्पत्ति के अनुसार तीन प्रकार की होती है—कुशल, अकुशल और अव्याकृत। उनमें कुशल-विज्ञान से सम्प्रयुक्त कुशल है, अकुशल से सम्प्रयुक्त अकुशल और अव्या-

१. मज्झिम नि० १, ४, ३।
२. मज्झिम नि० १, ४, ३।

कृत। वह विज्ञान नहीं है जो कि संज्ञा से विप्रयुक्त हो, इसलिये जितना विज्ञान का भेद है, उतना संज्ञा का (भी) है।

वह ऐसे विज्ञान के बराबर भेद वाली भी लक्षण आदि से सभी पहचानने के लक्षण वाली है, उसे फिर पहचानने के लिये लकड़ी आदि पर बढ़ई आदि के समान चिह्न करने के कृत्य वाली है। ग्रहण किये गये निमित्त के अनुसार हाथी देखने वाले अन्धों के समान अभिनिवेश करना इसका प्रत्युपस्थान है। तृण के बनाये हुए मनुष्यों में हिरण के बच्चे को 'मनुष्य हैं' ऐसे उत्पन्न संज्ञा के समान उपस्थित विषय के पदस्थान वाली है।

(५) संस्कार स्कन्ध

जो कहा गया है—"जो कुछ अभिसंस्कार करने के लक्षण वाला है, वह सब एक में करके संस्कार-स्कन्ध जानना चाहिये।" यहाँ अभिसंस्कार-लक्षण कहते हैं राशि करने के लक्षण को। वह क्या है ? संस्कार ही है। जैसे कहा है—"भिक्षुओ, संस्कृत का अभिसंस्कार करते हैं, इसलिए संस्कार कहे जाते हैं।"[1]

वे अभिसंस्कार करने के लक्षण वाले हैं। राशि करना उनका कृत्य है। विष्फार से जाने जाते हैं और शेष तीन स्कन्ध इसके पदस्थान हैं। ऐसे लक्षण आदि से एक प्रकार का भी उत्पत्ति के अनुसार तीन प्रकार का होता है—कुशल, अकुशल और अव्याकृत। उनमें कुशल-विज्ञान से युक्त कुशल, अकुशल से युक्त अकुशल और अव्याकृत से युक्त अव्याकृत हैं।

वहाँ, कामावचर के प्रथम कुशल-विज्ञान से सम्प्रयुक्त नियत, स्वरूप से आये हुए सत्ताइस, येवापनक[2] चार और अनियत पाँच—(कुल) छत्तीस हैं। उनमें स्पर्श, चेतना, वितर्क, विचार, प्रीति, वीर्य, जीवित, समाधि, श्रद्धा, स्मृति, ह्री, अत्रपा, अलोभ, अद्वेष, अमोह, काय-प्रश्रब्धि, चित्तप्रश्रब्धि, काय-लघुता, चित्त-लघुता, काय-मृदुता, काय-कर्मण्यता, चित्त-कर्मण्यता, काय-प्रागुण्यता, चित्त-प्रागुण्यता, काय-ऋजुकता, चित्त ऋजुकता—ये स्वरूप से आये हुए सत्ताइस हैं। छन्द, अधिमोक्ष, मनस्कार, तत्रमध्यस्थता—ये चार येवापनक हैं। करुणा, मुदिता, काय-दुश्चरित से विरति, वाक् दुश्चरित से विरति, मिथ्या आजीविका से विरति—ये पाँच अनियत हैं। क्योंकि ये कभी ही उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होते हुए भी एक साथ नहीं उत्पन्न होते हैं।

स्पर्श

छूने से स्पर्श होता है। वह छूने के लक्षण वाला है। संघर्ष करना उसका कृत्य है। एकत्र होने से जान पड़ता है। द्वार पर आये हुए विषयों के पदस्थान वाला है। यह अरूप-धर्म भी होते हुए आलम्बन में स्पर्श करने के आकार से ही प्रवर्तित होता है। एक ओर से नहीं सटा हुआ होने वाला भी रूप के समान चक्षु और शब्द के समान श्रोत्र, चित्त और आलम्बन में संघर्ष करता है। तीन के जुटाव से उत्पन्न होने वाला यह अपने कारण के अनुसार कहे जाने से एकत्र होना इसका प्रत्युपस्थान है। उससे उत्पन्न मनस्कार और इन्द्रिय से परिष्कृत हुए विषय में बिना विघ्न के ही

१. संयुत्त नि० २१, १, १, ६।

२. देखिये, पहला भाग, पृष्ठ १४५।

उत्पन्न होने से द्वार पर आये हुए विषय (=आलम्बन) के पदस्थान वाला कहा जाता है। वेदना के अधिष्ठान[1] वाला होने से (इसे) चर्म रहित गाय के समान समझना चाहिये।

चेतना

चिन्ता करने से चेतना कही जाती है। प्रवर्तित करना अर्थ है। वह चिन्तन करने के लक्षणवाली है। राशि करना इसका कृत्य है। विचार करने के पदस्थान वाली है। अपने तथा दूसरे के कृत्य को ज्येष्ठ-शिष्य (= Monitor), महा-बढ़ई आदि के समान सिद्ध करनेवाली है। यह अत्यन्त आवश्यक कार्यों के अनुस्मरण आदि में सम्प्रयुक्तों का उत्साह बढ़ाने के भाव से प्रवर्तित होते हुए प्रगट होती है।

वितर्क, विचार और प्रीति

वितर्क, विचार और प्रीति में जो कहना है, वह पृथ्वी-कसिण-निर्देश में प्रथम ध्यान के वर्णन में कहा ही गया है।

वीर्य

वीर भाव ही वीर्य है। वह उत्साह को बढ़ाने के लक्षण वाला है। अपने साथ उत्पन्न हुए (धर्मों) को सम्हालना उसका कृत्य है। नहीं डूबने देना प्रत्युपस्थान है। "संवेग को व्याप्त (व्यक्ति) भली प्रकार उत्साह करता है।[2]" वचन से संवेग के पदस्थान वाला है। या वीर्य आरम्भ करने की वस्तु[3] के पदस्थान वाला है। भली प्रकार आरम्भ किया गया सब सम्पत्तियों का मूल होता है—ऐसा जानना चाहिये।

जीवित

उससे जीते हैं, स्वयं भी जीता है या वह जीवन मात्र ही है, इसलिये जीवित कहा जाता है। इसके लक्षण आदि रूप-जीवित[4] में कहे गये के अनुसार ही जानने चाहिये। वह रूप धर्मों का जीवित है और यह अरूप धर्मों का, यहाँ यही भेद है।

समाधि

आलम्बन में चित्त को बराबर रखती है, भली प्रकार रखती है, या यह चित्त का समाधान मात्र है, इसलिये समाधि कहते हैं। वह नहीं फैलने देने या अ-विक्षेप के लक्षण वाली है। अपने साथ उत्पन्न हुए (धर्मों) को पिण्ड करने के कृत्यवाली है। स्नान करने वाले चूर्णों के लिये जल के समान। उपशम उसका प्रत्युपस्थान है। विशेष रूप से सुख पदस्थान है। वायु रहित स्थान में दीपक की लौ की स्थिति के समान चित्त की स्थिति को जानना चाहिये।

---

१. चूँकि स्पर्श के बाद ही वेदना उत्पन्न होती है, इसलिये स्पर्श वेदना के अधिष्ठान वाला है।

२. अंगुत्तर नि०।

३. वीर्य आरम्भ करने की वस्तु आठ हैं। देखिये दीघ नि० ३, ११। हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ३०९।

४. देखिये, जीवितेन्द्रिय का वर्णन, दूसरा भाग, पृष्ठ ६४।

श्रद्धा

इससे विश्वास करते हैं, स्वयं विश्वास करता है या यह विश्वास करना मात्र ही है, इसलिये श्रद्धा कही जाती है। वह विश्वास करने या आलम्बन के भीतर प्रवेश कर विश्वास करने के लक्षण वाली है। जल को परिशुद्ध करने वाली मणि के समान[1] परिशुद्ध करना इसका कृत्य है। या बाढ़ के जल को पार करने के समान लाँघने के कृत्यवाली है। कलुषित न होना इसका प्रत्युपस्थान है या अधिमुक्ति (=दृढ़ भक्ति)। श्रद्धा करने के योग्य वस्तु[2] के पदस्थान वाली है या सद्धर्म-श्रवण आदि स्रोतापत्ति के अंगों[3] के पदस्थानवाली है। हाथ, धन, बीज के समान[4] जाननी चाहिये।

स्मृति

उससे स्मरण करते हैं, स्वयं स्मरण करता है या यह स्मरण मात्र ही है, इसलिये स्मृति कही जाती है। वह न डूबने के लक्षण वाली है। नहीं विस्मरण करना इसका कृत्य है। आरक्षा करना या विषय की ओर बना रहना प्रत्युपस्थान है। स्थिर-संज्ञा के पदस्थान वाली है या काय आदि स्मृति-प्रस्थान के पदस्थान वाली है। आलम्बन में दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित होने से एशिका (=इन्द्रकील) के समान और चक्षु-द्वार आदि की रक्षा करने से द्वारपाल के समान (इसे) जानना चाहिये।

ह्री और अत्रपा

काय-दुश्चरित आदि से जिगुप्सा करता है, इसलिये ह्री कही जाती है। यह लज्जा का नाम है। उसी से संकोच करता है, इसलिये अत्रपा कहा जाता है। पाप से उद्वेग होने का यह नाम है। पाप से घृणा करने के लक्षण वाली ह्री है और भयभीत होने के लक्षण वाली अत्रपा। लज्जा के आकार से पापों को नहीं करने के कृत्य वाली ह्री है और भयभीत होने के आकार से अत्रपा। उक्त प्रकार से ही पाप से संकोच करने से ये जान पड़ने वाली हैं। अपने और पराये के गौरव के पदस्थान वाली हैं। अपना गौरव करके कुलवधू के समान लज्जा से पाप को छोड़ देता है और पराये का गौरव करके वेश्या के समान अत्रपा (=संकोच) से पाप को छोड़ देता है। इन दोनों धर्मों को लोक-पालक[5] जानना चाहिये।

---

१. पूर्वकाल में 'उदक प्रसादन मणि' होती थी, जिससे मटमैले जल को परिशुद्ध किया जाता था।

२. त्रिरत्न, कर्म, कर्म-फल।

३. सत्संग, सद्धर्म-श्रवण, योनिशः मनस्कार, धर्मानुधर्म प्रतिपत्ति।

४. पुण्य कर्मों को करने में हाथ के समान, सब सम्पत्तियों को देने में धन के समान और अमृत-कृषि-फल के फलने में बीज के समान जाननी चाहिये। 'सद्धा हत्थो महानागो' 'सद्धीध वित्तं पुरिसस्स सेट्ठं' 'सद्धा बीजं तपोवुट्ठि'—यह उपमायें हैं।

५. जैसे कहा है—"भिक्षुओ, दो शुक्ल धर्म लोक का पालन करते हैं। कौन से दो? ह्री (=लज्जा) और अत्रपा (=संकोच)।"—अंगुत्तर नि० २, १, ९।

अलोभ, अद्वेष और अमोह

इससे लुभाया नहीं जाता है, स्वयं लुब्ध नहीं होता है या वह नहीं लुब्ध होना मात्र ही है, इसलिये अ-लोभ कहा जाता है। अ-द्वेष और अ-मोह में भी इसी प्रकार। उनमें अलोभ आलम्बन में चित्त के नहीं लुब्ध होने के लक्षण वाला है या कमल-पत्र पर जल की बूँद के समान नहीं लगी होने के लक्षण वाला है। मुक्त भिक्षु के समान अपरिग्रह[1] इसका कृत्य है। अशुचि में गिरे हुए पुरुष के समान लीन न होना इसका प्रत्युपस्थान है।

अद्वेष चण्ड नहीं होने के लक्षण वाला है या अनुकूल मित्र के समान विरोध नहीं करने के लक्षण वाला है। आघात (=वैर) को दूर करना इसका कृत्य है या चन्दन के समान जलन को दूर करना। पूर्ण चन्द्र के समान सौम्य-भाव प्रत्युपस्थान है।

अमोह स्वभाव के अनुसार जानने के लक्षण वाला है या दक्ष धनुषधारी के फेंके गये वाण के छेदने के समान अचूक-प्रतिवेध के लक्षण वाला है। दीपक के समान विषय को प्रकाशित करने के कृत्य वाला है। जंगल में गये हुए भली प्रकार मार्ग जानने वाले व्यक्ति के समान अ-सम्मोह प्रत्युपस्थान है। ये तीनों भी सब कुशलों के मूल हैं – ऐसा जानना चाहिये।

काय-प्रश्रब्धि और चित्त-प्रश्रब्धि

काय की शान्ति काय-प्रश्रब्धि है और चित्त की शान्ति चित्त-प्रश्रब्धि। यहाँ, काय वेदना आदि तीन स्कन्धों को कहते हैं। इन दोनों को एक में करके काय-चित्त की पीड़ा की शान्ति के लक्षण वाली काय-चित्त की प्रश्रब्धियाँ हैं। काय-चित्त की पीड़ा को मिटाना इनका कृत्य है। काय-चित्त का अ-चंचल = शान्त होना प्रत्युपस्थान है। काय-चित्त के पदस्थान वाली हैं। काय-चित्त को अशान्त करने वाले औद्धत्य आदि क्लेशों का विरोधी (इन्हें) जानना चाहिये।

काय-चित्त की लघुता

काय (=वेदना, संज्ञा, संस्कार) का हलका होना काय-लघुता है। चित्त का हलका होना चित्त-लघुता है। वे काय-चित्त के भारीपन को शान्त करने के लक्षण वाली हैं। काय-चित्त के भारीपन को मिटाना इनका कृत्य है। काय-चित्त का हल्कापन प्रत्युपस्थान है। काय-चित्त के पदस्थान वाली हैं। काय-चित्त को भारी करने वाले स्त्यान, मृद्ध आदि क्लेशों का विरोधी (इन्हें) जानना चाहिये।

काय-चित्त की मृदुता

काय का मृदु होना काय-मृदुता है। चित्त का मृदु होना चित्त-मृदुता है। वे काय-चित्त के कठोरपन को शान्त करने के लक्षण वाली हैं। काय-चित्त के कठोरपन को मिटाना इनका कृत्य है। (किसी भी आलम्बन को) संघर्षण नहीं करना प्रत्युपस्थान है। काय-चित्त के पदस्थान वाली हैं। काय-चित्त को कठोर करने वाले दृष्टि, मान आदि क्लेशों का विरोधी (इन्हें) जानना चाहिये।

---

१. किसी वस्तु को ममत्व से नहीं ग्रहण करना।

काय-चित्त की कर्मण्यता

काय कर्मण्य[1] होना कार्य-कर्मण्यता है। चित्त का कर्मण्य होना चित्त-कर्मण्यता है। वे काय-चित्त के अकर्मण्य-भाव को शान्त करने के लक्षण वाली हैं। काय-चित्त के अकर्मण्य होने को मिटाना इनका कृत्य है। काय-चित्त के आलम्बन को ग्रहण करने में समर्थ होना प्रत्युपस्थान है। काय-चित्त के पदस्थान वाली हैं। काय-चित्त को अकर्मण्य करने वाले अवशेष नीवरण आदि का विरोधी, प्रसादनीय वस्तुओं[2] में प्रसाद लाने वाली, हितकर कामों में लगाने में दक्षता लाने वाली, सुवर्ण की शुद्धि के समान (इन्हें) जानना चाहिये।

काय-चित्त की प्रागुण्यता

काय का प्रागुण्य होना काय-प्रागुण्यता है। चित्त का प्रागुण्य होना चित्त-प्रागुण्यता है। वे काय-चित्त के निरोग होने के लक्षण वाली हैं। काय-चित्त के रोगीपन को मिटाना इनका कृत्य है। निर्दोष होना प्रत्युपस्थान है। काय-चित्त के पदस्थान वाली हैं। काय-चित्त को रोगी बनाने वाले अ-श्रद्धा आदि (धर्मों) का इन्हें विरोधी जानना चाहिये।

काय-चित्त की ऋजुता

काय का ऋजु होना काय-ऋजुता है। चित्त का ऋजु होना चित्त-ऋजुता है। वे काय-चित्त के ऋजु होने के लक्षण वाली हैं। काय-चित्त के टेढ़ेपन को मिटाना इनका कृत्य है। अ-जृम्भता प्रत्युपस्थान है। काय-चित्त के पदस्थान वाली हैं। काय-चित्त को टेढ़ा करने वाले माया, शठता आदि (धर्मों) का इन्हें विरोधी जानना चाहिये।

छन्द

छन्द—किसी काम को करने की इच्छा का यह नाम है। इसलिये वह करने की इच्छा के लक्षण वाला छन्द है। आलम्बन को ढूँढ़ना इसका कृत्य है। आलम्बन का होना प्रत्युपस्थान है। वही इसका पदस्थान भी है। इसे आलम्बन को ग्रहण करने में चित्त के हाथ पसारने के समान जानना चाहिये।

अधिमोक्ष

निश्चय करना अधिमोक्ष है। वह निश्चय करने के लक्षण वाला है। आगा-पीछा न करना इसका कृत्य है। निश्चय ही इसका प्रत्युपस्थान है। निश्चय किये जाने वाले धर्म के पदस्थान वाला है। आलम्बन में निश्चल होने से इसे इन्द्रकील के समान जानना चाहिये।

मनस्कार

करना ही 'कार' कहा जाता है। मन में करना मनस्कार है। पहले के मन से अन्य प्रकार का मन करता है, इसलिये भी मनस्कार है। वह आलम्बन प्रतिपादक, वीथि प्रतिपादक, जवन प्रतिपादक–तीन प्रकार का होता है।

---

१. दान, शील आदि पुण्य-कार्यों में लगने योग्य काय का होना।

२. बुद्ध, धर्म, संघ में।

उनमें, आलम्बन-प्रतिपादक—मन में करना मनस्कार है। वह स्मरण कराने के लक्षण वाला है। सम्प्रयुक्तों को आलम्बन में भिड़ाना इसका कृत्य है। आलम्बन का अभिमुख होना प्रत्युपस्थान है। आलम्बन के पदस्थान वाला है। संस्कार-स्कन्ध में आनेवाला है। आलम्बन का प्रतिपादक होने से सम्प्रयुक्तों के लिये इसे सारथी के समान जानना चाहिये।

वीथि-प्रतिपादक—यह पञ्चद्वार में आवर्जन का नाम है। जवन-प्रतिपादक—यह मनोद्वार में आवर्जन का नाम है। वे यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं।

तत्र मध्यस्थता

उन धर्मों में मध्यस्थ होना तत्र मध्यस्थता है। वह चित्त-चैतसिकों को सम करके उनके काम में लगाने के लक्षण वाली है। न्यूनाधिक से रोकना इसका कृत्य है या पक्षपात को मिटाना। मध्यस्थ होना प्रत्युपस्थान है। चित्त-चैतसिकों के प्रति उपेक्षा-भाव से एक जैसी चाल से चलते हुए आजानीय (अश्वों) के प्रति उपेक्षा करनेवाले सारथी के समान (इसे) जानना चाहिये।

करुणा और मुदिता

करुणा और मुदिता ब्रह्मविहार-निर्देश में कहे गये प्रकार से जाननी चाहिये। केवल वे अर्पणा-प्राप्त रूपावचर की हैं और ये कामावचर की—यही विशेषता है। कोई-कोई मैत्री, उपेक्षा को भी अनियतों में मानते हैं। उसे नहीं ग्रहण करना चाहिये। अर्थ से अद्वेष ही मैत्री और तत्र-मध्यस्थता की उपेक्षा ही उपेक्षा है।

काय-दुश्चरित से विरति आदि

काय-दुश्चरित से विरमना काय-दुश्चरित से विरति है। इसी प्रकार शेषों में भी। लक्षण आदि से ये तीनों भी काय-दुश्चरित आदि वस्तुओं[1] को अतिक्रमण करने के लक्षण वाली हैं। मर्दन नहीं करने के लक्षण वाली हैं—यह कहा गया है। काय-दुश्चरित आदि वस्तु से संकोच करना इनका कृत्य है। (काय दुश्चरित आदि का) न करना प्रत्युपस्थान है। श्रद्धा, ह्री, अत्रपा, अल्पेच्छता आदि गुण के पदस्थान वाली हैं। पाप कर्म को करने से चित्त का विमुख होना (इन्हें) जानना चाहिये।

इस प्रकार ये छत्तीस संस्कार प्रथम कामावचर कुशल-विज्ञान से सम्प्रयुक्त हो जाते हैं—ऐसा जानना चाहिये। और जैसे प्रथम से ऐसे ही दूसरे से भी। स-संस्कृत होना मात्र ही यहाँ विशेष है। किन्तु तीसरे से अमोह को छोड़कर अवशेष जानने चाहिये। वैसे ही चौथे से। यहाँ स-संस्कृत होना मात्र ही विशेष है। प्रथम में कहे गये (धर्मों) में से प्रीति को छोड़कर शेष पाँचवें के साथ सम्प्रयुक्त हो जाते हैं। और जैसे पाँचवें से, ऐसे ही छठें से भी। यहाँ स-संस्कृत होना मात्र ही विशेष है। सातवें से अमोह को छोड़कर शेष जानने चाहिये। वैसे ही आठवें से। स-संस्कृत होना मात्र ही यहाँ विशेष है।

प्रथम में कहे गये (धर्मों) में से तीन विरतियों को छोड़कर शेष रूपावचर-कुशलों में प्रथम से सम्प्रयुक्त हो जाते हैं। दूसरे से उससे वितर्क रहित। तीसरे से उससे विचार रहित। चौथे से

१. पराया धन, परायी स्त्री आदि को।

उससे प्रीति रहित। पाँचवें से उससेअनियतों में करुणा और मुदिता रहित। वे ही चारों अरूपावचर के कुशलों में भी। यहाँ अरूपावचर होना ही विशेष है।

लोकोत्तरों में—प्रथम ध्यान वाले मार्ग-विज्ञान में प्रथम रूपावचर-विज्ञान में कहे गये प्रकार से, द्वितीय-ध्यान वाले आदि के भेदों में द्वितीय रूपावचर-विज्ञान आदि में कहे गये के अनुसार जानना चाहिये। किन्तु करुणा, मुदिता का अभाव, नियत से विरत होना और लोकोत्तर होना—यहाँ यह विशेषता है। ऐसे कुशलों को ही संस्कार जानना चाहिये।

अकुशलों में—लोभमूल में प्रथम अकुशल से सम्प्रयुक्त नियत स्वरूप से आये हुए तेरह, और येवापनक चार ऐसे सत्रह हैं। उनमें, स्पर्श, चेतना, वितर्क, विचार, प्रीति, वीर्य, जीवित, समाधि, अ-ह्रीक, अन्-अत्रपा, लोभ, मोह, मिथ्या-दृष्टि—ये स्वरूप से आये हुए तेरह; छन्द, अधिमोक्ष, औद्धत्य, मनस्कार—ये येवापनक चार।

वहाँ, लज्जा नहीं करता है, इसलिये अ-ह्री (= निर्लज्ज) कहा जाता है। निर्लज्ज होना अ-ह्रीक है। संकोच नहीं करता है, इसलिये **अन्-अत्रपा** कहा जाता है उनमें, अह्रीक काय-दुश्चरित आदि से नहीं जिगुप्सा करने के लक्षण वाला है या निर्लज्जता के लक्षण वाला। अन्-अत्रपा उन्हीं से निर्भय होने के लक्षण वाला। यह संक्षेप है। विस्तार ह्री और अत्रपा के कहे गये वर्णन के विपरीत जानना चाहिये।

उससे लुब्ध होते हैं, स्वयं लुब्ध होता है या वह लुब्ध होना मात्र ही है, इसलिये **लोभ** कहा जाता है। उससे मोहित होते हैं, स्वयं मोहित होता है या वह मोहित होना मात्र ही है, इसलिये **मोह** कहा जाता है।

उनमें, लोभ बन्दरों को बाँधने के लिए लगाये आलेप के समान आलम्बन को ग्रहण करने के लक्षण वाला है। गर्म कड़ाही में फेंकी हुई मांस की पेशी के समान चिपकना इसका कृत्य है। कँजरी (= तेलाञ्जन) के लगाने के समान नहीं त्यागना प्रत्युपस्थान है। संयोजनीय धर्मों में आस्वाद देखने के पदस्थान वाला है। तृष्णा की नदी के समान बढ़ता हुआ तेजधार वाली नदी के समान अपाय रूपी महासमुद्र को ही लेकर जाता है—ऐसा जानना चाहिये।

मोह चित्त को अन्धा करने के लक्षण वाला या अज्ञान लक्षण वाला है। जानने में असमर्थ होना इसका कृत्य है या आलम्बन के स्वभाव को ढाँकना। अ-सम्यक् प्रतिपत्ति या अन्धकार का होना प्रत्युपस्थान है। अयोनिशः मनस्कार के पदस्थान वाला है। इसे सब अकुशलों का मूल जानना चाहिये।

उससे मिथ्या देखते हैं, स्वयं मिथ्या देखता है या यह मिथ्या देखना मात्र ही है, इसलिए **मिथ्या-दृष्टि** कही जाती है। वह बे-ठीक तौर से अभिनिवेश करने के लक्षण वाली है। दृढ़ता पूर्वक ग्रहण करना उसका कृत्य है। मिथ्या-अभिनिवेश प्रत्युपस्थान है। आर्यों को न देखने की इच्छा आदि के पदस्थान वाला है। इसे परम दोषपूर्ण जानना चाहिये।

उद्धतपन **औद्धत्य** है। यह वायु के लगने से चलने वाले जल के समान अशान्ति लक्षण वाला है। वायु के लगने से उड़ने वाली ध्वजा, पताका के समान स्थिर न रहने के कृत्य वाला है। पत्थर से मारने पर ऊपर उठी भस्म के समान भ्रान्त होना इसका प्रत्युपस्थान है। चित्त के नहीं शान्त होने पर अयोनिशः मनस्कार के पदस्थान वाला है। (इसे) चित्त-विक्षेप जानना चाहिये।

शेष कुशल में कहे गये के अनुसार ही जानने चाहिये। अकुशल का होना ही और अकुशल

होने से इनका विहीन होना ही विशेष है। इस प्रकार ये सत्रह संस्कार प्रथम कुशल-विज्ञान से सम्प्रयुक्त हो जाते हैं। ऐसा जानना चाहिये। और जैसे प्रथम ऐसे ही दूसरे भी। यहाँ स्त्यान-मृद्ध का स-संस्कृत और अनियत होना विशेष है।

उत्साह न होना **स्त्यान** है। सामर्थ्य रहित होना **मृद्ध** है। उत्साह नहीं होना, आलसी होना और आसक्ति को नाश करना—यह अर्थ है। स्त्यानऔर मृद्ध **स्त्यानमृद्ध** है। उनमें स्त्यान अनुत्साह लक्षण वाला है। वीर्य को दूर करना इसका कृत्य है। पछाड़ना प्रत्युपस्थान है। मृद्ध अकर्मण्यता के लक्षण वाला है। (विज्ञान के द्वारों को) बन्द करना इसका कृत्य है। संकुचित होना प्रत्युपस्थान है। या जम्हाई की निद्रा प्रत्युपस्थान है। दोनों भी अरति-जम्हाई आदि में अयोनिशः मनस्कार के पदस्थान वाले हैं।

तृतीय से प्रथम में कहे गये में से मिथ्या दृष्टि को छोड़कर अवशेष जानने चाहिये। **मान** भी यहाँ अनियत होता है—यह विशेषता है। वह ऊपर उठने के लक्षण वाला है। ऊपर उठाना इसका कृत्य है। ऊँची ध्वजा के समान होने की इच्छा प्रत्युपस्थान है। दृष्टि से रहित लोभ के पदस्थान वाला है। इसे उन्माद के समान समझना चाहिये। चतुर्थ से द्वितीय में कहे गये में से मिथ्या दृष्टि को छोड़कर शेष जानने चाहिये। यहाँ भी मान अनियतों में होता ही है।

प्रथम में कहे गये में से प्रीति को छोड़कर पाँचवें से सम्प्रयुक्त हो जाते हैं और जैसे पाँचवें से ऐसे ही छठें से भी। यहाँ स्त्यानमृद्ध का स-संस्कृत और अनियत होना विशेष है। सातवें से पाँचवें में कहे गये में से दृष्टि को छोड़कर अवशेष जानने चाहिये। यहाँ मान भी अनियत होता है। आठवें से छठें में कहे गये में से दृष्टि को छोड़कर अवशेष जानने चाहिये। यहाँ भी मान अनियतों में होता ही है।

द्वेषमूल वाले दोनों में प्रथम से सम्प्रयुक्त स्वरूप से आये हुए ग्यारह, येवापनक चार, अनियत तीन—(कुल) अठारह हैं। स्पर्श, चेतना, वितर्क, विचार, वीर्य, जीवित, समाधि, अह्रीक, अन्-अत्रपा, द्वेष, मोह—ये स्वरूप से आये हुए ग्यारह हैं। छन्द, अधिमोक्ष, औद्धत्य, मनस्कार—ये येवापनक चार हैं। ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य—ये तीन अनियत हैं।

उससे दूषित होते हैं, स्वयं दूषित होता है या वह दूषित होना मात्र है, इसलिये द्वेष कहा जाता है। वह कोप के लक्षण वाला है, मार खाये हुये आशीविष के समान। (अनिष्ट करने से) विष के चढ़ने के समान फैलने के कृत्य वाला है। या दावाग्नि के समान अपने निश्रित (हृदय आदि सबको) जलाने के कृत्य वाला है। अवसर पाये हुए वैरी के समान दूपित करने से जान पड़ने वाला है। आघात-वस्तु[1] के पदस्थान वाला है। (इसे) विष मिले सड़े मूत्र के समान समझना चाहिये

ईर्ष्या

डाह करना ईर्ष्या है। वह दूसरे की सम्पत्ति को नहीं सहने के लक्षण वाली है। उसमें ही उदास होना इसका कृत्य है। उससे विमुख होना इसका प्रत्युपस्थान है। दूसरे की सम्पत्ति के पदस्थान वाली है। इसे संयोजन समझना चाहिये।

मात्सर्य

कंजूसी का होना मात्सर्य है। वह पाई हुई या पायी जाने वाली अपनी सम्पत्तियों को

---

१. आघात वस्तु दस होती हैं, देखिये, अंगुत्तर नि० १०, ३, ९।

छिपाने के लक्षण वाला है। उनको ही दूसरों के लिए साधारण होने की अनिच्छा के कृत्य वाला है। संकोच करना प्रत्युपस्थान है या कटुक-आकार। अपनी सम्पत्ति के पदस्थान वाला है। इसे चित्त का विरूप होना जानना चाहिये।

कौकृत्य

बुरा किया गया कुकृत्य कहा जाता है। उसका भाव कौकृत्य है। वह पश्चात्ताप करने के लक्षण वाला है। किये हुए और नहीं किये हुए कार्यों के विषय में शोक करना इसका कृत्य है। पश्चात्ताप से जान पड़ने वाला है। किये हुए और नहीं किये हुए कार्यों के पदस्थान वाला है। इसे दासव्य[1] के समान समझना चाहिये।

शेष उक्त प्रकार के ही हैं। इस प्रकार ये अठारह संस्कार प्रथम द्वेषमूल से सम्प्रयुक्त होते हैं—ऐसा जानना चाहिये। और जैसे प्रथम से ऐसे ही दूसरे से भी। अनियतों में स-संस्कृत और स्त्यानमृद्ध का होना विशेष है।

मोहमूल वाले दोनों में—विचिकित्सा-सम्प्रयुक्त से स्पर्श, चेतना, वितर्क, विचार, वीर्य, जीवित, चित्त की स्थिति, अह्रीक, अन्-अत्रपा, मोह, विचिकित्सा—स्वरूप से आये हुए ग्यारह और औद्धत्य, मनस्कार, येवापनक दो—ऐसे (कुल) तेरह हैं।

वहाँ, **चित्त की स्थिति** कहते हैं (चित्त की) प्रवर्ति की स्थिति मात्र दुर्बल समाधि को। चिकित्सा से विगत (= रहित) **विचिकित्सा** है। वह संशय लक्षण वाली है। (आलम्बनों में) कम्पित होना इसका कृत्य है। अ-निश्चय या नाना भावों को ग्रहण करने से जान पड़ने वाली है। विचिकित्सा में बे-ठीक तौर पर मनस्कार करने के पदस्थान वाली है। इसे प्रतिपत्ति में विघ्नकारक जानना चाहिये। शेष उक्त प्रकार के ही हैं।

औद्धत्य-सम्प्रयुक्त से विचिकित्सा-सम्प्रयुक्त में कहे गये में से विचिकित्सा को छोड़कर शेष बारह होते हैं। विचिकित्सा के अभाव से यहाँ अधिमोक्ष उत्पन्न होता है। उसके साथ तेरह ही होते हैं। अधिमोक्ष के होने से समाधि बलवानतर होती है। जो यहाँ औद्धत्य है, वह स्वरूप से ही आया है। अधिमोक्ष और मनस्कार येवापनक के तौर पर। ऐसे अकुशल संस्कारों को जानना चाहिये।

अव्याकृतों में विपाक-अव्याकृत अहेतुक और सहेतुक के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें अहेतुक-विपाक-विज्ञान से सम्प्रयुक्त अहेतुक हैं। वहाँ, कुशल-अकुशल-विपाक चक्षु-विज्ञान से सम्प्रयुक्त स्पर्श, चेतना, जीवित, चित्त की स्थिति—स्वरूप से आये हुए चार, येवापनक मनस्कार ही ऐसे पाँच हैं। श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय-विज्ञान से सम्प्रयुक्त भी ये ही हैं।

दोनों विपाक-मनोधातु[2] में ये और वितर्क, विचार, अधिमोक्ष—आठ हैं। वैसे तीनों प्रकार की भी अहेतुक मनोविज्ञान-धातु[3] में। जो यहाँ सौमनस्य सहगत[4] है, उसके साथ प्रीति अधिक होती है—ऐसा जानना चाहिये।

सहेतुक विपाक- विज्ञान से सम्प्रयुक्त सहेतुक हैं। उनमें आठ कामावचर-विपाक से युक्त आठ कामावचर-कुशलों से युक्त संस्कार के समान ही होते हैं। किन्तु जो अनियतों में करुणा,

१. जैसे दास दूसरे के अधीन होता है, ऐसे ही कौकृत्य से युक्त व्यक्ति।

२. कुशल और अकुशल अहेतुक-विपाक के दोनों उपेक्षा सहगत सम्प्रतिच्छन्न चित्त।

३. तीनों प्रकार के सन्तीरण चित्तों में।

४. सौमनस्य सहगत सन्तीरण चित्त है।

मुदिता हैं, वे प्राणियों का आलम्बन होने से विपाकों में नहीं हैं। कामावचर-विपाक बिल्कुल परित्र आलम्बन वाले हैं। केवल करुणा, मुदिता ही नहीं, प्रत्युत विरतियाँ भी विपाकों में नहीं हैं। पाँच शिक्षा-पद[1] "कुशल ही हैं"[2] ऐसा कहा गया है।

रूपावचर, अरूपावचर, लोकोत्तर विपाक के विज्ञान से युक्त, उनके कुशल-विज्ञान से युक्त संस्कार के समान ही हैं।

क्रिया-अव्याकृत भी अहेतुक के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें अहेतुक क्रिया-विज्ञान से युक्त अहेतुक हैं। वे कुशल-विपाक मनोधातु और दो अहेतुक मनोविज्ञान धातु से युक्त के समान हैं। दो मनोविज्ञानधातु में वीर्य अधिक है और वीर्य के होने से समाधि बल-प्राप्त होती है। यह यहाँ विशेष है।

सहेतुक क्रिया-विज्ञान से सम्प्रयुक्त सहेतुक हैं। उनमें आठ कामावचर-क्रिया-विज्ञान से सम्प्रयुक्त विरतियों को छोड़कर आठ कामावचर-कुशलों से सम्प्रयुक्त संस्कार के समान हैं। रूपावचर और अरूपावचर की क्रिया से सम्प्रयुक्त सब प्रकार से भी उनके कुशल-विज्ञान से सम्प्रयुक्त के समान ही हैं। ऐसे अव्याकृत संस्कारों को भी जानना चाहिये।

स्कन्धों की विस्तार-कथा

यह अभिधर्म भाजनीय[3] के अनुसार स्कन्धों पर विस्तार-कथा है। भगवान् ने—"यं किञ्चि रूपं अतीतानागतपच्चुप्पन्नं अज्झत्तं वा बहिद्धा वा ओळारिकं वा सुखुमं वा हीनं वा पणीतं वा यं दूरे सन्तिके वा, तदेकज्झं अभिसंयूहित्वा अभिसङ्खिपित्वा अयं वुच्चति रूपक्खन्धो। या काचि वेदना......या काचि सञ्ञा...... ये केचि सङ्खारा,......यं किञ्चि विञ्ञाणं अतीतानागतपच्चुप्पन्नं......अभिसङ्खिपित्वा अयं वुच्चति विञ्ञाणक्खधो' ति।"[4]

[जो कुछ रूप भूत, भविष्यत्, वर्तमान् है; भीतरी या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत (= उत्तम) है, जो दूर में है या पास में है, उसे एक में लाकर, संक्षेप करके—यह कहा जाता है रूपस्कन्ध। जो कोई वेदना......जो कोई संज्ञा......जो कोई संस्कार......जो कोई विज्ञान भूत, भविष्यत्, वर्तमान्......संक्षेप करके—यह कहा जाता है विज्ञान-स्कन्ध।]

—ऐसे स्कन्धों का विस्तार किया है।

वहाँ, यं किञ्चि—अनवशेष ग्रहण करना है। रूप—यह जानने के कारण का नियम करना है। इस प्रकार दोनों पदों से भी रूप को पूर्णतः ग्रहण किया गया है। अब इसकी भूत आदि से व्याख्या प्रारम्भ होती है। क्योंकि वह कुछ भूतकालिक है, कुछ भविष्यत् आदि के भेद वाला। इसी प्रकार वेदना आदि में भी। वहाँ, अध्व, सन्तति, समय, क्षण के अनुसार चार प्रकार का रूप भूतकालिक होता है। वैसे ही भविष्यत् और वर्तमान् काल का भी।

---

१. पञ्चशील को पाँच शिक्षापद कहते हैं।

२. विभङ्ग।

३. अभिधर्म के अनुसार बाँटे गये भाग को अभिधर्म-भाजनीय कहते हैं।

४. विभङ्ग १,१।

अध्व

अध्व के अनुसार एक का एक जन्म में प्रतिसन्धि से पूर्व भूत, च्युति से आगे भविष्यत् और दोनों के बीच में वर्तमान होता है।

सन्तति

सन्तति के अनुसार एक समान की ऋतु से उत्पन्न और एक आहार से उत्पन्न पूर्व और ऊपर के अनुसार होते हुए भी वर्तमान् है, उससे पहले असदृश ऋतु, आहार से उत्पन्न भूत और पीछे भविष्यत् है। चित्त से उत्पन्न एक वीथि, एक जवन, एक समापत्ति में उत्पन्न वर्तमान् है। उससे पहले भूत और पीछे भविष्यत् है। कर्म से उत्पन्न हुए (स्कन्ध) का अलग कोई एक सन्तति के अनुसार भूत आदि का भेद नहीं है। उनके ही ऋतु, आहार और चित्त से उत्पन्न होनेवालों के सम्हालने के अनुसार उसके भूत आदि होने को जानना चाहिये।

समय

समय के अनुसार एक मुहूर्त, पूर्वाह्न, अपराह्न, रात, दिन आदि समय में परम्परा के अनुसार प्रवर्तित होता हुआ वह-वह समय वर्तमान् है, उससे पहले भूत और पीछे भविष्यत्।

क्षण

क्षण के अनुसार उत्पत्ति आदि तीन क्षणों में हुआ वर्तमान् है, उससे पहले (नहीं उत्पन्न होने से) भविष्यत्, पीछे (तीनों क्षणों को पाकर बीत जाने पर) भूत।

और भी—हेतु और प्रत्यय के कृत्य के बीत जाने से भूत है। (जनक-) हेतु का कृत्य समाप्त हुआ और (उपस्थम्भक-) प्रत्यय का कृत्य नहीं समाप्त हुआ वर्तमान् है। दोनों कृत्यों को नहीं पाया हुआ भविष्यत् है। या अपने कृत्य के क्षण में वर्तमान् है, उससे पहले भविष्यत् और पीछे भूत। यहाँ क्षण आदि कथा ही निष्पर्याय है, शेष स-पर्याय।

भीतरी-बाहरी भेद को कहे गये के अनुसार ही जानना चाहिये। फिर भी यहाँ अपना भीतरी भी भीतरी (= आध्यात्म) है और दूसरे व्यक्ति का बाहरी। ऐसा जानना चाहिये। स्थूल-सूक्ष्म भेद कहे गये प्रकार से ही।

हीन-प्रणीत का भेद दो प्रकार का होता है पर्याय और निष्पर्याय। अकनिष्ठ (-ब्रह्मलोक) वालों के रूप से सुदर्शी वालों का रूप हीन होता है। वही सुदर्शावालों के रूप से प्रणीत। ऐसे जहाँ तक नरक के प्राणियों का रूप है, वहाँ तक पर्याय से हीन-प्रणीत होना जानना चाहिये। निष्पर्याय से जहाँ अकुशल-विपाक उत्पन्न होता है, वह प्रणीत है।

दूरे सन्तिके (= दूर-पास)—यह भी कहे गये प्रकार से ही। फिर भी अवकाश से भी यहाँ एक दूसरे को लेकर दूर-पास होना जानना चाहिये।

तदेकज्झं अभिसंयूहित्वा अभिसङ्खिपित्वा (= उसे एक में लाकर, संक्षेप करके)—उस भूत आदि पदों से अलग-अलग कहे गये रूप सब विनाश होने के लक्षण वाले एक प्रकार के होने पर प्रज्ञा से राशि करके रूप-स्कन्ध कहा जाता है—यह यहाँ अर्थ है।

इससे सारा भी रूप नाश होने के लक्षण में राशि होने से रूपस्कन्ध दिखलाया गया है। रूप से दूसरा (कोई) रूपस्कन्ध नहीं है। और जैसे रूप है, ऐसे ही वेदना आदि भी अनुभव करने के लक्षण आदि में राशि होने से। वेदना आदि से दूसरे वेदना-स्कन्ध आदि नहीं है।

भूत आदि के विभाग में यहाँ सन्तति और क्षण के अनुसार वेदना के भूत, भविष्यत्, वर्तमान् का होना जानना चाहिये। वहाँ, सन्तति के अनुसार एक वीथि, एक जवन, एक समापत्ति में हुई और एक प्रकार के समायोग को प्राप्त वर्तमान् हैं। उससे पहले भूत, पीछे भविष्यत् क्षण आदि के अनुसार तीनों क्षणों में हुई पूर्व, अपरान्त, मध्य-भाव को प्राप्त, अपने कृत्य को करती हुई वेदना वर्त्तमान है, उसके पहले भूत और पीछे भविष्यत्।

भीतरी-बाहरी भेद अपने भीतर के अनुसार जानना चाहिए। स्थूल-सूक्ष्म भेद "अकुशल वेदना स्थूल, कुशल-अव्याकृत वेदना सूक्ष्म है"[1] आदि प्रकार से विभङ्ग में कहे गये जाति, स्वभाव, पुद्गल, लौकिक, लोकोत्तर के अनुसार जानना चाहिये।

जाति

जाति के अनुसार अकुशल-वेदना सदोष, क्रिया, अहेतु और क्लेशों के सन्ताप के होने से अ-उपशान्त वृत्ति वाली है, इसलिए कुशल-वेदना से स्थूल है। अपने काम में लगे होने से, उत्साह वाली होने से, विपाक सहित होने से, पीड़ा सहित होने से और सदोप होने से क्रिया-अव्याकृत से स्थूल है। कुशल-अव्याकृत कहे गये के विपर्याय से अकुशल से सूक्ष्म है। दोनों भी कुशल-अकुशल वेदनाएँ अपने-अपने काम में लगी होने से, उत्साह सहित होने से और विपाक सहित होने से यथायोग्य तीनों प्रकार की भी अव्याकृत से स्थूल हैं। कहे गए के विपर्याय से दोनों प्रकार की भी अव्याकृत उनसे सूक्ष्म हैं। ऐसे जाति के अनुसार स्थूल-सूक्ष्म होना जानना चाहिये।

स्वभाव

स्वभाव के अनुसार दुःख वेदना, निःस्वाद, स-विष्फार (=चंचलता सहित=अ-उपशान्त), क्षोभ करने, उद्वेग करने योग्य होने और अभिभव करने से अन्य दो से स्थूल है। किन्तु अन्य दो सुख, शान्त, प्रणीत, मनाप और मध्यस्थ से यथायोग्य दुःख से सूक्ष्म हैं। दोनों सुख-दुःख स-विष्फार, क्षोभ करने और प्रगट होने से अदुःख-असुख से स्थूल हैं। वह कहे गये के विपर्याय से उन दोनों से सूक्ष्म हैं। ऐसे स्वभाव के अनुसार स्थूल-सूक्ष्म होना जानना चाहिये।

पुद्गल

पुद्गल के अनुसार (ध्यान) नहीं समापन्न होने वाले की वेदना नाना आलम्बनों में विक्षिप्त होने से समापन्न की वेदना से स्थूल हैं। विपर्याय से दूसरी सूक्ष्म हैं। ऐसे पुद्गल के अनुसार स्थूल-सूक्ष्म होना जानना चाहिये।

लौकिक-लोकोत्तर

लौकिक-लोकोत्तर के अनुसार साश्रव वेदना लौकिक है। वह आश्रव की उत्पत्ति का हेतु होने से, बाढ़ के समान फैलकर बहा ले जाने से, तथा योग, ग्रन्थ, नीवरण, उपादानीय, संक्लेशिक और पृथग्जन साधारण से अनाश्रव से स्थूल है। वह विपर्याय से साश्रव से सूक्ष्म है। ऐसे लौकिक-लोकोत्तर के अनुसार स्थूल-सूक्ष्म होना जानना चाहिये।

जाति आदि के अनुसार सम्भेद (=मिश्रण) नहीं करना चाहिये। अकुशल-विपाककाय-विज्ञान से सम्प्रयुक्त वेदना जाति के अनुसार अव्याकृत होने से सूक्ष्म भी होती हुई स्वभाव आदि

---

१. विभङ्ग।

के अनुसार स्थूल होती है। यह कहा है—"अव्याकृत वेदना सूक्ष्म है। दुःख वेदना स्थूल है··· वही समापन्न की वेदना स्थूल है···साश्रव वेदना स्थूल है।[१]" और जैसे दुःख वेदना है, ऐसे ही सुख आदि भी जाति के अनुसार स्थूल और स्वभाव आदि के अनुसार सूक्ष्म होती हैं।

इसलिए जैसे जाति आदि के अनुसार सम्भेद नहीं होता है, वैसे वेदनाओं की स्थूलता और सूक्ष्मता जाननी चाहिये। जैसे कि अव्याकृत जाति के अनुसार कुशल-अकुशल से सूक्ष्म हैं। कौन-सी अव्याकृत हैं? क्या दुःख? क्या सुख? क्या समापन्न की? क्या असमापन्न की? क्या साश्रव? क्या अनाश्रव? ऐसे स्वभाव आदि के भेद को नहीं ग्रहण करना चाहिये। इसी प्रकार सर्वत्र।

और भी—"उस-उस वेदना को ले-लेकर स्थूल-सूक्ष्म वेदना समझनी चाहिये।[१]" इस वचन से अकुशल आदि में भी लोभ-द्वेष से युक्त वेदना अग्नि के समान अपने निश्रय (= हृदय-वस्तु आदि) को जलाने से स्थूल हैं, लोभ सहगत सूक्ष्म हैं। द्वेष सहगत भी नियत स्थूल हैं और अनियत सूक्ष्म। नियत भी कल्प भर तक स्थित रहने वाली[२] स्थूल और अन्य सूक्ष्म हैं। कल्प भर तक स्थित रहने वाली (वेदना) में भी असंस्कृत स्थूल और दूसरी सूक्ष्म हैं। लोभ सहगत दृष्टि-सम्प्रयुक्त स्थूल और दूसरी सूक्ष्म हैं। वह भी नियत कल्प भर स्थित रहने वाली असंस्कृत स्थूल हैं और अन्य सूक्ष्म। अविशेष रूप से अकुशल बहुत विपाक वाली स्थूल और अल्प विपाक वाली सूक्ष्म हैं। किन्तु कुशल अल्प विपाक वाली स्थूल और बहुत विपाक वाली सूक्ष्म हैं।

और भी, कामावचर की कुशल-(वेदना) स्थूल और रूपावचर की सूक्ष्म है। उससे अरूपावचर और उससे लोकोत्तर की सूक्ष्म हैं। कामावचर की दानमय-(वेदना) स्थूल है, शील-मय सूक्ष्म है और उससे भावना-मय सूक्ष्म है। भावनामय भी द्विहेतुक स्थूल है और त्रिहेतुक सूक्ष्म है। त्रिहेतुक भी स-संस्कृत स्थूल है और अ-संस्कृत सूक्ष्म है। रूपावचर के प्रथम ध्यान वाली स्थूल है···पञ्चम ध्यान वाली सूक्ष्म है। अरूपावचर के आकाशानन्त्यायतन से सम्प्रयुक्त स्थूल है···नैवसंज्ञानासंज्ञायतन से सम्प्रयुक्त सूक्ष्म ही है। लोकोत्तर स्रोतापत्ति मार्ग से सम्प्रयुक्त स्थूल है···अर्हत् मार्ग से सम्प्रयुक्त सूक्ष्म ही है। इसी प्रकार उस-उस भूमि, विपाक, क्रिया की वेदनाओं में दुःख आदि, अ-समापन्न आदि, साश्रव आदि के अनुसार कही गयी वेदनाओं में।

अवकाश के अनुसार भी निरय में दुःख (वेदना) स्थूल है, तिर्यक् (= पशु) योनि में सूक्ष्म......परनिर्मितवशवर्ती में सूक्ष्म ही है। और जैसे दुःख है, ऐसे ही सुख भी—सर्वत्र यथा-नुरूप जोड़ना चाहिये।

वस्तु के अनुसार भी हीन वस्तु वाली[३] जो कोई वेदना स्थूल है और प्रणीत वस्तु वाली सूक्ष्म है। हीन-प्रणीत के भेद में जो स्थूल है, वह हीन है और जो सूक्ष्म है वह प्रणीत है—ऐसा समझना चाहिये।

दूर शब्द—"अकुशल और अव्याकृत वेदनाओं से दूर हैं।" पास शब्द—"अकुशल वेदना अकुशल वेदना के पास हैं।" आदि प्रकार से विभङ्ग में विभक्त किया गया है। इसलिये

१. विभङ्ग।

२. आनन्तरिक कर्मों को करके कल्प भर विपाक को भोगने से देवदत्त आदि के समान कल्प भर रहने वाली वेदना कही जाती है।

३. हीन वस्तु को आलम्बन करके उत्पन्न हुई वेदना।

अकुशल वेदना वि-सभाग, संसर्ग रहित और अ-सदृश होने से कुशल और अव्याकृत से दूर है। वैसे ही कुशल और अव्याकृत अकुशल से। ऐसे ही सब वारों में जानना चाहिये। अकुशल-वेदना सभाग और सदृश होने से अकुशल के पास है।

यह वेदना-स्कन्ध का भूत आदि के विभाग के अनुसार विस्तार पूर्वक वर्णन है।

विनिश्चय-कथा

उस-उस वेदना से सम्प्रयुक्त संज्ञा आदि का भी यह ऐसे ही जानना चाहिये और ऐसे जानकर, फिर इन्हीं में—

खन्धेसु ञाणभेदत्थं कमतो' थ विसेसतो।
अनूनाधिकतो चेव उपमातो तथेव च॥
दट्ठब्बो द्विधा एवं पस्सन्तस्सत्थ सिद्धितो।
विनिच्छयनयो सम्मा विञ्ञातब्बो विभाविना॥

[स्कन्धों में नाना प्रकार से ज्ञान-प्रभेद के लिए क्रम से, विशेषता से, अ-न्यूनाधिक से, और वैसे ही उपमा से, दो प्रकार से देखने से, तथा ऐसे देखने वाले के अर्थ की सिद्धि से—प्रज्ञावान् को भली प्रकार विनिश्चय का नियम जानना चाहिये।]

क्रम

क्रम से—यहाँ, उत्पत्ति-क्रम, प्रहाण-क्रम, प्रतिपत्ति-क्रम, भूमि-क्रम, देशना-क्रम—बहुत प्रकार का क्रम होता है। उनमें, "पहले कलल होता है, कलल से अर्बुद होता है।"[१] ऐसा आदि उत्पत्ति-क्रम है। "दर्शन से प्रहातव्य धर्म, भावना से प्रहातव्य धर्म।"[२] ऐसा आदि प्रहाण-क्रम है। "शील विशुद्धि······चित्त विशुद्धि"[३] ऐसा आदि प्रतिपत्ति-क्रम है। "कामावचर, रूपावचर"[४] ऐसा आदि भूमि-क्रम है। "चार स्मृति-प्रस्थान, चार सम्यक् प्रधान।"[५] या "दान कथा, शील कथा"[६] ऐसा देशना-क्रम है।

उनमें यहाँ, कलल आदि के समान स्कन्धों की पूर्व-अपर के व्यवस्थान से उत्पत्ति न होने से उत्पत्ति-क्रम नहीं जुड़ता है। कुशल और अव्याकृत के अ-प्रहातव्य होने से प्रहाण-क्रम (भी) नहीं है। अकुशलों के प्रतिपन्न न होने से प्रतिपत्ति-क्रम भी नहीं है। वेदना आदि के चारों भूमियों में होने से भूमि-क्रम भी नहीं है। किन्तु देशना-क्रम जुड़ता है।

अ-भेद से पाँचों स्कन्धों में आत्मा होने के ग्राह में पड़े वैनेय जन को समूह, घन, विनिर्भोग (= अलग-अलग करके बाँटना) के दर्शन से आत्मा के ग्राह से छुड़ाने की इच्छा वाले भगवान् ने हित की इच्छा से उस जन को सुखपूर्वक जानने के लिये चक्षु आदि के भी विषय हुये स्थूल रूपस्कन्ध को पहले दिखलाया। उसके पश्चात् प्रिय-अप्रिय रूप का अनुभव करने वाली वेदना को।

१. संयुत्त नि० १, १०, १।
२. धम्मसङ्गणी १।
३. मज्झिम नि० १, ३, ४।
४. पटिसम्भिदामग्ग १।
५. दीघ नि० २, ३।
६. मज्झिम नि० १, ३, ४।

"जिसका अनुभव करता है, उसे जानता है।[1]" ऐसे वेदना के विषय के आकार को ग्रहण करने-वाली संज्ञा को। संज्ञा के अनुसार अभिसंस्करण करनेवाले संस्कारों को। उन वेदना आदि के निश्रय और अधिपति हुए विज्ञान को। ऐसे क्रम से विनिश्चय जानना चाहिये।

विशेषता

विशेषता से—स्कन्ध और उपादान-स्कन्ध की विशेषता से। कौन-सी इनकी विशेषता है? स्कन्ध साधारण रूप से कहे गये हैं और उपादान-स्कन्ध साश्रव, उपादानीय होने की विशेषता कर के। जैसे कहा है—"भिक्षुओ, पाँच स्कन्धों और पाँच उपादान स्कन्धों का उपदेश दूँगा, उसे सुनो। भिक्षुओ, कौन से पाँच स्कन्ध हैं? भिक्षुओ, जो कोई रूप भूत, भविष्यत्, वर्तमान् का है···पास में है—यह रूपस्कन्ध कहा जाता है। जो कोई वेदना···जो कोई विज्ञान···पास में है—यह विज्ञानस्कन्ध कहा जाता है। भिक्षुओ, ये पञ्चस्कन्ध कहे जाते हैं। और भिक्षुओ, कौन से पाँच उपादान-स्कन्ध हैं? भिक्षुओ, जो कोई रूप···पास में, साश्रव, उपादानीय है—यह रूप उपादान स्कन्ध कहा जाता है। जो कोई वेदना···जो कोई विज्ञान···पास में, साश्रव, उपादानीय है—यह विज्ञान उपादान स्कन्ध कहा जाता है। भिक्षुओ, ये पाँच उपादान स्कन्ध कहे जाते हैं[2]।"

यहाँ जैसे वेदना आदि अनाश्रव भी हैं, ऐसे रूप नहीं हैं। चूँकि इसकी राशि के अर्थ में स्कन्ध होना ठीक है, इसलिये स्कन्धों में कहा गया है। चूँकि राशि और साश्रव के अर्थ में उपा-दान स्कन्ध का होना ठीक है, इसलिये उपादान स्कन्धों में कहा गया है। वेदना आदि अनाश्रव ही स्कन्धों में कही गई हैं। साश्रव उपादान स्कन्धों में। और यहाँ उपादान-स्कन्ध का अर्थ है उपादान के गोचर स्कन्ध—ऐसे अर्थ समझना चाहिये। यहाँ ये सभी एक में करके स्कन्ध अभिप्रेत हैं।

अन्यूनाधिक

अन्यूनाधिक से—क्यों भगवान् ने न कम न अधिक पाँच ही स्कन्ध कहा है? सब संस्कृतों का सभाग से एक में संग्रह होने से। आत्मा, आत्मीय के ग्रहण करने की वस्तु का यही अन्तिम होने से और दूसरों के उसके अवरोध से।

अनेक प्रभेद वाले संस्कृत धर्मों में सभाग के अनुसार संग्रह किये जाने वाले (स्कन्धों) में रूप रूप के सभाग के एक संग्रह के अनुसार एक स्कन्ध होता है। वेदना वेदना के सभाग के एक संग्रह के अनुसार एक स्कन्ध होता है। इसी प्रकार संज्ञा आदि में। इसलिए सब संस्कृत (धर्मों) को सभाग से एक में संग्रह करने से पाँच ही कहे गए हैं।

और आत्मा, आत्मीय के अनुसार ग्रहण करने वाले यही परम हैं जो कि यह रूप आदि पाँच (स्कन्ध) हैं। यह कहा गया है—"भिक्षुओ" रूप के होने पर, रूप को लेकर, रूप का अभिनिवेश करके ऐसी दृष्टि उत्पन्न होती है–यह मेरा है, यह मैं हूँ, यह मेरी आत्मा है। वेदना······संज्ञा-······संस्कार······विज्ञान के होने पर, विज्ञान को लेकर, विज्ञान का अभिनिवेश करके ऐसी दृष्टि उत्पन्न होती है–यह मेरा है, यह मैं हूँ, यह मेरी आत्मा है।[3]" इसलिए आत्मा, आत्मीय के ग्रहण करने की वस्तु के ये परम होने से भी पाँच ही कहे गए हैं।

---

१. मज्झिम नि० १, ३, ४।

२. संयुत्त नि० २१, १, ५, ६।

३. संयुत्त नि० २१, ३, ५, १।

जो और भी शील आदि पाँच धर्म स्कन्ध[1] कहे गए हैं, वे भी संस्कार स्कन्ध में होने से यहीं आ जाते हैं। इसलिए दूसरों के सम्मिलित हो जाने से भी पाँच ही कहे गए हैं। ऐसे अन्यूनाधिक से विनिश्चय के नियम को जानना चाहिये।

उपमा

उपमा से—यहाँ रोग की शान्ति के लिए विज्ञान-उपादान-स्कन्ध के वस्तु, द्वार, आलम्बन होने के अनुसार निवास-स्थान से रूप-उपादान-स्कन्ध ग्लान-शाला (=अस्पताल) के समान है। पीड़ा करने से रोग के समान वेदना-उपादान-स्कन्ध है। काम-संज्ञा आदि के अनुसार राग आदि से संप्रयुक्त वेदना की उत्पत्ति से संज्ञा-उपादान-स्कन्ध रोग के उत्पन्न होने के समान है। वेदना रोग का निदान होने से संस्कार-उपादान-स्कन्ध अपथ्य का सेवन करने के समान है। "वेदना को वेदना के लिए अभिसंस्करण करता है[2]।" कहा गया है। वैसे "अकुशल कर्म के लिए होने से उपचित किये होने से विपाक दुःख सहगत काय-विज्ञान उत्पन्न होता है[3]।" वेदना को रोग से नहीं मुक्त होने से विज्ञान-उपादान स्कन्ध रोग के समान है।

और भी, कैदख़ाना (=चारक), सज़ा (=दण्ड), अपराध, सज़ा करने वाला, अपराधी के समान और बर्तन, भोजन, व्यञ्जन, परोसने वाले, खाने वाले के समान ये हैं। ऐसे उपमा से विनिश्चय को जानना चाहिये।

देखना

दो प्रकार से देखने से—संक्षेप और विस्तार से—ऐसे दो प्रकार से देखने से भी यहाँ विनिश्चय को जानना चाहिये।

संक्षेप से पाँच-उपादान-स्कन्ध आशीविष (सर्प) की उपमा में[4] कहे गये प्रकार से तलवार उठाये वैरी के समान, भारसूत्र[5] के अनुसार भार के समान, खादनीय पर्याय[6] के अनुसार खाने वाले के समान, यमक सूत्र[7] के अनुसार अनित्य, दुःख, अनात्म, संस्कृत होने से वधक के समान समझना चाहिये।

विस्तार से यहाँ फेन के पिण्ड के समान परिमर्दन को न सहने से रूप को जानना चाहिये। मुहूर्त भर रमणीय होने से जल के बुलबुले के समान वेदना को। धोखा देने से मरीचिका के समान संज्ञा को। सार रहित होने से केले के खम्भे के समान संस्कार को। ठगने से माया के समान विज्ञान को और विशेष रूप से अत्युत्तम भी भीतरी रूप को अशुभ समझना चाहिये। वेदना तीन दुःखों से नहीं मुक्त होने से दुःख है, संज्ञा, संस्कार अविधेय से अनात्म हैं और विज्ञान उत्पत्ति-विनाश के स्वभाव वाला होने से अनित्य है—ऐसा समझना चाहिये।

---

१. शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति और विमुक्ति ज्ञान दर्शन—यह पाँच धर्म स्कन्ध हैं।

२. संयुत्त नि० २१, २, ३, ७।

३. धम्मसंगणी।

४. दे० आसीविसूपम सुत्त, संयुत्त नि० ३४, ४, ४, १ ; हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ५२२।

५. संयुत्त नि० २१, १, ३, १।

६. दे० संयुत्त नि० में खज्जनीय परियाय सुत्त।

७. संयुत्त नि० २१, २, ४, ३।

अर्थ की सिद्धि

ऐसे देखने वाले के अर्थ की सिद्धि से—ऐसे संक्षेप और विस्तार—दो प्रकार से देखने वाले को जो अर्थ की सिद्धि होती है, उससे भी विनिश्चय का नियम जानना चाहिये। जैसे—संक्षेप से पाँच उपादान स्कन्धों को तलवार उठाये हुए वैरी आदि होने के समान देखते हुए स्कन्धों से पीड़ित नहीं होता है। और विस्तार से रूप आदि को फेन के पिण्ड आदि के समान होने के रूप में देखते हुए सार रहित में सार देखने वाला नहीं होता है।

विशेष रूप से भीतरी रूप को अशुभ के तौर पर देखता हुआ कवलिङ्कार आहार (में छन्दराग) को त्यागता है। अशुभ में शुभ होने के भ्रम को छोड़ता है। काम की बाढ़ को तर जाता है। काम के योग (=बन्धन) से अलग हो जाता है। काम के आश्रव से अनाश्रव हो जाता है। अभिध्या (=लोभ) रूपी काय के ग्रन्थ (=गाँठ) को तोड़ देता है। काम के उपादान को नहीं ग्रहण करता है।

वेदना को दुःख के तौर पर देखता हुआ स्पर्श के आहार को त्यागता है। दुःख में सुख होने के भ्रम को छोड़ता है। भव की बाढ़ को तर जाता है। भव के योग से अलग हो जाता है। भवाश्रव से अनाश्रव हो जाता है। व्यापाद रूपी काय के ग्रन्थ को तोड़ देता है। शीलव्रत के उपादान को नहीं ग्रहण करता है।

संज्ञा और संस्कार को अनात्मा के तौर पर देखता हुआ मनोसंचेतना के आहार को त्यागता है। अनात्मा में आत्मा होने के भ्रम को छोड़ता है। दृष्टि की बाढ़ को तर जाता है। दृष्टि के योग से अलग हो जाता है। दृष्टाश्रव से अनाश्रव हो जाता है। 'यही सत्य है'—इसके अभिनिवेश रूपी काय के ग्रन्थ को तोड़ डालता है। आत्म-वाद के उपादान को नहीं ग्रहण करता है।

विज्ञान को अनित्य के तौर पर देखता हुआ विज्ञान के आहार को त्यागता है। अनित्य में नित्य होने के भ्रम को छोड़ता है। अविद्या की बाढ़ को तर जाता है। अविद्या के योग से अलग हो जाता है। अविद्या-आश्रव से अनाश्रव हो जाता है। शील-व्रतपरामर्श रूपी काय के ग्रन्थ को तोड़ डालता है। दृष्टि के उपादान को नहीं ग्रहण करता है।

एवं महानिसंसं वधकादिवसेन दस्सनं यस्मा।
तस्मा खन्धे धीरो वधकादिवसेन पस्सेय्या' ति ॥

[चूँकि ऐसे वधक आदि के अनुसार देखना महागुणवान् होता है, इसलिये प्रज्ञावान् (-व्यक्ति) स्कन्धों को वधक आदि के अनुसार देखे।]

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धिमार्ग में
प्रज्ञा-भावना के भाग में स्कन्ध निर्देश नामक
चौदहवाँ परिच्छेद समाप्त।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

आयतन-धातु-निर्देश

आयतन-कथा

आयतन—बारह आयतन होते हैं—(१) चक्षु-आयतन (२) रूपायतन (३) श्रोत्र-आयतन (४) शब्दायतन (५) घ्राणायतन (६) गन्धायतन (७) जिह्वायतन (८) रसायतन (९) कायायतन (१०) स्पर्शायतन (११) मनायतन (१२) धर्मायतन।

वहाँ—

अत्थ लक्खण-तावत्व-कम-संखेपवित्थारा।
तथा दट्ठब्बतो चेव विञ्ञातब्बो विनिच्छयो॥

[अर्थ, लक्षण, उतना होने, क्रम, संक्षेप-विस्तार और वैसे ही द्रष्टव्य से विनिश्चय जानना चाहिए।]

अर्थ

उनमें, विशेष अर्थ से, चखता है इसलिए चक्षु कहते हैं। रूप का आस्वादन और विभावन करता (=कहता) है—यह अर्थ है। रूप को प्रगट करता है, इसलिए रूप कहते हैं। वर्ण-विकार को प्राप्त होकर हृदय के भाव को प्रगट करता है—यह अर्थ है। सुनता है इसलिए श्रोत्र कहते हैं। अपने प्रत्ययों से प्रकाशित होता है, इसलिये शब्द कहते हैं। कहा जाता है—यह अर्थ है। सूँघता है, इसलिए घ्राण कहते हैं। महका जाता है, इसलिए गन्ध कहा जाता है। अपनी वस्तु प्रगट करता है—यह अर्थ है। जीवन को बुलाती है, इसलिए जिह्वा कहते हैं। उसमें प्राणी रस लेते हैं, इसलिए रस कहते हैं। आस्वादन करते हैं—यह अर्थ है। कुत्सित आश्रव-युक्त धर्मों की आय है, इसलिए काय कहते हैं। आय का अर्थ है उत्पत्ति-देश। छूआ जाता है, इसलिए स्पर्श कहते हैं। (आलम्बन को) जानता है, इसलिए मन कहते हैं। अपने लक्षण को धारण करते हैं इसलिए धर्म कहते हैं।

साधारण अर्थ से, (अपने परिच्छेद के अनुसार) यत्न करने से, आय हुये स्वभाव-धर्मों को तानने (=फैलाने) से और दीर्घ संसार के दुःख को लाने से आयतन जानना चाहिए। रूप आदि में उस-उस द्वार के आलम्बन वाले चित्त-चैतसिक धर्म अपने-अपने कृत्यों से आते हैं, उठते हैं, प्रयत्न करते हैं, उत्साह करते हैं—कहा गया है। और उन आये हुए धर्मों को ये तानते हैं, फैलाते हैं—यह कहा गया है। यह अनादि संसार में प्रवर्तित अत्यन्त दीर्घ संसार का दुःख जब तक नहीं रुकता है, तब तक ले आते ही हैं। जारी रखते हैं—कहा गया है। इस प्रकार ये सभी धर्म (अपने परिच्छेद के अनुसार) यत्न करने से, आये हुए स्वभाव-धर्मों को तानने से, और दीर्घ संसार के दुःख को लाने से आयतन कहे जाते हैं।

और भी, निवास-स्थान, आकार, समोसरण (=जुटना)-स्थान, उत्पत्ति देश और कारण के अर्थ में आयतन जानना चाहिये। वैसा ही लोक में ईश्वर का आयतन, वासुदेव का आयतन, आदि में निवास-स्थान आयतन कहा गया है। सुवर्ण का आयतन, रत्न का आयतन आदि में आकर (=खान)। किन्तु शासन (=धर्म) में "मनोरम आयतन में जिसे पक्षी सेवन करते हैं[1]।" आदि में समोसरण (=जुटना)-स्थान। "दक्षिणापथ गायों का आयतन है" आदि में उत्पत्ति-देश। "वहाँ-वहाँ ही आयतन (=कारण) होने पर साक्षात् करने में समर्थ होता है[2]।" आदि में कारण।

चक्षु आदि में भी वे-वे चित्त-चैतसिक धर्म उनके अधीन होने से निवास करते हैं, इसलिये चक्षु आदि उनके निवास-स्थान हैं। चक्षु आदि में वे उनके आश्रित और उनके आलम्बन होने से बिखरे हुए हैं। इसलिए चक्षु आदि उनका आकर है। वहाँ-वहाँ वस्तु, द्वार, आलम्बन के अनुसार जुटने से चक्षु आदि उनका समोसरण-स्थान है। उनके आश्रित आलम्बन होकर वही उत्पन्न होने से चक्षु आदि उनका उत्पत्ति-स्थान है और उनके अभाव में अभाव होने से चक्षु आदि उनका कारण है।

इस प्रकार निवास-स्थान, आकर, समोसरण-स्थान, उत्पत्ति-देश और कारण के अर्थ से— इन भी कारणों से ये धर्म आयतन, आयतन कहे जाते हैं। इसलिए यथोक्त अर्थ से चक्षु भी है और वह आयतन भी है, इसलिए चक्षु-आयतन कहा जाता है।……धर्म भी है और वह आयतन भी है, इसलिए धर्मायतन कहा जाता है—ऐसे यहाँ अर्थ से विनिश्चय जानना चाहिये।

लक्षण

लक्षण से—चक्षु आदि के लक्षण से भी यहाँ विनिश्चय जानना चाहिये। वे उनके लक्षण स्कन्ध-निर्देश में कहे गये के अनुसार जानना चाहिये।

उतना होना

उतना होने से—उतने के भाव से। यह कहा गया है—चक्षु आदि भी धर्म ही हैं। ऐसा होने पर धर्मायतन हैं—इतना ही न कहकर क्यों बारह आयतन कहे गये हैं? छः विज्ञानकाय के उत्पत्ति, द्वार, आलम्बन के व्यवस्थान से। यहाँ छः विज्ञान-कायों के द्वार और आलम्बन के व्यवस्थान से यह इनका भेद होता है, इसलिए बारह कहे गये हैं।

चक्षु-विज्ञान की वीथि में हुए विज्ञान-काय का चक्षु-आयतन ही उत्पत्ति-द्वार है और रूपायतन ही आलम्बन है। वैसे ही दूसरे दूसरों के। किन्तु छठें का भवाङ्ग-मन कहे जाने वाले मनायतन का एक भाग ही उत्पत्ति द्वार है[3] और अ-साधारण धर्मायतन आलम्बन है। इस प्रकार छः विज्ञान-कायों के उत्पत्ति-द्वार-आलम्बन के व्यवस्थान से बारह कहे गये हैं। ऐसे यहाँ 'उतना होने से' विनिश्चय जानना चाहिये।

---

१. अंगुत्तर नि० ४, १, ८।

२. अंगुत्तर नि० १।

३. दो बार चलकर प्रवर्तित भवाङ्गचित्त। चलने के अनुसार भवाङ्ग की प्रवर्ति होने पर ही आवर्जन की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं। इसलिए आवर्जन का भी कारण हुआ बतलाया गया है।

क्रम

क्रम से—यहाँ भी पहले कहे गये उत्पत्ति-क्रम आदि में देशना-क्रम ही युक्त है। भीतरी आयतनों में सनिदर्शन, स-प्रतिघ, विषय वाला होने से चक्षु-आयतन प्रगट है, इसलिये पहले कहा गया है। उसके पश्चात् अनिदर्शन (=नहीं दिखाई देने वाला), स-प्रतिघ विषयवाले श्रोत्र-आयतन आदि अथवा, दर्शनानुत्तरीय और श्रवणानुत्तरीय[1] हेतु से बहुत उपकारक होने से भीतरी में चक्षु-आयतन आदि तीन[2]। पाँचों का भी गोचर-विषय होने से अन्त में मनायतन। चक्षु-आयतन आदि का गोचर होने से उस-उसके बाद बाहरी में रूप-आयतन आदि।

और भी, विज्ञान की उत्पत्ति के कारण के व्यवस्थापन से भी यह इनका क्रम जानना चाहिये। यह कहा गया है—"चक्षु के कारण रूप में चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है…मन के कारण धर्म में मनोविज्ञान उत्पन्न होता है[3]।" ऐसे क्रम से भी यहाँ विनिश्चय जानना चाहिये।

संक्षेप और विस्तार

संक्षेप-विस्तार से—संक्षेप से मनायतन और धर्मायतन का एक भाग नाम से और उससे शेष बचे हुए आयतनों का रूप से संग्रह होने से बारह भी आयतन नामरूप मात्र ही होते हैं।

विस्तार से भीतरी में चक्षु-आयतन जाति के अनुसार चक्षु-प्रसाद मात्र ही है, किन्तु प्रत्यय, गति, निकाय, पुद्गल के भेद से अनन्त प्रभेद होता है। वैसे ही श्रोत्र-आयतन आदि चार। मनायतन कुशल, अकुशल, विपाक, क्रिया विज्ञान के भेद से नवासी (= ८९) प्रकार का होता है। या एक सौ इक्कीस प्रकार का।[4] वस्तु, प्रतिपदा आदि के भेद से अनन्त प्रकार का। रूप, शब्द

---

१. "बुद्ध और बुद्ध के श्रावकों का दर्शन दर्शनानुत्तरीय कहा जाता है तथा सद्धर्म-श्रवण श्रवणानुत्तरीय।"—सिंहल सन्नय। अनुत्तरीय धर्म छः होते हैं—(१) दर्शन (२) श्रवण (३) लाभ (४) शिक्षा (५) परिचर्या (६) अनुस्मृति। विस्तार के लिये देखिये, संगीति परियाय सूत्र दीघ नि० ३, १०। किन्तु, बड़े आश्चर्य की बात है कि सिंहल विशुद्धिमार्ग-सन्नय के लेखक ने लिखा है कि यह पाठ अट्ठकथा और टीकाओं में नहीं है, केवल पुरानी सन्नय में ही मिलता है।

२. इस शरीर में चक्षु सबसे ऊपर है, उसके नीचे श्रोत्र, उसके नीचे घ्राण, जिह्वा। काय सर्वत्र ही है, किन्तु मन अरूपी होने से सबसे पीछे कहा गया है और उनके गोचर होने से उस-उसके बाद बाहरी आयतन—ऐसे भी यह क्रम जानना चाहिये--टीका।

३. संयुत्त नि० १२, २, १०।

४. ८१+४०=१२१ विज्ञान होते हैं—

भूमि	कुशल	अकुशल	विपाक	क्रिया	योग
कामावचर	८	१२	२३	११	५४
रूपावचर	५	×	५	५	१५
अरूपावचर	४	×	४	४	१२
	१७	१२	३२	२०	८१

गन्ध, रस आयतन अनमेल प्रत्यय आदि के भेद से अनन्त प्रकार के होते हैं। स्पर्श आयतन पृथ्वी-धातु, अग्निधातु, वायु-धातु के अनुसार तीन प्रकार का होता है। प्रत्यय आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है। धर्मायतन वेदना, संज्ञा, संस्कार-स्कन्ध, सूक्ष्मरूप, निर्वाण स्वभाव-नानत्व के भेद से अनेक प्रकार का होता है। ऐसे संक्षेप-विस्तार से विनिश्चय जानना चाहिये।

द्रष्टव्य

द्रष्टव्य से—यहाँ सारे ही संस्कृत आयतन नहीं आने और नहीं जाने से द्रष्टव्य हैं। वे उत्पत्ति के पूर्व कहीं से नहीं आते हैं और न तो विनाश के आगे कहीं जाते हैं। प्रत्युत उत्पत्ति के पूर्व नहीं मिलने के स्वभाव वाले और विनाश के आगे छिन्न-भिन्न हो जाने के स्वभाव वाले हैं। पूर्व और अपरान्त के बीच प्रत्ययों के अधीन होने से अवश होकर प्रवर्तित होते हैं, इसलिये नहीं आने और नहीं जाने से द्रष्टव्य हैं। वैसे निरीह (= चेष्टारहित) और अव्यापार (= काम में नहीं लगने) से। चक्षु-रूप आदि को ऐसा नहीं होता है—बहुत अच्छा कि हमारे मेल से विज्ञान उत्पन्न हो और वे विज्ञान को उत्पन्न करने के लिये द्वार, वस्तु या आलम्बन होने से नहीं चेष्टा करते हैं। काम में नहीं लगते हैं, प्रत्युत यह स्वभाव ही है जो कि चक्षु-रूप आदि के मेल में चक्षु विज्ञान आदि उत्पन्न होते हैं, इसलिये निरीह और अव्यापार से द्रव्ष्टय हैं।

और भी, भीतरी (आयतन) ध्रुव, शुभ, सुख, आत्मा से रहित होने से शून्य गाँव के समान द्रष्टव्य हैं। भीतरी (आयतनों) का अभिघात करने से बाहरी (आयतन) गाँव को विनाश करने वाले चोरों के समान हैं। यह कहा गया है—"भिक्षुओ, चक्षु प्रिय और अप्रिय रूपों से हना जाता है।[1]" ऐसे विस्तार (करना चाहिये)। और भी, भीतरी (आयतन) छः कीड़ों के समान द्रष्टव्य हैं और बाहरी उनके गोचर के समान। ऐसे यहाँ द्रष्टव्य से विनिश्चय जानना चाहिये।

यह आयतनों का विस्तारपूर्वक वर्णन है।

धातु-कथा

उसके पश्चात्, धातुएँ—अठारह धातुयें हैं—(१) चक्षु-धातु (२) रूप धातु (३) चक्षु विज्ञान धातु (४) श्रोत्र धातु (५) शब्द धातु (६) श्रोत्र विज्ञान-धातु (७) घ्राण धातु (८) गन्ध धातु (९) घ्राण-विज्ञान धातु (१०) जिह्वा धातु (११) रस धातु (१२) जिह्वा विज्ञान धातु (१३) काय धातु (१४) स्पर्श धातु (१५) काय विज्ञान धातु (१६) मनो-धातु (१७) धर्म धातु (१८) मनोविज्ञान धातु।

लोकोत्तर-विज्ञान

अङ्ग	मार्ग	फल	योग
स्रोतापत्ति	५	५	१०
सकृदागामी	५	५	१०
अनागामी	५	५	१०
अर्हत्	५	५	१०
	२०	२०	४०

१. संयुत्त नि० ३४,३,४।

वहाँ—

अत्थतो लक्खणादीहि कम-तावत्व-सङ्खतो।
पच्चया अथ दट्ठब्बा वेदितब्बो विनिच्छयो॥

[अर्थ, लक्षण आदि, क्रम, उतना होने, संख्या, प्रत्यय और द्रष्टव्य से विनिश्चय जानना चाहिये ।]

अर्थ

वहाँ, अर्थ से—चखता है इसलिये चक्षु है। रूप को प्रगट करता है इसलिये रूप है। चक्षु का विज्ञान चक्षुर्विज्ञान है। ऐसे आदि प्रकार से चक्षु आदि का विशेष अर्थ से विनिश्चय जानना चाहिये। अ-विशेष से विधान करती है, धारण की जाती है, विधान इसके द्वारा चलाया जाता है या यहाँ रखा जाता है, इसलिये धातु है।

लौकिक धातुयें कारण भाव से व्यवस्थित होकर सोना-चाँदी आदि धातुओं के समान सोना-चाँदी आदि अनेक प्रकार के संसार-दुःख का विधान करती हैं और बोझ ढोने वाले (व्यक्तियों द्वारा) जैसे बोझ ले जाया जाता है, वैसे ही बोझ के समान प्राणियों द्वारा धारण की जाती हैं।... (अपने) वश में नहीं होने से ये दुःख विधान मात्र ही हैं। कारण हुई इन (धातुओं) से संसार-दुःख प्राणियों के पीछे-पीछे चलाया जाता है और उस प्रकार का वह इन्हीं से रखा जाता है। स्थापित किया जाता है—यह अर्थ है। इस प्रकार चक्षु आदि में एक-एक धर्म यथासम्भव विधान करती है, धारण की जाती है—आदि अर्थ के अनुसार धातु कही जाती है।

जैसे तीर्थों (= अन्य मतावलम्बियों) की आत्मा स्वभाव से नहीं है, वैसी ये नहीं हैं। किन्तु ये अपने स्वभाव को धारण करती हैं, इसलिये धातु हैं। जैसे लोक में चित्रित हरिताल (= पीले रंग की मणि विशेष), मनोशिला (= मनः शिला = लाल रङ्ग की मणि विशेष) आदि पत्थर के अवयव धातु कही जाती हैं, ऐसे ही इनमें भी पञ्चस्कन्ध वाले शरीर के अवयवों में धातु नाम होना जानना चाहिये। ये चक्षु आदि परस्पर अ-समान लक्षण से बँटे हुए हैं।

और भी, धातु—यह निर्जीव मात्र का ही नाम है। वैसा ही भागवान् ने—"भिक्षु, यह पुरुष छः धातुओं वाला है।"[1] आदि में जीव होने की संज्ञा को मिटाने के लिये चक्षु-धातु है...... मनोविज्ञान है और वह धातु भी है, इसलिये मनोविज्ञान धातु है—ऐसे यहाँ अर्थ से विनिश्चय जानना चाहिये।

लक्षण

लक्षण आदि से—चक्षु आदि के लक्षण आदि से भी यहाँ विनिश्चय जानना चाहिये। वे उनके लक्षण आदि स्कन्ध-निर्देश में कहे गये प्रकार से ही जानने चाहिये।

क्रम

क्रम से—यहाँ भी पहले कहे गये उत्पत्ति-क्रम आदि में देशना-क्रम ही युक्त है और वह हेतु, फल के क्रम से व्यवस्थान के अनुसार कहा गया है। चक्षु-धातु, रूप-धातु—ये दोनों हेतु हैं, चक्षु-विज्ञान धातु फल है। ऐसे ही सर्वत्र।

---

१. मज्झिम नि० ३, ४, १०।

उतना होना

उतना होने से—उतने के भाव से। यह कहा गया है—उन-उन सूत्र और अभिधर्म के उपदेशों में—"आभा धातु, शुभ धातु, आकाशानन्त्यायतन धातु, विज्ञानन्त्यातन धातु, अकिंचन्यायतन धातु, नैवसंज्ञानासंज्ञायतन धातु, संज्ञावेदयित निरोध धातु।"[१], "काम-धातु, व्यापाद-धातु, विहिंसा-धातु, नैष्क्रम्य धातु, अव्यापाद धातु, अविहिंसा धातु।"[२], "सुख धातु, दुःख धातु, सौमनस्य धातु, दौर्मनस्य धातु, उपेक्षा धातु, अविद्या धातु।"[२], "आरम्भ धातु, निष्क्रम धातु, पराक्रम धातु।"[३], "हीन धातु, मध्यम धातु, प्रणीत धातु।"[४], "पृथ्वी धातु, जल धातु, अग्नि धातु, वायु-धातु, आकाश-धातु, विज्ञान धातु।"[२] "संस्कृत धातु, असंस्कृत धातु।"[५], "अनेक धातु नानाधातु वाला लोक।"[६] इत्यादि इस प्रकार की अन्य भी धातुएँ दिखलाई देती हैं। ऐसा होने पर सबके अनुसार परिच्छेद न करके क्यों 'अठारह' यही परिच्छेद किया गया है? स्वभाव से विद्यमान सब धातुओं को उसी में आ जाने से।

रूप धातु ही आभा धातु है। शुभ रूप आदि से जुटे हुए हैं। क्यों? शुभ-निमित्त होने से। शुभ निमित्त ही शुभ धातु है। और वह रूप आदि से भिन्न नहीं है। या कुशल-विपाक के आलम्बन वाले रूप आदि ही शुभ धातु हैं। इसलिए यह रूप आदिमात्र ही है। आकाशानन्त्यायतन धातु आदि में चित्त मनोविज्ञान धातु ही है। शेष धर्म-धातु है। संज्ञावेदयित निरोध-धातु स्वभाव से नहीं है। वह दो धातुओं[७] का विरोधमात्र ही है।

काम-धातु धर्म-धातु मात्र होती है। जैसे कहा है—"कौन सी कामधातु है? काम सम्बन्धी तर्क-वितर्क···मिथ्या संकल्प।"[२] या अठारह भी धातुएँ। जैसे कहा है—"नीचे अवीचि निरय से लेकर ऊपर परनिर्मित वशवर्ती देवों के अन्त तक—जो इस बीच में यहाँ विचरने वाले, यहाँ होनेवाले स्कन्ध, धातु, आयतन, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान हैं—यह काम धातु कही जाती है।"[२]

नैष्क्रम्य-धातु धर्म-धातु ही है। "सभी कुशल धर्म नैष्क्रम्य धातु है।"[२] इस वचन से मनोविज्ञान धातु भी होती है ही। व्यापाद, विहिंसा, अव्यापाद, अविहिंसा, सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा, अविद्या, आरम्भ, निष्क्रम, पराक्रम धातुयें धर्मधातु ही हैं।

हीन, मध्यम, प्रणीत धातुयें अठारह धातु मात्र ही हैं। हीन चक्षु आदि हीन धातु है और मध्यम-प्रणीत, मध्यम तथा प्रणीत। निष्पर्याय से अकुशल धर्म धातु और मनोविज्ञान धातुयें हीन धातु हैं। लौकिक कुशल, अव्याकृत दोनों भी, और चक्षु- धातु आदि मध्यम धातु है। लोकोत्तर धर्मधातु, मनोविज्ञान-धातु ये प्रणीत धातु है।

---

१. संयुत्त नि० १३, २, १।
२. विभङ्ग २।
३. संयुत्त नि० ४३, ७।
४. दीघ नि० ३, १०।
५. मज्झिम नि० ३, २, ५।
६. मज्झिम नि० १, २, २।
७. मनोविज्ञान धातु और धर्मधातु।

पृथ्वी, अग्नि, वायु धातुएँ स्पर्श-धातु ही हैं। जल धातु और आकाश-धातु धर्म-धातु ही है। विज्ञान-धातु, चक्षु-विज्ञान आदि सात विज्ञान धातुओं[1] का समूह ही है।

सत्रह धातुयें और और धर्मधातु का एक भाग संस्कृत धातु है। किन्तु असंस्कृत धातु धर्म-धातु का एक भाग ही है। अनेक धातु, नाना धातु वाला लोक अठारह धातु का प्रभेद मात्र ही है। इस प्रकार स्वभाव से विद्यमान सब धातुओं को उनमें आ जाने से अठारह ही कही गई हैं।

जानने के स्वभाव वाले विज्ञान में जीव का ख्याल रखने वालों के ख्याल को मिटाने के लिये भी अठारह ही कही गई हैं। जानने के स्वभाव वाले विज्ञान में जीव का ख्याल रखने वाले प्राणी हैं। उनके लिये चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मनोधातु, मनोविज्ञान धातु के भेद से उस (विज्ञान) की अनेकता और चक्षु रूप आदि के प्रत्ययों के अधीन होने से अनित्यता को प्रकाशित करके दीर्घकाल तक अनुशय हुए जीव के होने के ख्याल को नाश करने की इच्छा से भगवान् ने अठारह धातुओं को प्रकाशित किया है।

क्या अधिक कहें ? उस प्रकार से सिखाये जाने के योग्य व्यक्ति के आशय के अनुसार और जो इस न बहुत संक्षेप-विस्तार की देशना से वैनेय सत्त्व हैं, उनके आशय के अनुसार अठारह ही प्रकाशित किया है।

सङ्खेपवित्थरनयेन तथा तथा हि
धम्मं पकासयति एस यथा यथास्स।
सद्धम्मतेजविहतं विलयं खणेन
वेनेय्यसत्तहदयेसु तमो पयाति॥

[यह (=भगवान्) जैसे-जैसे संक्षेप और विस्तार से धर्म को प्रकाशित करते हैं, वैसे-वैसे उनके सद्धर्म के तेज से नष्ट हो, वैनेय सत्त्व के हृदय का अन्धकार क्षण भर में ही लय को प्राप्त हो जाता है।]

ऐसे यहाँ 'उतना होने से' विनिश्चय जानना चाहिये।

संख्या

संख्या से—चक्षु-धातु जाति से चक्षु-प्रसाद—एक धर्म वाली कही जाती है। वैसे ही श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, रूप, शब्द, गन्ध, रस धातुयें श्रोत्र-प्रसाद आदि के अनुसार। स्पर्श-धातु पृथ्वी, अग्नि, वायु के अनुसार तीन धर्म वाली कही जाती है। चक्षु-विज्ञान-धातु कुशल, अकुशल के विपाक के अनुसार दो धर्म वाली कही जाती है। वैसे ही श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय-विज्ञान धातुयें। किन्तु मनोधातु पञ्च द्वारावर्जन, कुशल, अकुशल, विपाक, सम्प्रतिच्छन्न के अनुसार तीन धर्म वाली कही जाती हैं। धर्म धातु तीनों अरूपी-स्कन्धों, सोलह सूक्ष्म रूपों और असंस्कृत धातु के अनुसार बीस धर्म वाली कही जाती है। मनोविज्ञान-धातु शेष कुशल, अकुशल और अव्याकृत-विज्ञान के अनुसार छिहत्तर[2] (=७६) धर्म वाली कही जाती है। ऐसे संख्या से भी विनिश्चय जानना चाहिये।

---

१. चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय विज्ञान धातु तथा मनोधातु और मनोविज्ञान धातु का।

२. नवासी चित्तों में से कुशल, अकुशल विपाक वाले द्विपञ्च विज्ञान और मनोधातु सम्बन्धी तीन विज्ञानों को छोड़ कर शेष छिहत्तर चित्त।

प्रत्यय

प्रत्यय से—यहाँ चक्षु-विज्ञान धातु का विप्रयुक्त[1], पुरेजात, अस्ति, अविगत, निश्रय, इन्द्रिय प्रत्ययों के अनुसार छः प्रत्ययों से प्रत्यय होती है। रूप-धातु पुरेजात, अस्ति, अविगत, आलम्बन प्रत्ययों के अनुसार चार प्रत्ययों से प्रत्यय होती है। ऐसे श्रोत्र-विज्ञान धातु आदि का श्रोत्र-धातु, शब्द धातु आदि।

उन पाँचों का आवर्जन मनोधातु अनन्तर, समानान्तर, नास्ति, विगत, अनन्तर-उपनिश्रय के अनुसार पाँच प्रत्ययों से प्रत्यय होती है। वे पाँचों भी सम्प्रतिच्छन्न मनोधातु का, वैसे ही सम्प्रतिच्छन्न मनोधातु सन्तीरण मनोधातु का और वह व्यवस्थापन मनोविज्ञान-धातु का। व्यवस्थापन मनोविज्ञान धातु जवन मनोविज्ञान धातु का। जवन मनोविज्ञान धातु ठीक उसके पश्चात्वाली जवन-मनोविज्ञान धातु का। उन पाँचों से और आसेवन प्रत्यय से—ऐसे छः प्रत्ययों से प्रत्यय होता है। यह पञ्चद्वार में नियम है।

किन्तु मनोद्वार में भवाङ्ग मनोविज्ञान-धातु आवर्जन मनोविज्ञान धातु का और आवर्जन मनोविज्ञान धातु जवन मनोविज्ञान धातु का पहले के ही पाँच प्रत्ययों से प्रत्यय होती है।

धर्मधातु सात विज्ञान धातुओं का सहजात, अन्योन्य, निश्रय, सम्प्रयुक्त, अस्ति, अविगत आदि से बहुत प्रकार से प्रत्यय होती है। चक्षु-धातु आदि कोई-कोई धर्मधातु किसी-किसी मनोविज्ञान धातु का आलम्बन प्रत्यय आदि से प्रत्यय होती हैं।

चक्षु-विज्ञान धातु आदि का न केवल चक्षुरूप आदि ही प्रत्यय होते हैं, प्रत्युत आलोक आदि भी। उसी से पूर्व के आचार्यों ने कहा है—"चक्षु, रूप, आलोक, मनस्कार के कारण चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है। श्रोत्र, शब्द, विवर (=छेद), मनस्कार के कारण श्रोत्र-विज्ञान उत्पन्न होता है। घ्राण, गन्ध, वायु, मनस्कार के कारण घ्राण-विज्ञान उत्पन्न होता है। जिह्वा, रस, जल, मनस्कार के कारण जिह्वा-विज्ञान उत्पन्न होता है। काय, स्पर्श, पृथ्वी, मनस्कार के कारण काय-विज्ञान उत्पन्न होता है। भवाङ्ग, मन, धर्म, मनस्कार के कारण मनोविज्ञान उत्पन्न होता है।" यह यहाँ संक्षेप है। विस्तार से प्रत्ययों के प्रभेद वाले प्रतीत्यसमुत्पाद निर्देश में प्रगट होगा। ऐसे प्रत्यय से भी विनिश्चय जानना चाहिये।

द्रष्टव्य

द्रष्टव्य से—द्रष्टव्य से भी यहाँ विनिश्चय जानना चाहिये—यह अर्थ है। सारी ही संस्कृत धातुयें पूर्वापरान्त के अभाव से ध्रुव, शुभ, सुख, आत्मा से शून्य होने और प्रत्ययों के अधीन होने से द्रष्टव्य हैं।

विशेष से यहाँ भेरि-तल के समान चक्षु-धातु को देखना चाहिये। डण्डे के समान रूप धातु और शब्द के समान चक्षु-विज्ञान धातु को। वैसे ही आदर्श-तल के समान चक्षु-धातु, मुख के समान रूप धातु और मुख के निमित के समान चक्षु-धातु को। अथवा ऊख और तिल के समान चक्षु-धातु, कोल्हू और चक्रयष्टि (=कतरी-मूसल) के समान रूप-धातु और ऊख के रस तथा तेल के समान चक्षु विज्ञान-धातु को। वैसे ही निचली अरणी[2] के समान चक्षु-धातु, ऊपरी, अरणी

1. विप्रयुक्त आदि प्रत्ययों का वर्णन सत्रहवें परिच्छेद में देखिये।
2. काष्ठ विशेष, जिसे रगड़कर आग निकालते हैं।

के समान रूप-धातु और अग्नि के समान चक्षुविज्ञान-धातु को। इसी प्रकार श्रोत्र-धातु आदि में।

मनोधातु यथासम्भव चक्षु-विज्ञान-धातु आदि के आगे चलने वाले अनुचर के समान द्रष्टव्य है। धर्म-धातु में वेदना-स्कन्ध काँटा और शूल के समान द्रष्टव्य है। और संज्ञा-संकार-स्कन्ध वेदना रूपी काँटा, शूल लगे आतुर व्यक्ति के समान। ;या पृथग्जनों की संज्ञा आशा-दुःख उत्पन्न करने से रिक्त मुट्ठी के समान (द्रष्टव्य है), असत्य में सत्य होने के निमित्त को ग्रहण करने से वन के मृग के समान।[1] संस्कार प्रतिसन्धि में फेंकने से अंगार के गड्ढे में फेंकने वाले व्यक्तियों के समान जन्म के दुःखों के पीछे-पीछे पड़ने से सिपाहियों से पीछा किये जाते हुए चोरों के समान। सब प्रकार के अनर्थ को बुलाने वाली स्कन्ध-परम्परा के हेतु से विष-वृक्ष के बीजों के समान। रूप नाना प्रकार के उपद्रव के निमित्तों से (कमल के फूलों की माला के समान जान पड़ने वाले) क्षुर-चक्र के समान द्रष्टव्य है। असंस्कृत धातु अमृत, शान्त और क्षेम के रूप से द्रष्टव्य है। क्यों ? सारे अनर्थों का विरोधी होने से।

मनोविज्ञान धातु आलम्बनों में व्यवस्थान के अभाव से जंगली बन्दर के समान, कठिनाई से दमन किये जाने से बदमाश घोड़े के समान, जहाँ कहीं इच्छानुसार (आलम्बन में) गिरने के स्वभाव वाला होने से आकाश में फेंके डण्डे के समान और लोभ, द्वेष आदि नाना प्रकार के क्लेशों के वेश वाला होने से (नाना वेशधारी) रङ्गनट (= नाटकीय पुरुष = अभिनेता) के समान द्रष्टव्य है।

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धिमार्ग में प्रज्ञाभावना
के भाग में आयतन-धातु-निर्देश नामक
पन्द्रहवाँ परिच्छेद समाप्त।

---

१. वन का मृग तृण-पुरुष को देखकर प्रकृति पुरुष समझता है।

सोलहवाँ परिच्छेद

इन्द्रिय-सत्य-निर्देश

इन्द्रिय-कथा

धातुओं के अनन्तर कही गई, इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियाँ बाइस होती हैं—(१) चक्षु-इन्द्रिय (२) श्रोत्र-इन्द्रिय (३) घ्राणेन्द्रिय (४) जिह्वा-इन्द्रिय (५) कायेन्द्रिय (६) मनेन्द्रिय (७) स्त्री-इन्द्रिय (८) पुरुषेन्द्रिय (९) जीवितेन्द्रिय (१०) सुखेन्द्रिय (११) दुःखेन्द्रिय (१२) सौमनस्येन्द्रिय (१३) दौर्मनस्येन्द्रिय (१४) उपेक्षा-इन्द्रिय (१५) श्रद्धेन्द्रिय (१६) वीर्येन्द्रिय (१७) स्मृति-इन्द्रिय (१८) समाधि-इन्द्रिय (१९) प्रज्ञेन्द्रिय (२०) अनज्ञातज्ञस्यामीति-इन्द्रिय (२१) आज्ञेन्द्रिय (२२) आज्ञातावेन्द्रिय।

वहाँ—

अत्थतो लक्खणादीहि कमतो च विजानिया।
भेदाभेदा तथा किच्चा भूमितो च विनिच्छयं॥

[अर्थ, लक्षण आदि, क्रम, भेद-अभेद, कृत्य और वैसे ही भूमि से विनिश्चय जाने।)

अर्थ

चक्षु आदि का—चखता है, इसलिये चक्षु है—आदि प्रकार से अर्थ प्रकाशित किया गया है। पिछले के तीन में प्रथम, पूर्व भाग में अज्ञात अमृत पद या चार सत्य धर्म को जानूँगा—ऐसे प्रतिपन्न होने वाले को उत्पन्न होने और इन्द्रियार्थ के सम्भव से अनज्ञातज्ञस्यामीति-इन्द्रिय[१] कही गयी है। दूसरी, जानने और इन्द्रियार्थ के सम्भव से आज्ञेन्द्रिय।[२] तीसरी, आज्ञातावी[३] के चारों सत्यों में ज्ञान के कृत्य के समाप्त हो गये क्षीणाश्रव को उत्पन्न होने और इन्द्रियार्थ में सम्भव होने से आज्ञातावेन्द्रिय।

कौन-सा इनका इन्द्रियार्थ है? इन्द्र का लिङ्गार्थ इन्द्रियार्थ है। इन्द्र द्वारा उपदेश दिया गया अर्थ इन्द्रियार्थ है। इन्द्र द्वारा देखा गया अर्थ इन्द्रियार्थ है। इन्द्र द्वारा उत्पन्न किया गया अर्थ इन्द्रियार्थ है। इन्द्र द्वारा सेवन किया गया अर्थ इन्द्रियार्थ है। वह सभी यहाँ यथायोग्य युक्त है।

कुशल और अकुशल कर्म हैं, कर्मों में किसी के ऐश्वर्य के अभाव से भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध परम ऐश्वर्यप्राप्त इन्द्र हैं। उनसे यहाँ, कर्म से उत्पन्न इन्द्रिय कुशल, अकुशल कर्म को

---

१. स्रोतापत्ति-मार्ग-ज्ञान।

२. स्रोतापत्ति फल-ज्ञान से लेकर अर्हत् मार्ग-ज्ञान तक छः ज्ञान।

३. अर्हत्-फल-ज्ञान।

प्रगट करती हैं और उनसे उत्पन्न की हुई हैं, इसलिये इन्द्र के लिंगार्थ और इन्द्र से उत्पन्न किये जाने के अर्थ में इन्द्रिय हैं। ये सभी भगवान् द्वारा यथार्थ रूप से प्रकाशित की गई हैं, ज्ञान से देखी गई हैं। इसलिये इन्द्र द्वारा उपदेश की गई और इन्द्र द्वारा देखी गई के अर्थ से इन्द्रिय हैं। उन्हीं भगवान् मुनीन्द्र द्वारा कोई-कोई गोचर का सेवन करने और कोई-कोई भावना का सेवन करने से सेवित हैं, इसलिये इन्द्र द्वारा सेवन किये जाने के अर्थ से भी इन्द्रिय हैं।

चक्षु-विज्ञान आदि की प्रवर्ति में, उसके तीक्ष्ण होने और मन्द होने से—चक्षु आदि का आधिपत्य सिद्ध है, इसलिये आधिपत्य कहे जाने वाले ऐश्वर्य के अर्थ से भी ये इन्द्रिय हैं। यहाँ, यह अर्थ से विनिश्चय है।

लक्षण

लक्षण आदि से—लक्षण, रस (=कृत्य), प्रत्युपस्थान (=जान पड़ने का आकार), पदस्थान (=समीपीकारण) से भी चक्षु आदि का विनिश्चय जाने-यह अर्थ है। वे उनके लक्षण आदि स्कन्ध-निर्देश में कहे ही गये हैं। प्रज्ञेन्द्रिय आदि चार अर्थ अमोह ही हैं। शेष वहाँ स्वरूप से ही आई हैं।

क्रम

क्रम से—यह भी देशना-क्रम ही है। वहाँ, आध्यात्म-धर्मों को जानने से आर्य-भूमि की प्राप्ति होती है। इसलिये शरीर (=आत्म-भाव) में होने वाली चक्षु-इन्द्रिय आदि पहले बतलाई गई हैं। वह शरीर जिस धर्म के होने से स्त्री या पुरुष कहा जाता है, वह यह है—ऐसे दिखलाने के लिये उसके पश्चात् स्त्री-इन्द्रिय और पुरुषेन्द्रिय (बतलाई गई हैं)। वह दोनों प्रकार की भी (इन्द्रियाँ) जीवितेन्द्रिय से प्रतिबद्ध वृत्ति वाली हैं—यह बतलाने के लिये उसके पश्चात् जीवितेन्द्रिय। जब तक वह वर्तमान रहती है, तब तक इनके अनुभव आदि नहीं रुकते हैं और जो कुछ अनुभव है वह सब दुःख है—यह बतलाने के लिए उसके पश्चात् सुखेन्द्रिय आदि। उसके निरोध के लिये इन धर्मों की भावना करनी चाहिये—प्रतिपत्ति को दिखलाने के लिये उसके पश्चात् श्रद्धा आदि। इस प्रतिपत्ति से यह धर्म पहले अपने में प्रगट होता है—ऐसे प्रतिपत्ति के अचूक होने को दिखलाने के लिये उसके पश्चात् अनज्ञात-ज्ञस्यामीति-इन्द्रिय। उसी का फल होने और उसके पश्चात् भावना करने के योग्य होने से उसके बाद आज्ञेन्द्रिय। उसके बाद भावना से इसकी प्राप्ति होती है और इसके प्राप्त हो जाने पर आगे कुछ करणीय नहीं है—यह बतलाने के लिये अन्त में परम आश्वास वाली आज्ञातावेन्द्रिय का उपदेश किया गया है। यह यहाँ, क्रम है।

भेद-अभेद

भेद-अभेद से—जीवितेन्द्रिय का ही यह भेद है। वह रूप जीवितेन्द्रिय और अरूप-जीवितेन्द्रिय के भेद से दो प्रकार की होती है। शेष (इन्द्रियों) का भेद नहीं है। ऐसे यहाँ, भेद-अभेद से विनिश्चय जाने।

कृत्य

कृत्य से—इन्द्रियों का क्या काम है? चक्षु-इन्द्रिय का—"चक्षु-आयतन चक्षु-विज्ञान-धातु और उससे सम्प्रयुक्त धर्मों का इन्द्रिय प्रत्यय से प्रत्यय होता है।"[१] वचन से जो वह इन्द्रिय-

१. तिक पट्ठान।

प्रत्यय से सिद्ध करने योग्य अपने तीक्ष्ण-मन्द आदि होने पर चक्षु-विज्ञान आदि धर्मों का तीक्ष्ण-मन्द आदि कहे जाने वाले अपने (तीक्ष्ण-मन्द आदि) आकार के अनुसार प्रवर्तित कराना है—यह कृत्य है। ऐसे श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय का। किन्तु मनेन्द्रिय का अपने साथ उत्पन्न हुए धर्मों को अपने वश में करना। जीवितेन्द्रिय का अपने साथ उत्पन्न धर्मों को पालना। स्त्री-इन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय का स्त्री-पुरुष के लिंग, निमित्त, कुत्त, आकप्प (=हावभाव) के आकार का अनुविधान करना। सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य इन्द्रियों का अपने साथ उत्पन्न धर्मों को पछाड़ कर यथासम्भव स्थूल आकार को पहुँचाना। उपेक्षा-इन्द्रिय का शान्त, प्रणीत, मध्यस्थ के आकार को पहुँचाना। श्रद्धा आदि का विरोधियों को पछाड़ना और सम्प्रयुक्त धर्मों को प्रसन्न आकार आदि के भाव को पहुँचाना। अनज्ञातज्ञस्यामीति-इन्द्रिय का तीन संयोजनों[1] का प्रहाण और सम्प्रयुक्त (धर्मों) को उसके प्रहाण की ओर करना। आज्ञेन्द्रिय का कामराग, व्यापाद आदि को तनु करना, प्रहाण और अपने साथ उत्पन्न (धर्मों) को अपने वश में करना। आज्ञातावेन्द्रिय का सब कामों में उत्साह को छोड़ना और सम्प्रयुक्त (धर्मों) को अमृत (=निर्वाण) की ओर होने का प्रत्यय होना। ऐसे यहाँ कृत्य से विनिश्चय को जाने।

भूमि

भूमि से—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, स्त्री, पुरुष, सुख, दुःख और दौर्मनस्य इन्द्रियाँ कामावचर की ही हैं। मनेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, उपेक्षा-इन्द्रिय, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञेन्द्रिय चारों भूमियों में होने वाली हैं। सौमनस्येन्द्रिय, कामावचर, रूपावचर, लोकोत्तर के अनुसार तीन भूमियों में होने वाली है। अन्त की तीन लोकोत्तर ही हैं। ऐसे यहाँ भूमि से भी विनिश्चय को जाने।

ऐसे जानते हुए—

> संवेगबहुलो भिक्खु ठितो इन्द्रिय-संवरे।
> इन्द्रियानि परिञ्ञाय दुक्खस्सन्तं करिस्सती'ति ॥

[संवेग-बहुल भिक्षु इन्द्रिय-संवर में स्थित हुआ, इन्द्रियों को भली प्रकार जानकर दुःख का अन्त कर डालेगा।]

यह इन्द्रियों का विस्तारपूर्वक वर्णन है।

सत्य-कथा

उसके पश्चात् सत्य हैं। चार आर्यसत्य होते हैं—(१) दुःख-आर्यसत्य (२) दुःख-समुदय आर्यसत्य (३) दुःख-निरोध आर्यसत्य (४) दुःख-निरोध-गामिनी-प्रतिपदा आर्यसत्य।

वहाँ—

> विभागतो निब्बचन-लक्खणादिप्पभेदतो।
> अत्थत्थुद्धारतो चेव अनूनाधिकतो तथा ॥
> कमतो जातिआदीनं निच्छया ञाणकिच्चतो।
> अन्तोगतानं पभेदा उपमातो चतुक्कतो ॥

१. सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा और शीलव्रत परामर्श।

सुञ्ञतेकविधादीहि सभागविसभागतो।
विनिच्छयो वेदितब्बो विञ्ञुना सासनक्कमे॥

[विभाग, शब्द-विग्रह (=निर्वचन), लक्षण आदि के प्रभेद, अर्थ, अर्थोद्धार, अन्यूनाधिक, क्रम, जाति आदि के निश्चय, ज्ञान के कृत्य, अन्तर्गत प्रभेद, उपमा, चतुष्क, शून्यता, एकविध आदि और वैसे ही समान-असमान से विज्ञ द्वारा आर्यसत्य (=शासन-क्रम)[1] में विनिश्चय जानना चाहिये।]

विभाग

वहाँ, विभाग से—दुःख आदि के चार-चार अर्थ (=स्वभाव) तथ्य (=सत्य), अवितथ (=यथार्थ), न-अन्यथा विभक्त हुए हैं, जो कि दुःख आदि को जानने वालों से ज्ञातव्य हैं। जैसे कहा है—"दुःख का पीड़ा देने का स्वभाव है, प्रत्यय द्वारा बनाया गया स्वभाव है, सन्ताप का स्वभाव है, विपरिणाम का स्वभाव है—ये चार दुःख के तथ्य, अवितथ, न-अन्यथा स्वभाव हैं। ......समुदय का (दुःख की) राशि करने का स्वभाव है, (दुःख का) कारण होने का स्वभाव है, (दुःखों से) संयोग करने का स्वभाव है, विघ्न करने का स्वभाव है।......निरोध का निस्तार का स्वभाव है, विवेक का स्वभाव है, अ-संस्कृत स्वभाव है, अमृत स्वभाव है।......मार्ग का निकलने का स्वभाव है, (मोक्ष को दिलाने वाले) हेतु का स्वभाव है, (चार आर्यसत्यों को) देखने का स्वभाव है, (सम्प्रयुक्त धर्मों को) अपने वश में रखने का स्वभाव है—ये चार मार्ग के तथ्य, अवितथ, न-अन्यथा मार्ग-स्वभाव हैं।"[2] वैसे ही—"दुःख का पीड़ित करने का स्वभाव है, संस्कृत-स्वभाव है, सन्ताप करने का स्वभाव है, विपरिणाम का स्वभाव है, प्रतिवेध का स्वभाव है।"[3] ऐसे आदि। इस प्रकार विभक्त चार-चार अर्थों (=स्वभावों) के अनुसार दुःख आदि को जानना चाहिये। यह यहाँ, विभाग से विनिश्चय है।

शब्द-विग्रह

शब्द-विग्रह और लक्षण आदि के प्रभेद से—यहाँ शब्द-विग्रह से 'दु' यह शब्द कुत्सित (=निन्दित) के अर्थ में दिखाई देता है। कुत्सित पुत्र को दुःपुत्र (=कुपुत्र) कहते हैं। 'ख' शब्द तुच्छ के अर्थ में। तुच्छ आकाश 'खं' कहा जाता है। यह पहला सत्य अनेक उपद्रवों का वास-स्थान होने से कुत्सित है। मूर्खजनों द्वारा परिकल्पित, ध्रुव, शुभ, सुख, आत्मा-रहित होने से तुच्छ है। इसलिये कुत्सित और तुच्छ होने से दुःख कहा जाता है।

'सं' यह शब्द समागम (=सं+आगम), समेत (=सं+एत) आदि में संयोग प्रगट करता है। 'उ' यह उत्पन्न, उदित आदि में उत्पत्ति और 'अय' शब्द कारण प्रगट करता है। यह भी दूसरा सत्य अवशेष प्रत्ययों के समायोग होने पर दुःख की उत्पत्ति का कारण है। इस प्रकार दुःख के संयोग में उत्पत्ति का कारण होने से 'दुःख-समुदय' कहा जाता है।

---

१. शासनक्रम आर्यसत्य को ही कहते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण शासन, भगवान् का वचन सत्य से रहित नहीं है।

२. पटिसम्भिदामग्ग २।

३. पटिसम्भिदामग्ग १।

तीसरा सत्य, चूँकि 'नि' शब्द अभाव और 'रोध' शब्द बन्धनागार प्रगट करता है, इसलिये यहाँ, संसार रूपी बन्धनागार कहे जाने वाले दुःख के रोध की सब गतियों के शून्य होने से अभाव है। या उसके प्राप्त होने पर संसार रूपी बन्धनागार कहे जाने वाले दुःख रोध का अभाव होता है, उसका प्रतिपक्षी (= विरोधी) होने से भी दुःख-निरोध कहा जाता है। अथवा दुःख के अनुत्पाद = निरोध का प्रत्यय होने से दुःख-निरोध है।

चौथा सत्य, चूँकि आलम्बन के अनुसार उसकी ओर होने से यह दुःख-निरोध (= निर्वाण) को जाता है और दुःख-निरोध की प्राप्ति के लिये प्रतिपदा भी होता है, इसलिये दुःख-निरोध-गामिनी-प्रतिपदा कहा जाता है।

चूँकि इन्हें बुद्ध आदि आर्य प्रतिवेध करते हैं, इसलिये आर्यसत्य कहे जाते हैं। जैसे कहा है—"भिक्षुओ, ये चार आर्यसत्य हैं। कौन से चार?······भिक्षुओ, ये चार आर्यसत्य हैं।"[1] आर्य इन्हें प्रतिवेध करते हैं, इसलिये आर्य-सत्य कहे जाते हैं।

और भी, आर्य के सत्य हैं, इसलिये भी आर्यसत्य हैं। जैसे कहा है—"भिक्षुओ, देवों के साथ मनुष्य लोक में······तथागत आर्य हैं, इसलिये आर्यसत्य कहे जाते हैं।"[2] अथवा इनके प्रतिवेध से आर्य-भाव की सिद्धि होने से भी आर्यसत्य हैं। जैसे कहा है—भिक्षुओ, इन चार आर्य सत्यों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होने से तथागत अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध कहे जाते हैं।"[1]

और भी, आर्य-सत्य (= यथार्थ) हैं, इसलिये भी आर्यसत्य हैं। आर्य कहते हैं सत्य को। झूठ नहीं होने वाला—अर्थ है। जैसे कहा है—"भिक्षुओ, ये चार आर्यसत्य तथ्य, अवितथ (= सत्य), न-अन्यथा होने वाले हैं, इसलिये आर्य-सत्य कहे जाते हैं।"[1] ऐसे शब्द-विग्रह से विनिश्चय जानना चाहिये।

लक्षण आदि का प्रभेद

कैसे लक्षण आदि के प्रभेद से? यहाँ पीड़ित करने के लक्षण वाला दुःख-सत्य है। सन्ताप करना उसका कृत्य है। प्रवृत्ति से वह जान पड़ता है। समुदय-सत्य उत्पत्ति के लक्षण वाला है। उपच्छेद न करना उसका कृत्य है। विघ्न से वह जान पड़ता है। निरोध-सत्य शान्ति के लक्षण वाला है। नहीं च्युत होना उसका कृत्य है। अनिमित्त से वह जान पड़ता है। मार्ग-सत्य (संसार रूपी बन्धनागार से) निकलने के लक्षण वाला है। क्लेशों का प्रहाण करना उसका कृत्य है। (निमित्त से) चित्त के उठने से वह जान पड़ता है। ये क्रमशः प्रवृत्ति, प्रवर्तन, निवृत्ति, निवर्त्तन के लक्षण वाले हैं और वैसे ही संस्कृत, तृष्णा, अ-संस्कृत, दर्शन के लक्षण वाले। ऐसे लक्षण आदि के प्रभेद से विनिश्चय जानना चाहिये।

अर्थ

अर्थ और अर्थोद्धार से—यहाँ अर्थ से, क्या सत्यार्थ है? जो प्रज्ञा-चक्षु से भलीभाँति देखने वालों को माया के समान विपरीत के तौर पर, मरीचि के समान असत्य और अन्य मतावलम्बियों की आत्मा के समान न रहने के स्वभाव वाला नहीं होता है, प्रत्युत रोग, उत्पत्ति, शान्ति, निस्तार (= निर्याण) के प्रकार से तथ्य, अ-विपरीत, सत्य होने से आर्य-ज्ञान का गोचर होता

१. संयुत्त नि० ५४, २, १।
२. संयुत्त नि० ५४, २, १।

ही है। इसे अग्नि के लक्षण[१] के समान और लोक की प्रकृति[२] के समान तथ्य, अ-विपरीत, सत्य होने वाला सत्यार्थ जानना चाहिये। जैसे कहा है—"भिक्षुओ, यह दुःख है, यह तथ्य है, यह अवितथ है, यह अन्यथा नहीं है।"[३] (विस्तार करना चाहिये)।

और भी—

नाबाधकं यतो दुक्खं दुक्खा अञ्ञं न बाधकं।
बाधकत्तनियामेन ततो सच्चमिदं मतं॥

[जिस कारण दुःख न पीड़ित करने वाला नहीं है, और दुःख को छोड़कर अन्य पीड़ित करने वाला नहीं है, उस कारण पीड़ित करने के नियम से यह सत्य माना जाता है।]

तं विना नाञ्ञतो दुक्खं न होति न च तं ततो।
दुक्खहेतुनियामेन इति सच्चं विसत्तिका॥

[उस (तृष्णा) के बिना दूसरे से दुःख नहीं है और वह (दुःख) न उससे होता नहीं है (अर्थात् होता ही है), इस प्रकार दुःख के हेतु के नियम से तृष्णा सत्य है।]

नाञ्ञा निब्बानतो सन्ति सन्तं न च न तं यतो।
सन्तभावनियामेन ततो सच्चमिदं मतं॥

[जिस कारण निर्वाण से अन्य शान्ति नहीं है और वह (निर्वाण) अशान्त नहीं है, उस कारण शान्त-भाव के नियम से यह सत्य माना जाता है।]

मग्गा अञ्ञं न निय्यानं अनिय्यानो न चापि सो।
तच्छनिय्यानभावत्ता इति सो सच्चसम्मतो॥

[मार्ग से अन्य निस्तार नहीं है और वह (मार्ग) अनिस्तार भी नहीं है, इस प्रकार तथ्य निस्तार होने से वह सत्य माना जाता है।]

इति तच्छाविपल्लास-भूतभावं चतुस्वपि।
दुक्खादिस्वविसेसेन सच्चट्ठं आहु पण्डिता'ति॥

[इस प्रकार तथ्य और अ-विपरीत अस्तित्व वाले दुःख आदि चारों (सत्यों) में भी सामान्य रूप से पण्डित सत्यार्थ कहते हैं।]

ऐसे अर्थ से विनिश्चय जानना चाहिये।

अर्थोद्धार

कैसे अर्थोद्धार से? यहाँ यह 'सत्य' शब्द अनेक अर्थों में दिखाई देता है। जैसे कि—"सत्य बोले, क्रोध न करे"[४] आदि में वचन-सत्य में। "सत्य में स्थित श्रमण-ब्राह्मण"[५] आदि में विरति-सत्य में। "अपने को दक्ष कहने वाले प्रवादी (=अन्य लब्धि वाले) नाना प्रकार के सत्यों

१. ऊष्ण होना अग्नि का लक्षण है।

२. जाति (=जन्म), जरा आदि का होना लोक की प्रकृति है।

३. संयुत्त नि० ५४, ४, १।

४. धम्मपद १७, ४।

५. संयुत्त नि०।

को क्यों कहते हैं ?"[1] आदि में दृष्टि-सत्य में। एक ही सत्य है, दूसरा नहीं"[2] आदि में परमार्थ-सत्य, निर्वाण और मार्ग में। "चार सत्यों में कितने कुशल हैं ?"[3] आदि में आर्य-सत्य में। वह यहाँ भी आर्य-सत्य में होता है। ऐसे अर्थोद्धार से भी विनिश्चय जानना चाहिये।

अन्यूनाधिक

अन्यूनाधिक से—क्यों न कम न अधिक चार ही आर्य-सत्य कहे गये हैं ? दूसरे के नहीं होने और किसी एक के नहीं निकाले जाने योग्य होने से। इनसे दूसरा अधिक इनमें मिल नहीं सकता है और न इनमें से कोई एक निकाला ही जा सकता है। जैसे कहा है—"भिक्षुओ, यहाँ (कोई) श्रमण या ब्राह्मण आये (और कहे)—'यह दुःख आर्यसत्य नहीं है, दूसरा दुःख आर्य-सत्य है, मैं इस दुःख आर्य-सत्य को छोड़कर दूसरे दुःख आर्यसत्य का प्रज्ञापन करूँगा।' यह सम्भव नहीं।"[4] आदि। और भी जैसे कहा है—"भिक्षु, जो कोई श्रमण या ब्राह्मण ऐसा कहे—'यह दुःख आर्यसत्य प्रथम नहीं है जो कि श्रमण गौतम द्वारा उपदेश दिया गया है, मैं इस दुःख प्रथम आर्यसत्य को छोड़कर दूसरे दुःख को प्रथम आर्यसत्य प्रज्ञापन करूँगा'—ऐसा सम्भव नहीं है।"[5] आदि।

और भी भगवान् ने प्रवृत्ति को कहते हुए हेतु के साथ कहा और निवृत्ति को उपाय के साथ इस प्रकार प्रवृत्ति, निवृत्ति दोनों के हेतुओं के इतना ही होने से चार ही कहे गये हैं। वैसे ही परिज्ञेय, प्रहातव्य, साक्षात् करने योग्य, भावना करने के योग्य, तृष्णा की वस्तु, तृष्णा का निरोध, तृष्णा के निरोध के उपाय और आलय, आलयरामता, आलय का नाश, आलय को नाश करने के उपाय के अनुसार भी चार ही कहे गये हैं। ऐसे यहाँ, अन्यूनाधिक से विनिश्चय जानना चाहिये।

क्रम

क्रम से—यह भी देशना-क्रम ही है। यहाँ स्थूल होने तथा सब सत्त्वों के लिए साधारण होने से भली प्रकार जानने योग्य है, इसलिये दुःख सत्य पहले कहा गया है। उसी के हेतु को दिखलाने के लिये उसके पश्चात् समुदय सत्य। हेतु-निरोध से फल का निरोध होता है—इसे बतलाने के लिये उसके पश्चात् निरोध सत्य। उसकी प्राप्ति के उपाय को दिखलाने के लिये अन्त में मार्ग सत्य।

या संसार-सुख के आस्वाद में लिप्त हुए सत्त्वों को संवेग उत्पन्न करने के लिये प्रथम दुःख कहा गया है।। वह न तो बिना किये हुए आता है, न ईश्वर-निर्माण आदि से ही होता है, किन्तु 'इससे होता है' बतलाने के लिये उसके बाद समुदय और उसके बाद हेतु के सहित दुःख से अभिभूत होने से संवेग को प्राप्त हुए मन वाले तथा दुःख के निस्तार को ढूँढ़ने वाले (व्यक्ति)

---

१. सुत्तनि० ४, १२, ८।
२. सुत्तनि० ४, १२, ७।
३. विभङ्ग।
४. संयुत्त नि० ५४, ३, १।
५. संयुत्त नि० ५४, २, ४।

को निस्तार के दर्शन से आश्वास उत्पन्न करने के लिये निरोध एवं उसके पश्चात् निरोध की प्राप्ति के लिये निरोध को पहुँचाने वाला मार्ग। ऐसे यहाँ, क्रम से विनिश्चय जानना चाहिये।

जाति आदि का निश्चय

जाति आदि के निश्चय से—जो वे आर्य-सत्यों का निर्देश करते हुए भगवान् द्वारा—"जातिपि दुक्खा, जरापि दुक्खा, मरणम्पि दुक्खं, सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासापि दुक्खा, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं सङ्खित्तेन पञ्चुपादानक्खन्धा दुक्खा।"[१]

"जाति (=जन्म) भी दुःख है, जरा (=बुढ़ापा) भी दुःख है, मरण भी दुःख है, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास भी दुःख है, अप्रिय से सम्प्रयोग होना दुःख है, प्रिय से वियोग होना दुःख है, जो भी चाहा हुआ नहीं मिलता है वह भी दुःख है, संक्षेप में पाँच-उपादान-स्कन्ध दुःख हैं।" दुःख-निर्देश में बारह धर्म हैं।

"यायं तण्हा पोनब्भविका नन्दिरागसहगता तत्र-तत्राभिनन्दिनी, सेय्यथिदं-कामतण्हा भवतण्हा विभवतण्हा।"[१]

"जो यह तृष्णा पुनर्भव वाली, नन्दी-राग से युक्त, वहाँ-वहाँ अभिनन्दन करने वाली है, जैसे कि काम-तृष्णा, भव-तृष्णा, विभव-तृष्णा।" समुदय-निर्देश में तीन प्रकार की तृष्णा है।

"यो तस्सा येव तण्हाय असेस-विरागनिरोधो चागो पटिनिस्सग्गो मुत्ति अनालयो।"

जो उसी तृष्णा का सम्पूर्णतः विराग है, निरोध है, त्याग है, प्रतिनिःसर्ग है, मुक्ति है, आलय नहीं करना है।" ऐसे निरोध-निर्देश में अर्थ से एक ही निर्वाण है।

"कतमं दुक्खनिरोधगामिनीपटिपदा अरियसच्चं? अयमेव अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो सेय्यथिदं-सम्मादिट्ठि······पे······सम्मासमाधि।"

"कौन सा है दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा आर्य-सत्य? यही आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग जैसे कि—सम्यक् दृष्टि······सम्यक् समाधि।" ऐसे मार्ग-निर्देश में आठ धर्म हैं।

इस प्रकार चारों सत्यों के निर्देश में जाति आदि धर्म कहे गये हैं, उन जाति आदि के निश्चय से भी यहाँ विनिश्चय जानना चाहिये।

जैसे कि—यह 'जाति' शब्द अनेक अर्थ वाला है। वैसा ही यह—"एक भी जाति (=जन्म) को, दो भी जाति को।"[२] यहाँ भव के अर्थ में आया हुआ है। "विशाखे, निर्ग्रन्थ नाम की श्रमण-जाति है।"[३] यहाँ समूह के अर्थ में। "जाति दो स्कन्धों से संगृहीत है।"[४] यहाँ संस्कृत लक्षण में। "जो माता के पेट में प्रथम चित्त उत्पन्न हुआ, प्रथम विज्ञान प्रादुर्भूत हुआ, यहाँ से लेकर वह वर्ष जाति है।"[५] यहाँ प्रतिसन्धि में। "आनन्द, सम्प्रति उत्पन्न (=जात) बोधि-

१. संयुत्त नि० ५४,२,१।
२. दीघनि० १, २।
३. अंगुत्तर नि० ३, २, १०।
४. धातुकथा।
५. महानिद्देस।

सत्त्व।"[1] यहाँ प्रसूति में। "अक्षिप्त, अ-निन्दित जातिवाद से।"[2] यहाँ कुल में। "भगिनी, जब से मैं आर्य-जाति में उत्पन्न हुआ।"[3] यहाँ आर्यशील में।

वह यहाँ गर्भ में सोने वालों की प्रतिसन्धि से लेकर जब तक माता के पेट से निकलता है, तब तक प्रवर्तित-स्कन्धों में, अन्य (संस्वेदज और औपपातिक) की प्रतिसन्धि के स्कन्धों में ही समझना चाहिये। यह भी पर्याय-कथा ही है। निष्पर्याय से वहाँ-वहाँ उत्पन्न होने वाले सत्त्वों के जो-जो स्कन्ध प्रगट होते हैं, उनका-उनका प्रथम प्रगट होना जाति है।

वह वहाँ-वहाँ भव में प्रथम उत्पन्न होने के लक्षण वाली है। (दुःख को) सौंपना इसका कृत्य है। भूतकाल के भव से यहाँ उतिराने (= निकलने) से जान पड़ने वाली है या दुःख की विचित्रता से जान पड़ने वाली है। क्यों यह दुःख है? अनेक दुःखों की वस्तु होने से। अनेक दुःख हैं। जैसे कि—(१) दुःख दुःख (२) विपरिणाम दुःख, (३) संस्कार दुःख (४) प्रतिच्छन्न दुःख (५) अप्रतिच्छन्न दुःख (६) पर्याय दुःख (७) निष्पर्याय दुःख।

वहाँ, कायिक-चैतसिक दुःख-वेदना स्वभाव और नाम से दुःख होने के कारण **दुःख-दुःख** कही जाती है। सुख-वेदना विपरिणाम में दुःख की उत्पत्ति के कारण **विपरिणाम दुःख**। उपेक्षा-वेदना और अवशेष त्रैभूमिक संस्कार उत्पत्ति-विनाश से पीड़ित होने के कारण **संस्कार-दुःख**। कर्ण-शूल, दन्त-शूल, राग से उत्पन्न परिदाह, द्वेष से उत्पन्न परिदाह आदि कायिक-चैतसिक रोग पूछकर जान सकने के कारण और उपक्रम के अप्रगट होने से **प्रतिच्छन्न दुःख** है। अप्रगट दुःख भी कहा जाता है। बत्तीस प्रकार के दण्ड[4] आदि से उत्पन्न रोग बिना पूछकर ही जान सकने के कारण और उपक्रम के प्रगट होने से **अप्रतिच्छन्न दुःख** है। प्रगट दुःख भी कहा जाता है। दुःख-दुःख को छोड़कर शेष दुःख दुःख-सत्य के बँटवारे में आये हुए जाति आदि, सभी उस-उस दुःख की वस्तु होने से **पर्याय-दुःख** है। दुःख-दुःख **निष्पर्याय-दुःख** कहा जाता है।

वहाँ यह जाति, जो वह बालपण्डित सूत्र[5] आदि में भगवान् द्वारा भी उपमा के अनुसार अपाय का दुःख प्रकाशित किया गया है और सुगति में भी तथा मनुष्य लोक में गर्भ में आने आदि से दुःख उत्पन्न होता है, उसकी वस्तु होने से दुःख है।

यह गर्भ में आने आदि से उत्पन्न दुःख है—यह सत्त्व माँ के पेट में उत्पन्न होते हुए उत्पल, पद्म, पुण्डरीक आदि में नहीं उत्पन्न होता है, प्रत्युत आमाशय के नीचे पक्वाशय के ऊपर पेट-पटल और पीठ के काँटों के बीच अत्यन्त थोड़े से स्थान में, घने अन्धकार में, नाना गन्दगियों की गन्ध से परिभावित, परम दुर्गन्ध वायु के घूमते हुए, अत्यन्त घृणित, पेट के प्रदेश में, सड़ी मछली, सड़ी दाल, गड़ही आदि में कीड़े के समान उत्पन्न होता है। वह वहाँ उत्पन्न हुआ दस महीने माँ के पेट में उत्पन्न हुई गर्मी से पोटली बाँधकर पकाने के समान पकता हुआ, आटा की पिण्डी के समान गर्म किया जाता हुआ, मोड़ने-पसारने आदि से रहित अत्यन्त दुःख का अनुभव करता है। यह गर्भ में आने आदि से उत्पन्न दुःख है।

---

१. मज्झिमनि० ३, ३, ३।

२. दीघनि० १, ३।

३. मज्झिमनि० २, ४, ६।

४. देखिये मज्झिम नि० १, २, ३; हिन्दी अनुवाद में पृष्ठ ५४-५५।

५. मज्झिम नि० ३, ३, ९।

जो वह माँ के सहसा फिसलने, चलने, बैठने, उठने, लौटने आदि में शराबी के हाथ पड़ी भेड़ के समान और सँपेरे के हाथ पड़े साँप के बच्चे के समान खींचना, भाँजना, धुनना, पटकना आदि उपक्रम से बहुत दुःख अनुभव करता है। और जो माँ के शीतल जल को पीने के समय शीत-नरक में उत्पन्न हुए के समान, गर्म यवागु, भात आदि खाने के समय अंगार की वृष्टि से भरे हुए के समान, नमकीन, खट्टे आदि के खाने के समय खारापच्छिका[1] आदि दण्ड पाये हुए के समान तीव्र दुःख का अनुभव करता है। यह गर्भ-परिहरण-मूलक दुःख है।

जो गर्भ से बेहोश हुई माँ को मित्र, अमात्य, सुहृद आदि द्वारा भी नहीं देखने योग्य दुःखोत्पत्ति के स्थान में काटने-फाड़ने आदि से दुःख उत्पन्न होता है, यह गर्भ-विपत्ति-मूलक दुःख है।

जो उत्पन्न करती हुई माँ की कर्मज वायु से उलटकर नरक-प्रपात के समान भयानक योनि-मार्ग पर ले जाये जाते हुए, बहुत ही सँकरे योनि-मुख से ताले के छेद से निकाले जाते हुए बहुत बड़े सर्प के समान और नरक के सत्त्व के समान संघात-पर्वतों से चूर्ण-विचूर्ण किये जाते हुए को दुःख उत्पन्न होता है, यह विजायन-मूलक दुःख है।

जो उत्पन्न हुए नये घाव के समान सुकुमार शरीर वाले को हाथ से पकड़ने, नहवाने, धोने, वस्त्र से मलने आदि के समय सूई (=शूचि) के मुख और छूरे की धार से छेदने, फाड़ने के समान दुःख उत्पन्न होता है, यह माँ के पेट से बाहर निकलने से उत्पन्न होने वाला दुःख है।

जो उसके पश्चात् जीवन-काल में अपने ही आप का वध (=आत्मघात) करने वाले को, अचेलक व्रत[2] आदि के अनुसार आतापन,[3] परितापन[4] के योग में लगे हुए को, क्रोध से नहीं खाने वाले को और फाँसी लगा लेने वाले को दुःख होता है, यह अपने उपक्रम से उत्पन्न दुःख है।

जो पीछे वध, बन्धन आदि भोगने वाले को उत्पन्न होता है, यह दूसरे के उपक्रम से उत्पन्न दुःख है। इस प्रकार इस सभी दुःख की यह जाति (=जन्म) वस्तु ही होती है। इसलिए यह कहा जाता है—

> जायेथ नो चे नरकेसु सत्तो, तत्थग्गिदाहादिकमप्पसय्हं।
> लभेथ दुक्खं नु कुहिं पतिट्ठं इच्चाह दुक्खाति मुनीध जातिं॥

[यदि सत्त्व नरकों में न उत्पन्न हो तो वहाँ का असह्य दुःख कहाँ प्रतिष्ठा पाये ? इससे यहाँ मुनि ने जाति को दुःख कहा।]

> दुक्खं तिरच्छेसु कसापतोद-दण्डाभिघातादिभवं अनेकं।
> यं तं कथं तत्थ भवेय्य जातिं विना तहिं जाति ततोपि दुक्खा॥

[पशुओं में चाबुक, पतोद (=छेकना), डण्डा से मारना आदि से उत्पन्न जो अनेक

---

१. शरीर को बसूला आदि से छीलकर क्षार से सींचने के दण्ड को खारापच्छिका कहते हैं—टीका।

२. वस्त्र को न धारण करने का व्रत।

३. भूख, प्यास और आतप आदि से अपने को पीड़ित करना।

४. पञ्चाग्नि से अपने शरीर को तपाना।

प्रकार का दुःख है, वह वहाँ बिना उस जाति (= जन्म) के कैसे होगा ? उस कारण से भी जाति दुःख है ।]

पेतेसु दुक्खं पन खुप्पिपासा वातातपादिप्पभवं विचित्तं ।
यस्मा अजातस्स न तत्थ अत्थि तस्मापि दुक्खं मुनि जातिमाह ॥

[प्रेत्यों में भूख, प्यास, हवा, धूप आदि से उत्पन्न विचित्र दुःख है । चूँकि वहाँ नहीं उत्पन्न हुए को (वह) नहीं है, इसलिये भी मुनि (= भगवान् बुद्ध) ने जाति को दुःख कहा ।]

तिब्बन्धकारे च असय्हसीते लोकन्तरे यं असुरेसु दुक्खं ।
न तं भवे तत्थ न चस्स जाति यतो अयं जाति ततोपि दुक्खा ॥

[घने अन्धकार और असह्य-शीत वाले लोकान्तर (निरय) तथा असुरों में जो दुःख है, यदि वहाँ जाति न हो, तो वह न हो, जिस कारण से यह है, उस कारण से भी जाति दुःख है ।]

यञ्चापि गूथनरके विय मातुगब्भे सत्तो वसं चिरमतो बहि निक्खमञ्च ।
पप्पोति दुक्खमतिघोरमिदम्पि नत्थि जातिं विना इतिपि जाति अयं हि दुक्खा ॥

[गूथ-नरक में रहने के समान माँ के गर्भ में बहुत दिनों तक रहकर, उससे बाहर निकलते हुए सत्त्व अत्यन्त भयानक जिस दुःख को पाता है, यह भी दुःख जाति के बिना नहीं है ; इस कारण से भी यह जाति दुःख है ।]

किं भासितेन बहुना ननु यं कुहिञ्चि अत्थीध किञ्चिदपि दुक्खमिदं कदाचि ।
नेवत्थि जातिविरहे यदतो महेसि दुक्खाति सब्बपठमं इममाह जातिं ॥

[बहुत कहने से क्या ? जिससे यहाँ कहीं भी, कभी भी, कुछ भी, जो दुःख है, यह जाति को छोड़कर नहीं है न ? उससे महर्षि ने सबसे पहले इस जाति को दुःख कहा ।]

यह जाति पर विनिश्चय है ।

जरा

जरा भी दुःख है—यहाँ जरा दो प्रकार की होती है—(१) संस्कृत लक्षण और (२) (दाँत) टूटने आदि से सम्मत, सन्तति में एक भव में होने वाले स्कन्धों का पुराना होना । वह यहाँ अभिप्रेत है । वह जरा स्कन्धों को परिपक्व करने के लक्षण वाली है । मृत्यु को ले जाना उसका कृत्य है । यौवन के विनाश से जान पड़ने वाली है । संस्कारों के दुःख होने और दुःख की वस्तु होने से दुःख है ।

जो अङ्ग-प्रत्याङ्गों का ढीला पड़ जाना, इन्द्रियों का विकार, कुरूप होना, यौवन का विनाश, बल का ह्रास, स्मृति और बुद्धि का विप्रवास तथा दूसरों द्वारा परिभव किया जाना आदि अनेक कारण से कायिक और चैतसिक दुःख उत्पन्न होता है, जरा उसकी वस्तु है । इसलिए यह कहा जाता है—

अङ्गानं सिथलीभावा इन्द्रियानं विकारतो ।
योब्बनस्स विनासेन बलस्स उपघाततो ॥
विप्पवासा सतादीनं पुत्तदारेहि अत्तनो ।
अपसादनीयतो चेव भिय्यो बालत्तपत्तिया ॥

पप्पोति दुक्खं यं मच्चो कायिकं मानसं तथा ।
सब्बमेतं जरा हेतु यस्मा तस्मा जरा दुखा ॥

[अङ्गों के ढीले पड़ जाने, इन्द्रियों के विकार, यौवन के विनाश, बल के ह्रास, स्मृति आदि के विप्रवास, अपने स्त्री-पुत्र से अप्रसाद के योग्य और अत्यन्त ही मूर्ख-भाव को प्राप्त होने से व्यक्ति कायिक और मानसिक जिस दुःख को पाता है, वैसा सब यह चूँकि जरा के कारण होता है, इसलिये जरा दुःख है।]

यह जरा पर विनिश्चय है।

मरण

मरण भी दुःख है—यहाँ भी मरण (=मृत्यु) दो प्रकार का होता है—(१) संस्कृत लक्षण, जिसके प्रति कहा गया है—"जरा-मरण दो स्कन्धों से संगृहीत है।"[१] और (२) एक भव में हुई जीवितेन्द्रिय की परम्परा का विच्छेद। जिसके प्रति कहा गया है—"नित्य मरण से भय है।"[२] वह यहाँ अभिप्रेत है। जाति (=जन्म) के कारण मरण, उपक्रम से मरण, सरस (=स्वभाव)-मरण, आयु के क्षय से मरण, और पुण्य के क्षय से मरण भी उसी का नाम है।

यह च्युति के लक्षण वाला है। वियोग करना इसका कृत्य है। गति के विप्रवास से जान पड़ने वाला है। दुःख की वस्तु होने से (इसे) दुःख जानना चाहिये। इसलिए यह कहा जाता है—

पापस्स पापकम्मादि-निमित्तमनुपस्सतो ।
भद्दस्सापसहन्तस्स वियोगं पियवत्थुकं ॥
मीयमानस्स यं दुक्खं मानसं अविसेसतो ।
सब्बेसञ्चापि यं सन्धि-बन्धनच्छेदनादिकं ॥
वितुज्जमानम्मानं होति दुक्खं सरीरजं ।
असय्हमप्पतीकारं दुक्खस्सेतस्सिदं यतो ।
मरणं वत्थु तेनेतं दुक्खमिच्चेव भासितं ॥

पाप-कर्म आदि के निमित्त को देखने वाले पापी को, पुण्य-कर्म करने वाले को भी प्रिय वस्तु के वियोग को सहते हुए, मरते हुए को जो मानसिक दुःख होता है, साधारण रूप से टूटते हुए मर्म वाले सबके भी सन्धि के बन्धनों का टूटना आदि असह्य, प्रतिकार-रहित (=असाध्य) शरीर से उत्पन्न जो दुःख होता है, मरण इसका कारण है, इसलिए मरण दुःख ही कहा गया है।]

यह मरण पर विनिश्चय है।

शोक

शोक आदि में 'शोक' कहते हैं ज्ञाति के विनाश आदि को प्राप्त हुए (व्यक्ति) के चित्त के सन्ताप को। यद्यपि वह अर्थ से दौर्मनस्य ही होता है, ऐसा होने पर भी भीतर चिन्तन करने के लक्षण वाला है। चित्त को जलाना इसका कृत्य है। पश्चात्ताप करने से जान पड़ने वाला है। दुःख-दुःख और दुःख की वस्तु होने से दुःख है। इसलिए यह कहा जाता है—

१. विभङ्ग।
२. सुत्त नि० ३,८।

सत्तानं हदयं सोको विसल्लं व तुज्जति ।
अग्गितत्तोव नाराचो भुसञ्च दहते पुन ॥
समावहति च ब्याधि-जरामरण भेदनं ।
दुक्खम्पि विविधं यस्मा तस्मा दुक्खो'ति वुच्चति ॥

[चूँकि प्राणियों के हृदय को शोक विष-बुझे काँटे के समान छेदता है, आग में तपाये हुए नाराच (=लोहे का वाण) के समान अत्यन्त जलाता है और फिर रोग, जरा, मरण आदि नाना प्रकार के दुःख को भी लाता है, इसलिये दुःख कहा जाता है ।]

यह शोक पर विनिश्चय है ।

परिदेव

परिदेव कहते हैं ज्ञाति-विनाश आदि को प्राप्त हुए (व्यक्ति) के बोलकर विलाप करने को । वह अत्यन्त विलाप करने के लक्षण वाला है । गुण-दोष को कहना इसका कृत्य है । घबराहट (= संभ्रम) से जान पड़ने वाला है । संस्कार दुःख होने और दुःख की वस्तु से दुःख है । इसलिए यह कहा जाता है—

यं सोकसल्लविहतो परिदेवमानो
कण्ठोट्ठतालुगलसोसजमप्पसय्हं ।
भिय्योधिमत्तमधिगच्छति येव दुक्खं
दुक्खोति तेन भगवा परिदेवमाह ॥

[जिससे शोक के काँटे से हता हुआ परिदेव करते कण्ठ, ओंठ, तालु, गले के सूख जाने से असह्य, अत्यन्त अधिक दुःख को प्राप्त होता ही है, इसलिए भगवान् ने परिदेव को दुःख कहा ।]

यह परिदेव पर विनिश्चय है ।

दुःख

दुःख कहते हैं कायिक दुःख को । वह काय को पीड़ित करने के लक्षण वाला है । दुष्प्रज्ञों के लिये दौर्मनस्य करने के कृत्य वाला है । कायिक आबाधा से जान पड़ने वाला है । दुःख-दुःख और मानसिक-दुःख को लाने से दुःख है । इसलिए यह कहा जाता है—

पीळेति कायिकमिदं दुक्खं दुक्खञ्च मानसं भिय्यो ।
जनयति यस्मा तस्मा दुक्खन्ति विसेसतो वुत्तं ॥

[चूँकि यह कायिक-दुःख पीड़ित करता है और बहुत अधिक मानसिक दुःख उत्पन्न करता है, इसलिये विशेष रूप से दुःख कहा गया है ।]

यह दुःख पर विनिश्चय है ।

दौर्मनस्य

दौर्मनस्य कहते हैं मानसिक दुःख को । वह चित्त को पीड़ित करने के लक्षण वाला है । मन को परेशान करना इसका कृत्य है । मन के रोग से जान पड़ने वाला है । दुःख-दुःख और

कायिक दुःख को लाने से दुःख है। चित्त के दुःख को प्राप्त हुए (व्यक्ति) बालों को बिखेर कर रोते हैं, छाती को पीटते हैं, लोटते-पोटते हैं, ऊपर पैर किये हुए गिरते हैं, आत्महत्या कर लेते हैं, विष खाते हैं, रस्सी से फाँसी लगा लेते हैं, आग में घुस जाते हैं—ऐसे उस नाना प्रकार के दुःख का अनुभव करते हैं। इसलिए यह कहा जाता है—

पीळेति यतो चित्तं कायस्स च पीळनं समावहति।
दुक्खन्ति दोमनस्सं विदोमनस्सा ततो आहु॥

[चूँकि चित्त को पीड़ित करता है और काय की पीड़ा को भी लाता है, इसलिए दौर्मनस्य-रहित (= भगवान् बुद्ध) ने दौर्मनस्य को दुःख कहा है।]

यह दौर्मनस्य पर विनिश्चय है।

उपायास

उपायास कहते हैं ज्ञाति के विनाश आदि को प्राप्त हुए (व्यक्ति) के अत्यन्त चित्त के दुःख से उत्पन्न द्वेष को ही। 'संस्कार-स्कन्ध में होने वाला एक धर्म है—ऐसा कोई-कोई कहते हैं। चित्त को जलाना इसका लक्षण है। कँहरना इसका कृत्य है। खेद (= विषाद) से जान पड़ने वाला है। संस्कार-दुःख होने, चित्त को जलाने और काय के विषाद से दुःख है। इसलिए यह कहा जाता है—

चित्तस्स च परिदहना कायस्स विसादना च अधिमत्तं।
यं दुक्खमुपायासो जनेति दुक्खो ततो वुत्तो॥

[चित्त को जलाने और काय को विषाद उत्पन्न करने से जो अत्यन्त दुःख उत्पन्न करता है, उससे उपायास दुःख कहा गया है।]

यह उपायास पर विनिश्चय है।

यहाँ मन्द अग्नि से बर्तन के भीतर पकने के समान शोक, तेज अग्नि से पकते हुए बर्तन से बाहर निकलने के समान परिदेव, और बाहर निकलने के अवशेष को नहीं निकल सकने वाले बर्त्तन के भीतर ही (जलकर) समाप्त होने तक पकने के समान उपायास को समझना चाहिये।

अप्रिय का सम्प्रयोग

अप्रिय का सम्प्रयोग कहते हैं अमनाप (= अप्रिय) सत्त्व और वस्तुओं[1] से मिलने को। वह अनिष्ट को मिलने के लक्षण वाला है। चित्त को परेशान करना उसका कृत्य है। अनर्थ के भाव से जान पड़ने वाला है। दुःख की वस्तु होने से दुःख है। इसलिए यह कहा जाता है—

दिस्वाव अप्पिये दुक्खं पठमं होति चेतसि।
तदुपक्कमसम्भूतमथ काये यतो इध॥
ततो दुक्खद्वयस्सापि वत्थुतो सो महेसिना।
दुक्खो वुत्तोति विञ्ञेय्यो अप्पियेहि समागमो॥

[जिससे अप्रियों को देखते ही पहले चित्त में दुःख होता है, उसके बाद उसके उपक्रम

१. काँटा आदि अप्रिय वस्तुओं से।

से उत्पन्न काय में। इसलिये दोनों दुःखों की भी वस्तु होने से वह अप्रियों से मेल होना, महर्षि द्वारा दुःख कहा गया है—ऐसा जानना चाहिये।]

यह अप्रिय का सम्प्रयोग पर विनिश्चय है।

प्रिय का वियोग

प्रिय का वियोग कहते हैं मनाप (= प्रिय) सत्व और वस्तुओं[1] से अलग होने को। वह इष्ट वस्तु के वियोग के लक्षण वाला है। शोक उत्पन्न करना इसका कृत्य है। विनाश से जान पड़ने वाला है। शोक-दुःख की वस्तु होने से दुःख है। इसलिए यह कहा जाता है—

ञातिधनादिवियोगा सोकसरसमप्पिता वितुज्जन्ति।
बाला यतो ततोयं दुक्खोति मतो पियवियोगो॥

[जिससे मूर्ख लोग ज्ञाति, धन आदि के वियोग से शोक रूपी बाण लगे पीड़ित होते हैं, उससे यह प्रिय का वियोग दुःख माना जाता है।]

यह प्रिय का वियोग पर विनिश्चय है।

इच्छित का अलाभ

जो चाहा हुआ नहीं मिलता है—यहाँ, "बहुत अच्छा हो कि हम लोग उत्पन्न होने वाले न हों।"[2] आदि नहीं प्राप्त होने वाली वस्तुओं के लिये इच्छा ही "जो चाहा हुआ नहीं मिलता है, वह भी दुःख है।" कहा गया है। वह अलभ्य वस्तु को चाहने के लक्षण वाला है। उन्हें खोजना इसका कृत्य है। उनकी अप्राप्ति से जान पड़ने वाला है। दुःख की वस्तु होने से दुःख है। इसलिए यह कहा जाता है—

तं तं पत्थयमानानं तस्स तस्स अलाभतो।
यं विघातमयं दुक्खं सत्तानं इध जायति॥
अलब्भनेय्यवत्थूनं पत्थना तस्स कारणं।
यस्मा तस्मा जिनो दुक्खं इच्छितालाभमब्रवी॥

[चूँकि उस-उस (वस्तु) की चाह करने वालों का उस-उस की अप्राप्ति से प्राणियों को जो परेशानी वाला दुःख उत्पन्न होता है, अलभ्य वस्तु की चाह उसका कारण होती है, इसलिये जिन (= बुद्ध) ने इच्छित के अलाभ को दुःख कहा है।]

यह इच्छित का अलाभ पर विनिश्चय है।

पाँच उपादान-स्कन्ध

संक्षेप में पञ्च उपादान स्कन्ध दुःख हैं—यहाँ—

जातिप्पभुतिकं दुक्खं यं वुत्तमिध तादिना।
अवुत्तं यञ्च तं सब्बं विना एते न विज्जति॥
यस्मा, तस्मा उपादानक्खन्धा सङ्खेपतो इमे।
दुक्खाति वुत्ता दुक्खन्तदेसकेन महेसिना॥

---

१. चीवर-पिण्डपात आदि प्रिय वस्तुओं से।

२. विभङ्ग।

[जाति आदि जो दुःख यहाँ कहा गया है और भगवान् द्वारा जो (बालपण्डित आदि सूत्रों में कहा गया है, वह भी यहाँ स्वरूप से) नहीं कहा गया है, चूँकि वह सब इसके बिना नहीं होता है, इसलिये दुःख के अन्त (=निर्वाण) के उपदेशक महर्षि द्वारा संक्षेप में ये पाँच उपादान स्कन्ध दुःख कहे गये हैं।]

लकड़ी को जैसे अग्नि, लक्ष्य को जैसे प्रहार, गाय को जैसे डँस-मच्छड़ आदि, खेत को जैसे खेत काटने वाले, गाँव को जैसे डाकू, वैसे ही पाँच उपादान स्कन्ध को ही जाति आदि नाना प्रकार से पीड़ित करते हुए, तृण-लता आदि के समान भूमि में और फूल, फल, पल्लव के समान पेड़ों में (उत्पन्न होने के समान) उपादान-स्कन्धों में ही उत्पन्न होते हैं।

उपादान-स्कन्धों का प्रारम्भिक दुःख जाति (=जन्म) है। मध्य का दुःख जरा (= बुढ़ापा) है। अन्तिम दुःख मरण (=मृत्यु) है। मरणान्तक दुःख की पीड़ा से चित्त का सन्ताप शोक है। उसे नहीं सहने से अत्यन्त विलाप करने का दुःख परिदेव है। उसके बाद धातु-प्रकोप कहे जाने वाले अनिष्ट-स्पर्श के मिलने से काय की पीड़ा का दुःख दुःख है। उससे पीड़ित होने वाले पृथग्जनों का उसमें प्रतिघ की उत्पत्ति से चित्त को पीड़ित करने का दुःख दौर्मनस्य है। शोक आदि की वृद्धि से उत्पन्न विषाद वालों के कँहरने[1] का दुःख उपायास है। मनोरथ की पूर्ति नहीं हुए (व्यक्तियों) की इच्छित वस्तु की अप्राप्ति का दुःख इच्छित का अलाभ है। ऐसे नाना प्रकार से भलीभाँति देखते हुए उपादान स्कन्ध ही दुःख हैं।

इनमें से एक-एक को दिखलाकर कहने पर अनेक कल्पों में भी सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता, इसलिए वह सब दुःख है, एक पानी की बूँद में सम्पूर्ण समुद्र के जल के समान, जिन किन्हीं पाँच उपादान स्कन्धों में संक्षिप्त करके दिखलाने के लिए संक्षेप में पाँच उपादान स्कन्ध दुःख हैं—भगवान् ने कहा।

यह उपादान स्कन्धों पर विनिश्चय है।

२—दुःख-समुदय

समुदय-निर्देश में, **यायं तण्हा**—जो यह तृष्णा। **पोनब्भविका**—पुनः उत्पन्न होना पुनर्भव है, पुनर्भव करना इसका स्वभाव है, इसलिये पुनर्भव वाली है। नन्दी और राग से युक्त **नन्दिरागसहगता** है। नन्दी और राग के साथ अर्थ से एकत्र ही हो गई है—कहा गया है। **तत्र तत्राभिनन्दिनी**—जहाँ-जहाँ शरीर उत्पन्न होता है, वहाँ-वहाँ अभिनन्दन करने वाली है। **सेय्यथिदं**—यह निपात है। उसका 'वह कौन-सी है?' यह अर्थ है। **कामतण्हा, भवतण्हा, विभवतण्हा**—ये प्रतीत्यसमुत्पाद निर्देश में प्रगट होंगे। यहाँ तीनों प्रकार के भी दुःख-सत्य को उत्पन्न करने के अर्थ में इतने को लाकर दुःख समुदय-आर्य-सत्य कहा गया है—ऐसा जानना चाहिये।

३—दुःख-निरोध

दुःख-निरोध निर्देश में, **यो तस्सा येव तण्हाय** आदि प्रकार से समुदय का निरोध कहा गया है, वह क्यों कहा गया है? समुदय के निरोध से दुःख का निरोध होने से। क्योंकि समुदय के निरोध से दुःख निरुद्ध हो जाता है, अन्यथा नहीं। इसलिए कहा गया है—

---

१. भीतर चिन्ता करना—टीका।

यथापि मूले अनुपद्दवे दळ्हे छिन्नोपि रुक्खो पुनदेव रूहति।
एवम्पि तण्हानुसये अनूहते निब्बत्तति दुक्खमिदं पुनप्पुनं ॥[१]

[जैसे दृढ़मूल के बिल्कुल नष्ट न हो जाने से कटा हुआ वृक्ष फिर भी बढ़ जाता है, वैसे तृष्णा और अनुशय के समूल नष्ट न होने से यह दुःख बार-बार उत्पन्न होता ही रहता है ।]

इस प्रकार चूँकि समुदय के निरोध से ही दुःख निरुद्ध हो जाता है, इसलिये भगवान् ने दुःख-निरोध को दिखलाते हुए समुदय के निरोध से उपदेश दिया । तथागत सिंह के समान स्वभाव वाले होते हैं ।[२] वे दुःख का निरोध करते हुए और दुःख-निरोध को बतलाते हुए हेतु में भिड़ते हैं, फल में नहीं । किन्तु अन्य मतावलम्बी (=तीर्थ) कुत्तों के स्वभाव वाले हैं ।[३] वे दुःख का निरोध करते हुए और दुःख-निरोध को बतलाते हुए अत्तकिलमथानुयोग[४] के उपदेश आदि से फल में भिड़ते हैं, हेतु में नहीं । ऐसे दुःख-निरोध का समुदय-निरोध से उपदेश के प्रयोजन को जानना चाहिये ।

यह अर्थ है—**तस्सा येव तण्हाय**—उस पुनर्भव वाली का—कह कर कामतृष्णा आदि के अनुसार विभक्त तृष्णा का । विराग कहा जाता है मार्ग । "विराग से विमुक्त होता है ।[५]" कहा गया है । विराग से निरोध विराग-निरोध है । अनुशयों के विनाश से सम्पूर्णतः विराग-निरोध **असेसविरागनिरोध** है । अथवा विराग प्रहाण को कहते हैं । इसलिए सम्पूर्णतः निरोध—ऐसे भी यहाँ, योजना द्रष्टव्य है । अर्थ से सारे ही ये निर्वाण के पर्याय हैं ।

परमार्थ से, दुःख-निरोध-आर्य-सत्य निर्वाण कहा जाता है । चूँकि उसे पाकर तृष्णा अलग होती और निरुद्ध हो जाती है, इसलिये विराग और निरोध कहा जाता है । और चूँकि उसी को पाकर उसके त्याग आदि होते हैं, तथा काम-गुण के आलयों में यहाँ एक भी आलय नहीं है, इसलिये त्याग, प्रतिनिःसर्ग, मुक्ति, अनालय कहा जाता है ।

यह शान्ति लक्षण वाला है । अच्युत या आश्वास करने के कृत्य वाला है । अनिमित्त से जान पड़ने वाला है या निष्प्रपञ्च से ।

क्या निर्वाण नहीं है ?

क्या खरगोश की सींग के नहीं उपलब्ध होने के समान निर्वाण नहीं है ? उपाय से उपलब्ध होने से ऐसी बात नहीं है । वह उसके अनुरूप प्रतिपत्ति कहे जाने वाले उपाय से चैतोपर्य ज्ञान से दूसरों के लोकोत्तर चित्त को जानने के समान उपलब्ध है । इसलिये उपलब्ध न होने से नहीं है—ऐसा नहीं कहना चाहिये । जिसे मूर्ख-पृथग्जन नहीं पाते हैं, वह नहीं है—ऐसा नहीं कहना चाहिये ।

'निर्वाण नहीं है'—ऐसा नहीं कहना चाहिये । क्यों ? प्रतिपत्ति के वन्ध्या हो जाने से।

---

१. धम्मपद २४, ५ ।

२. जैसे सिंह किसी चीज से मार खाने पर वस्तु पर अपना बल नहीं दिखलाता है, प्रत्युत मारने वाले का ही पीछा करता है, ऐसे ही तथागत कारण (=हेतु) को ही देखते हैं, फल को नहीं।

३. कुत्ता ढेले से मार खाने पर ढेले को ही पकड़ता है, किन्तु मारने वाले का पीछा नहीं करता है, ऐसे ही अन्यमतावलम्बी फल को ही देखते हैं, हेतु को नहीं ।

४. नाना प्रकार से अपने शरीर को कष्ट देकर तपाना ।

५. मज्झिम नि० ३,२,२ ।

क्योंकि निर्वाण के नहीं होने पर सम्यक्-दृष्टि को आगे करके शील आदि तीन स्कन्धों[1] में संगृहीत प्रतिपत्ति वन्ध्या हो जाती है और यह निर्वाण को पहुँचाने से वन्ध्या नहीं है। पाप करने वालों के अभाव से प्रतिपत्ति वन्ध्या नहीं है? भूत, भविष्यत् के होने पर भी निर्वाण की प्राप्ति के अभाव से ऐसा नहीं है। निर्वाण है तो वर्तमान् का भी अभाव है? उनके अभाव के असम्भव होने से, अभाव में वर्तमान् न होने से और वर्तमान् स्कन्ध के आश्रित मार्ग के क्षण सोपादिशेष निर्वाण धातु की प्राप्ति से अभाव के दोष से ऐसा नहीं है। तब क्लेशों के वर्तमान् न होने से दोष नहीं है? आर्य मार्ग के निरर्थक हो जाने से ऐसा नहीं है। ऐसा होने पर आर्य-मार्ग के क्षण से पहले भी क्लेश नहीं होते हैं—इस प्रकार आर्य-मार्ग निरर्थक हो जाता है। इसलिये यह अकारण[2] है।

क्या क्षय निर्वाण है ?

"आवुस, जो राग का क्षय है।[3]" आदि वचन से क्या क्षय निर्वाण है? नहीं; अर्हत् के भी क्षय मात्र हो जाने से। वह भी "आवुस, जो राग का क्षय है[4]" आदि प्रकार से निर्दिष्ट हुआ है। निर्वाण के स्वल्प-कालिक आदि होने के दोष से और क्या कहें। ऐसा होने पर निर्वाण स्वल्प-कालिक, संस्कृत लक्षण वाला और सम्यक् व्यायाम तथा निरपेक्षा से प्राप्त होने वाला हो जाता है। और संस्कृत लक्षण वाला होने से संस्कृत में होने वाला तथा संस्कृत में होने से राग आदि अग्नि से आदिप्त, आदिप्त होने से दुःख होनेवाला भी हो जाता है। चूँकि क्षय से लेकर फिर प्रवर्ति नहीं होती है, तो उसके निर्वाण होने से क्या दोष नहीं है? नहीं; उस प्रकार के क्षय के न होने से। उसके होने पर भी उक्त प्रकार के दोष नहीं होने से और आर्य मार्ग के निर्वाण-भाव को प्राप्त होने से। आर्य-मार्ग दोषों को नाश करता है, इसलिये क्षय कहा जाता है और तब से लेकर फिर दोष प्रवर्तित नहीं होते हैं।

अनुत्पत्ति और निरोध कहे जाने वाले क्षय का पर्याय से उपनिश्रय होने से, जिसका उपनिश्रय होता है, उसके उपचार (=व्यवहार) से क्षय कहा गया है। क्यों स्वरूप से ही नहीं कहा गया है? अत्यन्त सूक्ष्म होने से। उसकी अत्यन्त सूक्ष्मता भगवान् को भी निरुत्साह करने वाली होने से[5] और आर्य-चक्षु से देखने योग्य होने से सिद्ध है।

निर्वाण कैसा है ?

यह मार्ग-समङ्गी द्वारा पाये जाने से **असाधारण** है। पूर्व-कोटि के अभाव से **अ-प्रभव** है। मार्ग के होने पर भाव से अप्रभव नहीं है? नहीं; मार्ग से न उत्पन्न किये जाने से। यह मार्ग

---

१. शील, समाधि, प्रज्ञा—इन तीन स्कन्धों में संगृहीत।

२. अयुक्ति।

३. संयुत्त नि० ४१,२,१।

४. संयुत्त नि० ४१,२,१।

५. भगवान् को बुद्धगया में धर्मोपदेश देने के लिए चित्त होने पर निरुत्साह उत्पन्न हुआ था और उन्होंने कहा था—

"यह धर्म पाया कष्ट से इसका न युक्त प्रकाशना।
नहिं राग-द्वेष-प्रलिप्त को है सुकर इसका जानना॥
गम्भीर उल्टीधार-युत दुर्दृश्य सूक्ष्म प्रवीण का।
तम-पुंज-छादित रागरत द्वारा न सम्भव देखना॥" दे० हिन्दी मज्झिम नि० १,३,६।

से ही पाया जाता है, उत्पन्न नहीं किया जाता है, इसलिये अप्रभव है। अप्रभव होने से **अजर-अमर** है। प्रभव और जरा-मरण के अभाव से **नित्य** है।

निर्वाण के समान अणु आदि भी नित्य हैं? नहीं, हेतु के अभाव से। निर्वाण के नित्य होने से वे नित्य हैं? नहीं, हेतु स्वभाव के उत्पन्न नहीं होने से। उत्पत्ति आदि के अभाव से निर्वाण के समान नित्य हैं? नहीं, अणु आदि के नहीं सिद्ध होने से।

यथोक्त युक्ति के होने से यही नित्य है। रूप के स्वभाव का अतिक्रमण कर जाने से **अरूप** है। बुद्ध आदि की निष्ठा के विशेष भाव से **एक ही निष्ठा** है। जिसके द्वारा भावना से पाया गया है, उसके क्लेशों के उपशम और उपादिशेष को लेकर प्रज्ञापन किये जाने से उपादिशेष के साथ प्रज्ञापित होता है, इसलिये **सोपादिशेष** है। जो उसके समुदय के प्रहाण से भविष्य के कर्म-फल के नाश हो जाने से और अन्तिम (च्युति-) चित्त से आगे प्रवर्तित स्कन्धों के नहीं उत्पन्न होने से तथा उत्पन्न हुए (स्कन्धों) के अन्तर्धान हो जाने से उपादिशेष का अभाव है, उसे लेकर कहे जाने से, नहीं है यहाँ उपादिशेष, इसलिये **अनुपादिशेष** है।

अशिथिल पराक्रम से सिद्ध विशेष ज्ञान से प्राप्त किये जाने से और सर्वज्ञ के वचन तथा परमार्थ से निर्वाण अविद्यमान नहीं है। यह कहा गया है—"भिक्षुओ, अ-जात, अभूत, अकृत, अ-संस्कृत है।"[1]

यह दुख-निरोध-निर्देश में विनिश्चय-कथा है।

४—दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा

दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा के निर्देश में कहे गये आठ धर्म[2] यद्यपि स्कन्ध निर्देश में भी अर्थ से प्रकाशित ही हैं, किन्तु यहाँ उनके एक क्षण में होने वाले (धर्मों) की विशेष जानकारी के लिये कहेंगे।

(१) सम्यक् दृष्टि

संक्षेप में चार (आर्य-) सत्य के प्रतिवेध के लिये लगे हुए योगी का, निर्वाण के आलम्बन वाला, और अविद्या के अनुशय को नाश करने वाला प्रज्ञा-चक्षु, सम्यक्-दृष्टि है। वह ठीक से देखने के लक्षण वाली है। धातु को प्रकाशित करना उसका कृत्य है। अविद्यारूपी अन्धकार को विध्वंस करने से जान पड़ने वाली है।

(२) सम्यक् संकल्प

उस प्रकार की दृष्टिवाले का उससे युक्त मिथ्या संकल्प को नाश करने वाला, चित्त को निर्वाण-पद में लगानेवाला, सम्यक् संकल्प है। वह चित्त को ठीक से लगाने के लक्षणवाला है। (निर्वाण को आलम्बन करके) वहाँ तक पहुँचाना इसका कृत्य है। मिथ्या-संकल्प के प्रहाण से जान पड़नेवाला है।

---

१. उदान ८, ३; और इतिवुत्तक २, २, ६।

२. वे आठ धर्म इस प्रकार हैं—(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् संकल्प (३) सम्यक् वचन (४) सम्यक् कर्मान्त (५) सम्यक् आजीव (६) सम्यक् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि।

(३) सम्यक् वचन

वैसे देखनेवाले और वितर्क करनेवाले (व्यक्ति) की, उससे युक्त वाक्-दुश्चरित को नाश करनेवाली मिथ्या-वचन से विरति, सम्यक् वचन है। वह परिग्रह के लक्षणवाला है। विरत होना उसका कृत्य है। मिथ्या वचन के प्रहाण से जान पड़नेवाला है।

(४) सम्यक् कर्मान्त

वैसे विरत होनेवाले का उससे युक्त मिथ्या कर्मान्त को नाश करनेवाली जीव-हिंसा आदि से विरति, सम्यक् कर्मान्त है। वह उठाने के लक्षणवाला है। विरत होना उसका कृत्य है। मिथ्या कर्मान्त के प्रहाण से जान पड़नेवाला है।

(५) सम्यक् आजीव

जो सम्यक् वचन और सम्यक् कर्मान्त की विशुद्धि-स्वरूप, उससे युक्त कुहन आदि को नाश करनेवाली मिथ्या आजीव से विरति है, वह सम्यक् आजीव है। वह परिशुद्ध लक्षण वाला है। ज्ञान से आजीव को चलाने के कृत्यवाला है। मिथ्या आजीव के प्रहाण से जान पड़नेवाला है।

(६) सम्यक् व्यायाम

जो उस सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीव कहलाने वाले शील की भूमि पर प्रतिष्ठित हुए (व्यक्ति) का उसके अनुरूप आलस्य को नाश करनेवाला प्रयत्न है, यह सम्यक् व्यायाम है। वह पीछे नहीं हटने के लक्षणवाला है। अनुत्पन्न अकुशल को नहीं उत्पन्न होने देना आदि उसका कृत्य है। मिथ्या व्यायाम के प्रहाण से जान पड़नेवाला है।

(७) सम्यक् स्मृति

उस ऐसे व्यायाम करनेवाले (व्यक्ति) का, मिथ्या-स्मृति को नाश करने वाले चित्त का न भूलना, सम्यक् स्मृति है। वह (आलम्बन के यथार्थ रूप से) जान पड़ने के स्वभाववाली है। नहीं भूलना उसका कृत्य है। मिथ्या-स्मृति के प्रहाण से जान पड़नेवाली है।

(८) सम्यक् समाधि

ऐसे अनुत्तर स्मृति से भली प्रकार बचाये जाते हुए चित्तवाले (व्यक्ति) की उससे सम्प्रयुक्त ही मिथ्या-समाधि को विध्वंस करनेवाली चित्त की एकाग्रता, सम्यक् समाधि है। वह अ-विक्षेप के लक्षण वाली है। समाधान करना उसका कृत्य है। मिथ्या-समाधि के प्रहाण से जान पड़नेवाली है।

यह दुःख-निरोध-गामिनी-प्रतिपदा-निर्देश में ढंग है। ऐसे यहाँ जाति आदि के निश्चय से विनिश्चय जानना चाहिये।

ज्ञान के कृत्य

ज्ञान के कृत्य से—सत्य-ज्ञान के कृत्य से भी विनिश्चय जानना चाहिये। सत्यज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) अनुबोध ज्ञान और (२) प्रतिवेध ज्ञान। उनमें अनुबोध ज्ञान लौकिक

है। वह अनुश्रव आदि के अनुसार निरोध और मार्ग में प्रवर्तित होता है। प्रतिवेध-ज्ञान लोकोत्तर निरोध को आलम्बन करके कृत्य से चार सत्यों का प्रतिवेध करता है। जैसे कहा है—"भिक्षुओ, जो दुःख को देखता है, वह दुःख के समुदय को भी देखता है, दुःख के निरोध को भी देखता है, दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा को भी देखता है।"[1] सब कहना चाहिये। वह इसका कृत्य ज्ञान-दर्शन-विशुद्धि में प्रगट होगा।

जो लौकिक है, वहाँ दुःख-ज्ञान (क्लेशों की) उत्पत्ति और अभिभव के अनुसार प्रवर्तित सत्काय-दृष्टि को रोकता है। समुदय-ज्ञान उच्छेद-दृष्टि को। निरोध-ज्ञान शाश्वत-दृष्टि को। मार्गज्ञान अक्रिय-दृष्टि को। या दुःख-ज्ञान ध्रुव, शुभ, सुख और आत्मा होने से रहित स्कन्धों में ध्रुव, शुभ, सुख, आत्मा के होने के फल में विप्रतिपत्ति को। समुदय-ज्ञान "ईश्वर[2], प्रधान[3], काल[4], स्वभाव[5] आदि[6] से लोक प्रवर्तित होता है"—ऐसे अकारण में कारण मानने के रूप से प्रवर्तित हेतु में विप्रतिपत्ति को। निरोध-ज्ञान अरूप-लोक[7], लोक-स्तूपक[8] आदि में अपवर्ग को ग्रहण करने वाले निरोध में विप्रतिपत्ति को। मार्ग-ज्ञान भोग-विलास और अपने को तपाने में भिड़ने के अविशुद्ध मार्ग को ग्रहण करने से प्रवर्तित उपाय में विप्रतिपत्ति को रोकता है। इसलिए यह कहा जाता है—

लोके लोकप्पभवे लोकत्थगमे सिवे च तदुपाये।
सम्मुय्हति ताव नरो न विजानाति याव सच्चानि॥

[लोक में लोक की उत्पत्ति, लोक के विनाश, शिव (=निर्वाण) और उसके उपाय (=मार्ग) में पुरुष तब तक मूढ़ बना रहता है, जब तक कि सत्यों को नहीं जानता है।]

ऐसे यहाँ ज्ञान के कृत्य से भी विनिश्चय जानना चाहिये।

अन्तर्गत प्रभेद

अन्तर्गत प्रभेद से—दुःख-सत्य में तृष्णा और अनाश्रव धर्मों को छोड़कर शेष सारे धर्म[9]

---

१. संयुत्त नि० ५४, ३, १।

२. ईश्वर ही लोक को बनाता, बिगाड़ता है आदि ईश्वरवादियों का मत।

३. प्रधान से लोक प्रगट होता और वहीं सिमट जाता है, ऐसा प्रधानवादी कहते हैं।

४. कालवादी कहते हैं कि काल ही सब कुछ करता है—

कालो करोति भूतानि कालो संहरती पजा।
कालो सुत्तेसु जागरति कालो हि दुरतिक्कमो॥

५. गिरगिट के तीक्ष्णभाव के समान, कपित्थ-फल आदि की गोलाई के समान, मृग, पक्षी, सर्प आदि के विचित्र होने के समान स्वभाव से ही लोक उत्पन्न होता है और नष्ट हो जाता है—ऐसा स्वभाववादी कहते हैं।

६. आदि शब्द में नियतवादी भी आ जाते हैं जो कि कहते हैं—"अणु से लोक प्रवर्तित होता है।"

७. उद्रक रामपुत्र और आलार कालाम आदि के समान अरूप लोक में।

८. निर्ग्रन्थों (= जैनियों) के समान लोक-स्तूपिका आदि में अपवर्ग को मानने वाले। वे नैवसंज्ञानासंज्ञा को ही लोक का स्तूप मानते हैं—सिंहल सन्नय।

९. लोकोत्तर आठ चित्तों को छोड़कर शेष सारे लौकिक धर्म।

अन्तर्गत हैं। समुदय सत्य में छत्तीस[1] तृष्णा विषयक विचार। निरोध-सत्य अ-मिश्रित है। मार्ग-सत्य में सम्यक् दृष्टि द्वारा मीमांसा, ऋद्धिपाद, प्रज्ञेन्द्रिय, प्रज्ञाबल, धर्म-विचय सम्बोध्यङ्ग, सम्यक् संकल्प के कहने से तीन नैष्क्रम्य वितर्क आदि, सम्यक् वचन के कहने से चार वाक् सुचरित, सम्यक् कर्मान्त के कहने से तीन काय सुचरित, सम्यक् आजीव द्वारा अल्पेच्छता और सन्तुष्टि, या इन सभी सम्यक् वचन, कर्मान्त, आजीव के आर्य-कान्त-शील होने से और आर्यकान्त-शील को श्रद्धा के हाथ से प्रतिग्रहण करने से, उनके अस्तित्व के होने से श्रद्धेन्द्रिय, श्रद्धा-बल, छन्द-ऋद्धि-पाद; सम्यक् व्यायाम के कहने से चार प्रकार के सम्यक् प्रधान, वीर्येन्द्रिय, वीर्य-बल, वीर्य-सम्बोध्यङ्ग; सम्यक् स्मृति के कहने से चार प्रकार के स्मृति-प्रस्थान, स्मृति-इन्द्रिय, स्मृति-बल, स्मृति-सम्बोध्यङ्ग; सम्यक्-समाधि के कहने से स-वितर्क, स-विचार आदि तीनों समाधि, चित्त समाधि, समाधि-इन्द्रिय, समाधि-बल, प्रीति-प्रश्रब्धि-समाधि-उपेक्षा-सम्बोध्यङ्ग अन्तर्गत हैं। ऐसे यहाँ अन्तर्गत के प्रभेद से भी विनिश्चय जानना चाहिये।

उपमा

उपमा से—भार के समान दुःख-सत्य को समझना चाहिये। भार को ग्रहण करने के समान समुदय-सत्य को। भार को फेंकने के समान निरोध-सत्य को। भार को फेंकने के उपाय के समान मार्ग-सत्य को। और रोग के समान दुःख-सत्य को, रोग के निदान के समान समुदय सत्य को, रोग की शान्ति के समान निरोध-सत्य को, दवा के समान मार्ग-सत्य को। या, दुर्भिक्ष के समान दुःख-सत्य को, दुर्वृष्टि के समान समुदय-सत्य को, सुभिक्ष के समान निरोध-सत्य को, सुवृष्टि के समान मार्ग-सत्य को। और भी— वैरी, वैर, वैर मिटना, वैर मिटने के उपाय से; विष-वृक्ष, वृक्ष-मूल, मूल का कटना, उसको काटने के उपाय से; भय, भय का मूल, निर्भय, उसकी प्राप्ति के उपाय से; उरला तीर, बाढ़ (=सैलाब), परला तीर, वहाँ पहुँचाने वाले के प्रयत्न से, मिला कर भी, इन्हें उपमाओं से जानना चाहिये। ऐसे यहाँ उपमा से विनिश्चय जानना चाहिये।

चतुष्क्

चतुष्क् से—यहाँ दुःख है आर्य सत्य नहीं है, आर्य सत्य है दुःख नहीं है, दुःख भी है और आर्य सत्य भी, न तो दुःख है और न आर्यसत्य ही। इसी प्रकार समुदय आदि में।

वहाँ, मार्ग से युक्त धर्म और श्रामण्य-फल "जो अनित्य है, वह दुःख है"[2] इस वचन से संस्कारों के दुःख होने से दुःख है, आर्य सत्य नहीं है। निरोध आर्य सत्य है दुःख नहीं है। दूसरे दोनों आर्य-सत्य अनित्य से दुःख हो सकते हैं। किन्तु, जिसके ज्ञान के लिये भगवान् (के शासन) में ब्रह्मचर्य-वास करता है, उस भाव से दुःख नहीं होता है। तृष्णा को छोड़कर सब प्रकार से पाँच उपादान स्कन्ध दुःख भी हैं और आर्य-सत्य भी। मार्ग से युक्त धर्म और श्रामण्यफल—जिसके ज्ञान के लिये भगवान् (के शासन) में ब्रह्मचर्य-वास करता है, उस भाव से न दुःख है, न आर्य-सत्य। ऐसे समुदय आदि में भी यथायोग्य जोड़कर चतुष्क् से भी यहाँ विनिश्चय जानना चाहिये।

---

१. अठारह भीतरी और अठारह बाहरी, कुल छत्तीस तृष्णा विषयक विचार हैं। दे०, अंगुत्तर नि० ४, ५, ९।

२. संयुत्त नि० २१, १, २, ४।

शून्यता

शून्यता, एकविध आदि से—यहाँ शून्यता का तात्पर्य है—परमार्थ से सभी सत्यों को अनुभव करने वाले (=व्यक्ति), कर्त्ता, शान्त होने वाले और शान्ति (=निर्वाण) को जाने वाले के अभाव से शून्य जानना चाहिये। इसलिए यह कहा जाता है—

दुक्खमेव हि न कोचि दुक्खितो कारको न किरिया व विज्जति।
अत्थि निब्बुति न निब्बुतो पुमा मग्गमत्थि गमको न विज्जति॥

[दुःख ही है, कोई दुःख भोगनेवाला (व्यक्ति) नहीं है। कर्त्ता नहीं है, क्रिया ही है। निर्वाण है, निर्वाण को प्राप्त व्यक्ति नहीं है। मार्ग है, जानेवाला (= पथिक) नहीं है।]

अथवा—

धुव-सुभ-सुखत्तसुञ्ञं पुरिमद्वयमत्तसुञ्ञममतपदं।
धुव-सुख-अत्तविरहितो मग्गो इति सुञ्ञता तेसु॥

[पहले के दो ध्रुव, शुभ, सुख और आत्मा से शून्य हैं, निर्वाण (=अमृतपद) आत्मा से शून्य है, मार्ग ध्रुव, सुख, आत्मा से विरहित है, उनमें इस प्रकार शून्यता जाननी चाहिये।]

या, निरोध-शून्यता तीन हैं और निरोध शेष तीन से शून्य है। अथवा, यहाँ समुदय में दुःख के अभाव से हेतु फल से शून्य है और मार्ग में निरोध के। प्रकृतिवादियों[1] की प्रकृति के समान (हेतु) फल में मिला हुआ नहीं है। फल हेतु से शून्य है, दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग के असमवाय[2] होने से हेतु-फल हेतु में समवेत नहीं है। समवायवादियों[3] के दो अणु[4] आदि के समान। इसलिए यह कहा जाता है—

तयमिध निरोधसुञ्ञं तयेन तेनापि निब्बुति सुञ्ञा।
सुञ्ञो फलेन हेतु फलम्पि तं हेतुना सुञ्ञं॥

[यहाँ तीन (= दुःख, समुदय, मार्ग) निरोध से शून्य हैं, उन तीनों से भी निवृति (= निर्वाण) शून्य है, हेतु फल से शून्य है, वह फल भी हेतु से शून्य है।]

ऐसे शून्यता से विनिश्चय जानना चाहिये।

एकविध आदि

एकविध आदि से—यहाँ सारा ही दुःख (संसार के) प्रवर्तित होने से एकविध है। नाम और रूप से दो प्रकार का है। काम, रूप, अरूप के उत्पत्ति-भव के भेद से तीन प्रकार का है। चार प्रकार के आहार के भेद से चार प्रकार का है। पाँच उपादान स्कन्ध के भेद से पाँच प्रकार का है।

१. प्रकृतिवादी प्रकृति को फल से स-गर्भ मानते हैं, उनका कहना है कि उसी से महाभूत आदि उत्पन्न होते हैं।

२. जैसे मिट्टी घड़ा और सूत वस्त्र का समवाय कारण होता है, वैसा कारण समुदय-सत्य या मार्ग-सत्य में नहीं होता है।

३. वैशेषिक सिद्धान्तवादियों के।

४. दो अणुओं में दो अणु समवाय कारण से उपलब्ध होते हैं।

समुदय भी प्रवर्तक होने से एक प्रकार का है। दृष्टि से सम्प्रयुक्त और अ-सम्प्रयुक्त होने से दो प्रकार का है। काम, भव, विभव तृष्णा के भेद से तीन प्रकार का है। चार मार्गों से प्रहीण होने से चार प्रकार का है। रूप का अभिनन्दन करने आदि के भेद से पाँच प्रकार का है। छः तृष्णा-काय[1] के भेद से छः प्रकार का है।

निरोध भी असंस्कृत-धातु के अनुसार एक प्रकार का है। सोपादिशेष और अनुपादिशेष के भेद से दो प्रकार का है। तीनों भवों के शान्त हो जाने से तीन प्रकार का है। चारों मार्गों से प्राप्त होने से चार प्रकार का है। पाँच अभिनन्दन (=रूप, शब्द आदि) की शान्ति से पाँच प्रकार का है। तृष्णा-काय के भेद से छः प्रकार का है।

मार्ग भी भावना किये जाने से एक प्रकार का है। शमथ-विपश्यना के भेद से दो प्रकार का है या दर्शन और भावना के भेद से। तीन-स्कन्ध (= शील, समाधि, प्रज्ञा) के भेद से तीन प्रकार का है। यह (शील स्कन्ध आदि से) प्रदेश के सहित होने से राज्य से संगृहीत नगर के समान निष्प्रदेश तीन स्कन्धों से संगृहीत है। जैसे कहा है—"आवुस विशाख, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग में तीनों स्कन्ध संगृहीत नहीं हैं, प्रत्युत तीन स्कन्धों में आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग संगृहीत है। आवुस विशाख, जो सम्यक् वचन, सम्यक् आजीव और सम्यक् कर्मान्त हैं, वह···शील-स्कन्ध में संगृहीत हैं। जो सम्यक् व्यायाम, सम्यक्-स्मृति और सम्यक् समाधि हैं, वह समाधि-स्कन्ध में संगृहीत हैं। जो सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प हैं, वह प्रज्ञा-स्कन्ध में संगृहीत हैं।"[2]

यहाँ, सम्यक् वचन आदि तीनों शील ही हैं, इसलिये वे समान होने से शील-स्कन्ध से संगृहीत हैं। यद्यपि पालि में "शील स्कन्ध में"—अधिकरण कारक से निर्देश किया गया है, किन्तु अर्थ करण कारक के अनुसार ही जानना चाहिये। सम्यक् व्यायाम आदि तीनों में समाधि अपने स्वभाव से आलम्बन से एकाग्र होने से प्रतिष्ठित नहीं हो सकती है, प्रत्युत वीर्य के प्रयत्न करने के कृत्य को और स्मृति के पुनः पुनः कहने के कृत्य को पूर्ण करने पर सहायता पाकर (प्रतिष्ठित हो) सकती है।

वहाँ, यह उपमा है—जैसे 'नक्षत्र-क्रीड़ा करेंगे' (सोचकर) उद्यान में तीन सहायकों के प्रविष्ट होने पर एक सुपुष्पित चम्पक के वृक्ष को देखकर हाथ को ऊपर उठाकर पकड़ भी नहीं सके, तब दूसरा झुक कर उसको (अपनी) पीठ दे। वह उसकी पीठ पर खड़ा होकर भी काँपते हुए पकड़ न सके, तब उसके पास दूसरा कन्धा ले जाय। वह एक की पीठ पर खड़ा होकर एक के कन्धे पर लटक कर इच्छानुसार फूलों को चुन, (माला) पहन कर नक्षत्र-क्रीड़ा करे। ऐसा ही इसे भी समझना चाहिये।

एक साथ उद्यान में प्रविष्ट हुए तीन सहायकों के समान एक साथ उत्पन्न सम्यक् व्यायाम आदि तीन धर्म हैं। सुपुष्पित चम्पक के समान आलम्बन है। हाथ को ऊपर उठाकर नहीं पकड़ सकने के समान अपने स्वभाव से आलम्बन में एकाग्र भाव से प्रतिष्ठित नहीं हो सकती हुई समाधि है। पीठ को देकर झुके हुए सहायक के समान व्यायाम है। कन्धे को देकर खड़े हुए सहायक के समान स्मृति है। जैसे उनमें एक की पीठ पर खड़ा होकर, एक के कन्धे पर लटक कर

---

१. रूप-तृष्णा, शब्द-तृष्णा, गन्ध-तृष्णा, रस-तृष्णा, स्पर्श-तृष्णा और धर्म-तृष्णा।

२. मज्झिम नि० १, ५, ४।

दूसरा इच्छानुसार पुष्प ले सकता है, ऐसे ही वीर्य के प्रयत्न करने के कृत्य और स्मृति के पुनः पुनः कहने के कृत्य को पूर्ण करने पर सहायता पाकर समाधि आलम्बन में एकाग्र भाव से प्रतिष्ठित हो सकती है, इसलिये समाधि ही यहाँ समान होने से समाधि-स्कन्ध में संगृहीत है, किन्तु व्यायाम और स्मृति क्रिया[1] से संगृहीत होती हैं।

सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प में भी प्रज्ञा अपने स्वभाव से "अनित्य, दुःख, अनात्म" ऐसे आलम्बन का निश्चय नहीं कर सकती है, किन्तु वितर्क के ठोंक-ठोंक कर देने पर सकती है। कैसे ? जैसे शराफ कार्षापण को हाथ पर रख कर सब भागों में देखना चाहते हुए भी चक्षु-तल से ही उलट नहीं सकता है, किन्तु अंगुली के पर्व से उलट-उलट कर इधर-उधर देख सकता है। ऐसे ही प्रज्ञा अपने स्वभाव से अनित्य आदि के अनुसार आलम्बन को निश्चय नहीं कर सकती है। अभिनिरोपण, आहनन, पर्याहनन कृत्य वाले वितर्क से ठोंकने के समान और उलटने के समान ले-लेकर दिये हुए का ही निश्चय कर सकती है। इसलिये यहाँ भी सम्यक् दृष्टि ही समान होने से प्रज्ञा-स्कन्ध में संगृहीत है और सम्यक् संकल्प क्रिया से संगृहीत होता है।

इस प्रकार इन तीन-स्कन्धों में मार्ग संगृहीत होता है। इसलिए कहा है—"तीन स्कन्धों के भेद से तीन प्रकार का है।" स्रोतापत्ति-मार्ग आदि के अनुसार ही चार प्रकार का है।

और भी, सभी सत्य अवितथ (=यथार्थ) या अभिज्ञेय होने से एक प्रकार के होते हैं। लौकिक, लोकोत्तर या संस्कृत, अ-संस्कृत से दो प्रकार के। दर्शन, भावना से प्रहातव्य और अप्रहातव्य होने से तीन प्रकार के। परिज्ञेय आदि के भेद से चार प्रकार के। ऐसे यहाँ एकविध आदि से विनिश्चय जानना चाहिये।

समान-असमान

समान-असमान से—सभी सत्य झूठ न होने, आत्म-शून्य और कठिनाई से जान पड़ने से परस्पर समान हैं। जैसे कहा है—"आनन्द, तू क्या समझता है, कौन-सा दुष्करतर या कठिनाई से सम्भव होने वाला है ? जो कि दूर से ही सूक्ष्म ताले के छेद से एक दूसरे के सिरे पर अचूक बाण मारे या जो सौ टुकड़ों में कटे हुए बाल के सिरे से सिरे को मार कर छेदे ?"

"भन्ते, यही दुष्करतर और कठिनाई से सम्भव होने वाला है जो कि सौ टुकड़ों में कटे हुए बाल के सिरे से सिरे को मार कर छेदे।"

"आनन्द, उससे भी कठिनाई से जान पड़ने वाली (वस्तु) को वे जानते हैं जो कि 'यह दुःख है' यथार्थ जानते हैं।...'यह दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा है' यथार्थ जानते हैं।"[2] अपने लक्षण के व्यवस्थापन से अ-समान हैं।

और, पहले के दो अवगाहन करने में कठिन, गम्भीर, लौकिक और साश्रव होने से समान हैं। फल-हेतु के भेद और परिज्ञेय-प्रहातव्य से अ-समान हैं। पिछले भी दो गम्भीर होने के कारण कठिनाई से अवगाहन किये जाने, लोकोत्तर और अनाश्रव होने से समान हैं। विषय-विषयी के भेद और साक्षात् करने तथा भावना करने के योग्य होने से अ-समान हैं। फल कहे जाने से पहला और तीसरा भी समान हैं, किन्तु संस्कृत और अ-संस्कृत होने से अ-समान हैं। हेतु कहे जाने से

१. समाधि के अनुरूप क्रिया से।

२. संयुत्त नि० ५४, ५, ५।

दूसरा और चौथा भी समान हैं, किन्तु लौकिक और लोकोत्तर होने से अ-समान हैं। दूसरा और तीसरा भी न-शैक्ष्य होने से समान हैं, किन्तु सालम्बन और अनालम्बन होने से अ-समान हैं।

इति एवंपकारेहि नयेहि च विचक्खणो।
विजञ्ञा अरियसच्चानं सभागविसभागतं॥

[ऐसे प्रकार और ढंग से प्रज्ञावान् आर्य-सत्यों की समानता और असमानता जाने।]

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धिमार्ग में प्रज्ञाभावना
के भाग में इन्द्रिय-सत्य-निर्देश नामक
सोलहवाँ परिच्छेद समाप्त।

सत्रहवाँ परिच्छेद

प्रज्ञाभूमि-निर्देश

अथवा

प्रतीत्यसमुत्पाद-निर्देश

अब, "स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि के भेद वाले धर्म 'भूमि हैं।'"[1] ऐसे कहे गये, इस प्रज्ञा की भूमि होने वाले धर्मों में चूँकि प्रतीत्यसमुत्पाद और आदि' शब्द से संगृहीत प्रतीत्य-समुत्पन्न-धर्म अवशेष हैं, इसलिये उनके वर्णन का क्रम आ गया।

प्रतीत्यसमुत्पाद क्या है ?

अविद्या आदि धर्मों को प्रतीत्यसमुत्पाद जानना चाहिये। भगवान् ने यह कहा है—"भिक्षुओ, प्रतीत्यसमुत्पाद कौन-सा है ? भिक्षुओ, अविद्या के प्रत्यय से संस्कार, संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप, नामरूप के प्रत्यय से छः आयतन, छः आयतनों के प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श के प्रत्यय के वेदना, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान, उपादान के प्रत्यय से भव, भव के प्रत्यय से जाति (= जन्म), जाति के प्रत्यय से जरा, मरण, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार इस सारे दुःख समूह का समुदय होता है। भिक्षुओ, यह प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है।"[2]

प्रतीत्यसमुत्पन्न क्या है ?

जरा, मरण आदि को प्रतीत्यसमुत्पन्न-धर्म मानना चाहिये। भगवान् ने यह कहा है—"भिक्षुओ, कौन-से प्रतीत्य-समुत्पन्न-धर्म हैं ? भिक्षुओ, जरा-मरण अनित्य, संस्कृत, प्रतीत्य-समुत्पन्न, क्षय, व्यय (=विनाश), विराग और निरोध-स्वभाव वाले हैं। भिक्षुओ, जाति··· भव···उपादान···तृष्णा···वेदना···स्पर्श···छःआयतन···नामरूप···विज्ञान·····संस्कार··· । भिक्षुओ, अविद्या अनित्य, संस्कृत, प्रतीत्यसमुत्पन्न, क्षय, व्यय, विराग और निरोध-स्वभाव वाली है। भिक्षुओ, इन्हें प्रतीत्य-समुत्पन्न-धर्म कहते हैं।"[3]

अर्थ-विश्लेषण

यह यहाँ संक्षेप है—प्रतीत्यसमुत्पाद प्रत्यय-धर्मों को जानना चाहिये और प्रतीत्य-समुत्पन्न-धर्म उन-उन प्रत्ययों से उत्पन्न (धर्मों को)।

यह कैसे जानना चाहिये ? भगवान् के वचन से। भगवान् ने प्रतीत्य-समुत्पाद और प्रतीत्य-समुत्पन्न-धर्म के उपदेश वाले सूत्र में—"भिक्षुओ, कौन-सा प्रतीत्य-समुत्पाद है ? भिक्षुओ, जाति

---

१. देखिये, चौदहवाँ परिच्छेद, पृष्ठ ६० ।

२. संयुत्त नि० १२, १, १ ।

३. संयुत्त नि० १२, २, १० ।

के प्रत्यय से जरामरण (उत्पन्न होते) हैं। तथागतों के उत्पन्न होने पर या तथागतों के नहीं उत्पन्न होने पर धर्म-स्थिति,[१] धर्म-नियामता[२], और इदम्प्रत्ययता[३] (= इसके प्रत्यय से होना) वाली वह धातु (= स्वभाव) स्थित होती ही है। उसे तथागत समझते हैं, जानते हैं, समझ कर, जानकर कहते हैं, उपदेश देते हैं, प्रज्ञापन करते हैं, ज्ञान के सामने रखते हैं, खोलकर दिखलाते हैं, विभक्त करते हैं, प्रगट करते हैं और कहते हैं—"भिक्षुओ, देखो, जाति के प्रत्यय से जरा-मरण (उत्पन्न होते) हैं। भिक्षुओ, भव के प्रत्यय से जाति···अविद्या के प्रत्यय से संस्कार। तथागतों के उत्पन्न होने पर या···विभक्त करते हैं, प्रगट करते हैं और कहते हैं—भिक्षुओ, देखो, अविद्या के प्रत्यय से संस्कार (उत्पन्न होते) हैं। भिक्षुओ, इस प्रकार जो वहाँ तथ्यता, अवितथता (= सत्यता), न-अन्यथा होना और इदम्प्रत्ययता (=इसके प्रत्यय से होना) है, यह प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है।"[४] इस प्रकार प्रतीत्य-समुत्पाद को बतलाते हुए तथ्यता आदि शब्दों से प्रत्यय-धर्म को ही प्रतीत्यसमुत्पाद कहा है। इसलिए जरा-मरण आदि धर्मों का प्रत्यय होने के लक्षण वाला प्रतीत्यसमुत्पाद है। दुःख का तारतम्य बनाये रखना इसका कृत्य है। कुमार्ग से जान पड़ने वाला है। ऐसा समझना चाहिए।

उन-उन अन्यूनाधिक प्रत्ययों से ही उस-उस धर्म के उत्पन्न होने से तथ्यता, समग्र हुए प्रत्ययों में मुहूर्त भर भी उससे उत्पन्न हुए धर्मों के असम्भव होने के अभाव से अवितथता, अन्य धर्म के प्रत्ययों से अन्य धर्म के नहीं उत्पन्न होने से न-अन्यथा होना, और वैसे कहे गये इन जरा-मरण आदि के प्रत्यय से या प्रत्यय के समूह से इदम्प्रत्ययता कही गयी है।

उसका यह शब्दार्थ है—इनका प्रत्यय इदम्प्रत्यय है और इदम्प्रत्यय ही इदम्प्रत्ययता है। या, इदम्प्रत्ययों का समूह इदम्प्रत्ययता है। इसके लक्षण को शब्द-शास्त्र (= व्याकरण) में ढूँढ़ना चाहिये।

कोई-कोई—"तीर्थों (=अन्य मतावलम्बियों) के परिकल्पित प्रकृति-पुरुष आदि के सम्यक् प्रत्यय से उत्पन्न होना ही प्रतीत्यसमुत्पाद है" ऐसे उत्पाद मात्र को प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। वह युक्त नहीं है। क्यों? सूत्र के अभाव से, सूत्र के विरोध से, गम्भीर नय (= न्याय) के असम्भव होने से और शब्द के भेद से।[५]

(१) सूत्र का अभाव और विरोध

"उत्पादमात्र प्रतीत्यसमुत्पाद है" ऐसा सूत्र नहीं है और उसे प्रतीत्य-समुत्पाद कहने वाले का प्रदेश-विहार-सूत्र से विरोध होता है। कैसे? भगवान् का, "तब भगवान् ने रात्रि के पहले पहर में प्रतीत्यसमुत्पाद को अनुलोम-प्रतिलोम से मन में किया।"[६] आदि वचन से प्रतीत्य समु-

१. प्रत्यय से उत्पन्न धर्म स्थित होते हैं, इसलिये धर्म-स्थिति कहा जाता है।

२. प्रत्यय धर्मों को ठीक करता है, इसलिये वह धर्म-नियामता कहा जाता है।

३. जरा, मरण आदि के प्रत्यय को इदम्प्रत्यय कहा जाता है, और इदम्प्रत्यय ही इदम्प्रत्ययता है।

४. संयुत्त नि० १२, २, १०।

५. शब्द-विन्यास से।

६. महावग्ग १,१,१।

त्पाद को मन में करना सम्यक् सम्बुद्ध होकर प्रथम विहार था और प्रदेश-विहार उसके एक देश (= भाग) का विहार है। जैसे कहा है—"भिक्षुओ, मैं जिस विहार से सम्यक् सम्बुद्ध होकर प्रथम विहार किया था, उस प्रदेश से ही विहार किया।"[1] वहाँ, प्रत्यय के आकार को देखते हुए (तथागत ने) विहार किया, न कि उत्पादमात्र को देखते हुए। जैसे कहा है—"मैं ऐसा जानता हूँ–मिथ्या-दृष्टि के प्रत्यय से भी अनुभव होता है, सम्यक्-दृष्टि के प्रत्यय से भी अनुभव होता है, मिथ्या संकल्प के प्रत्यय से भी अनुभव होता है।"[2] सबका विस्तार करना चाहिये। ऐसे 'उत्पादमात्र प्रतीत्यसमुत्पाद है', कहने वाले का प्रदेश-विहार-सूत्र से विरोध होता है।

वैसे ही, कच्चान सूत्र[3] का भी विरोध होता है। कच्चान सूत्र में भी—"कात्यायन, लोक की उत्पत्ति को यथार्थ सम्यक् प्रज्ञा से देखनेवालों को जो लोक में नास्तित्व[4] है, वह नहीं होता है।" अनुलोम-प्रतीत्यसमुत्पाद लोक का प्रत्यय होने से लोक की उत्पत्ति है—ऐसे उच्छेद-दृष्टि को मिटाने के लिये प्रकाशित किया गया है, न कि उत्पादमात्र। क्योंकि उत्पादमात्र को देखने से उच्छेद-दृष्टि नहीं मिटती है, किन्तु प्रत्ययों के अविच्छिन्न होने पर फल के अविच्छिन्न होने से प्रत्ययों को अविच्छिन्न रूप से देखने से होता है। ऐसे, "उत्पादमात्र प्रतीत्यसमुत्पाद है" कहनेवाले का कच्चान सूत्र से भी विरोध होता है।

(२) गम्भीर नय का असम्भव होना

गम्भीर नय (=न्याय) के असम्भव होने से—भगवान् ने यह कहा है—'आनन्द, यह प्रतीत्यसमुत्पाद गम्भीर है और गम्भीर की भाँति दिखाई देनेवाला है।'[5] गाम्भीर्य भी चार प्रकार का होता है, उसका पीछे वर्णन करेंगे। वह उत्पादमात्र में नहीं है और जो चार प्रकार के नय (=न्याय) से युक्त इस प्रतीत्य-समुत्पाद का वर्णन करते हैं, वह भी नय-चतुष्क् उत्पादमात्र में नहीं है। इस प्रकार गम्भीर नय के असम्भव होने से भी उत्पादमात्र प्रतीत्यसमुत्पाद नहीं है।

(३) शब्द का भेद

शब्द के भेद से—"प्रतीत्य' शब्द समान कर्त्ता के पूर्वकाल[7] में प्रयुक्त होने से अर्थ[6] को सिद्ध करता है। जैसे कि—"चक्षु के प्रत्यय से रूप में चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है।"[8] यहाँ, भाव को सिद्ध करने वाले उत्पाद शब्द के साथ प्रयुक्त होने से समान कर्त्ता के अभाव से शब्द का भेद होता है, किन्तु कोई अर्थ सिद्ध नहीं करता है। इस प्रकार शब्द के भेद से भी उत्पादमात्र प्रतीत्यसमुत्पाद नहीं है।

---

१. संयुत्त नि० १२, २, १।
२. संयुत्त नि० १२, २, १।
३. संयुत्त नि० १२, ५, ४।
४. उच्छेद-दृष्टि।
५. दीघ नि० २, २।
६. शब्द-विन्यास से।
७. "समान कर्त्तृकयोः पूर्वकाले" [३, ४, २१] इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार एक ही पूर्व काल के कर्त्ता या क्रिया में उसके अर्थ में 'त्वा' प्रत्यय होता है। जैसे, पिवित्वा सयति=पीकर सोता है। भुत्वा गच्छति=खाकर जाता है। आदि।
८. संयुत्त नि०, १२, ५, ४।

कह सकते हैं कि "होता है" (=होति) शब्द के साथ जोड़ेंगे "प्रतीत्यसमुत्पाद होता है।" वह युक्त नहीं है। क्यों? जोड़ के अभाव और उत्पाद का उत्पाद होने के दोष से। "भिक्षुओ, तुम्हें प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश करूँगा……। भिक्षुओ, कौन-सा है प्रतीत्यसमुत्पाद?…… भिक्षुओ, इसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं।"[1] इन पदों में एक के भी "साथ होता है" (=होति) शब्द नहीं जुटता है और उत्पाद (भी) नहीं होता है। यदि हो, तो उत्पाद का भी उत्पाद होवे।

जो भी मानते हैं—इदम्प्रत्ययों का भाव इदम्प्रत्ययता है,—जो आकार अविद्या आदि का संस्कार आदि के प्रादुर्भाव में हेतु है, वह भाव है,—उस संस्कार के विकार में प्रतीत्य-समुत्पाद नाम होता है, उनका वह (मत) युक्त नहीं है। क्यों? अविद्या आदि को हेतु कहने से। भगवान् ने—"इसलिये आनन्द, जरा-मरण का यही हेतु है, यह निदान है, यह समुदय है, यह प्रत्यय है जो कि यह जाति (=जन्म) है।…संस्कारों का…जो कि यह अविद्या है।"[2] ऐसे अविद्या आदि को हेतु कहा है, उनका विकार नहीं। इसलिये "प्रतीत्यसमुत्पाद" प्रत्यय धर्मों को जानना चाहिये। इस प्रकार जो वह कहा गया है, वह ठीक कहा गया है—ऐसा जानना चाहिये।

जो यहाँ "प्रतीत्यसमुत्पाद" इस व्यञ्जन की छाया से उत्पाद ही यह कहा गया है, ऐसा ख्याल होता है, उसे इस पद का इस प्रकार से अर्थ लेकर शान्त करना चाहिये। भगवान् द्वारा—

द्वेधा ततो पवत्ते धम्मसमूहे यतो इदं वचनं।
तप्पच्चयो ततोयं फलोपचारेन इति वुत्तो॥

[जिस (अपने) प्रत्यय से प्रवर्तित हुए धर्म-समूहमें (प्रतीत्यसमुत्पाद)—इस वचन को दो भागों में करना चाहिये, उससे उसका प्रत्यय फलोपचार से इस प्रकार कहा गया है।]

जो कि यह प्रत्ययतासे प्रवर्तित धर्म-समूह है, वहाँ, 'प्रतीत्यसमुत्पाद'—इस वचन को दो भागों में चाहते हैं। चूँकि वह जान पड़ते हुए हित और सुख के लिये होता है, इसलिये उसे पण्डित जानने योग्य हैं, इससे "प्रतीत्य" है। और उत्पन्न होते हुए ठीक साथ उत्पन्न होता है, न कि अकेला-अकेला, अहेतु से भी नहीं, इसलिये 'समुत्पाद' है। ऐसे वह प्रतीत्य और समुत्पाद है, इसलिये प्रतीत्यसमुत्पाद है।

और भी, साथ उत्पन्न होता है, इसलिये समुत्पाद है, किन्तु मेल के प्रत्यय से, न कि उसे छोड़कर। ऐसे भी, वह प्रतीत्य और समुत्पाद है, इसलिये प्रतीत्यसमुत्पाद है। उसका यह हेतु-समूह प्रत्यय है, इसलिये उसका प्रत्यय होनेसे यह भी; जैसे लोक में श्लेष्मा का प्रत्यय गुड़ है, श्लेष्मा गुड़ कहा जाता है और जैसे शासनमें बुद्धों का उत्पाद सुखका प्रत्यय है। "बुद्धों का उत्पन्न होना सुख है।"[3] कहा जाता है, वैसे प्रतीत्यसमुत्पाद ही फल के व्यवहार से कहा गया है—ऐसा जानना चाहिये। अथवा—

पटिमुखमितोति वुत्तो हेतुसमूहो अयं पटिच्चोति।
सहिते उप्पादेति च इति वुत्तो सो समुप्पादो॥

---

१. संयुत्त नि० १२, १, १।

२. दीघ नि० २, २।

३. धम्मपद १४, १६।

[यह हेतु-समूह 'इससे प्रतिमुख'[1] है, इसलिये 'प्रतीत्य' कहा गया है और साथ रहने वाले (धर्मों) को उत्पन्न करता है, इसलिये वह "समुत्पाद" कहा गया है।]

जो यह संस्कार आदि की उत्पत्ति के लिये अविद्या आदि एक-एक हेतु शीर्ष से निर्दिष्ट हेतु-समूह है, वह साधारण फल को निष्पादन करने और अविकल होने से सामूहिक अंगों के परस्पर इससे प्रतिमुख गया हुआ है—ऐसा करके 'प्रतीत्य' कहा जाता है। वह साथ रहने वाले परस्पर मिले रहने के स्वभाव वाले धर्मों को ही उत्पन्न करता है, इसलिये भी 'समुत्पाद' कहा गया है। ऐसे भी वह प्रतीत्य और समुत्पाद है, अतः 'प्रतीत्य-समुत्पाद' है।

दूसरा नय (= न्याय = ढंग)—

पच्चयता अञ्ञोञ्ञं पटिच्च यस्मा समं सह च धम्मे।
अयम्मुप्पादेति ततोपि एवमिध भासिता मुनिना॥

[यह प्रत्यय समूह, एक दूसरे के प्रत्यय से चूँकि सम और एकत्र धर्मों को उत्पन्न करता है, उससे भी, मुनि (= बुद्ध) द्वारा ऐसा कहा गया है।]

अविद्या आदि के शीर्ष से निर्दिष्ट हुए प्रत्ययों में जो प्रत्यय जिस संस्कार आदि धर्म को उत्पन्न करते हैं, वे एक दूसरे के बिना प्रत्यय और एक दूसरे के विकल (=खराब) होने पर उत्पन्न करने के लिए समर्थ नहीं हैं। इसलिये यह प्रत्यय होने वाले धर्मों को सम और एकत्र होने के प्रत्यय से सम्पूर्णतः और एक साथ उत्पन्न करता है, इसलिये अर्थ के अनुसार व्यवहार-कुशल मुनि (= बुद्ध) द्वारा यहाँ ऐसा कहा गया है। 'प्रतीत्यसमुत्पाद' ही कहा गया है—यह अर्थ है। और ऐसा कहने से—

पुरिमेन सस्सतादीनमभावो पच्छिमेन च पदेन।
उच्छेदादिविघातो द्वयेन परिदीपितो ञायो॥

[पहले पद (= प्रतीत्य) से शाश्वत आदि का अभाव और पिछले पद (= समुत्पाद) से उच्छेद आदि का प्रहाण तथा दोनों (= प्रतीत्यसमुत्पाद) से न्याय प्रकाशित है।]

पहले से,—प्रत्ययों की सामग्री (= समवाय) प्रगट करने वाले 'प्रतीत्य' पद से प्रवर्तित हुए धर्मों के प्रत्ययों की एकता में अधीन होने से शाश्वत[2], अहेतु[3], विषम-हेतु[4], वशवर्ती-वाद[5] के प्रभेद वाले शाश्वत आदि का अभाव प्रकाशित होता है। शाश्वत या अहेतु आदि के अनुसार प्रवर्तित हुए (धर्मों) को प्रत्ययों की एकता से क्या प्रयोजन है?

१. 'प्रतीत्य' शब्द में 'प्रति' अभिमुखार्थ है और 'इत्य' गम्यार्थ है, इसे दिखलाते हुए ही 'प्रतिमुख' कहा गया है—टीका।

२. "आत्मा और लोक, दोनों शाश्वत (=नित्य) हैं" [दीघ नि० १, २] ऐसे वादको माननेवाले शाश्वतवादी कहलाते हैं।

३. "महाराज! सत्त्वोंके क्लेशका हेतु नहीं है, प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु और बिना प्रत्यय-के ही सत्त्व क्लेश पाते हैं। सत्त्वोंकी शुद्धिका कोई हेतु नहीं है, कोई प्रत्यय नहीं है।" आदि ऐसे वादी अहेतुवादी कहे जाते हैं।

४. "प्रकृति, अणु, काल आदिके अनुसार लोक प्रवर्तित होता है।" ऐसे वादियोंको विषम-हेतुवादी कहते हैं।

५. "ईश्वर, पुरुष, प्रजापति आदिके वशमें लोक है।" ऐसे वादियोंको वशवर्तीवादी कहते हैं।

पिछले पद से—धर्मों के उत्पाद को प्रगट करने वाले 'समुत्पाद' पद से, प्रत्ययों की एकता में धर्मों की उत्पत्ति से उच्छेद,[1] नास्तिक,[2] अक्रियवाद[3] नष्ट हो गये हैं—ऐसे उच्छेद आदि का विनाश प्रकाशित हुआ है। पूर्व-पूर्व के प्रत्यय से बार-बार उत्पन्न होने वाले धर्मों में उच्छेद, नास्तिक और अक्रियवाद कहाँ?

दोनों से—सम्पूर्ण 'प्रतीत्यसमुत्पाद' वचन से, उस-उस प्रत्यय की एकता में (हेतु-फल रूपी) सन्तति (=परम्परा) का विच्छेद न कर उन-उन धर्मों के उत्पन्न होने से मध्यम प्रतिपदा है, "वह अनुभव करता है······दूसरा करता है, दूसरा अनुभव करता है।"[4] इस वाद का प्रहाण, जनपद निरुक्ति[5] का आग्रह न करना, व्यवहारवाले नाम के पीछे न दौड़ना—यह न्याय प्रकाशित होता है। यह 'प्रतीत्यसमुत्पाद' वचनमात्र का अर्थ है।

जो यह भगवान् द्वारा प्रतीत्य-समुत्पाद का उपदेश करते हुए "अविद्या के प्रत्यय से संस्कार" आदि प्रकार से कही गई तन्ति[6] है, उसका अर्थ-वर्णन करते हुए विभक्तवादी-मण्डल[7] में उतरकर[8] आचार्यों[9] पर झूठा नहीं लगाते हुए[10] अपने धर्म से विचलित न होते हुए, दूसरे धर्म को ग्रहण नहीं करते हुए[11] सूत्र की अवहेलना न करते हुए, विनय के अनुलोम महाप्रदेशों[12] को देखते हुए, धर्म का प्रकाशन करते हुए, अर्थ की गवेषणा करते हुए[13] और इसी बात की पुनरावृत्ति

१. "भिक्षुओ, कितने श्रमण और ब्राह्मण सात कारणोंसे आत्माका उच्छेद, विनाश और लोप हो जाता है—ऐसा मानते हैं?" [दीघ नि० १, १] इन श्रमण-ब्राह्मणोंका वाद उच्छेदवाद कहा जाता है।

२. "महाराज, न दान है, न यज्ञ है, न होम है, न पुण्य या पापका अच्छा-बुरा फल होता है।" [दीघ नि० १, २] इस प्रकारसे कहा गया नास्तिकवाद है।

३. "महाराज, करते कराते, छेदन करते, छेदन कराते, पकाते पकवाते······पाप नहीं होता है।" [दीघ नि० १, २] ऐसे कहा गया अक्रियवाद है।

४. संयुत्त नि० १२, २, ४।

५. जनपद की भाषा।

६. अर्थ के अभिप्राय को तनने से 'तन्ति' कहा जाता है, 'पालि' इसका अर्थ है।

७. धर्मराज अशोक ने तृतीय संगीति के समय लज्जावान् स्थविर भिक्षुओं से पूछा—"भन्ते, सम्यक्-सम्बुद्ध किस वाद को मानने वाले थे?" "महाराज, विभक्तवाद को।" ऐसा कहने पर राजा ने मोग्गलिपुत्त स्थविर से पूछा—"भन्ते, सम्यक् सम्बुद्ध विभक्तवादी थे?" "हाँ महाराज!" [कथावत्थु अट्ठकथा]। ऐसा कहे जाने से विभक्तवादी भगवान् हैं जो कि आत्मा है या नहीं है, बतलाते हैं, पञ्चस्कन्धों को विभक्त करके उसकी अनित्यता को दिखलाते हैं। उस भगवान् के पर्याप्ति-धर्म के जानकार श्रावक भी उस वाद का अनुसरण करते हैं, इसलिये वे विभक्तवादी कहे जाते हैं। उन विभक्तवादियों की परिषद् विभक्तवादी-मण्डल है।

८. अवगाहन करके अर्थात् स्वयं विभक्तवादी होकर।

९. अट्ठकथा के आचार्यों पर।

१०. विपरीत अर्थ का प्रकाशन करते हुए।

११. दोषारोपण करने के लिये।

१२. महाप्रदेश चार हैं। देखिये, दीघ नि०, २, ३ और अंगुत्तर नि० ४, ३, १०।

१३. "जैसे कोई-कोई अनिरोध, अनुत्पाद" [मध्यमकारिकाका प्रथम श्लोक] आदि से प्रतीत्य-

नहीं करके दूसरे भी पर्यायों से निर्देश करते हुए, चूँकि अर्थ का वर्णन करना चाहिए,—और स्वभाव से भी प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ-वर्णन दुष्कर ही है। जैसा कि पुराने लोगों ने कहा है—

सच्चं सत्तो पटिसन्धि पच्चयाकारमेव च।
दुद्दसा चतुरो धम्मा देसेतुञ्च सुदुक्करा॥

[सत्य, सत्त्व, प्रतिसन्धि और प्रत्ययों का आकार[1]—चारों धर्म ही दुर्दृश्य हैं और उपदेश देने के लिये अत्यन्त दुष्कर हैं।]

इसलिये आगम और अधिगम (=मार्ग-फल) को प्राप्त (व्यक्तियों के) अतिरिक्त प्रतीत्य-समुत्पाद का अर्थ-वर्णन करना सुकर नहीं है—ऐसे सब प्रकार से परीक्षा करके—

प्रतीत्यसमुत्पाद की गम्भीरता

वत्तुकामो अहं अज्ज पच्चयाकारवण्णनं।
पतिट्ठं नाधिगच्छामि अज्झोगाळ्हो व सागरं॥

[मैं आज प्रत्ययों के आकार (=प्रतीत्यसमुत्पाद) का वर्णन करना चाहते, महासागर में पैठने के समान सहारा नहीं पा रहा हूँ।]

सासनं पनिदं नाना देसना-नय-मण्डितं।
पुब्बाचरियमग्गो च अब्बोच्छिन्नो पवत्तति॥
यस्मा तस्मा तदुभयं सन्निस्सायत्थवण्णनं।
आरभिस्सामि एतस्स तं सुणाथ समाहिता॥

[चूँकि यह (पर्य्याप्ति-) शासन नाना देशना के न्यायों (=नयों) से प्रतिमण्डित है और पहले के आचार्यों का मार्ग[2] अटूट चला आ रहा है, इसलिये उन दोनों के सहारे इसका अर्थ-वर्णन करना प्रारम्भ करूँगा, उसे एकाग्र-चित्त होकर सुनें।]

यह पूर्व के आचार्यों ने कहा है—

यो कोचिमं अट्ठिकत्वा सुणेय्य लभेथ पुब्बापरियं विसेसं।
लद्धान पुब्बापरियं विसेसं अदस्सनं मच्चुराजस्स गच्छे॥

[जो कोई इसे अर्थ का विचार करते हुए सुने, वह आरम्भ से लेकर अन्त तक ज्ञान प्राप्त करे और प्रारम्भ से लेकर अन्त तक ज्ञान को प्राप्त करके मृत्युराजके अदर्शन (=निर्वाण) को चला जाय।]

(१) अविद्या के प्रत्यय से संस्कार

इस प्रकार, 'अविद्या के प्रत्यय से संस्कार' आदि में प्रारम्भ से ही—

देसनाभेदतो अत्थ - लक्खणेक - विधादितो।
अङ्गानञ्च ववत्थाना विञ्ञातब्बो विनिच्छयो॥

समुत्पाद का अर्थ मिथ्या ग्रहण करते हैं, ऐसे नहीं ग्रहण करके उक्त प्रकार से ही अविपरीत अर्थ की गवेषणा करते हुए—टीका।

१. प्रतीत्यसमुत्पाद।

२. उनकी अट्ठकथा।

[देशना के भेद, अर्थ, लक्षण, एकविध आदि और अङ्गों के व्यवस्थान से विनिश्चय जानना चाहिये।]

देशना के भेद

वहाँ, देशना के भेद से—लता लाने वाले चार आदमियों के लता को पकड़ने के समान प्रारम्भ या बीच से लेकर अन्त तक, वैसे अन्त से या बीच से लेकर प्रारम्भ तक—चार प्रकार की भगवान् की प्रतीत्य-समुत्पाद की देशना (=उपदेश) है।

जैसे लता लाने वाले चार आदमियों में से एक लता की जड़ को ही पहले देखता है, वह उसे जड़ से काटकर सब खींचकर ले, काम में लगाता है। ऐसे भगवान्—"इस प्रकार भिक्षुओ, अविद्याके प्रत्यय से संस्कार···जाति (=जन्म) के प्रत्यय से जरामरण।"[१] प्रारम्भ से लेकर अन्त तक भी प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश देते हैं।

जैसे उन आदमियों में से एक लता के बीच (भाग) को पहले देखता है, वह बीच से काट, ऊपरी भागको ही खींचकर ले, काम में लाता है। ऐसे भगवान्—"उस वेदना का अभिनन्दन करने वाले, कहने वाले, उसमें प्रवेश कर रहने वाले को नन्दी उत्पन्न होती है। जो वेदनाओं में नन्दी है, यह उपादान है। उस उपादान के प्रत्यय से भव, भव के प्रत्यय से जाति (=जन्म)।"[२] ऐसे बीच से लेकर अन्त तक भी उपदेश देते हैं।

और जैसे उन आदमियों में से एक लता के सिरे (=अग्रभाग) को पहले देखता है, वह सिरे को पकड़कर सिरे के अनुसार जड़ तक सब लेकर काम में लाता है। ऐसे भगवान्—"जाति के प्रत्यय से 'जरा-मरण'—यह जो कहा। भिक्षुओ, जाति के प्रत्यय से जरा-मरण होते हैं या नहीं? इसमें तुम्हें क्या जान पड़ता है?"

"भन्ते, जाति के प्रत्यय से जरा-मरण होते हैं—हमको यही जान पड़ता है, कि जाति के प्रत्यय से जरा-मरण होते हैं।

"भिक्षुओ, भव के प्रत्यय से जाति होती है···अविद्या के प्रत्यय से संस्कार होते हैं या नहीं—इसमें तुम्हें क्या जान पड़ता है?"[१] ऐसे अन्त से लेकर प्रारम्भ तक भी प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश देते हैं।

जैसे उन आदमियों में से एक लता के बीच में ही पहले देखता है, वह बीच से काटकर नीचे उतरते हुए जड़ तक लेकर काम में लाता है। ऐसे भगवान्—"भिक्षुओ, इन चार आहारों का क्या निदान (=हेतु) है? क्या समुदय है? (यह) किससे जन्मे हैं? किससे सम्भूत हैं? भिक्षुओ, इन चारों आहारों का निदान है तृष्णा। समुदय है तृष्णा। यह तृष्णा से जन्मे हैं। यह तृष्णा से संभूत हैं। भिक्षुओ, इस तृष्णा का क्या निदान है?···वेदना···स्पर्श···छः आयतन (=षड् आयतन)···नाम-रूप···विज्ञान···संस्कार का क्या निदान है?···भिक्षुओ, संस्कारों का निदान अविद्या है।···(ये) अविद्या से संभूत हैं।"[२] ऐसे बीच से लेकर प्रारम्भ तक उपदेश देते हैं।

---

१. मज्झिम नि० १, ४, ८।

२. मज्झिम नि० १, ४, ८।

क्यों ऐसे उपदेश देते हैं? प्रतीत्यसमुत्पाद के समन्तभद्र होने और स्वयं देशना में निपुणता-प्राप्त होने से। प्रतीत्यसमुत्पाद समन्तभद्र है, क्योंकि वहाँ-वहाँ से[1] (वह) न्याय (=मार्ग) को प्राप्त कराता ही है। चार वैशारद्य[2] और प्रतिसम्भिदाओं के योग तथा चार प्रकार से गम्भीरत्व को प्राप्त होने से भगवान् देशना में निपुणता-प्राप्त हैं। वे देशना में निपुणता को प्राप्त होने से नाना न्यायों से ही धर्मोपदेश करते हैं।

विशेष रूप से इनकी जो प्रारम्भ से लेकर अनुलोम-देशना है, वह (संसार की) प्रवर्ति के कारण के विभाग में मूढ़ हुए वैनेय जन को देखते, यथानुरूप कारणों से प्रवर्ति और उत्पत्ति-क्रम को दिखलाने के लिये हुई है—ऐसा जानना चाहिये। जो अन्त से लेकर प्रतिलोम-देशना है, वह "यह लोक पीड़ा में पड़ा हुआ है जो कि जन्म लेता है, जीता है, मरता है, च्युत होता है और उत्पन्न होता है।"[3] आदि प्रकार से पीड़ा में पड़े हुए लोक का अनुविलोकन करते पूर्वभाग के प्रतिवेध के अनुसार उस-उस जरा-मरण आदि दुःख को अपने जाने हुए कारण को देखने के लिये हुई है। जो बीच से लेकर प्रारम्भ तक है, वह आहार के निदान के व्यवस्थापन के अनुसार भूतकाल तक को लाकर, पुनः भूतकाल से लेकर हेतु-फल की परिपाटी को दिखलाने के लिये हुई है। जो बीच से लेकर अन्त तक प्रवर्तित है, वह वर्तमान् काल में भविष्यत् काल के हेतु की उत्पत्ति से लेकर भविष्यत् काल को दिखलाने के लिए हुई है।

उनमें, जो प्रवर्ति के कारण विभाग में मूढ़ हुए वैनेय जन को देखते यथानुरूप कारणों से प्रवर्ति और उत्पत्तिक्रम को दिखलाने के लिये प्रारम्भ से लेकर अनुलोम-देशना कही गयी है, वह यहाँ कही गई है—ऐसा जानना चाहिये।

क्यों यहाँ अविद्या प्रारम्भ में कही गई है? क्या प्रकृतिवादियों की प्रकृति के समान अविद्या भी, जो लोक का मूलकारण है, वह भी अकारण है? अकारण नहीं है। "आश्रव के समुदय (=उत्पत्ति) से अविद्या का समुदय होता है।[4]" ऐसे अविद्या का कारण कहा गया है। पर्याय है, जिससे वह मूलकारण है। वह कौन-सा पर्याय है? वर्त्त-कथा का शीर्ष होना।

भगवान् वर्त्त-कथा कहते हुए दो धर्मों को शीर्ष करके कहते हैं—(१) अविद्या। जैसे कहा है—"भिक्षुओ, अविद्या के प्रारम्भ की कोटि (=छोर) नहीं दिखाई पड़ती है, कि इससे पूर्व अविद्या नहीं थी, तब पीछे उत्पन्न हुई। भिक्षुओ, ऐसा यह कहा जाता है, किन्तु यह दिखाई पड़ता है कि इसके कारण से अविद्या होती है।"[5] या (२) भव-तृष्णा। जैसे कहा है—"भिक्षुओ, भव-तृष्णा के प्रारम्भ की कोटि नहीं दिखाई पड़ती है कि इससे पूर्व भव-तृष्णा नहीं थी, तब पीछे उत्पन्न हुई। भिक्षुओ, ऐसा यह कहा जाता है, किन्तु यह दिखाई पड़ता है कि इसके कारण से भव-तृष्णा होती है।"[6]

क्यों भगवान् वर्त्त-कथा को कहते हुए इन दो धर्मों को शीर्ष करके कहते हैं? सुगति-दुर्गति की ओर ले जानेवाले कर्म के विशेष हेतु होने से।

१. चारों प्रकार की देशना में उस-उस देशना से—टीका।
२. देखिये, विशुद्धिमार्ग पहला भाग, पृष्ठ २।
३. संयुत्त नि० १२, १, १०।
४. मज्झिम नि० १, १, ९।
५. अंगुत्तर नि० १०, २, १।
६. अंगुत्तर नि० १०, २, २।

दुर्गतिगामी कर्म का विशेष-हेतु (=कारण) अविद्या है। क्यों ? इसलिए कि अविद्या से पछाड़ा गया पृथक्-जन, अग्नि-सन्ताप, मुग्दर की मार और परिश्रम से थकी हुई बध्य (=मारने के लिये लाई हुई) गाय के उस परिश्रम से आतुर होने से आस्वाद-रहित भी अपने लिए अनर्थकारक भी गर्म-पानी को पीने के समान[1], क्लेश-सन्ताप से आस्वाद-रहित, दुर्गति में गिराने से अपने लिए अनर्थकारक भी प्राणातिपात आदि अनेक प्रकार के दुर्गतिगामी काम को करता है।

सुगतिगामी कर्म का विशेष हेतु भव-तृष्णा है। क्यों ? इसलिए कि भव-तृष्णा से पछाड़ा गया पृथक्-जन, वह उक्त प्रकार की गाय के ठण्डे जल की तृष्णा से आस्वाद-युक्त और अपने परिश्रम को मिटानेवाले ठण्डे जल को पीने के समान, क्लेश-सन्ताप के विरह से आस्वादवाले सुगति को पहुँचानेवाले, अपने दुर्गति के दुःख को मिटानेवाले प्राणातिपात से विरत होना आदि अनेक प्रकार के सुगतिगामी काम को करता है।

इन वर्त्त-कथा के शीर्ष हुए धर्मों में कहीं भगवान् एक धर्म को मूल करके उपदेश देते हैं। जैसे—"इस प्रकार भिक्षुओ, अविद्या के कारण संस्कार होते हैं, संस्कार के कारण विज्ञान।[2]" आदि। वैसे—"भिक्षुओ, उपादान वाले धर्मों में आस्वाद को देखकर विहरते हुए तृष्णा बढ़ती है, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान[3]।" आदि। कहीं दो (धर्मों को) मूल करके भी (उपदेश देते हैं)। जैसे—"भिक्षुओ, तृष्णा से युक्त अविद्या के नीवरण वाले बाल (=अज्ञ) का ऐसे यह काय समुदागत (=उत्पन्न) होता है। इस प्रकार यह काय और बाह्य नाम-रूप—ये दो होते हैं। दोनों के प्रत्यय से स्पर्श और छः आयतन होते हैं, जिनसे स्पर्श किया हुआ बाल (=अज्ञ) सुख-दुःख का अनुभव करता है[4]।" आदि।

उन देशनाओं में, "अविद्या के प्रत्यय से संस्कार होते हैं" इसे अविद्या के अनुसार एक धर्म के मूल वाली देशना जाननी चाहिये। ऐसे यहाँ देशना के भेद से विनिश्चय जानना चाहिये।

अर्थ

अर्थ से—अविद्या आदि पदों के अर्थ से। जैसे—पूर्ण करने के लिए अयुक्त होने के अर्थ से कायदुश्चरित आदि अप्राप्य हैं। नहीं पाने के योग्य हैं—अर्थ है। उस अप्राप्य को प्राप्त करती है, इसलिये अविद्या कही जाती है। उसके विपरीत काय सु-चरित आदि प्राप्य हैं। उस प्राप्य को नहीं पाती है, इसलिए अविद्या कही जाती है। स्कन्धों के राशि होने, आयतनों के आयतन होने, धातुओं के शून्य होने, इन्द्रियों के अधिपति होने और सत्यों के यथार्थ होने की बात को नहीं प्रकट करती है, इसलिए अविद्या है। दुःख आदि की पीड़ा के अनुसार कहे गये चारों प्रकार की बातों को अविदित करती है, इसलिए भी अविद्या है। अन्त-रहित संसार में सब योनि, गति, भव, विज्ञान की स्थिति, सत्वों के आवास में सत्वों को दौड़ाती है, इसलिए अविद्या है। परमार्थतः अविद्यमान् स्त्री-पुरुष आदि में दौड़ती है और विद्यमान् भी स्कन्ध आदि में नहीं दौड़ती है, इसलिये अविद्या है। और भी, चक्षुर्विज्ञान आदि के आलम्बनों, प्रतीत्य-समुत्पाद और प्रतीत्य-समुत्पन्न धर्मों को ढँकने से भी अविद्या है।

---

१. कसाई मांस को हड्डी से अलग होने के लिये बार-बार गर्म करके, पीटकर गर्म पानी पिला, खाली शून (=मारने की लकड़ी=ठेही) पर हड्डी से अलग हुए मांसवाली गाय को मारते हैं।

२. संयुत्त नि० १२, ३।

३. संयुत्त नि० १२, ६, ५।

४. संयुत्त नि० १२, २, ९।

जिसके कारण फल आता है, वह **प्रत्यय** है। 'जिसके कारण' का अर्थ है, (जिसे) नहीं त्याग कर। नहीं छोड़कर—अर्थ है। आता है = उत्पन्न होता और प्रवर्तित होता है—यह अर्थ है। और भी, उपकार करने के स्वभाव वाला प्रत्यय है। अविद्या और वह प्रत्यय भी होने से अविद्या-प्रत्यय है। उस **अविद्या के प्रत्यय से**। संस्कृत को एकत्र करते हैं, इसलिए **संस्कार** हैं। और भी—अविद्या के प्रत्यय से संस्कार—और संस्कार शब्द से आया हुआ संस्कार—ऐसे दो प्रकार के संस्कार होते हैं। (१) पुण्य, (२) अ-पुण्य, (३) आनेंज्य संस्कार तीन और (१) काय, (२) वाक् (३) चित्त-संस्कार तीन—ये छः अविद्या के प्रत्यय से संस्कार हैं। वे सभी लौकिक कुशल, अकुशल-चेतना मात्र ही होते हैं।

(१) संस्कृत-संस्कार, (२) अभिसंस्कृत-संस्कार, (३) अभिसंस्करणक-संस्कार, (४) प्रयोगाभिसंस्कार—ये चार संस्कार शब्द से आये हुए संस्कार हैं।

वहाँ, "संस्कार अनित्य हैं[१]।" आदि में कहे गये सभी प्रत्यय वाले धर्म संस्कृत-संस्कार हैं। कर्म से उत्पन्न हुए त्रैभूमिक रूप, अरूप धर्म अभिसंस्कृत-संस्कार हैं—ऐसा अट्ठकथाओं में कहा गया है। वे भी "संस्कार अनित्य हैं" इसी में संगृहीत हो जाते हैं। अलग से उनके आने का स्थान नहीं दिखाई देता है। त्रैभूमिक कुशल, अकुशल की चेतना अभिसंस्करणक-संस्कार कही जाती है। उसका—"भिक्षुओ, यह पुरुष = पुद्गल अविद्या में पड़ा हुआ पुण्य-संस्कार को करता है[२]।" आदि में आया हुआ स्थान दिखाई देता है। कायिक और चैतसिक वीर्य प्रयोगाभिसंस्कार कहा जाता है। वह "जहाँ तक अभिसंस्कार (= धक्का देना) की गति थी, वहाँ तक जाकर मानो खूँटा गड़े-जैसा खड़ा हो गया।[३]" आदि में आया हुआ है।

और न केवल ये ही, दूसरे भी—"आवुस, विशाख ! संज्ञावेदयित-निरोध को समापन्न भिक्षु का पहले वाक्-संस्कार निरुद्ध होता है, उसके बाद काय-संस्कार और उसके बाद चित्त-संस्कार।[४]" आदि प्रकार से संस्कार शब्द से आये हुए अनेक संस्कार हैं। उनमें वह संस्कार नहीं है, जो कि संस्कृत-संस्कार से संगृहीत न हो।

इसके पश्चात्, **संस्कार के प्रत्यय से विज्ञान**, आदि में उक्त प्रकार से ही जानना चाहिये। किन्तु नहीं कहे गये में, विजानन करता है, इसलिये **विज्ञान** है। (आलम्बन की ओर) नमता है, इसलिये **नाम** है। (ठंडक-गर्मी आदि से) नाश होता है, इसलिये **रूप** है। आये हुए धर्मों को तानता (= फैलाता) है और दीर्घ-संसार के दुःख में लाता है, इसलिये **आयतन** है। छूता है, इसलिये **स्पर्श** है। वेदन (= अनुभव) करता है, इसलिये **वेदना** है। प्यास का होना **तृष्णा** है। दृढ़तापूर्वक ग्रहण करता है, इसलिये **उपादान** है। (कर्म-भव से) होता है और उत्पत्ति-भव को बढ़ाता है, इसलिये **भव** है। उत्पन्न होना **जाति** है। जीर्ण होना **जरा** है। इससे मरते हैं, इसलिये **मरण** है। सोचना **शोक** है। परिदेवन करना **परिदेव** है। दुःखाता है, इसलिये **दुःख** है। या उत्पत्ति और स्थिति के अनुसार दो भागों में खनता है, इसलिये भी दुःख है। दुर्मन होना **दौर्मनस्य** है। अत्यन्त परेशानी **उपायास** (= विषाद) है। **उत्पन्न होते हैं** का अर्थ है—जन्म लेते हैं।

---

१. दीघ नि० २, ३।

२. संयुत्त नि० १२, ६, १।

३. अंगुत्तर नि० ३, २, ४।

४. मज्झिम नि० १, ४, ४।

न केवल शोक आदि से ही, प्रत्युत सब पदों (=शब्दों) से "उत्पन्न होते हैं" शब्द को जोड़ना चाहिये। अन्यथा "अविद्या के प्रत्यय से संस्कार" कहने पर—'क्या करते हैं ?' नहीं जान पड़ेगा। किन्तु 'उत्पन्न होते हैं' के जोड़ने पर अविद्या और वह प्रत्यय भी है, इसलिये अविद्या-प्रत्यय है। उस अविद्या के प्रत्यय से संस्कार उत्पन्न होते हैं—ऐसे प्रत्यय और प्रत्यय से उत्पन्न हुए (धर्मों) का व्यवस्थान किया गया है। इसी प्रकार सब में।

ऐसे—निर्दिष्ट हुए नियम का निदर्शन है। उससे अविद्या आदि के कारणों से ही, न कि ईश्वर-निर्माण आदि से—दिखलाते हैं। **इसका**—यथोक्त का। **सम्पूर्ण का**—अ-मिश्रित या सकल का। **दुःख के स्कन्ध का**—दुःख के समूह का, न सत्व का, न सुख-शुभ आदि का। **समुदय**—उत्पत्ति। **होता है**—…। ऐसे, यहाँ अर्थ से विनिश्चय जानना चाहिये।

लक्षण आदि

लक्षण आदि से—अविद्या आदि के लक्षण आदि से। जैसे कि—अज्ञान के लक्षण वाली अविद्या है। मूढ़ बनाना इसका काम है। (आलम्बन के स्वभाव को) ढँकना इसका प्रत्युपस्थान है। आश्रव इसका पदस्थान है[1]।

अभिसंस्करण के लक्षण वाले संस्कार हैं। राशि करना इनका काम है। चेतना से ये जान पड़ते हैं। अविद्या इनका पदस्थान है।

विजानन (=विशेष रूप से जानना) के लक्षण वाला विज्ञान है। आगे-आगे चलना इसका कृत्य है। प्रतिसन्धि से जान पड़ता है। संस्कार इसके पदस्थान हैं या वस्तु के आलम्बन।

झुकने के लक्षण वाला नाम है। मिलना इसका काम है। वियुक्त नहीं होने से यह जान पड़ता है। विज्ञान इसका पदस्थान है।

नाश होने के लक्षण वाला रूप है। विकीर्ण होना इसका काम है। अव्याकृत से यह जान पड़ता है। विज्ञान इसका पदस्थान है।

आयतन के लक्षण वाले छः आयतन हैं। देखना आदि इनके काम हैं। वस्तु, द्वार, भाव से ये जाने जाते हैं। नाम-रूप इसके पदस्थान हैं।

छूने के लक्षण वाला स्पर्श है। संघर्ष करना इसका काम है। मेल से यह जान पड़ता है। छः आयतन इसके पदस्थान हैं।

अनुभव करने के लक्षण वाली वेदना है। विषय के रस का आस्वादन करना इसका काम है। सुख-दुःख से यह जान पड़ती है। स्पर्श इसका पदस्थान है।

हेतु के लक्षण वाली तृष्णा है। अभिनन्दन करना इसका काम है। तृप्ति न होने से जानी जाती है। वेदना इसका पदस्थान है।

ग्रहण करने के लक्षण वाला उपादान है। नहीं छोड़ना इसका काम है। तृष्णा की दृढ़ता (=काम-उपादान) और दृष्टि[2] से जान पड़ता है, तृष्णा इसका पदस्थान है।

कर्म और कर्म-फल के लक्षण वाला भव है। उत्पन्न कराना तथा उत्पन्न होना इसका काम है। कुशल, अकुशल और अव्याकृत से यह जान पड़ता है। उपादान इसका पदस्थान है।

---

१. 'आसवसमुदया अविज्जासमुदयो' पाठ से यह सिद्ध है।

२. इसमें आत्मवाद-उपादान, शीलव्रत-उपादान और दृष्टि-उपादान—तीनों अन्तर्हित हैं।

जाति आदि के लक्षण आदि सत्य-निर्देश में कहे गये प्रकार से जानने चाहिये। ऐसे, यहाँ लक्षण आदि से भी विनिश्चय जानना चाहिये।

एक-विध आदि

एक-विधि आदि से—यहाँ अविद्या—अज्ञान, अदर्शन, मोह आदि होने से एक प्रकार की है। अ-प्रतिपत्ति, मिथ्या-प्रतिपत्ति से दो प्रकार की है। वैसे ही स-संस्कृत और अ-संस्कृत से। तीन वेदनाओं के सम्प्रयोग से तीन प्रकार की है। चार सत्य के अप्रतिवेध से चार प्रकार की है। पाँच गतियों में आदीनव (=दुष्परिणाम) को ढँकने से पाँच प्रकार की है और द्वार, आलम्बन से सभी अरूप धर्मों में छः प्रकार का होना जानना चाहिये।

संस्कार—सास्रव, विपाक-धर्म-धर्मा[1] आदि होने से एक प्रकार के हैं। कुशल-अकुशल से दो प्रकार के। वैसे ही परित्र, महद्गत[2]; हीन, मध्यम[3] और मिथ्यात्व-नियत, अनियत[4] से। तीन प्रकार के हैं पुण्याभिसंस्कार आदि होने से। चार प्रकार के हैं चार योनियों में होने से। और पाँच प्रकार के हैं पाँच गतियों में जाने से।

विज्ञान—लौकिक-विपाक आदि होने से एक प्रकार का है। स-हेतुक, अहेतुक आदि से दो प्रकार का। तीनों भवों में होने से, तीनों वेदनाओं के सम्प्रयोग से और अहेतुक, द्विहेतुक, त्रिहेतुक[5] से तीन प्रकार का होता है। योनि, गति के अनुसार चार प्रकार और पाँच प्रकार का होता है।

नामरूप—विज्ञान में आश्रित होने और कर्म के प्रत्यय से एक प्रकार का होता है। आलम्बन और अनालम्बन से दो प्रकार का होता है। भूत आदि से तीन प्रकार का होता है। योनि, गति के अनुसार चार प्रकार और पाँच प्रकार का होता है।

छः आयतन—उत्पत्ति, समोसरण (=जुटाव)-स्थान से एक प्रकार के होते हैं, भूतों के प्रसाद और विज्ञान आदि से दो प्रकार के; सम्प्राप्त, अ-सम्प्राप्त और न-उभय गोचर से तीन प्रकार के[6]; योनि, गति में होने से चार प्रकार और पाँच प्रकार के हैं। इस प्रकार स्पर्श आदि के भी एक-विध आदि होने को जानना चाहिये। ऐसे यहाँ एक विध आदि से भी विनिश्चय जानना चाहिये।

अंगों का व्यवस्थान

अंगों के व्यवस्थान से—शोक आदि यहाँ भव-चक्र के अविच्छेद को दिखलाने के लिए कहे

---

१. विपाक के स्वभाव वाले धर्म।

२. कामावचर के संस्कार परित्र और रूपावचर तथा अरूपावचर के संस्कार महद्गत हैं।

३. अकुशल संस्कार हीन और शेष त्रैभूमक संस्कार मध्यम हैं।

४. कौन से धर्म मिथ्यात्व-नियत हैं? पाँच अन्तरायकर कर्म और जो नियत मिथ्या-दृष्टि-है—ये मिथ्यात्व नियत धर्म हैं।" [धम्मसङ्गणी] ऐसे कहे गये धर्म मिथ्यात्व-नियत और शेष त्रैभूमक मिथ्यात्व-अनियत हैं।

५. चार कामावचर ज्ञान-विप्रयुक्त विपाक-विज्ञान द्विहेतुक हैं, चार कामावचर ज्ञान-सम्प्रयुक्त-विपाक-विज्ञान और रूपावचर तथा अरूपावचर के विपाक-विज्ञान त्रिहेतुक हैं और शेष लौकिक विपाक-विज्ञान अहेतुक हैं।

६. घ्राण, जिह्वा, काय सम्प्राप्त-गोचर, चक्षु, श्रोत्र अ-सम्प्राप्त गोचर और मनायतन न-उभय गोचर है।

गये हैं। जरा-मरण से प्रहार प्राप्त बाल (=अज्ञ) को ही वे उत्पन्न होते हैं। जैसे कहा है—"भिक्षुओ, अ-श्रुतवान् पृथक्-जन कायिक दुःख-वेदना के होने पर शोक करता है, परेशान होता है। परिदेवन करता है, हाथसे छाती पीट-पीटकर रोता है, संमोह को प्राप्त होता है[1]।" और जब तक वे प्रवर्तित होते हैं, तब तक अविद्या से—फिर भी अविद्या के प्रत्यय से संस्कार—ऐसे भव-चक्र का सम्बन्ध लगा ही रहता है। इसलिए उनके जरा-मरण से ही एक संक्षेप (=समूह) करके बारह ही प्रतीत्य-समुत्पाद के अंग जानने चाहिये। ऐसे यहाँ अंगों के व्यवस्थान से भी विनिश्चय जानना चाहिये। यह यहाँ संक्षेप-कथा है।

यह विस्तार करने का नियम है—सूत्रान्त के पर्याय से दुःख आदि चारों स्थानों में अज्ञान को **अविद्या** कहते हैं। अभिधर्म के पर्याय से पूर्वान्त आदि के साथ आठ (स्थानों) में। यह कहा गया है—"कौन-सी अविद्या है? दुःख में अज्ञान···दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा में अज्ञान, पूर्वान्त में अज्ञान, अपरान्त में अज्ञान···पूर्वान्तापरान्त में अज्ञान···इसके प्रत्यय से उत्पन्न हुए प्रतीत्य-समुत्पन्न धर्मों में अज्ञान[2]।"

वहाँ, यद्यपि लोकोत्तर दो सत्यों को छोड़कर शेष स्थानों में आलम्बन के रूप से भी अविद्या उत्पन्न होती है। ऐसा होने पर भी ढँकने के रूप में ही यहाँ अभिप्रेत है। वह उत्पन्न होकर दुःख सत्य को ढँक देती है। स्वभाव के अनुसार लक्षण को जानने नहीं देती है। वैसे ही समुदय, निरोध, मार्ग, पूर्वान्त कहे जाने वाले भूत-कालिक पञ्चस्कन्ध, अपरान्त कहे जाने वाले भविष्यत्-कालिक पञ्चस्कन्ध, पूर्वान्तापरान्त कहे जाने वाले उन दोनों को, इस प्रत्यय से उत्पन्न हुए प्रतीत्य-समुत्पन्न-धर्म कहे जाने वाली इदम्प्रत्ययता और प्रतीत्य-समुत्पन्न-धर्मों को ढँक कर रहती है। 'यह अविद्या है' 'ये संस्कार हैं'—ऐसे स्वभाव के अनुसार लक्षण को जानने नहीं देती है, इसलिए दुःख के अज्ञान···इस प्रत्यय से उत्पन्न हुए प्रतीत्य-समुत्पन्न धर्मों में अज्ञान है—ऐसा कहा जाता है।

संस्कार—पुण्य आदि तीन, काय-संस्कार आदि तीन—ऐसे पहले संक्षेप से कहे गये छः यहाँ विस्तार से पुण्याभिसंस्कार, दान-शील आदि के अनुसार होने वाली आठ कामावचर की कुशल चेतना और भावना के अनुसार होने वाली पाँच रूपावचर की कुशल-चेतना ऐसे तेरह चेतना होती है। अपुण्याभिसंस्कार, प्राणातिपात आदि के अनुसार होने वाली बारह अकुशल-चेतना है। आनेंजाभिसंस्कार, भावना के अनुसार ही उत्पन्न होनेवाली चार अरूपावचर की कुशल-चेतना है—ऐसे तीनों भी संस्कार उन्तीस चेतना होती हैं।

अन्य तीनों में काय-संचेतना काय-संस्कार है, वाक्-संचेतना वाक्-संस्कार है, मनो-संचेतना चित्त-संस्कार है। यह त्रिक् कर्म करने के समय पुण्याभिसंस्कार आदि के द्वार से प्रवर्ति को दिखलाने के लिए कहा गया है। काय-विज्ञप्ति को उत्पन्न करके काय-द्वार से प्रवर्तित आठ कामावचर की कुशल-चेतना और बारह अकुशल-चेतना—ऐसे बीस-चेतना काय-संस्कार है। वे ही वाक्-विज्ञप्ति को उत्पन्न करके वाक्-द्वार से प्रवर्तित हुई वाक्-संस्कार है। यहाँ, अभिज्ञा की चेतना पीछे विज्ञान का प्रत्यय नहीं होती है[3], इसलिए नहीं ग्रहण की गई है और जैसे अभिज्ञा की चेतना, ऐसे ही

१. संयुत्त नि० ३४, ५।

२. धम्मसङ्गणी।

३. अभिज्ञा की चेतना काय, वाक् संस्कार के अनुसार प्रवर्तित भी पीछे समानन्तर भव में उत्पन्न होने वाले विज्ञान का प्रत्यय नहीं होती है। क्यों? चूँकि वह कुशल भी होती हुई कसिण

औद्धत्य-चेतना भी (प्रत्यय) नहीं होती है। इसलिए वह भी विज्ञान के प्रत्यय होने से हटानी चाहिये, किन्तु अविद्या के प्रत्यय से ये सभी होती हैं। दोनों भी विज्ञप्तियों को न उत्पन्न कर मनो-द्वार में उत्पन्न सभी उन्तीस चेतना चित्त-संस्कार हैं। इस प्रकार यह त्रिक् पहले त्रिक् में समा जाता है—इसलिए अर्थ से पुण्याभिसंस्कार आदि के ही अनुसार अविद्या के प्रत्यय होने को जानना चाहिये।

प्रश्न हो सकता है—'कैसे यह जानना चाहिये कि ये संस्कार अविद्या के प्रत्यय से होते हैं?' अविद्या के होने पर, होने से। जिसका-दुःख आदि में अविद्या कहा जाने वाला-अज्ञान अप्रहीण होता है, वह दुःख और पूर्वान्त आदि में अज्ञान से संसार-दुःख को सुखके ख्याल से ग्रहण करके उसी के हेतु हुए तीन प्रकार के भी संस्कारों को करता है। समुदय में अज्ञान से दुःख के हेतु हुए भी तृष्णा के संस्कारों को सुख का हेतु समझते हुए करता है। निरोध और मार्ग में अज्ञान से दुःख के निरोध होने का ख्याल करके निरोध और अमार्ग हुए भी यज्ञ, अमर-तप आदि[1] में निरोध और मार्ग का ख्याल करके दुःख के निरोध को चाहता हुआ, यज्ञ, अमर-तप आदि के द्वारा तीनों प्रकार के संस्कारों को करता है।

और भी—वह उस चार-सत्यों में अविद्या के प्रहीण न होने से विशेष रूप से जाति, जरा, रोग, मरण आदि अनेक दोषों से भरे हुए भी पुण्य-फल कहलाने वाले दुःख को दुःख के तौर पर नहीं जानते हुए, उसकी प्राप्ति के लिए काय-वाक्-चित्त संस्कार के भेद वाले पुण्याभिसंस्कार को करता है। देवलोक की अप्सरा को चाहने वाले (व्यक्ति) के मरु-प्रपात[2] के समान, सुख माने हुए भी उस पुण्य-फल के अन्त में महा पीड़ोत्पादक विपरिणाम दुःख और अल्पस्वाद के होने को नहीं देखते हुए भी उस कारण से उक्त प्रकार से ही दीपक की लौ पर पतंग के गिरने के समान और मधु से लिप्त हथियार की धार को मधु की बूँद के लालची के चाटने के समान पुण्याभिसंस्कार को करता है। विपाक वाले काम-भोग आदि में दोष को नहीं देखते हुए सुख के ख्याल और क्लेश से अभिभूत तीनों द्वारों पर प्रवर्तित होते हुए भी बच्चे की गूथ-क्रीड़ा के समान और मरना चाहने वाले के विष खाने के समान अपुण्याभिसंस्कार को करता है और आरुप्य-विपाकों में भी संस्कार के विपरिणाम-दुःख होने को नहीं समझता हुआ शाश्वत आदि विपर्यास से चित्त-संस्कार हुए आनेंजाभि-संस्कार को दिशा भूले हुए (व्यक्ति) के पिशाचों के नगर की ओर जाने वाले मार्ग पर जाने के समान करता है।

ऐसे चूँकि अविद्या के भाव से ही संस्कार का भाव (=होना) है, न कि अभाव से, इस-लिये इसे जानना चाहिये—'ये संस्कार अविद्या के प्रत्यय से होते हैं।' कहा भी गया है—"भिक्षुओ,

---

आदि की भावना से फल के समान है। इसलिए दूसरे फल को उत्पन्न नहीं होने देती है। क्योंकि फल का फल नहीं होता है। औद्धत्य चतुर्थ मार्ग से प्रहीण होता है, यदि वह प्रतिसन्धि को लाये तो स्रोतापन्न आदि भी सुगतिगामी न हों; इसलिए वह अकुशल भी होती हुई विपाक-विज्ञान का प्रत्यय नहीं होती है।

१. अश्वमेध आदि यज्ञों और अमर होने के लिए नाना प्रकार के तपों में।

२. तीर्थ माना जाने वाला एक वट-वृक्ष है, जो उस वृक्ष के ऊपर चढ़ कूदकर मर जाता है, वह मुक्त हो जाता है—ऐसा कहते हैं। हुयेनसांग ने भी एक ऐसे वृक्ष का वर्णन अपने 'भारत-भ्रमण' में किया है। उसने लिखा है कि गङ्गा-यमुना के सङ्गम पर एक वट-वृक्ष था, वहाँ बहुत से स्वर्ग और मुक्ति को चाहने वाले व्यक्ति कूद कर मर गये।

अविज्ञ अविद्या में पड़ा हुआ (भिक्षु) पुण्याभिसंस्कार को भी करता है, अपुण्याभिसंस्कार को भी करता है, आनेंजाभिसंस्कार को भी करता है। भिक्षुओ, जब भिक्षु की अविद्या दूर हो जाती है, विद्या उत्पन्न होती है, तब वह अविद्या के विराग से, विद्या की उत्पत्ति से पुण्याभिसंस्कार को भी...नहीं करता है।"[1]

यहाँ (फिर) प्रश्न होता है—इसे मानते हैं कि अविद्या संस्कारों का प्रत्यय है, किन्तु इसे बतलाओ—'किन संस्कारों का किस प्रकार प्रत्यय होती है ?'

यह उत्तर दिया जाता है—भगवान् द्वारा—"(१) हेतु प्रत्यय, (२) आलम्बन प्रत्यय, (३) अधिपति प्रत्यय, (४) अनन्तर प्रत्यय (५) समानान्तर प्रत्यय (६) सहजात प्रत्यय (७) अन्योन्य प्रत्यय (८) निश्रय प्रत्यय (९) उपनिश्रय प्रत्यय (१०) पुरेजात प्रत्यय (११) पश्चात्-जात प्रत्यय (१२) आसेवन प्रत्यय (१३) कर्म प्रत्यय (१४) विपाक प्रत्यय (१५) आहार प्रत्यय (१६) इन्द्रिय प्रत्यय (१७) ध्यान प्रत्यय (१८) मार्ग प्रत्यय (१९) सम्प्रयुक्त प्रत्यय (२०) विप्रयुक्त प्रत्यय (२१) अस्ति प्रत्यय (२२) नास्ति प्रत्यय (२३) विगत प्रत्यय (२४) अविगत प्रत्यय।"[2] चौबीस प्रत्यय कहे गये हैं।

हेतु प्रत्यय

वह हेतु है और प्रत्यय भी, इसलिये हेतु-प्रत्यय कहा जाता है। हेतु होकर प्रत्यय है, हेतु-भाव से प्रत्यय है—कहा गया है। आलम्बन प्रत्यय आदि में भी इसी प्रकार। **हेतु**—यह वचन-अवयव, कारण, मूल का नाम है। प्रतिज्ञा, हेतु[3] आदि में वचन-अवयव लोक में हेतु कहा जाता है। किन्तु शासन (=बौद्धधर्म) में—"जो धर्म हेतु से उत्पन्न हैं"[4] आदि में कारण, "तीन कुशल हेतु हैं, तीन अकुशल हेतु हैं"[5] आदि में मूल हेतु कहा जाता है। वह यहाँ अभिप्रेत है।

प्रत्यय—यहाँ यह शब्दार्थ है—इसके कारण से आता है, इसलिये प्रत्यय है। उसे त्याग कर नहीं रहता है—यह अर्थ है। जो धर्म जिस धर्म को बिना त्यागे रहता है या उत्पन्न होता है, वह उसका प्रत्यय कहा गया है। लक्षण से प्रत्यय उपकार करने के लक्षण वाला है। जो धर्म जिस धर्म की स्थिति या उत्पत्ति का उपकारक होता है, वह उसका प्रत्यय कहा जाता है। प्रत्यय, हेतु, कारण, निदान, सम्भव, प्रभव आदि अर्थ से एक हैं, व्यञ्जन से (ही) भिन्न हैं। इस प्रकार मूल के अर्थ से हेतु और उपकारक के अर्थ से प्रत्यय—ऐसे संक्षेप में मूल के अर्थ से उपकारक धर्म हेतु-प्रत्यय है।

---

१. संयुत्त नि० १२, ६, १।

२. पट्ठानप्पकरण १।

३. "प्रतिज्ञा, हेतु" यहाँ, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन,—इन पाँच अवयवों से युक्त वचन परमार्थ अनुमान को सिद्ध करने वाला होता है। तर्क संग्रह में कहा गया है—"प्रतिज्ञा-हेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः। पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञा। धूमवत्वादिति हेतुः। यो यो धूमवान् स स वह्निमानित्युदाहरणं। तथा चायमित्युपनयः। तस्मात्तथेति निगमनम्।" यही बात न्यायसूत्र में भी आई हुई है—"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः।" १, ३२ ॥

४. महावग्ग।

५. धम्मसङ्गणी।

वह धान आदि के धान के बीज आदि के समान और मणि की प्रभा आदि के मणि के वर्ण आदि के समान कुशल आदि को कुशल आदि बनाने वाला है—ऐसा आचार्यों का अभिप्राय है।[1] किन्तु ऐसा होने पर उससे उत्पन्न हुए रूपों में हेतु-प्रत्यय का होना नहीं सिद्ध होता है, क्योंकि वह उनके कुशल आदि होने को नहीं सिद्ध करता है और न तो प्रत्यय नहीं होता है। यह कहा गया है—"हेतु हेतु से युक्त धर्मों और उससे उत्पन्न हुए रूपों का हेतु-प्रत्यय से प्रत्यय होता है।"[2] अहेतुक चित्तों का इसके बिना अव्याकृत होना सिद्ध है और सहेतुकों का भी योनिशः मनस्कार आदि से प्रतिबद्ध का कुशल आदि होना (सिद्ध है), किन्तु हेतु से युक्त का प्रतिबद्ध होना (सिद्ध) नहीं है। यदि हेतु से युक्तों में स्वभाव से ही कुशल आदि होना हो, तो युक्तों में हेतु से प्रतिबद्ध अलोभ कुशल हो या अव्याकृत। चूँकि दोनों भी होता है, इसलिये जैसे युक्तों में, ऐसे ही हेतुओं में भी कुशल आदि होने को ढूँढ़ना चाहिये।

कुशल आदि होने को सिद्ध करने से हेतुओं के मूलार्थ को न ग्रहण कर (आलम्बन में) सुप्रतिष्ठित होने को सिद्ध करने से ग्रहण किये जाने पर कुछ विरुद्ध नहीं होता है। हेतु-प्रत्यय को पाये हुए ही धर्म, बढ़े हुए जड़वाले वृक्ष के समान स्थिर और सुप्रतिष्ठित होते हैं। अहेतुक तिल-बीज[3] आदि सेवाल के समान सुप्रतिष्ठित नहीं होते हैं। इस प्रकार मूल के अर्थ से उपकारक, अर्थात् सुप्रतिष्ठित होने को सिद्ध करने से उपकारक धर्म को हेतु-प्रत्यय जानना चाहिये।

आलम्बन प्रत्यय

उसके पश्चात् दूसरे (प्रत्ययों) में आलम्बन होने से उपकार करने वाला धर्म आलम्बन-प्रत्यय है। वह "रूपायतन चक्षु-विज्ञान धातु का" ऐसे आरम्भ करके भी "जिस जिस धर्म को लेकर जो-जो चित्त-चैतसिक धर्म उत्पन्न होते हैं, वे-वे धर्म उन-उन धर्मों के आलम्बन-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।"[4] समाप्त किये जाने से कोई धर्म नहीं होता है—ऐसा नहीं है। जैसे कि दुर्बल आदमी डण्डे या रस्सी के सहारे ही उठता और खड़ा होता है, ऐसे चित्त-चैतसिक धर्म रूप आदि के सहारे ही उत्पन्न होते और ठहरते हैं, इसलिये सारे भी चित्त-चैतसिकों के आलम्बन हुए धर्म को आलम्बन-प्रत्यय जानना चाहिये।

अधिपति प्रत्यय

ज्येष्ठ के अर्थ से उपकार करने वाला धर्म अधिपति-प्रत्यय है। वह सहजात और आलम्बन के अनुसार दो प्रकार का होता है। वहाँ, "छन्द-अधिपति, छन्द से युक्त धर्मों और उनसे उत्पन्न रूपों का अधिपति-प्रत्यय से प्रत्यय होता है।"[5] आदि वचन से छन्द, वीर्य, चित्त, मीमांसा नामक चारों धर्मों को अधिपति-प्रत्यय जानना चाहिये, किन्तु एक में नहीं। जब छन्द को मुख्य, छन्द

---

१. "रेवत आदि आचार्यों का अभिप्राय है"—टीका में कहा गया है, किन्तु 'लीनत्थवण्णना' में "आचार्य कहकर रेवत स्थविर को कह रहे हैं" कहा गया है; और महावंश के अनुसार रेवत-स्थविर आचार्य बुद्धघोष के भारतीय आचार्य थे।

२. पट्ठान १।

३. तिल-बीज सेवाल विशेष है। अभिधानप्पदीपिका में कहा गया है—"सेवाला तिलबीजञ्च सङ्खो च पणकादयो।" [२, ९०]

४. पट्ठान १।

५. पट्ठान २।

को ज्येष्ठ करके चित्त प्रवर्तित होता है, तब छन्द ही अधिपति होता है, दूसरे नहीं। इसी प्रकार शेषों में भी। जिस धर्म को प्रधान करके अरूप-धर्म प्रवर्तित होते हैं, वह उनका आलम्बनाधिपति है। इसलिये कहा है—"जिस-जिस धर्म को प्रधान करके जो-जो चित्त-चैतसिक धर्म उत्पन्न होते हैं, वे-वे धर्म उन-उन धर्मों के अधिपति-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।"[1]

अनन्तर-प्रत्यय और समानान्तर-प्रत्यय

अन्तर नहीं डालकर उपकार करने वाला धर्म **अनन्तर-प्रत्यय** है। समानान्तर होने से उपकार करने वाला धर्म **समानान्तर-प्रत्यय** है। इन दोनों प्रत्ययों का नाना प्रकार से वर्णन करते हैं।[2] यह यहाँ सार है—जो कि यह चक्षु-विज्ञान के अनन्तर मनोधातु होती है, मनोधातु के अनन्तर मनोविज्ञान-धातु होती है आदि चित्त का नियम है, वह चूँकि पूर्व-पूर्व के चित्त से ही सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं, इसलिये अपने-अपने अनन्तर अनुरूप चित्त को उत्पन्न करने में समर्थ धर्म अनन्तर-प्रत्यय है। उसी से कहा है—"अनन्तर-प्रत्यय = चक्षुर्विज्ञान-धातु और उससे युक्त धर्म, मनोधातु और उससे युक्त धर्म का अनन्तर प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।" आदि। जो अनन्तर-प्रत्यय है, वही समानान्तर-प्रत्यय है। यहाँ व्यञ्जन मात्र ही भिन्न हैं, किन्तु उपचय-सन्तति और अधिवचन निरुक्ति द्विक्[3] आदि के समान अर्थ से भिन्नता नहीं है।

जो भी काल (= अध्व) के अनन्तर होने से अनन्तर-प्रत्यय होता है, वह काल के अनन्तर होने से समानान्तर-प्रत्यय होता है—ऐसा आचार्यों[4] का मत है। वह "निरोध से उठते हुए का नैवसंज्ञानासंज्ञायतन-कुशल फल-समापत्ति का समानान्तर-प्रत्यय से प्रत्यय होता है।" आदि से विरुद्ध हो जाता है।[5]

जो भी कहते हैं—'धर्मोंको उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं घटती है, किन्तु भावना के बल से रोके होने से धर्म समानान्तर नहीं उत्पन्न होते हैं।' वह भी काल के अनन्तर होने से अभाव को ही सिद्ध करता है। भावना के बल से वहाँ काल का अनन्तर नहीं होता है—हम भी यही कहते हैं। चूँकि काल का अनन्तर नहीं होता है, इसलिये समानान्तर-प्रत्यय का होना युक्त नहीं है। काल के अनन्तर होने से समानान्तर-प्रत्यय होता है—ऐसा वे मानते हैं, इसलिये आग्रह नहीं करके व्यञ्जन मात्र से ही यहाँ भिन्नता जाननी चाहिये, अर्थ से नहीं। कैसे? इनका अन्तर नहीं है, इसलिये अनन्तर कहे जाते हैं और (रूप धर्मों के समान) बनावट के अभाव से भली प्रकार अनन्तर ही समानान्तर है।

---

१. पट्ठान २।

२. व्यर्थ का ग्रन्थ-विस्तार करते हैं—यह अर्थ है—सिंहल सन्नय।

३. देखिये, धम्मसङ्गणी।

४. रेवत स्थविर आदि आचार्यों का मत है—टीका।

५. जो भिक्षु निरोध-समापत्ति को समापन्न होता है, वह आकिंचन्यायतन के पीछे एक-दो चित्त में ही नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को समापन्न होकर चित्त-रहित हो जाता है और उस निरोध समापत्ति से सप्ताह भर भी व्यतीत करता है, इसलिये वहाँ काल का अनन्तर होना नहीं सिद्ध है, केवल चित्त का ही अनन्तर होता है।

सहजात प्रत्यय

उत्पन्न होते हुए ही साथ उत्पन्न होने से उपकार करने वाला सहजात-प्रत्यय है। प्रकाश के लिए प्रदीप के समान। वह अरूप-स्कन्ध आदि के अनुसार छः प्रकार का होता है। जैसे कहा है—"चारों अरूपी-स्कन्ध परस्पर सहजात-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं। चारों महाभूत परस्पर···प्रतिसन्धि (=अवक्रान्ति) के क्षण नाम-रूप परस्पर······चित्त-चैतसिक धर्म चित्त से उत्पन्न हुए रूपों के ···महाभूत उपादा रूपों के···रूपी-धर्म अरूपी धर्मों के किसी समय सहजात-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं, किसी समय न सहजात-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।"[१] यह हृदय-वस्तु के ही प्रति कहा गया है।

अन्योन्य प्रत्यय

परस्पर उत्पत्ति और उपस्तम्भ होने के अनुसार उपकार करने वाला धर्म, एक दूसरे को सम्हालने वाले त्रिदण्ड के समान अन्योन्य प्रत्यय है। वह अरूप-स्कन्ध आदि के अनुसार तीन प्रकार का होता है। जैसे कहा है—"चारों अरूपी स्कन्ध अन्योन्य प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं। चारों महाभूत···प्रतिसन्धि के क्षण नाम-रूप अन्योन्य-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।"[१]

निश्रय प्रत्यय

अधिष्ठान और निश्रय के आकार से उपकार करने वाला धर्म, वृक्ष, चित्र-कर्म आदि के लिए पृथ्वी, वस्त्र आदि के समान निश्रय-प्रत्यय है। वह "चारों अरूपी-स्कन्ध परस्पर निश्रय-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।"[१] ऐसे सहजात में कहे गये प्रकार से ही जानना चाहिये। यहाँ छठाँ भाग, "चक्षु-आयतन चक्षुर्विज्ञान-धातु का···श्रोत्र···घ्राण···जिह्वा···काय आयतन कायविज्ञान धातु और उससे युक्त धर्मों का निश्रय-प्रत्यय से प्रत्यय होता है। जिस रूप के सहारे मनोधातु और मनोविज्ञान-धातु होती हैं, वह रूप मनोधातु, मनोविज्ञान-धातु और उससे युक्त धर्मों का निश्रय-प्रत्यय से प्रत्यय होता है।"[२] ऐसे विभक्त हुआ है।

उपनिश्रय प्रत्यय

उपनिश्रय-प्रत्यय—यहाँ, यह शब्दार्थ है—उसके अधीन होने के स्वभाव से फल से निश्रित, अलग नहीं हुआ निश्रय है। जैसे अत्यन्त परिश्रम उपायास कहा जाता है, ऐसे अत्यन्त निश्रय उपनिश्रय है। बलवान् कारण का यह नाम है। इसलिये बलवान् कारण होने से उपकार करने वाला धर्म उपनिश्रय प्रत्यय है—ऐसा जानना चाहिये। वह आलम्बन उपनिश्रय, अनन्तर-उपनिश्रय, प्रकृति-उपनिश्रय—ऐसे तीन प्रकार का होता है।

वहाँ "दान देकर, शील ग्रहण करके, उपोशथ-कर्म करके, उसे प्रधान करके प्रत्यवेक्षण करता है, पहले के किये हुए कुशल-कर्म को प्रधान करके प्रत्यवेक्षण करता है। ध्यान से उठकर ध्यान को प्रधान करके प्रत्यवेक्षण करता है। शैक्ष्य गोत्रभू[३] को प्रधान करके प्रत्यवेक्षण करते हैं। अवदान[४]

---

१. तिकपट्ठान ३।

२. तिकपट्ठान ४।

३. स्रोतापत्ति-मार्ग के गोत्रभू-चित्त को।

४. यह सकृदागामी और अनागामी के प्रति कहा गया है, क्योंकि उनका चित्त अवदान होता है।

को प्रधान करके प्रत्यवेक्षण करते हैं। शैक्ष्य मार्ग से उठकर मार्ग को प्रधान करके प्रत्यवेक्षण करते हैं।" ऐसे आदि प्रकार से **आलम्बन-उपनिश्रय** आलम्बनाधिपतिके साथ भेद न करके ही विभक्त हुआ है। वहाँ, जिस आलम्बन को प्रधान करके चित्त-चैतसिक उत्पन्न होते हैं, वह नियम से उनके आलम्बनों में बलवान् आलम्बन होता है। इस प्रकार प्रधान करने मात्र के अर्थ से आलम्बनाधिपति और बलवान् कारण के अर्थ से आलम्बन-उपनिश्रय है—ऐसे इनके भेद को जानना चाहिये।

अनन्तर-उपनिश्रय भी—"पहले-पहले के कुशल-स्कन्ध पिछले-पिछले कुशल-स्कन्धों के उपनिश्रय-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।" आदि प्रकार से अनन्तर-प्रत्यय के साथ भेद नहीं करके ही विभक्त हुआ है। उनकी मात्रिका के निःक्षेप में "चक्षु-विज्ञान-धातु और उससे सम्प्रयुक्त धर्म मनोधातु और उससे सम्प्रयुक्त धर्मों का अनन्तर-प्रत्यय से प्रत्यय होता है।" आदि प्रकार से अनन्तर का "पहले-पहले के कुशल-धर्म पिछले-पिछले कुशल धर्मों के उपनिश्रय-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।" आदि प्रकार से उपनिश्रय के आये हुए होने से निःक्षेप में विशेषता है, वह भी अर्थ से एक ही में हो जाता है। ऐसा होने पर भी अपने-अपने अनन्तर अनुरूप-चित्त की उत्पत्ति के प्रवर्तन की सामर्थ्यसे अनन्तर होने और पहले चित्त का पिछले चित्त से बलवान् होने से अनन्तर-उपनिश्रय होना जानना चाहिये।

जैसे हेतु-प्रत्यय आदि में किसी (प्रत्यय) धर्म के बिना भी चित्त उत्पन्न होता है, ऐसे अनन्तर-चित्त के बिना भी चित्त की उत्पत्ति के नहीं है, इसलिए बलवान् प्रत्यय होता है। इस प्रकार अपने-अपने अनन्तर अनुरूप-चित्त की उत्पत्ति के अनुसार अनन्तर प्रत्यय होता है। बलवान् कारण के अनुसार अनन्तर-उपनिश्रय होता है—ऐसे इनका भेद जानना चाहिये।

प्रकृति-उपनिश्रय—प्राकृतिक उपनिश्रय ही प्रकृति-उपनिश्रय है। प्रकृति कहते हैं अपने भीतर निष्पादित श्रद्धा, शील आदि को, या उपसेवित ऋतु, भोजन आदि को, अथवा प्रकृति से ही उपनिश्रय हुआ प्रकृति-उपनिश्रय है। आलम्बन-अनन्तर से अ-मिश्रित—अर्थ है। उसका—"प्रकृति-उपनिश्रय, श्रद्धा के उपनिश्रय से दान देता है, शील ग्रहण करता है, उपोशथ-कर्म करता है, ध्यान उत्पन्न करता है, विपश्यना उत्पन्न करता है, अभिज्ञा उत्पन्न करता है, समापत्ति उत्पन्न करता है। शील···श्रुत···त्याग···प्रज्ञा के उपनिश्रय से दान देता है, ···समापत्ति उत्पन्न करता है। श्रद्धा, शील, श्रुत, त्याग, प्रज्ञा, श्रद्धा का, शील का, श्रुत का, त्याग का, प्रज्ञा का उपनिश्रय-प्रत्यय से प्रत्यय होता है।" आदि ढंग से अनेक प्रकार का प्रभेद जानना चाहिये। इस प्रकार ये श्रद्धा आदि प्रकृति और बलवान्-कारण के अर्थ से उपनिश्रय हैं, इसलिए प्रकृति-उपनिश्रय कहा जाता है।

पुरेजात प्रत्यय

प्रथमतर उत्पन्न होकर वर्तमान् होने से उपकार करनेवाला धर्म पुरेजात-प्रत्यय है। वह पाँचों 'द्वारों' पर वस्तु, आलम्बन, हृदयवस्तु के अनुसार ग्यारह प्रकार का होता है। जैसे कहा है—"चक्षु-आयतन चक्षुर्विज्ञान-धातु और उससे सम्प्रयुक्त धर्मों का पुरेजात प्रत्यय से प्रत्यय होता है। श्रोत्र···घ्राण···जिह्वा···कायायतन··· रूपायतन···शब्द···गन्ध···रस···स्पर्शायतन मनोधातुका ···जिस रूप के सहारे मनोधातु और मनोविज्ञान-धातु होती है, वह रूप मनोधातु और उससे सम्प्रयुक्त धर्मों का पुरेजात प्रत्यय से प्रत्यय होता है। मनोविज्ञान-धातु और उससे सम्प्रयुक्त धर्मों का किसी समय पुरेजात-प्रत्यय से प्रत्यय होता है और किसी समय पुरेजात-प्रत्यय से प्रत्यय नहीं होता है।"

पश्चात्-जात प्रत्यय

पहले उत्पन्न हुए रूप-धर्मों का उपस्तम्भ होने से उपकार करने वाला अरूप-धर्म, गृद्ध के बच्चों के शरीर के लिए आहार की आशा वाली चेतना के समान[1] पश्चात्-जात प्रत्यय हैं। इसलिए कहा है— "पीछे उत्पन्न हुए चित्त-चैतसिक धर्म पहले उत्पन्न इस काय का पश्चात्-जात् प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।"

आसेवन प्रत्यय

आसेवन करने के अर्थ से अनन्तर (धर्मों) के अभ्यस्त होने से उपकार करने वाला धर्म ग्रन्थ आदि में पहले-पहले में भिड़ने[2] के समान आसेवन प्रत्यय है। वह कुशल, अकुशल, क्रिया-जवन के अनुसार तीन प्रकार का होता है। जैसे कहा है—"पहले-पहले के कुशल धर्म, पिछले-पिछले कुशल धर्मों के आसेवन-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं। पहले-पहले के अकुशल···क्रिया-अव्याकृत-धर्म पिछले-पिछले क्रिया-अव्याकृत धर्मों के आसेवन-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।"

कर्म प्रत्यय

चित्त का प्रयोग कही जाने वाली क्रिया से उपकार करने वाला धर्म कर्म-प्रत्यय है। वह नाना क्षणों में उत्पन्न होने वाली कुशल, अकुशल चेतना और सहजात सभी चेतना के अनुसार दो प्रकार का होता है। जैसे कहा है—"कुशल-अकुशल कर्म, विपाक के स्कन्धों और कर्मज-रूपों का कर्म-प्रत्यय से प्रत्यय होता है। चेतना से सम्प्रयुक्त धर्मों और उनसे उत्पन्न रूपों का कर्म-प्रत्यय से प्रत्यय होता है।"

विपाक-प्रत्यय

निरुत्साह-शान्त होने से निरुत्साह-शान्त-भाव के लिये उपकार करने वाला विपाक-धर्म विपाक-प्रत्यय है। वह प्रवर्ति (=जीवन-काल) में उससे उत्पन्न हुए और प्रतिसन्धि में कर्मज रूपों तथा सर्वत्र[3] सम्प्रयुक्तों का प्रत्यय होता है। जैसे कहा है—"विपाक-अव्याकृत एक स्कन्ध तीनों स्कन्धों और चित्त से उत्पन्न हुए रूपों का विपाक-प्रत्यय से प्रत्यय से होता है।···प्रतिसन्धि के क्षण विपाक-अव्याकृत एक स्कन्ध तीनों···तीनों स्कन्ध एक का···दो स्कन्ध दो स्कन्धों और कर्मज रूपों का विपाक-प्रत्यय से प्रत्यय होता है। स्कन्ध वस्तु का, विपाक-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।

आहार प्रत्यय

रूप और अरूप को सम्हालने से उपकार करने वाले चारों आहार आहार-प्रत्यय है। जैसे कहा है—"कवलिंकार आहार इस काय का आहार-प्रत्यय से प्रत्यय होता है। अरूपी आहार सम्प्र-

१. 'माँ अब आहार लायेगी, माँ अब आहार लायेगी' कह कर आहार की आशा से जीने वाले गृद्ध के बच्चों की चेतना के समान। कहा गया है— "इससे मनोसंचेतना-आहार के अनुसार होने वाले अरूप-धर्मों से रूप-काय का उपस्तम्भित होना दिखलाते हैं, उससे ही आहार की आशा के समान न कहकर चेतना ग्रहण करते हैं।"—लीनत्थवण्णना-टीका।

२. पढ़ने, सुनने, बाँचने आदि में पहले-पहले को पढ़े जाने से।

३. प्रतिसन्धि में ही—सिंहल।

युक्त धर्मों और उनसे उत्पन्न रूपों का आहार-प्रत्यय से प्रत्यय होता है।" किन्तु पञ्हवार[1] में— "प्रतिसन्धि के क्षण विपाक-अव्याकृत-आहार सम्प्रयुक्त स्कन्धों और कर्मज रूपों का आहार-प्रत्यय से प्रत्यय होता है" भी कहा गया है।

इन्द्रिय प्रत्यय

अधिपति के अर्थ से उपकार करने वाली स्त्री-इन्द्रिय और पुरुषेन्द्रिय को छोड़ कर बीस इन्द्रियाँ इन्द्रिय-प्रत्यय है। वहाँ, चक्षु-इन्द्रिय आदि अरूप-धर्मों का ही, तथा शेष रूप और अरूप का प्रत्यय होती हैं। जैसे कहा है—"चक्षु-इन्द्रिय चक्षुर्विज्ञान-धातु का···श्रोत्र···घ्राण··· जिह्वा···काय-इन्द्रिय काय-विज्ञान-धातु और उससे सम्प्रयुक्त धर्मों का इन्द्रिय-प्रत्यय से प्रत्यय होती है। रूप-जीवितेन्द्रिय कर्मज रूपों का इन्द्रिय-प्रत्यय से प्रत्यय होती है। अरूप-इन्द्रियाँ सम्प्रयुक्त धर्मों और उनसे उत्पन्न रूपों का इन्द्रिय-प्रत्यय से प्रत्यय होती हैं।" किन्तु पञ्हवार में "प्रतिसन्धि के क्षण विपाक-अव्याकृत इन्द्रियाँ सम्प्रयुक्त स्कन्धों और कर्मज-रूपों का इन्द्रिय-प्रत्यय से प्रत्यय होती हैं।" भी कहा गया है।

ध्यान प्रत्यय

(आलम्बनों का) चिन्तन करने के अर्थ से उपकार करने वाले—द्विपञ्च-विज्ञानों में से सुख-दुःख वाली दोनों वेदनाओं को छोड़कर सारे भी कुशल आदि के भेद वाले ध्यान के सात अङ्ग[2] ध्यान-प्रत्यय है। जैसा कहा है—"ध्यान के अंग ध्यान से सम्प्रयुक्त धर्मों और उससे उत्पन्न रूपों का ध्यान-प्रत्यय से प्रत्यय होता है।" किन्तु पञ्हवार में—"प्रतिसन्धि के क्षण विपाक-अव्याकृत ध्यानों के अङ्ग सम्प्रयुक्त स्कन्धों और कर्मज-रूपों का ध्यान-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।" भी कहा गया है।

मार्ग प्रत्यय

जहाँ तहाँ से निकल कर जाने के अर्थ से उपकार करने वाले कुशल आदि बारह मार्ग के अङ्ग[3] मार्ग-प्रत्यय है। जैसे कहा है—"मार्ग के अङ्ग मार्ग से सम्प्रयुक्त धर्मों और उससे उत्पन्न रूपों का मार्ग-प्रत्यय से होते हैं।" किन्तु पञ्हवार में—"प्रतिसन्धि के क्षण विपाक-अव्याकृत मार्गों के अङ्ग सम्प्रयुक्त स्कन्धों और कर्मज रूपों का मार्ग प्रत्यय से प्रत्यय होता है।" भी कहा गया है। ये दोनों भी ध्यान और मार्ग प्रत्यय द्विपञ्च-विज्ञान के अहेतुक चित्तों में नहीं होते हैं—ऐसा जानना चाहिये।

सम्प्रयुक्त प्रत्यय

एक वस्तु, एक आलम्बन, एक उत्पाद, एक निरोध कहे जाने वाले सम्प्रयुक्त होने से उपकार

१. पट्ठानप्पकरण के पञ्हवार में।

२. द्विपञ्च-विज्ञानों को छोड़कर शेष चित्तों में उत्पन्न वितर्क, विचार, प्रीति, सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा, चित्त की एकाग्रता—ये ध्यान के सात अङ्ग हैं।

३. मार्ग के बारह अंग हैं। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि, मिथ्या दृष्टि, मिथ्या संकल्प, मिथ्या व्यायाय, मिथ्या समाधि।

करने वाले अरूप-धर्म सम्प्रयुक्त-प्रत्यय है। जैसे कहा है—"चारों अरूपी स्कन्ध परस्पर सम्प्रयुक्त प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।

विप्रयुक्त प्रत्यय

एक वस्तु आदि न होकर उपकार करनेवाले रूपी धर्म अरूपी-धर्मों के और अरूपी भी रूपी (धर्मों) के विप्रयुक्त प्रत्यय होते हैं। वह सहजात, पश्चात्-जात, पुरेजात के अनुसार तीन प्रकार का होता है। यह कहा गया है—"सहजात कुशल-स्कन्ध चित्त से उत्पन्न रूपों के विप्रयुक्त प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं। पश्चात्-जात (=पीछे उत्पन्न) कुशल-स्कन्ध पुरेजात (=पहले उत्पन्न) इस काय का विप्रयुक्त प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।" किन्तु अव्याकृत पद के सहजात-विभङ्ग में—"प्रतिसन्धि के क्षण विपाक-अव्याकृत-स्कन्ध कर्मज रूपों के विप्रयुक्त-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं। स्कन्ध वस्तु[1] का, वस्तु स्कन्धों का विप्रयुक्त-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।" भी कहा गया है। पुरेजात को चक्षु इन्द्रिय आदि वस्तु के अनुसार ही जानना चाहिये। जैसे कहा है—"पुरेजात (=पहले उत्पन्न) चक्षु आयतन चक्षुर्विज्ञान का···कायायतन काय-विज्ञान का विप्रयुक्त-प्रत्यय से प्रत्यय होता है। वस्तु विपाक-अव्याकृत, क्रिया-अव्याकृत स्कन्धों का··· वस्तु कुशल स्कन्धों का···वस्तु अकुशल स्कन्धों का विप्रयुक्त-प्रत्यय होती है।"

अस्ति प्रत्यय

वर्तमान लक्षण वाले अस्ति-भाव (=होना) से उसी प्रकार के धर्म को सम्हालने से उपकार करने वाला धर्म अस्ति-प्रत्यय है। उसकी अरूप स्कन्ध, महाभूत, नाम-रूप, चित्त-चैतसिक, महाभूत, आयतन, वस्तु के अनुसार सात प्रकार से मात्रिका कही गई है। जैसे कहा है—"चारों अरूपी स्कन्ध परस्पर अस्ति-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं। चारों महाभूत···अवक्रान्ति (=प्रतिसन्धि) के क्षण नाम-रूप परस्पर···चित्त-चैतसिक धर्म चित्त से उत्पन्न रूपों का···महाभूत उपादा रूपों का···चक्षु-आयतन चक्षुर्विज्ञान धातु और उससे सम्प्रयुक्त धर्मों का अस्ति-प्रत्यय से प्रत्यय होता है। रूपायतन···स्पर्शायतन और उससे सम्प्रयुक्त धर्मों का···जिस रूप के सहारे मनोधातु और मनोविज्ञान-धातु होती हैं, वह रूप मनोधातु, मनोविज्ञान-धातु और उससे सम्प्रयुक्त धर्मों का अस्ति-प्रत्यय से प्रत्यय होता है।

किन्तु पञ्हवार में—"सहजात, पुरेजात पश्चात्-जात, आहार, इन्द्रिय।" भी कहकर सहजात में—"एक स्कन्ध तीनों स्कन्धों और उनसे उत्पन्न रूपों का अस्ति-प्रत्यय से प्रत्यय होता है।" आदि प्रकार से निर्देश किया गया है। पुरेजात में पहले उत्पन्न हुए चक्षु आदि के अनुसार निर्देश किया गया है। पश्चात्-जात में पहले उत्पन्न इस काय का पीछे उत्पन्न चित्त-चैतसिकों के प्रत्यय के अनुसार निर्देश किया गया है। आहार और इन्द्रिय में—"कवलिंकार आहार इस काय का अस्ति-प्रत्यय से प्रत्यय होता है। रूप-जीवितेन्द्रिय कर्मज-रूपों का अस्ति-प्रत्यय से प्रत्यय होती है।" ऐसे निर्देश किया गया है।

नास्ति प्रत्यय

अपने अनन्तर उत्पन्न होनेवाले अरूप धर्मों को प्रवर्तित होने के लिए अवसर देने से उपकार

१. हृदय-वस्तु।

करने वाले समानान्तर निरुद्ध हुए अरूप धर्म, नास्ति-प्रत्यय है। जैसे कहा है—"समानान्तर निरुद्ध चित्त-चैतसिक धर्म वर्तमान चित्त-चैतसिक धर्मों के नास्ति-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।"

विगत प्रत्यय

वे ही विगत-भाव से उपकारक होने से, विगत प्रत्यय है। जैसे कहा है—"समानान्तर विगत चित्त-चैतसिक धर्म वर्तमान चित्त-चैतसिक धर्मों के विगत-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।"

अविगत प्रत्यय

अस्ति-प्रत्यय-धर्म ही अविगत-भाव से उपकारक होने से अविगत-प्रत्यय जानना चाहिये। देशना के आकार या उस प्रकार के वैनेय व्यक्ति के अनुसार यह द्विक् कहा गया है। अहेतुक-द्विक् को कहकर भी हेतु-विप्रयुक्त द्विक् के (कहने के) समान।

ऐसे इन चौबीस प्रत्ययों में यह अविद्या—

पच्चयो होति पुञ्ञानं दुविधानेकधा पन।
परेसं पच्छिमानं सा एकधा पच्चयो मता॥

[पुण्यों का दो प्रकार से प्रत्यय होती है। दूसरों (=अपुण्यों) का अनेक प्रकार से। वह पिछलों (=आनेंजाभिसंस्कारों) का एक प्रकार से प्रत्यय मानी जाती है।]

पुण्यों का दो प्रकार से प्रत्यय होना

वहाँ, **पुण्यों का दो प्रकार से**—आलम्बन प्रत्यय और उपनिश्रय प्रत्यय से—दो प्रकार से प्रत्यय होती है। वह, अविद्या को क्षय = व्यय के तौर से विचार करने के समय कामावचर के पुण्याभिसंस्कारों का आलम्बन-प्रत्यय से प्रत्यय होती है। अभिज्ञा-चित्त[1] से (अपने तथा दूसरों के) मोह-युक्त चित्त को जानने के समय रूपावचर वालों का, अविद्या का समतिक्रमण करने के लिए दान आदि और कामावचर की पुण्य-क्रिया-वस्तुओं को[2] पूर्ण करने वालों का तथा रूपावचर-ध्यानों को उत्पन्न करने वालों का—उन दोनों का भी उपनिश्रय-प्रत्यय से प्रत्यय होता है। वैसे (ही) अविद्या से मूढ़ होने से काम-भव, रूप-भव की सम्पत्तियों की प्रार्थना करके उन्हीं पुण्यों को करने वाले का।

अपुण्यों का अनेक प्रकार से प्रत्यय होना

दूसरों का अनेक प्रकार से—अपुण्याभिसंस्कारों का अनेक प्रकार से प्रत्यय होती है। कैसे? यह अविद्या को लेकर राग आदि के उत्पन्न होने के समय आलम्बन-प्रत्यय से, प्रधान करने के

१. चैतोपर्य, पूर्वेनिवास, अनागतांश कहे जानेवाले अभिज्ञा-चित्त से—सन्नय।

२. पुण्य क्रिया-वस्तु दस हैं—दान, शील, भावना, अपचायन, सेवा-टहल करना, दान की पत्ति देना, पत्ति पाकर अनुमोदन करना, धर्मश्रवण, धर्म-देशना, दृष्टि को ऋजु करना। कहा भी है—

"दान सीलयथोपि भावनविधि, पत्ती च तम्मोदना।
वेय्यावच्चमुजू च धम्मसवणं, पूजा तथा देसना॥
एतानीध दसापि पुञ्ञकिरिया, वत्थूनि विञ्ञू वदे।
एसानुस्सति सम्पभासन दुके, तेनापि वा द्वादस॥"

आस्वादन करने के समय आलम्बनाधिपति और आलम्बन-उपनिश्रयसे, अविद्या से मूढ़ हुए दोष नहीं देखने वाले प्राणातिपात आदि करने वाले का उपनिश्रय प्रत्यय से, द्वितीय जवन आदि का अनन्तर, समानान्तर, अनन्तर उपनिश्रय, नास्ति, विगत प्रत्ययों से जिस किसी अकुशल (कर्म) को करते हुए (व्यक्ति) का हेतु, सहजात, अन्योन्य, निश्रय, सम्प्रयुक्त, अस्ति, अविगत प्रत्ययों से—ऐसे अनेक प्रकार से प्रत्यय होती है।

आनेंजों का एक प्रकार से प्रत्यय होना

पिछलों का एक प्रकार से प्रत्यय मानी जाती है—आनेंजाभिसंस्कारों का उपनिश्रय प्रत्यय से ही एक प्रकार से प्रत्यय मानी जाती है। वह इसका उपनिश्रय-भाव पुण्याभिसंस्कार में कहे गये ढंग से ही जानना चाहिये।

यहाँ कहा है—क्या यह एक ही अविद्या संस्कारों का प्रत्यय होती है अथवा अन्य भी प्रत्यय हैं? क्या यहाँ, यदि एक ही हो तो एक-कारण-वाद होगा, तब अन्य भी हैं, "अविद्या के प्रत्यय से संस्कार" ऐसे एक-कारण-निर्देश नहीं उत्पन्न होता है? नहीं उत्पन्न होता है—ऐसा नहीं। क्यों? चूँकि—

> **एकं न एकतो इध नानेकमनेकतोपि नो एकं।**
> **फलमत्थि, अत्थि पन एकहेतु फलदीपने अत्थो॥**

[कोई एक फल यहाँ एक से नहीं है। अनेक भी एक से नहीं हैं। अनेक से भी एक नहीं है। एक-हेतु-फल के प्रकाशन में अर्थ (= प्रयोजन) है।]

एक कारण से यहाँ कोई एक फल नहीं है, न तो अनेक और अनेक कारणों से भी एक नहीं है, किन्तु अनेक कारणों से अनेक ही होता है। वैसे ही अनेक ऋतु, पृथ्वी, बीज, जल रूपी कारणों से अनेक ही रूप, गन्ध, रस आदि अंकुर रूपी फल उत्पन्न होता हुआ दिखाई देता है। जो यह "अविद्या के प्रत्यय से संस्कार, संस्कार के प्रत्यय से विज्ञान" ऐसे एक हेतु-फल को प्रकाशित किया गया है। वहाँ अर्थ है=प्रयोजन विद्यमान है।

भगवान् कहीं प्रधान होने से, कहीं प्रगट होने से, कहीं असाधारण होने से, देशना के आकार और वैनेय (व्यक्ति) के अनुरूप होने से एक ही हेतु या फल को प्रकाशित करते हैं। "स्पर्श के प्रत्यय से वेदना" प्रधान होने से (उन्होंने) एक ही हेतु-फल कहा। क्योंकि, स्पर्श के अनुसार वेदना के नियमित होने से स्पर्श वेदना का प्रधान हेतु है और वेदना के अनुसार स्पर्श के नियमित होने से वेदना स्पर्श का प्रधान फल है। "श्लेष्मा (= कफ) से उत्पन्न रोग"[1] प्रगट होने से एक हेतु कहा। यहाँ श्लेष्मा प्रगट है, न कि कर्म आदि। "भिक्षुओ, जो कोई अकुशल-धर्म हैं, वे सब अनुचित रूप से मनस्कार करने से उत्पन्न होते हैं।" असाधारण होने से एक हेतु कहा। अकुशलों के लिये अनुचित रूप से मनस्कार करना असाधारण है। वस्तु, आलम्बन आदि साधारण हैं।

इसलिये यहाँ यह अविद्या अन्य वस्तु, आलम्बन, सहजात धर्म आदि संस्कार के कारणों के रहते हुए भी—"आस्वादका अवलोकन करनेवाले की तृष्णा बढ़ती है।"[2] और "अविद्या के समुदय से आश्रव का समुदय होता है।[3]" वचन से अन्य भी तृष्णा आदि संस्कार के हेतुओं के हेतु हैं—

१. अंगुत्तर नि० १०, १, १०।

२. संयुत्त नि० १२, ६, ३।

३. मज्झिम नि० १, १, २।

ऐसे प्रधान होने से "भिक्षुओ, अविज्ञ अविद्या में पड़ा हुआ (भिक्षु) पुण्याभिसंस्कार को भी संचित करता है।" प्रगट और असाधारण होने से संस्कारों के हेतु होने से प्रकाशित हैं—ऐसा जानना चाहिये। और इसी से एक-एक हेतु-फल से प्रकाशित करने में प्रयोजन जानना चाहिये।

यहाँ कहा है—ऐसा होने पर भी, एकदम अनिष्ट फल वाली स-दोष अविद्या का कैसे पुण्याभिसंस्कार और आनेंजाभिसंस्कार का प्रत्यय होना युक्त है? क्योंकि नीम के बीज से ऊख नहीं उत्पन्न होता है। कैसे नहीं युक्त होगा? लोक में—

विरुद्धो चाविरुद्धो च, सदिसासदिसो तथा।
धम्मानं पच्चयो सिद्धो, विपाका एव ते च न॥

[विरुद्ध, अविरुद्ध और वैसे ही सदृश, असदृश धर्मों का प्रत्यय सिद्ध है, वे विपाक ही नहीं हैं।]

(स्वभाव) धर्मों का स्थान, स्वभाव, कृत्य आदि विरुद्ध-अविरुद्ध प्रत्यय लोक में सिद्ध है। पहला चित्त बाद के चित्त का स्थान-विरुद्ध प्रत्यय है और पूर्व शिल्प आदि की शिक्षा पीछे होने वाली शिल्प आदि क्रियाओं का। कर्म-रूप का स्वभाव विरुद्ध प्रत्यय है और दूध आदि दही आदि का। आलोक चक्षु-विज्ञान का कृत्य-विरुद्ध और गुड़ आदि का शराब आदि। चक्षु-रूप आदि चक्षुर्विज्ञान आदि का स्थान-अविरुद्ध प्रत्यय हैं। पूर्वजवन आदि पिछले जवन आदि के स्वभाव-अविरुद्ध और कृत्य-अविरुद्ध प्रत्यय हैं। जैसे विरुद्ध-अविरुद्ध प्रत्यय सिद्ध हैं, ऐसे सदृश-असदृश भी। सदृश ऋतु, आहार कहा जाने वाला रूप, रूप का प्रत्यय है और धान के बीज आदि धान के फल आदि का। असदृश भी रूप अरूप का और अरूप रूप का प्रत्यय होता है। गाय के रोयें, भेंड़ के रोयें, सींग, दही और खली आदि दूब (=दुर्वा), सरकण्डा, खर (=भूतृण) आदि का।[1] जिन धर्मों के वे विरुद्ध-अविरुद्ध और सदृश-असदृश प्रत्यय हैं, वे धर्म उन धर्मों के विपाक नहीं ही हैं।

इस प्रकार यह अविद्या विपाक के अनुसार एकदम अनिष्ट फलवाली, स्वभाव के अनुसार स-दोष होते हुए भी, सभी इन पुण्याभिसंस्कार आदिका यथानुरूप स्थान, कृत्य, स्वभाव, विरुद्ध, अविरुद्ध प्रत्यय के अनुसार और सदृश-असदृश प्रत्यय के अनुसार प्रत्यय होती है—ऐसा जानना चाहिये। वह उसका प्रत्यय-भाव "जिसका दुःख आदि में अविद्या कहा जानेवाला अज्ञान अप्रहीण होता है, वह दुःख और पूर्वान्त आदि में अज्ञान से संसार-दुःख को सुख के ख्याल से ग्रहण करके उसके हेतु हुए तीनों प्रकार के संस्कारों को करता है।" आदि ढंग से कहा गया ही है। और भी यह दूसरा पर्याय है—

चुतूपपाते संसारे सङ्खारानञ्च लक्खणे।
यो पटिच्चसमुप्पन्न-धम्मेसु च विमुय्हति॥
अभिसङ्खरोति सो एते सङ्खारे तिविधे यतो।
अविज्जा पच्चयो तेसं तिविधानं अयं ततो॥

[च्युति-उत्पत्ति वाले संसार में संस्कारों के लक्षण और प्रतीत्य-समुत्पन्न-धर्मों में जो भूल जाता है, वह जिससे इन तीनों प्रकार के संस्कारों का संचय करता है, उससे यह अविद्या उन तीनों प्रकार का प्रत्यय है।]

---

१. गाय और भेड़ के रोयें दूब का, सींग सरकण्डा का, दही और खली खरका प्रत्यय होते हैं—ऐसे अर्थ समझना चाहिये—टीका।

कैसे जो इनमें भूल जाता है, वह इन तीनों प्रकार के भी संस्कारों को करता है ? च्युति में भूला हुआ सब जगह "स्कन्धों का भेद होना मरण है"—ऐसे च्युति को नहीं ग्रहण करते हुए, 'सत्त्व मरता है,' 'सत्त्व का एक देह से दूसरे देह में संक्रमण होता है'—आदि विकल्प करता है।

उत्पत्ति में भूला हुआ 'सब जगह स्कन्धों का प्रादुर्भाव जन्म है'—ऐसे उत्पत्ति को नहीं ग्रहण करते हुए, 'सत्त्व उत्पन्न होता है', 'सत्त्व के नये शरीर का प्रादुर्भाव होता है'—आदि विकल्प करता है।[1]

संसार में भूला हुआ, जो यह—

खन्धानञ्च पटिपाटि धातु आयतनान च।
अब्बोच्छिन्नं वत्तमाना संसारो' ति पवुच्चति॥

[स्कन्ध, धातु और आयतनों की अटूट प्रवर्तित परिपाटी 'संसार' कहा जाता है।]

—ऐसा वर्णित संसार है। उसे इस प्रकार ग्रहण करते हुए 'यह सत्त्व इस लोक से दूसरे लोक को जाता है, दूसरे लोक से इस लोक को आता है।' आदि का विकल्प करता है।

संस्कारों के लक्षण में भूला हुआ संस्कारों के स्वभाव लक्षण और (अनित्य आदि होने के) सामान्य लक्षण को नहीं ग्रहण करते हुए संस्कारों को आत्मा, आत्मीय, ध्रुव, सुख, शुभ के तौर पर विकल्प करता है।

प्रतीत्य-समुत्पन्न-धर्मों में भूला हुआ अविद्या आदि से संस्कार आदि के होने को नहीं ग्रहण करता हुआ, 'आत्मा जानती है[2] या नहीं जानती है,[3] वही करती है और करवाती है, प्रतिसन्धि में उत्पन्न होती है। अणु, ईश्वर आदि कलल आदि भाव से उसके शरीर को बनाते हुए इन्द्रियाँ सम्पादन करती हैं। वह इन्द्रिय-सम्पन्न होकर स्पर्श करती है, अनुभव करती है, दृढ़तापूर्वक ग्रहण करती है, जोड़ती है। वह फिर भवान्तर में होती है या "सभी सत्त्व...नियति-संगति (=भवितव्यता)- स्वभाव से परिणत हैं"[4] ऐसे विकल्प करता है।

वह अविद्या से अन्धा किया गया, ऐसे विकल्प करता हुआ, जैसे अन्धा पृथ्वी पर घूमते हुये मार्ग भी, अमार्ग भी, ऊँचे भी, नीचे भी, सम-भूमि पर भी, विषम-भूमि पर भी चलता है। ऐसे पुण्य भी, अपुण्य भी, आनेंज-अभिसंस्कार भी करता है। इसलिये यह कहा जाता है—

---

१. आत्मवादी ऐसा मानते हैं। जैसा कि गीता में भी कहा गया है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२,२२॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है; वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होती है।

२. कपिल मतावलम्बियों की आत्मा जानती है।

३. आजीवक आदि मतावलम्बियों की आत्मा नहीं जानती है।

४. यह मक्खलि गोसाल के सिद्धान्त के प्रति कहा गया है।

यथापि नाम जच्चन्धो नरो अपरिनायको।
एकदा याति मग्गेन कुमग्गेनापि एकदा॥
संसारे संसरं बालो तथा अपरिनायको।
करोति एकदा पुञ्ञं अपुञ्ञमपि एकदा॥
यदा च ञत्वा सो धम्मं सच्चानि अभिसमेस्सति।
तदा अविज्जूपसमा उपसन्तो चरिस्सति॥

[जैसे जन्म का अन्धा आदमी हाथ पकड़कर ले जाने वाले आदमी के नहीं होने पर कभी मार्ग से जाता है तो कभी कुमार्ग से भी। वैसे संसार में चक्कर काटता हुआ अज्ञ अकल्याण मित्र वाला कभी पुण्य करता है, तो कभी अपुण्य करता है। जब वह धर्म को जानकर सत्यों का अवबोध करेगा, तब अविद्या के उपशम से शान्त हुआ विचरण करेगा।]

यह "अविद्या के प्रत्यय से संस्कार" पद का विस्तार पूर्वक वर्णन है।

(२) संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान

"संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान" पद में 'विज्ञान' चक्षुर्विज्ञान आदि छः प्रकार का होता है। वहाँ, चक्षुर्विज्ञान कुशल-विपाक और अकुशल-विपाक—दो प्रकार का होता है। वैसे श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय-विज्ञान। मनोविज्ञान कुशल-अकुशल विपाक वाली दो मनोधातु, तीन अहेतुक मनोविज्ञान-धातु, आठ सहेतुक कामावचर-विपाक चित्त, पाँच रूपावचर, चार अरूपावचर—बाइस प्रकार का होता है। इस प्रकार इन छः विज्ञानों से सभी बत्तीस लौकिक विपाक-विज्ञान संगृहीत होते हैं, किन्तु लोकोत्तर संसार (= वर्त्त)-कथा में नहीं युक्त हैं, इसलिए नहीं ग्रहण किये गये हैं।

वहाँ (प्रश्न) हो सकता है—कैसे जानना चाहिये कि यह उक्त प्रकार का विज्ञान संस्कारों के प्रत्यय से होता है? संचित कर्मों के अभाव में विपाक के अभाव से। यह विपाक है और विपाक संचित कर्म के अभाव में नहीं उत्पन्न होता है। यदि उत्पन्न हो तो सब (सत्वों) के सब विपाक उत्पन्न हों, किन्तु नहीं उत्पन्न होते हैं; इसलिए जानना चाहिये कि संस्कारों के प्रत्यय से यह विज्ञान होता है।

किस संस्कार के प्रत्यय से कौन-सा विज्ञान होता है? कामावचर-पुण्याभिसंस्कार के प्रत्यय से कुशल-विपाक आदि पाँच चक्षु-विज्ञान आदि, मनोविज्ञान में एक मनोधातु, दो मनोविज्ञान धातुयें, आठ कामावचर महाविपाक—ऐसे सोलह। जैसे कहा है—"कामावचर कुशल-कर्म के किये होने से, संचित होने से विपाक-चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है।···श्रोत्र···घ्राण···जिह्वा···काय-विज्ञान···विपाक-मनोधातु उत्पन्न होती है।···सौमनस्य सहगत मनोविज्ञान-धातु उत्पन्न होती है।···उपेक्षा सहगत मनोविज्ञान-धातु उत्पन्न होती है।···सौमनस्य सहगत ज्ञान-सम्प्रयुक्त··· सौमनस्य सहगत ज्ञान-सम्प्रयुक्त स-संस्कृत से···सौमनस्य सहगत ज्ञान-विप्रयुक्त···सौमनस्य सहगत ज्ञान-विप्रयुक्त स-संस्कृत से···उपेक्षा सहगत ज्ञान-सम्प्रयुक्त···उपेक्षा सहगत ज्ञान-सम्प्रयुक्त स-संस्कृत से...उपेक्षा सहगत ज्ञान-विप्रयुक्त···उपेक्षा सहगत ज्ञान-विप्रयुक्त स-संस्कृत से।"[१]

रूपावचर पुण्याभिसंस्कार के प्रत्यय से पाँच रूपावचर-विपाक। जैसे कहा है—"उसी रूपावचर कुशल-कर्म के किये होने से, संचित होने से विपाक, कामों से रहित प्रथम-ध्यान···पंचम

१. धम्मसङ्गणी और विभङ्ग।

ध्यान को प्राप्त होकर विहार करता है।" ऐसे पुण्याभिसंस्कार के प्रत्यय से इक्कीस प्रकार का विज्ञान होता है।

अपुण्याभिसंस्कार के प्रत्यय से अकुशल-विपाक, पाँच चक्षुर्विज्ञान आदि, एक मनोधातु, एक मनोविज्ञान-धातु—ऐसे सात प्रकार का विज्ञान होता है। जैसे कहा है—"अकुशल कर्म के किये होने से, संचित होने से, विपाक-चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है।···श्रोत्र···घ्राण···जिह्वा···काय-विज्ञान···विपाक-मनोधातु···विपाक मनोविज्ञान धातु उत्पन्न होती है।"

आनेञ्जाभिसंस्कार के प्रत्यय से चार अरूप-विपाक—ऐसे चार प्रकार का विज्ञान होता है। जैसे कहा है—"उसी अरूपावचर कुशल-कर्म के किये होने से, संचित होने से, विपाक सब प्रकार से रूप-संज्ञाओं के समतिक्रमण से···आकाशानन्त्यायतन-संज्ञा-सहगत···विज्ञानन्त्यायतन···आकिंचन्यायतन···नैवसंज्ञानासंज्ञायतन-संज्ञा-सहगत सुख के प्रहाण से···चतुर्थ ध्यान को प्राप्त होकर विहार करता है।"

ऐसे जिस संस्कार के प्रत्यय से जो विज्ञान होता है, उसे जानकर, अब इस प्रकार इसकी प्रवर्तिको जानना चाहिये। यह सभी प्रवर्ति (=जीवन) और प्रतिसन्धि के अनुसार दो प्रकार से प्रवर्तित होता है। वहाँ, द्विपञ्च-विज्ञान, दो मनोधातु, सौमनस्य सहगत अहेतुक मनोविज्ञान-धातु—ये तेरह पञ्चोकार (=पञ्चस्कन्ध वाले)-भव में प्रवर्ति में ही प्रवर्तित होते हैं। शेष उन्नीस तीनों भवों में यथानुरूप प्रवर्ति में भी, प्रतिसन्धि में भी प्रवर्तित होते हैं।

कैसे? कुशल-विपाक चक्षुर्विज्ञान आदि पाँच कुशल-विपाक से या अकुशल-विपाक से उत्पन्न हुए, यथाक्रम-परिपक्व हुई इन्द्रिय वाले का चक्षु आदि के द्वार पर आये इष्ट (=प्रिय) या इष्ट-मध्यस्थ रूप आदि आलम्बनों के प्रति चक्षु आदि प्रसाद के कारण देखना, सुनना, सूँघना, चाटना, छूना—कृत्य को सिद्ध करते हुऐ प्रवर्तित होते हैं। वैसे पाँच अकुशल-विपाक। केवल उनका अनिष्ट या अनिष्ट-मध्यस्थ आलम्बन होता है। यही विशेषता है और ये दस भी नियत द्वार, आलम्बन, वस्तु, स्थान और नियत-कृत्य वाले ही होते हैं।

उससे कुशल-विपाकों का चक्षुर्विज्ञान आदि के अनन्तर कुशल-विपाक मनोधातु उन्हीं के आलम्बन के प्रति हृदय-वस्तु के सहारे सम्प्रतिच्छन्न कृत्य को सिद्ध करती हुई प्रवर्तित होती है। वैसे अकुशल-विपाकों के अनन्तर अकुशल-विपाक और यह दोनों अनियत द्वार, आलम्बन, नियत वस्तु, स्थान और नियत कृत्य वाला होता है।

सौमनस्य सहगत अहेतुक मनोविज्ञान-धातु कुशल-विपाक मनोविज्ञान-धातु के अनन्तर उसी के आलम्बन को लेकर हृदय-वस्तु के सहारे सन्तीरण कृत्य को सिद्ध करती हुई छः द्वारों पर बलवान् आलम्बन (=अति महन्त आलम्बन) में कामावचर के सत्त्वों को अधिकांशतः लोभ-सम्प्रयुक्त जवन के अन्त में भवाङ्ग की वीथि को काट कर जवन से ग्रहण किये गये आलम्बन में तदालम्बन के रूप में एक बार या दो बार प्रवर्तित होती है—ऐसा **मज्झिमट्ठकथा** में कहा गया है, किन्तु **अभिधम्मट्ठकथा** में तदालम्बन में दो चित्त के बार आये हुए हैं। यह चित्त तदालम्बन और पृष्ठ-भवाङ्ग—दो नामों से पुकारा जाता है। अनियत द्वार, आलम्बन, नियत वस्तु और अनियत स्थान, कृत्यवाला होता है। ऐसे तेरह पन्चस्कन्ध (=पन्चोकार)-भव में प्रवर्ति में ही प्रवर्तित होते हैं—ऐसा जानना चाहिये।

शेष उन्नीस में से अपने अनुरूप प्रतिसन्धि में कोई नहीं प्रवर्तित होता है—ऐसा नहीं है। प्रवर्ति में कुशल-अकुशल-विपाक, दो अहेतुक मनोविज्ञान-धातु, पन्चद्वार पर कुशल-अकुशल-

विपाक मनोधातु के अनन्तर सन्तीरण कृत्य, छः द्वारों पर पूर्वोक्त ढंग से ही तदालम्बन कृत्य, अपनी दी हुई प्रतिसन्धि से आगे भवाङ्ग का उपच्छेद करनेवाले चित्तोत्पाद के नहीं होने पर भवाङ्ग कृत्य और अन्त में च्युति कृत्य। ऐसे चार कृत्यों को सिद्ध करते हुए नियत वस्तु वाले और अनियत द्वार, आलम्बन, स्थान, कृत्य वाले होकर प्रवर्तित होते हैं।

आठ कामावचर-सहेतुक-चित्त कहे गये ढंग से ही छः द्वारों पर तदालम्बन कृत्य, अपनी दी हुई प्रतिसन्धि से आगे भवाङ्ग का उपच्छेद करनेवाले चित्तोत्पाद के नहीं होने पर भवाङ्ग कृत्य और अन्त में च्युति कृत्य – ऐसे तीन कृत्यों को सिद्ध करते हुए नियत वस्तु और अनियत द्वार, आलम्बन, स्थान, कृत्य वाले होकर प्रवर्तित होते हैं।

पाँच रूपावचर और चार अरूपावचर अपनी दी हुई प्रतिसन्धि से आगे भवाङ्ग का उपच्छेद करने वाले चित्तोत्पाद के नहीं होने पर भवाङ्ग कृत्य और अन्त में च्युति कृत्य—ऐसे दो कृत्यों को सिद्ध करते हुए प्रवर्तित होते हैं। उनमें रूपावचर वाले नियत वस्तु, आलम्बन और अनियत स्थान, कृत्य वाले हैं। दूसरे (=अरूप-विपाक) नियत वस्तु, नियत आलम्बन और अनियत स्थान, कृत्य वाले होकर प्रवर्तित होते हैं। ऐसे बत्तिस प्रकार का भी विज्ञान प्रवर्ति में संस्कारों के प्रत्यय से प्रवर्तित होता है। उसमें इनके वे-वे संस्कार कर्म-प्रत्यय और उपनिश्रय-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।

जो कि कहा गया है—शेष उन्नीस में से अपने अनुरूप प्रतिसन्धि में कोई नहीं प्रवर्तित होता है—ऐसा नहीं। वह अत्यन्त संक्षिप्त होने से जानना कठिन है। इसलिए उसका विस्तार पूर्वक वर्णन करने के लिए कहा जाता है—कितनी प्रतिसन्धियाँ हैं? कितने प्रतिसन्धिचित्त हैं? किससे कहाँ प्रतिसन्धि होती है? प्रतिसन्धि का क्या आलम्बन है?

असंज्ञा की प्रतिसन्धि के साथ बीस प्रतिसन्धियाँ हैं। उक्त प्रकार से ही उन्नीस प्रतिसन्धि-चित्त हैं। वहाँ, अकुशल-विपाक अहेतुक मनोविज्ञान-धातु से अपायों में प्रतिसन्धि होती है। कुशल-विपाक से मनुष्य-लोक में जन्मान्ध, जन्म से बधिर, जन्म से पागल, जन्म से मूक (= गूँगा), नपुंसक आदि की। आठ सहेतुक कामावचर के विपाकों से कामावचर के देवों और मनुष्यों में पुण्यवानों की प्रतिसन्धि होती है। पाँच रूपावचर के विपाकों से रूपी ब्रह्मलोक में, और चार अरूपावचर के विपाकों से अरूपलोक में। जिससे जहाँ प्रतिसन्धि होती है, वही उसके अनुरूप प्रतिसन्धि है। संक्षेप में प्रतिसन्धि के तीन आलम्बन होते हैं—(१) अतीत (२) वर्तमान् और (३) न-वक्तव्य। असंज्ञा-प्रतिसन्धि आलम्बन रहित होती है।

विज्ञानन्त्यायतन और नैवसंज्ञानासंज्ञायतन की प्रतिसन्धियों का अतीत ही आलम्बन होता है। दस कामावचर (की प्रतिसन्धियों) का अतीत या वर्तमान्, और शेषों का न-वक्तव्य। ऐसे तीनों आलम्बनों में प्रवर्तित होती हुई प्रतिसन्धि, चूँकि अतीत-आलम्बन या न वक्तव्य आलम्बन के च्युति-चित्त के अनन्तर ही प्रवर्तित होती है, वर्तमान् आलम्बन वाला च्युति-चित्त नहीं है—इसलिये दो आलम्बनों में से किसी एक आलम्बन की च्युति के अनन्तर तीनों आलम्बनों में से किसी एक आलम्बन वाली प्रतिसन्धि से सुगति, दुर्गति के अनुसार प्रवर्तित होने के आकार को जानना चाहिये।

जैसे—कामावचर-सुगति में रहने वाले पापी व्यक्ति को "वे (पाप कर्म) उस समय उसे दिखाई देते हैं।[1]" आदि वचन से मृत्यु-शय्या पर सोये हुए यथा-संचित पापकर्म या पाप-कर्म का

१. इसका भावार्थ है—मृत्यु-शय्या पर सोये हुए उसके पहले के किये हुए कर्म उसे दिखाई देते हैं। "जैसे अपराह्न काल में पर्वत की छाया भूमि पर पड़ती है, वैसे उस समय उसके कर्म उसे जान पड़ते हैं।"—सिंहल सन्नय।

निमित्त[1] मनोद्वार पर दिखाई देता है। उसके प्रति उत्पन्न तदालम्बन के अन्त में जवन-वीथि के अनन्तर भवाङ्ग के विषय को आलम्बन करके च्युति-चित्त उत्पन्न होता है। उसके निरुद्ध होने पर वही दिखाई दिये हुए कर्म या कर्म-निमित्त के प्रति अटूट क्लेशों के बल से झुका हुआ दुर्गति में होने वाला प्रतिसन्धि-चित्त उत्पन्न होता है। यह अतीत-आलम्बन वाली च्युति के अनन्तर अतीत-आलम्बन वाली प्रतिसन्धि है।

दूसरे के मरने के समय में उक्त प्रकार के कर्म के अनुसार नरक आदि में अग्नि-ज्वाला का वर्ण आदि दुर्गति का निमित्त मनोद्वार पर दिखाई देता है। उसे, दो बार भवाङ्ग के उत्पन्न होकर निरुद्ध होने पर उस आलम्बन के प्रति एक आवर्जन, मृत्यु के सन्निकट होने से वेग के मन्द पड़ जाने से पाँच जवन, दो तदालम्बन—ऐसे तीन वीथि-चित्त उत्पन्न होते हैं। उसके पश्चात् भवाङ्ग के विषय को आलम्बन करके एक च्युति-चित्त। यहाँ तक ग्यारह चित्त-क्षण बीत गये होते हैं। तब उसे अवशेष पाँच चित्त-क्षण की आयु वाले उसी आलम्बन में प्रतिसन्धि-चित्त उत्पन्न होता है। यह अतीत-आलम्बन वाली च्युति के अनन्तर वर्तमान्-आलम्बन वाली प्रतिसन्धि है।

दूसरे के मरने के समय में पाँचों द्वारों में से किसी एक में राग आदि हेतु से हीन आलम्बन दिखाई देता है। उसे[2] क्रमानुसार उत्पन्न हुए व्यवस्थापन-चित्त के अन्त में मृत्यु के सन्निकट होने से वेग के मन्द पड़े होने से पाँच जवन और तदालम्बन (चित्त) उत्पन्न होते हैं। उसके बाद भवाङ्ग के विषय को आलम्बन करके एक च्युति-चित्त। यहाँ तक दो भवाङ्ग, आवर्जन, दर्शन, सम्प्रतिच्छन्न, सन्तीरण, व्यवस्थापन, पाँच जवन, दो तदालम्बन, एक च्युति-चित्त--ऐसे पन्द्रह चित्त-क्षण बीत गये होते हैं। तब अवशेष एक चित्त-क्षण की आयु वाले उसी आलम्बन में प्रतिसन्धि चित्त उत्पन्न होता है। यह भी अतीत-आलम्बन वाली च्युति के अनन्तर वर्तमान् आलम्बन वाली प्रतिसन्धि है। यह अतीत आलम्बन वाली सुगति की च्युति के अनन्तर अतीत-वर्तमान् आलम्बन वाली दुर्गति की प्रतिसन्धि के प्रवर्तित होने का आकार है।

दुर्गति में रहने वाले निर्दोष-कर्म किये हुए (व्यक्ति) को उक्त ढंग से ही, वह दोष-रहित कर्म या कर्म का निमित्त मनोद्वार पर आता है,—ऐसे कृष्ण-पक्ष में शुक्ल पक्ष को रखकर सब पहले के ढंग से ही जानना चाहिये। यह अतीत-आलम्बन वाली दुर्गति की च्युति के अनन्तर अतीत-वर्तमान् आलम्बन वाली सुगति की प्रतिसन्धि के प्रवर्तित होने का आकार है।

सुगति में रहने वाले निर्दोष-कर्म किये हुए (व्यक्ति) को—"वे उस समय उसे दीख पड़ते हैं।[3]" आदि वचन से मृत्यु-शय्या पर सोते हुए यथा-संचित निर्दोष-कर्म या कर्म का निमित्त[4] मनोद्वार पर आता है और वह संचित कामावचर के निर्दोष-कर्म वाले को ही। संचित-महद्गत कर्म वाले को कर्म-निमित्त ही सामने आता है। उसके प्रति उत्पन्न तदालम्बन के अन्त या शुद्ध जवन-वीथि के अनन्तर भवाङ्ग के विषय को आलम्बन करके च्युति-चित्त उत्पन्न होता है। उसके निरुद्ध

---

१. जीव हिंसा करने के समय के हथियार आदि, चोरी करने के समय के सामान आदि पाप-कर्म के निमित्त कहे जाते हैं। ऐसे ही दस अकुशल-कर्म-पथों में यथा-सम्भव जानना चाहिये।

२. "उस योगी को" सिंहल सन्नय में अशुद्ध अर्थ लिखा हुआ है।

३. मज्झिम नि० ३,४,५।

४. कामावचर में जो कुछ दाक्षिणेय्य वस्तु और महद्गत में कसिण आदि कर्म-निमित्त हैं।

होने पर सामने आये हुए कर्म या कर्म-निमित्त के प्रति अटूट क्लेशों के बल से झुका हुआ सुगति में होने वाला प्रतिसन्धि-चित्त उत्पन्न होता है। यह अतीत आलम्बन वाली च्युति के अनन्तर अतीत-आलम्बन वाली या न-वक्तव्य आलम्बन वाली प्रतिसन्धि है।

दूसरे के मरने के समय में कामावचर के निर्दोष कर्म के अनुसार मनुष्य-लोक में माँ के पेट का वर्ण या देवलोक में उद्यान, विमान, कल्प-वृक्ष आदि वर्णरूपी सुगति का निमित्त मनोद्वार पर सामने आता है। उसे दुर्गति-निमित्त में दिखलाये गये अनुक्रमसे ही च्युति-चित्त के अनन्तर प्रतिसन्धि-चित्त उत्पन्न होता है। यह अतीत-आलम्बन वाली च्युति के अनन्तर वर्तमान् आलम्बन वाली प्रतिसन्धि है।

दूसरे के मरने के समय भाई-बन्धु—"तात! यह तेरे लिए बुद्ध-पूजा की जा रही है, चित्त को प्रसन्न कर" कहकर पुष्पोंकी माला, पताका आदि से रूपालम्बन, धर्मश्रवण, तूर्य-पूजा आदि शब्दालम्बन, धूप-वास, गन्ध आदि से गन्धालम्बन, "तात! यह चाटो, तेरे लिए देने का दान है" कह कर मधु, खाँड़ आदि से रसालम्बन या "तात! इसे छूओ, यह तेरे लिए देने का दान है।" कह कर चीन देश के बने वस्त्र (=चीनपट्ट), सोमार (=मिस्र ?) देश के बने वस्त्र (=सोमारपट्ट) आदि से स्पर्शालम्बन पाँचों द्वारों पर लाते हैं। उसे उस रूप आदि आलम्बन के सामने आने पर यथाक्रम से उत्पन्न हुए व्यवस्थापन के अन्त में मृत्यु के सन्निकट होने से वेग के मन्द होने से पाँच जवन और दो तदालम्बन उत्पन्न होते हैं। उसके बाद भवाङ्ग विषय को आलम्बन करके एक च्युति-चित्त, उसके अन्त में उसी एक चित्त-क्षण की स्थिति वाले आलम्बन में प्रतिसन्धि-चित्त उत्पन्न होता है। यह भी अतीत-आलम्बन वाली च्युति के अनन्तर वर्तमान् आलम्बन वाली प्रतिसन्धि है।

दूसरे पृथ्वी-कसिण के ध्यान आदि के अनुसार महद्गत-प्राप्त, सुगति में रहने वाले के मरने के समय कामावचर कुशल-कर्म, कर्म-निमित्त, गति-निमित्त में से कोई एक या पृथ्वी-कसिण आदि निमित्त अथवा महद्गत-चित्त मनोद्वार पर सामने आता है या चक्षु, श्रोत्र में से किसी एक में कुशल उत्पत्ति का हेतु प्रणीत-आलम्बन सामने आता है। उसे यथाक्रम से उत्पन्न हुए व्यवस्थापन के अन्त में मृत्यु के सन्निकट होने से वेग के मन्द पड़ जाने से पाँच जवन उत्पन्न होते हैं। महद्गत गति वालों को तदालम्बन नहीं होता है। इसलिए जवन के अनन्तर ही भवाङ्ग के विषय को आलम्बन करके एक च्युति-चित्त उत्पन्न होता है। उसके अन्त में कामावचर और महद्गत सुगति में से किसी एक सुगति में होने वाला, यथा-उपस्थित आलम्बनों में किसी एक आलम्बन वाला प्रतिसन्धि-चित्त उत्पन्न होता है। यह न-वक्तव्य-आलम्बन वाली सुगति की च्युति के अनन्तर अतीत-वर्तमान्-न-वक्तव्य आलम्बन वाली में से, किसी एक आलम्बन वाली प्रतिसन्धि है।

इसके अनुसार अरूप की च्युति के भी अनन्तर प्रतिसन्धि जाननी चाहिये। यह अतीत न-वक्तव्य आलम्बन वाली सुगति की च्युति के अनन्तर अतीत, न-वक्तव्य, वर्तमान् आलम्बन वाली प्रतिसन्धि के प्रवर्तित होने का आकार है।

दुर्गति में रहने वाले पापी का उक्त ढंग से ही वह कर्म, कर्म-निमित्त या गति-निमित्त मनोद्वार पर अथवा पञ्चद्वार पर अकुशल का हेतु हुआ आलम्बन सामने आता है। तब उसे यथाक्रम से च्युति-चित्त के अन्त में दुर्गति में होने वाला, उन आलम्बनों में से किसी एक आलम्बन वाला प्रतिसन्धि-चित्त उत्पन्न होता है। यह अतीत आलम्बन वाली दुर्गति की च्युति के अनन्तर अतीत-वर्तमान् आलम्बनवाली प्रतिसन्धि के प्रवर्तित होने का आकार है। यहाँ तक उन्नीस प्रकार के भी विज्ञान की प्रतिसन्धि के अनुसार प्रवर्ति प्रकाशित है। यह सभी ऐसे—

पवत्तमानं सन्धिम्हि द्वेधा कम्मेन वत्तति।
मिस्सादीहि च भेदेहि भेदस्स दुविधादिको ॥

[प्रवर्तित होते हुए, प्रतिसन्धि में कर्म से दो भागों में प्रवर्तित होता है, मिश्र आदि के भेदों से उस (विज्ञान) का भेद दो प्रकार आदि का होता है ।]

यह उन्नीस प्रकार का भी विपाक-विज्ञान प्रतिसन्धि में प्रवर्तित होते हुए कर्म से दो भागों में होता है । इसका स्वकीय जनक-कर्म नाना क्षण वाले कर्म-प्रत्यय और उपनिश्रय-प्रत्यय से प्रत्यय होता है । यह कहा गया है—"कुशल और अकुशल कर्म विपाक का उपनिश्रय प्रत्यय से प्रत्यय होता है ।"

ऐसे इसके वर्तमान का मिश्र आदि के भेदों से दो प्रकार के होने आदि का भेद भी जानना चाहिये । जैसे—यह प्रतिसन्धि के अनुसार एक प्रकार से प्रवर्तित होते हुए भी रूप के साथ मिश्र-अमिश्र के भेद से दो प्रकार का, काम, रूप, अरूप भव के भेद से तीन प्रकार का, अण्डज, जरायुज (=गर्भोत्पन्न), संस्वदेज, औपपातिक योनि के अनुसार चार प्रकार का, गति के अनुसार पाँच प्रकार का, विज्ञान की स्थिति के अनुसार सात प्रकार का, और सत्त्वावास के अनुसार आठ प्रकार का होता है । वहाँ—

मिस्सं द्विधा भावभेदा, सभावं तत्थ च द्विधा।
द्वे वा तयो वा दसका ओमतो आदिना सह ॥

[मिश्र भाव के भेद से दो प्रकार का होता है और उनमें स्वभाव दो प्रकार का है । प्रारम्भ के साथ निचली (गणना) से दो या तीन दशक होते हैं ।]

मिश्र भाव के भेद से दो प्रकार का होता है—जो यहाँ अरूप-भव के अतिरिक्त रूप से मिश्र प्रतिसन्धि-विज्ञान उत्पन्न होता है, वह रूप-भव में स्त्री-इन्द्रिय, पुरुषेन्द्रि कहे जाने वाले भाव के बिना उत्पत्ति होने से, काम-भव में जन्म से हिजड़ा (=पण्डक) की प्रतिसन्धि को छोड़ कर भाव के साथ उत्पत्ति होने से स्वभाव और अभाव—दो प्रकार का होता है । **और उनमें स्वभाव दो प्रकार का है**—उनमें भी जो स्वभाव है, वह स्त्री-पुरुष के भावों (=लिङ्गों) में से किसी एक के साथ उत्पत्ति होने से दो प्रकार का ही होता है ।

प्रारम्भ के साथ निचली गणना से दो या तीन दशक होते हैं—जो यहाँ मिश्र-अमिश्र जोड़े के प्रारम्भ में आया हुआ रूप से मिश्र प्रतिसन्धि-विज्ञान है, उसके साथ वस्तु-काय दशक[1] के अनुसार दो या वस्तु-काय-भाव दशक के अनुसार तीन दशक निचली गणना से उत्पन्न होते हैं । इसके बाद रूप की परिहानि नहीं होती है ।

वह ऐसे निचले परिमाण से उत्पन्न होते हुए अण्डज, जरायुज नामक दो योनियों में स्वाभाविक ऊन (=जाति ऊर्ण)[2] के एक अंशु से उठाये हुए परिशुद्ध घी की बूँद के बराबर 'कलल' नाम से पुकारा जानेवाला होकर उत्पन्न होता है ।

---

१. वर्ण, गन्ध, रस, ओज, चारों महाभूत, जीवितेन्द्रिय और हृदयवस्तु—इसे वस्तु-दशक कहते हैं तथा वर्ण, गन्ध आदि आठ अविनिर्भोग रूप, जीवितेन्द्रिय और काय प्रसाद को काय-दशक ।

२. 'उसी दिन उत्पन्न भेड़ का रोंवा जाति-ऊर्ण' है'—कोई कोई कहते हैं । 'हिमालय प्रदेश में उत्पन्न भेड़ का रोंवा'—कुछ लोग कहते हैं । 'गर्भ में रहते हुए भेड़ का जमा हुआ रोंवा'—कुछ लोग बतलाते हैं—टीका ।

वहाँ योनियों की गति के अनुसार उत्पत्ति का भेद जानना चाहिये। इनमें—

निरये भुम्मवज्जेसु देवेसु च न योनियो।
तिस्सो पुरिमिका होन्ति चतस्सोपि गतित्तये॥

[नरक और भूमि पर रहनेवाले देवों को छोड़कर देवों में, पहले की तीन योनियाँ[1] नहीं होती हैं और तीन गतियों में चारों भी होती हैं।]

वहाँ, "देवेसु च" (=और देवों में)—'च' (=और) शब्द से जैसे नरक में और भूमि पर रहनेवाले देवों को छोड़कर देवों में; ऐसे 'निज्झाम तण्हिक' नामक प्रेत्यों में पहले की तीन योनियाँ नहीं हैं—ऐसा जानना चाहिये। औपपातिक ही वे होते हैं। शेष[2] में तिर्यक् (=पशु), प्रेत्य-विषय, मनुष्य कही जानेवाली तीन गतियों और पहले के भूमि पर रहनेवाले देवों को छोड़कर देवों में चारों भी योनियाँ होती हैं। वहाँ—

तिंस नव चेव रूपीसु, सत्तति उक्कंसतोथ रूपानि।
संसेदूपपातयोनिसु, अथवा अवकंसतो तिंस॥

[रूप-लोक में उन्तालीस, उत्कर्ष से सत्तर रूप होते हैं अथवा अवकर्ष से तीस संस्वेदज और औपपातिक योनियों में।]

औपपातिक योनि वाले रूपावचर के ब्रह्माओं में चक्षु, श्रोत्र, वस्तु दशक और जीवित नवक[3] का चार कलापों के अनुसार उन्तालीस प्रतिसन्धि-विज्ञानों के साथ रूप उत्पन्न होते हैं। रूपावचर के ब्रह्माओं को छोड़कर अन्य संस्वेदज और औपपातिकों में उत्कर्ष से चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, वस्तु, भाव दशक के अनुसार सत्तर। और वे भी नित्य देवों में। वहाँ वर्ण, गन्ध, रस, ओज और चारों भी धातुयें चक्षु-प्रसाद, जीवित—यह दस रूप का परिमाणवाला रूप-पुञ्ज चक्षु-दशक कहा जाता है। ऐसे शेष को जानना चाहिये।

अवकर्ष से जन्मान्ध, बहरे, नाक-रहित, नपुंसक के काय, वस्तु, दशक के अनुसार तीस रूप उत्पन्न होते हैं। उत्कर्ष और अवकर्ष के बीच में अनुरूप से विकल्प जानना चाहिये। ऐसे जानकर फिर—

खन्धारम्मण-गति-हेतु-वेदना-पीति-वितक्क-विचारेहि।
भेदाभेदविसेसो चुति-सन्धीनं परिञ्ञेयो॥

[च्युति और प्रतिसन्धि की स्कन्ध, आलम्बन, गति, हेतु, वेदना, प्रीति, वितर्क, विचार से भेद-अभेद की विशेषता जाननी चाहिये।]

---

१. अण्डज, जरायुज और संस्वेदज—यह तीन पहले की योनियाँ हैं।

२. शेष में इस प्रकार जानना चाहिये—"चातुर्महाराजिक से लेकर ऊपर के देव औपपातिक ही होते हैं। भूमिपर रहने वाले देव चार योनिवाले हैं। मनुष्यों में कोई-कोई देवताओं के समान औपपातिक होते हैं, ये प्रायः जरायुज ही होते हैं। अण्डज भी यहाँ कुन्ती के पुत्र दो भ्रातस्थविर के समान और संस्वेदज भी पद्म के गर्भ में उत्पन्न हुए पौष्करसाति ब्राह्मण तथा पद्मावती देवी आदि के समान होते ही हैं। विनिपातिकों में निज्झामतण्हिक प्रेत्य नारकीय सत्त्वों के समान औपपातिक ही होते हैं और शेष चार योनि वाले भी होते हैं। और जैसे वे होते हैं, वैसे ही यक्ष भी। सभी पशु, पक्षी, सरीसृप आदि भी चार योनिवाले ही हैं।"—मज्झिम निकायट्ठकथा।

३. आठ अविनिर्भोग रूप ही जीवितेन्द्रिय के साथ जीवित-नवक रूप कहा जाता है।

जो यह मिश्र और अमिश्र से दो प्रकार की प्रतिसन्धि है और जो उसकी अतीत के अनन्तर च्युति है, उनका इन स्कन्ध आदि से भेद और अभेद की विशेषता जाननी चाहिये—यह अर्थ है।

कैसे ? कभी चार स्कन्ध वाली अरूप की च्युति के अनन्तर चार स्कन्ध वाले ही आलम्बन से भी अभिन्न प्रतिसन्धि होती है। कभी अ-महद्गत बाह्य-आलम्बन वाली च्युति[1] के अनन्तर महद्गत आध्यात्म (= भीतरी) आलम्बन वाली[2]। यह अरूप-भूमियों में ही ढंग है। कभी चार स्कन्ध वाली अरूप की च्युति के अनन्तर पञ्चस्कन्ध वाली कामावचर की प्रतिसन्धि होती है। कभी पञ्च-स्कन्ध वाली कामावचर की च्युति या रूपावचर की च्युति के अनन्तर चार स्कन्ध वाली अरूप प्रतिसन्धि। ऐसे अतीत-आलम्बन वाली च्युति से वर्तमान् आलम्बन वाली प्रतिसन्धि, किसी सुगति की च्युति से कोई दुर्गति की प्रतिसन्धि, अहेतुक-च्युति से सहेतुक प्रतिसन्धि, द्विहेतुक-च्युति से त्रिहेतुक-प्रतिसन्धि, उपेक्षा सहगत च्युति से सौमनस्य सहगत प्रतिसन्धि, अ-प्रीतिक च्युति से स-प्रीतिक प्रतिसन्धि, अ-वितर्क की च्युति से स-वितर्क की प्रतिसन्धि, अविचार की च्युति से सविचार की प्रतिसन्धि, अवितर्क-अविचार की च्युति से सवितर्क-सविचार की प्रतिसन्धि—ऐसे उस-उसके विपरीत यथायोग्य जोड़ना चाहिये।

> लद्धप्पच्चयमिति धम्ममत्तमेतं भवन्तरमुपेति।
> नास्स ततो सङ्कन्ति, न ततो हेतुं विना होति॥

[इस प्रकार प्रत्यय-प्राप्त यह धर्म मात्र भवान्तर को आता है। उसकी वहाँ से संक्रान्ति नहीं होती है और वह न तो वहाँ से बिना हेतु के होता है।]

इस प्रकार प्रत्यय-प्राप्त रूप और अरूप धर्ममात्र उत्पन्न होते हुए भवान्तर को आता है—ऐसा कहा जाता है। न सत्त्व आता है और न जीव। उसकी अतीत-भव से यहाँ संक्रान्ति भी नहीं होती है और वह वहाँ से हेतु के बिना भी यहाँ उत्पन्न नहीं होता है।

इसे प्रगट, मनुष्य की च्युति और प्रतिसन्धि के क्रम से प्रकाशित करेंगे। अतीतभव में स्वभाव से[3] या उपक्रम (= आत्मघात आदि) से मृत्यु के सन्निकट होने वाले के असह्य सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग की सन्धि (=जोड़)-बन्धन को तोड़नेवाली मरणान्तक वेदना-रूपी हथियारों के पड़ने को नहीं सहने वाले के, धूप में डाले हुए हरे ताड़ के पत्ते के समान क्रमशः शरीर के सूखने और चक्षु आदि इन्द्रियों के निरुद्ध हो जाने पर, हृदय-वस्तु मात्र में कायेन्द्रिय, मनेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय के प्रतिष्ठित होने पर, उस क्षण अवशेष हृदय-वस्तु के सहारे होनेवाले विज्ञान गरु[4], अभ्यस्त[5], आसन्न[6] और पूर्व के किए हुए[7] कर्मों में से कोई एक अविद्या आदि अवशेष प्रत्यय को पाया हुआ संस्कार

---

१. आकाशानन्त्यायतन और आकिंचन्यायतन—ये अ-महद्गत बाह्य आलम्बन वाले हैं, उन्हें आलम्बन करके जो च्युति होती है, उस अ-महद्गत बाह्य आलम्बन वाली च्युति के अनन्तर।

२. विज्ञानन्त्यायतन और नैवसंज्ञानासंज्ञायतन—ये दोनों महद्गत आलम्बन वाले हैं, उन्हें आलम्बन करके जो प्रतिसन्धि होती है, वह महद्गत-आध्यात्म-आलम्बन वाली प्रतिसन्धि है।

३. समाप्त हुए आयु-संस्कार से—यह अर्थ है।

४. माँ की हत्या आदि अकुशल कर्म या महद्गत के समान कुशल कर्म।

५. अधिकांशतः किया हुआ कर्म।

६. मृत्यु के समय स्मरण किया हुआ या स्वयं किया हुआ कर्म।

७. पूर्व जन्मों में किया हुआ कर्म।

रूपी कर्म या उससे उपस्थित किया हुआ कर्म-निमित्त और गति-निमित्त रूपी विषय को लेकर प्रवर्तित होता है। वह ऐसे प्रवर्तित होता हुआ तृष्णा और अविद्या के नहीं प्रहीण होने से अविद्या से ढँके हुए दोष वाले उस विषय में तृष्णा झुकती है। सहजात संस्कार फेंकते हैं। वह सन्तति के अनुसार तृष्णा से झुकाया जाता हुआ, संस्कारों से फेंका जाता हुआ, उरले तीर के वृक्ष में बँधी हुई रस्सी के सहारे नहर (=मातिका) को पार करने वाले व्यक्ति के समान पहले निश्रय को छोड़ता है और दूसरे कर्म से उत्पन्न किये हुए निश्रय को आस्वादन करते हुए[1] या नहीं आस्वादन करते हुए[2] आलम्बन के आदि प्रत्ययों से ही प्रवर्तित होता है।

यहाँ, पहला चित्त च्युत होने से च्युति और पिछला चित्त भवान्तर आदि को मिलाने से प्रतिसन्धि कहा जाता है। यह (विज्ञान) पहले के भव से भी यहाँ नहीं आया है और वहाँ के कर्म, संस्कार, झुकाव, विषय आदि हेतु के बिना उत्पन्न भी नहीं हुआ है—ऐसा जानना चाहिये।

सियुं निदस्सनानेत्थ पटिघोसादिका अथ।
सन्तानबद्धतो नत्थि एकता नपि नानता॥

[यहाँ प्रतिघोष आदि दृष्टान्त हो सकते हैं। सन्तति के बद्ध होने से एकता भी नहीं है और नानत्व भी नहीं है।]

इस विज्ञान के पहले के भव से यहाँ नहीं आने में अतीत-भव में होनेवाले हेतुओं से और उत्पत्ति में प्रतिघोष, प्रदीप, मुद्रा, प्रतिबिम्ब के प्रकार के धर्म दृष्टान्त हो सकते हैं।[3] जैसे प्रतिघोष, प्रदीप, मुद्रा, छाया शब्द आदि के हेतु होते हैं, अन्यत्र न जाकर ही होते हैं, इसी प्रकार का यह चित्त है।

यहाँ सन्तति-बद्ध होने से एकता नहीं है, और नानत्व भी नहीं है। यदि सन्तति-बद्ध होने पर बिल्कुल ही एकता हो, तो दूध से दही न बने और यदि बिल्कुल नानत्व भी हो, तो जिसका दूध हो, उसे दही न हो पावे। इसी प्रकार सब हेतु से उत्पन्न हुए धर्मों में। ऐसा होने पर लोक का सब व्यवहार[4] मिट जायेगा और वह अनिष्ट होगा, इसलिये यहाँ बिल्कुल एकता या नानत्व को नहीं मानना चाहिये।

यहाँ प्रश्न होता है—ऐसे संक्रान्ति रहित उत्पत्ति होने पर, जो इस मनुष्य-शरीर में स्कन्ध हैं, उनके निरुद्ध होने से और फल के प्रत्यय कर्म के वहाँ नहीं जाने से दूसरे को और दूसरे (कर्म) से वह फल होगा न? तथा उपभोग कर्त्ता के न होने पर किसे वह फल होगा? इसलिये यह विधान सुन्दर नहीं है। उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है—

सन्ताने यं फलं एकं नाञ्ञस्स न च अञ्ञतो।
बीजानं अभिसङ्खारो एतस्सत्थस्स साधको॥

१. हृदय वस्तु का अवलम्ब करते हुये। यह पञ्चस्कन्ध-वाले भव के प्रति कहा गया है।

२. यह चार-स्कन्ध वाले भव के प्रति कहा गया है। चार स्कन्ध वाले भव में वह विज्ञान हृदय-वस्तु का आस्वादन नहीं करते हुए भी आलम्बन आदि प्रत्ययों से ही प्रवर्तित होता है।

३. प्रतिघोष का हेतु शब्द है। प्रदीप का हेतु प्रदीपान्तर आदि है। मुद्रा का हेतु छापना है। छाया का हेतु आदर्श आदि को सामने रखना आदि है।

४. "भन्ते! भूतपूर्व में मैं रोहिताश्व नामक ऋषि था।" इस प्रकार का लोक का सब व्यवहार मिट जायेगा।

[एक सन्तति में जो फल उत्पन्न है, वह न इसका है और न दूसरे से है। बीजों का अभिसंस्कार[1] इस अर्थ का साधक है।]

एक सन्तति में उत्पन्न हुआ फल, बिलकुल एकत्व और नानत्व के नहीं सिद्ध होने से दूसरे का है या दूसरे से है—ऐसा नहीं होता है। इस अर्थ का साधक बीजों का अभिसंस्कार है। आम के बीज आदि के अभिसंस्कार (=कलम) किये जाने पर उसके बीज की सन्तति में प्राप्त प्रत्यय वाला कालान्तर में विशेष फल उत्पन्न होते हुए न अन्य बीजों का होता है, न अन्य अभिसंस्कार के प्रत्यय से उत्पन्न होता है और न तो वे बीज या अभिसंस्कार फल के स्थान को प्राप्त होते हैं। ऐसा इसे भी समझना चाहिये। विद्या, शिल्प, औषधि आदि के भी बालक-शरीर में उपयुक्त होने पर कालान्तर में वृद्ध-शरीर आदि में फलदायक होने से इस अर्थ को जानना चाहिये। जो भी कहा गया है "उपभोग कर्त्ता के नहीं होने पर किसे वह फल होगा ?" वहाँ—

फलस्सुप्पत्तिया एव सिद्धा भुञ्जकसम्मुति।
फलुप्पादेन रुक्खस्स यथा फलति सम्मुति॥

[फल की उत्पत्ति से ही खाने वाले का व्यवहार सिद्ध है, जैसे फल की उत्पत्ति से वृक्ष का 'फलता है' व्यवहार होता है।]

जैसे वृक्ष कहे जाने वाले धर्मों के एक अंग हुए वृक्ष के फल की उत्पत्ति से ही वृक्ष फलता है या फला है—कहा जाता है। वैसे देव और मनुष्य कहे जाने वाले स्कन्धों के एक अंग के उपभोग रूपी सुख-दुःख के फल की उत्पत्ति से ही देव या मनुष्य उपभोग करता है अथवा सुखी या दुःखी है, कहा जाता है। इसलिये यहाँ दूसरे उपभोग कर्त्ता से कोई प्रयोजन नहीं है।

जो भी कहे—'ऐसा होने पर भी ये संस्कार विद्यमान होते हुए फल के प्रत्यय होंगे, या अविद्यमान। यदि विद्यमान होंगे, तो प्रवर्ति के क्षण ही उन्हें विपाक के साथ होना चाहिये और यदि अविद्यमान होंगे, तो प्रवर्ति से पहले तथा पीछे नित्य फल लाने वाले होंगे।' उसे ऐसा कहना चाहिए—

कतत्ता पच्चया एते न च निच्चं फलावहा।
पाटिभोगादिकं तत्थ वेदितब्बं निदस्सनं॥

[ये किये हुए कर्म के प्रत्यय हैं। नित्य फलदायक नहीं हैं। जामिन आदि को वहाँ दृष्टान्त जानना चाहिये।]

किये हुए कर्म से ही संस्कार अपने फल के प्रत्यय होते हैं, न कि विद्यमान या अविद्यमान होने से। जैसे कहा है—"कामावचर कुशल कर्म के किये जाने से, संचित होने से, विपाक चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है।" आदि। और यथायोग्य अपने फल का प्रत्यय होकर विपाक के विपक्क होने से फिर फलदायक नहीं होते हैं। इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए यह जमानत आदि का दृष्टान्त जानना चाहिये। जैसे लोक में जो किसी वस्तु को सौंपने के लिए जामिन होता है, सामान खरीदता है या ऋण लेता है, उसका वह काम करना मात्र ही उस वस्तुको सौंपने आदि में प्रत्यय होता है। न काम का विद्यमान होना या अविद्यमान होना और न उस वस्तु को सौंपने आदि से पीछे भी धारण करनेवाला ही होता है। क्यों ? सौंपने आदि के कार्य को किये होने से।

---

१. चार मधुर वस्तुओं और लाख के रस आदि को देकर बीजों का अभिसंस्कार किया जाता है।

ऐसे किये हुए कर्म से ही संस्कार भी अपने फल के प्रत्यय होते हैं, न कि यथायोग्य फल देने से दूसरे भी फल को देनेवाले होते हैं।

यहाँ तक मिश्र और अमिश्र के अनुसार दो प्रकार से भी प्रवर्तित होते हुए प्रतिसन्धि-विज्ञान का संस्कार के प्रत्यय से प्रवर्ति प्रकाशित है। अब इन सभी बत्तीस विपाक-विज्ञानों में संमोह मिटाने के लिए—

पटिसन्धि-पवत्तीनं वसेनेते भवादिसु।
विजानितब्बा सङ्खारा यथा येसञ्च पच्चया॥

[ये संस्कार भव आदि में प्रतिसन्धि और प्रवर्ति के अनुसार जिनके प्रत्यय होते हैं और जैसे प्रत्यय होते हैं, वैसे जानने चाहिये।]

वहाँ, तीन भव, चार योनियाँ, पाँच गतियाँ, सात विज्ञान की स्थितियाँ, नव सत्त्वावास—ये भव आदि कहे जाते हैं। इन भव आदि में, प्रतिसन्धि और प्रवर्ति (=जीवन) में ये जिन विपाक-विज्ञानों के प्रत्यय होते हैं और जैसे प्रत्यय होते हैं, वैसे जानने चाहिये—यह अर्थ है।

वहाँ, पुण्याभिसंस्कार में कामावचर की आठ प्रकार की चेतनावाला पुण्याभिसंस्कार सामान्य रूप से काम-भव में सुगति में, नव विपाक-विज्ञानों की प्रतिसन्धि में, नाना क्षण वाले कर्म-प्रत्यय और उपनिश्रय-प्रत्यय से—दो प्रकार से प्रत्यय होता है। रूपावचर की पाँच कुशल चेतनावाला पुण्याभिसंस्कार रूप-भव में, प्रतिसन्धि में—ऐसे पाँचों (विपाक-विज्ञानों) का।

उक्त प्रभेदवाला कामावचर काम-भव में सुगति में उपेक्षा सहगत अहेतुक-मनोविज्ञान धातु को छोड़कर सात परित्र विपाक विज्ञानों[1] का उक्त ढंग से ही दो प्रकार से प्रत्यय प्रवर्ति में होता है, प्रतिसन्धि में नहीं। वही रूप-भव में पाँच विपाक-विज्ञानों[2] का वैसे ही प्रत्यय प्रवर्ति में होता है, प्रतिसन्धि में नहीं। निरय में महामौद्गल्यायन स्थविर के नरक में विचरण करने आदि में इष्ट-आलम्बन के समायोग[3] में वह प्रत्यय होता है। पशुओं और महाऋद्धिमान् प्रेत्यों में इष्ट-आलम्बन होता ही है।

वही काम-भव में सुगति में सोलह[4] भी कुशल-विपाक-विज्ञानों का वैसे ही प्रवर्ति और प्रतिसन्धि में प्रत्यय होता है। सामान्य रूप से पुण्याभिसंस्कार रूप-भव में दस विपाक-विज्ञानों[5] का वैसे ही प्रवर्ति और प्रतिसन्धि में प्रत्यय होता है।

---

१. चक्षु-विज्ञान आदि पाँच, एक मनोधातु और एक सौमनस्य सहगत अहेतुक-मनोविज्ञान-धातु—इन सात परित्र-विपाक विज्ञानों का। परित्र-विपाक-विज्ञान का तात्पर्य कामावचर-विपाक-विज्ञान है।

२. चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र विज्ञान, एक मनोधातु और दोनों भी अहेतुक मनोविज्ञान धातुयें—इन पाँच विपाक-विज्ञानों का। घ्राण, जिह्वा, काय नहीं हैं, इसलिये तीन अहेतुक-विपाक-विज्ञानों को छोड़कर।

३. स्थविर के नरक में ऋद्धि से वर्षा करके नरक के अग्नि को शान्त करके धर्मोपदेश करने के समय में।

४. आठ अहेतुक और आठ सहेतुक कुशल-विपाक-विज्ञानों का।

५. पाँच प्रतिसन्धि विज्ञानों का प्रतिसन्धि, भवाङ्ग और च्युति के अनुसार चक्षु-श्रोत्र-विज्ञान, मनोधातु और दो अहेतुक मनोविज्ञान धातु—इन पाँचों की प्रवर्ति में ही सब दस-विपाक-विज्ञानों का।

बारह प्रकार की अकुशल चेतना वाला अपुण्याभिसंस्कार काम-भव में दुर्गति में एक विज्ञान[1] का वैसे ही प्रतिसन्धि में प्रत्यय होता है, प्रवर्ति में नहीं। छः का प्रवर्ति में, प्रतिसन्धि में नहीं। सातों भी अकुशल-विपाक के विज्ञानों का प्रवर्ति और प्रतिसन्धि में। किन्तु काम-भव में सुगति में उन्हीं सातों का वैसे ही प्रवर्ति में प्रत्यय होता है, प्रतिसन्धि में नहीं। रूप-भव में चार[2] विपाक-विज्ञानों का वैसे ही प्रवर्ति में प्रत्यय होता है, प्रतिसन्धि में नहीं। और वह कामावचर में अनिष्ट रूप को देखने तथा शब्द को सुनने के अनुसार। ब्रह्मलोक में अनिष्ट रूप आदि नहीं हैं। वैसे कामावचर देवलोक में भी।

आनेंजाभिसंस्कार अरूप-भव में चारों विपाक विज्ञानों का वैसे ही प्रवर्ति और प्रतिसन्धि में प्रत्यय होता है। ऐसे भवों में प्रतिसन्धि-प्रवर्ति के अनुसार ये संस्कार जिसके प्रत्यय होते हैं और जैसे प्रत्यय होते हैं, वैसे जानने चाहिए। इसी ढंग से योनि आदि में भी जानना चाहिए।

यह प्रारम्भ से लेकर संक्षेप वर्णन है—इन संस्कारों में चूँकि पुण्याभिसंस्कार दो भवों में प्रतिसन्धि देकर अपने सब विपाक को उत्पन्न करता है। वैसे अण्डज आदि चारों योनियों में देव और मनुष्य कही जाने वाली दो गतियों में, नानत्व काय नानत्व संज्ञी, नानत्व काय एकत्व संज्ञी, एकत्व काय नानत्व संज्ञी, एकत्व काय एकत्व संज्ञी कही जाने वाली चार विज्ञान की स्थितियों में और असंज्ञा सत्त्वावास में यह रूप मात्र को ही बनाता है। इस प्रकार चार ही सत्त्वावासों में प्रतिसन्धि को देकर अपने सब विपाक को उत्पन्न करता है। इसलिए यह इन दो भवों में, चार योनियों में, दो गतियों में, चार विज्ञान की स्थितियों में और सत्त्वावासों में इक्कीस[3] विपाक-विज्ञानों का उक्त ढंग से ही यथासम्भव प्रतिसन्धि और प्रवर्ति में प्रत्यय होता है।

अपुण्याभिसंस्कार चूँकि एक ही काम-भव में, चारों योनियों में, अवशेषों में तीन गतियों में, नानत्व काय-एकत्व संज्ञी कही जाने वाली एक विज्ञान की स्थिति में और उसी प्रकार के एक सत्त्वावास में प्रतिसन्धि के अनुसार फल देता है, इसलिये यह एक भव में, चार योनियों में, तीन गतियों में, एक विज्ञान की स्थिति में और एक सत्त्वावास में सात विपाक-विज्ञानों का उक्त ढंग से ही प्रतिसन्धि और प्रवर्ति में प्रत्यय होता है।

आनेंजाभिसंस्कार चूँकि एक ही अरूप-भव में, एक औपपातिक योनि में, एक देवगति में, आकाशानन्त्यायतन आदि तीन विज्ञान की स्थितियों में, आकाशानन्त्यायतन आदि चार सत्त्वावासों में प्रतिसन्धि के अनुसार विपाक देता है, इसलिये यह एक भव में, एक योनि में, एक गति में, तीन विज्ञान की स्थितियों में, चार सत्त्वावासों में, चारों विज्ञानों का उक्त ढंग से ही प्रतिसन्धि और प्रवर्ति में प्रत्यय होता है। ऐसे—

पटिसन्धि-पवत्तीनं वसेनेते भवादिसु।
विजानितब्बा संखारा यथा येसञ्च पच्चया॥

[ये संस्कार भव आदि में प्रतिसन्धि और प्रवर्ति के अनुसार जिनके प्रत्यय होते हैं और जैसे प्रत्यय होते हैं, वैसे जानने चाहिये।]

---

१. उपेक्षा सहगत अहेतुक मनोविज्ञान धातु के चित्त का।

२. अकुशल विपाक चक्षु, श्रोत्र, विज्ञान मनोधातु और मनोविज्ञान धातु के चित्तों का।

३. कामावचर के अहेतुक और सहेतुक सोलह विपाक और पाँच रूपावचर के विपाक, सब इक्कीस विपाक-विज्ञानों का।

यह "संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान" पद का विस्तार पूर्वक वर्णन है।

(३) विज्ञान के प्रत्यय से नाम-रूप

"विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप" पद में—

विभागा नाम रूपानं भवादिसु पवत्तितो।
सङ्गहा पच्चयनया विञ्ञातब्बो विनिच्छयो॥

[नाम-रूप के विभाग, भव आदि में प्रवर्तित होने, संग्रह और प्रत्यय होने के ढंग से विनिश्चय जानना चाहिये।]

नाम-रूप का विभाग

नाम-रूप के विभाग से—यहाँ 'नाम' कहते हैं आलम्बन की ओर झुकने से वेदना आदि तीन स्कन्धों को। 'रूप' कहते हैं चार महाभूत और चारों महाभूतों को लेकर उत्पन्न हुए रूप को। उनका विभाग स्कन्ध-निर्देश में कहा गया ही है। ऐसे, यहाँ नाम-रूप के विभाग से विनिश्चय जानना चाहिये।

प्रवर्तित होना

भव आदि में प्रवर्तित होने से—यहाँ,'नाम' एक सत्वावास छोड़कर सब भव, योनि, गति, विज्ञान की स्थिति और शेष सत्वावासों में प्रवर्तित होता है। रूप दो भवों में, चार योनियों में, पाँच गतियों में, पूर्व की चार विज्ञान की स्थितियों में, पाँच सत्वावासों में प्रवर्तित होता है।

ऐसे इन नाम-रूप के प्रवर्तित होने पर, चूँकि भाव (=लिङ्ग) रहित गर्भशायी और अण्डजों की प्रतिसन्धि के क्षण वस्तु, काय-दशक के अनुसार रूप से दो सन्तति-शीर्ष और तीन अरूपी-स्कन्ध उत्पन्न होते हैं, इसलिए उनके विस्तार से, रूप-रूप से बीस धर्म और तीन अरूपी स्कन्ध—ये तेइस धर्म—विज्ञान के प्रत्यय से नाम-रूप जानने चाहिये। नहीं ग्रहण किये हुए को ग्रहण करने से एक सन्तति-शीर्ष से नव रूप-धर्मों को निकाल कर चौदह, भाव (=लिङ्ग) वालों के भाव-दशक को डालकर तैंतीस और उनके भी नहीं ग्रहण किये हुए को ग्रहण करने से दो सन्तति-शीर्ष से अठारह रूप-धर्मों को निकाल कर पन्द्रह (धर्म विज्ञान के प्रत्यय से नाम-रूप जानने चाहिये)।

और चूँकि औपपातिक सत्वों में ब्रह्मकायिक आदि को प्रतिसन्धि के क्षण चक्षु, श्रोत्र, वस्तु-दशक और जीवितेन्द्रिय नवक के अनुसार रूप से चार सन्तति-शीर्ष और तीन अरूपी स्कन्ध प्रगट होते हैं। इसलिए उनके विस्तार से, रूप-रूप से उन्तालीस धर्म और तीन अरूपी-स्कन्ध—ये बयालीस धर्म विज्ञान के प्रत्यय से नाम-रूप जानने चाहिये। नहीं ग्रहण किये हुए को ग्रहण करने से तीनों सन्तति-शीर्षों से सत्ताइस धर्मों को निकाल कर पन्द्रह (धर्म विज्ञान के प्रत्यय से नाम-रूप जानने चाहिये)।

काम-भव में चूँकि भाव (=लिङ्ग) सहित परिपूर्ण आयतन वाले शेष औपपातिकों[1] या संस्वेदजों को प्रतिसन्धि के क्षण रूप से सात सन्तति-शीर्ष और तीन अरूपी स्कन्ध प्रगट होते हैं, इसलिए उनके विस्तार से, रूपरूप से सत्तर धर्म और तीन अरूपी स्कन्ध—ये तिहत्तर धर्म,

१. ब्रह्मकायिकों को छोड़कर शेष कामावचर के औपपातिकों को।

विज्ञान के प्रत्यय से नाम-रूप जानने चाहिये। नहीं ग्रहण किये हुए को ग्रहण करने से रूप-सन्तति छः शीर्षों से चौवन धर्मों को निकाल कर उन्नीस। यह उत्कर्ष है। अवकर्ष से उस-उस रूप-सन्तति-शीर्ष के न होनेवालों का उस-उस के अनुसार कम करके, कम करके संक्षेप और विस्तार से प्रतिसन्धि में विज्ञान के प्रत्यय से नाम-रूप की संज्ञा जाननी चाहिये।

अरूप-भव वालों को तीन ही अरूपी-स्कन्ध। असंज्ञा वालों को रूप से जीवितेन्द्रिय नवक ही। यह प्रतिसन्धि में ढंग है।

किन्तु प्रवर्ति (=जीवन-प्रवाह) में सर्वत्र रूप के प्रवर्तित होनेवाले प्रदेश में प्रतिसन्धि-चित्त की स्थिति के क्षण में प्रतिसन्धि-चित्त के साथ प्रवर्तित ऋतु से, ऋतु से उत्पन्न शुद्धाष्टक प्रगट होता है, किन्तु प्रतिसन्धि-चित्त रूप नहीं उत्पन्न करता है। वह जैसे प्रपात में गिरा हुआ आदमी दूसरे को सहारा नहीं हो सकता है, ऐसे (हृदय-) वस्तु के दुर्बल होने से, रूप को उत्पन्न नहीं कर सकता है। प्रतिसन्धि-चित्त से आगे प्रथम भवाङ्ग से लेकर चित्त से उत्पन्न शुद्धाष्टक और शब्द की उत्पत्ति के समय प्रतिसन्धि-चित्त के क्षण से आगे प्रवर्तित ऋतु और चित्त से शब्द नवक प्रगट होता है।

जो कवलिंकार-आहार से जीने वाले गर्भशायी सत्त्व हैं, उनको—

यञ्चस्स भुञ्जति माता अन्नं पानञ्च भोजनं।
तेन सो तत्थ यापेति मातुकुच्छिगतो तिरो[१]॥

[जो उसकी माता अन्न, पेय, भोजन खाती है, उससे पेट के अन्दर गया हुआ वह वहाँ यापन करता है।]

(भगवान् के इस) वचन से माता द्वारा खाये गये आहार के शरीर में जाने पर, और औपपातिकों को सर्वप्रथम अपने मुख में पड़े हुए थूक को घोंटने के समय आहार से उत्पन्न शुद्धाष्टक प्रगट होते हैं। यह आहार से उत्पन्न शुद्धाष्टक और ऋतु तथा चित्त से उत्पन्न हुए (रूपों) का उत्कर्ष से दो नवकों के अनुसार छब्बीस प्रकार एवं पहले एक चित्त-क्षण में तीन बार उत्पन्न होता हुआ उक्त कर्म से उत्पन्न भी सत्तर प्रकार का—कुल छानबे प्रकार का रूप और तीनों अरूपी स्कन्ध—सब संक्षेप से निन्नानबे धर्म; अथवा, चूँकि कभी-कभी प्रगट होने से शब्द अनियत है, इसलिए उन दोनों को भी निकालकर इन सन्तानबे धर्मों को यथासम्भव सब सत्त्वों को विज्ञान के प्रत्यय से नाम-रूप जानना चाहिए। उन्हें सोते हुए भी, प्रमत्त हुए भी, खाते हुए भी, पीते हुए भी, दिन में भी, रात में भी ये विज्ञान के प्रत्यय से प्रवर्तित होते हैं। उनके विज्ञान के प्रत्यय होने का पीछे वर्णन करेंगे।

जो यहाँ कर्मज रूप है, वह भव, योनि, गति, स्थिति और सत्त्वावासों में सर्वप्रथम प्रतिष्ठत होते हुए भी तीन से उत्पन्न रूप से सहारा नहीं पाने से नहीं रह सकता है और तीन से उत्पन्न भी उससे आश्रित नहीं है। प्रत्युत वायु से धक्का खाये हुए भी चारों दिशाओं में भली प्रकार रखे हुए नरकट के बोझ के समान और लहर के वेग से थपेड़े खाई हुई भी महा-समुद्र में कहीं आधार प्राप्त टूटी हुई नौका के समान, एक दूसरे के सहारे ही ये नहीं गिरते हुए

---

१. विशुद्धि मार्ग के सिंहल-संस्करणों में 'नरो' पाठ है, किन्तु संयुत्त निकाय [११, १, १] और टीका में "तिरो" ही आया हुआ है।

रहकर एक भी वर्ष, दो भी वर्ष,...सौ भी वर्ष, जब तक उन सत्त्वों का आयु-क्षय या पुण्य-क्षय होता है, तब तक प्रवर्तित होते हैं। ऐसे भव आदि में प्रवर्ति से भी यहाँ विनिश्चय जानना चाहिये।

संग्रह

संग्रह से—यहाँ, जो अरूप-लोक में प्रवर्ति और प्रतिसन्धि में तथा पञ्च-स्कन्ध-भव में प्रवर्ति में विज्ञान के प्रत्यय से नाम ही है, जो असंज्ञा-भव में और सर्वत्र पञ्च-स्कन्ध-भव में प्रवर्ति में विज्ञान के प्रत्यय से रूप ही है, और जो पञ्च-स्कन्ध-भव में सर्वत्र विज्ञान के प्रत्यय से नाम-रूप है, वह सब नाम, रूप और नामरूप = नामरूप है। ऐसे एक भाग, स्वरूप के एकशेष[1] ढंग से संग्रह करके विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप को जानना चाहिये।

क्या असंज्ञा-भव में विज्ञान के अभाव से अयुक्त है ? अयुक्त नहीं है। यह—

नामरूपस्स यं हेतु विञ्ञाणं तं द्विधा मतं।
विपाकमविपाकञ्च युत्तमेव यतो इदं॥

[नामरूप का जो हेतु विज्ञान है, वह विपाक और अ विपाक के भेद से चूँकि दो प्रकार का माना जाता है, इसलिये यह युक्त ही है।]

जो नामरूप का हेतु विज्ञान है, वह विपाक और अ-विपाक के भेद से दो प्रकार का माना जाता है और यह असंज्ञा के सत्त्वों में कर्म से उत्पन्न होने से पञ्च-स्कन्ध-भव में प्रवर्तित अभि-संस्कार-विज्ञान के प्रत्यय से रूप है, वैसे पञ्च-स्कन्ध-भव में प्रवर्ति में कुशल आदि के चित्त-क्षण में कर्म से उत्पन्न है, इसलिये यह युक्त ही है। ऐसे संग्रह से भी यहाँ विनिश्चय जानना चाहिये।

प्रत्यय होना

प्रत्यय होने के ढंग से—यहाँ :—

नामस्स पाकविञ्ञाणं नवधा होति पच्चयो।
वत्थुरूपस्स नवधा सेसरूपस्स अट्ठधा॥
अभिसङ्खार विञ्ञाणं होति रूपस्स एकधा।
तदञ्ञम्पन विञ्ञाणं तस्स तस्स यथारहं॥

[विपाक-विज्ञान नाम का नव प्रकार से प्रत्यय होता है। (हृदय-) वस्तु रूप का नव प्रकार से प्रत्यय होता है। शेष रूप का आठ प्रकार से प्रत्यय होता है। अभिसंस्कार-विज्ञान रूप का एक प्रकार से प्रत्यय होता है। उसे छोड़कर अन्य विज्ञान यथायोग्य उस-उसका प्रत्यय होता है।]

जो यह प्रतिसन्धि या प्रवर्ति में विपाक कहा जानेवाला नाम है, उसका रूप से मिश्र या अमिश्र का, प्रतिसन्धि वाला या अन्य विपाक-विज्ञान सहजात, अन्योन्य, निश्रय, सम्प्रयुक्त, विपाक, आहार, इन्द्रिय, अस्ति, अविगत प्रत्ययों से नव प्रकार से प्रत्यय होता है। (हृदय-) वस्तु-रूप को छोड़कर शेष रूप का इन नवों में से अन्योन्य प्रत्यय को निकाल कर शेष आठ प्रत्ययों से प्रत्यय होता है। अभिसंस्कार-विज्ञान असंज्ञा-सत्त्व के रूप का या पञ्चोकार (=पञ्च-

१. द्वन्द्व समास को एकशेष कहते हैं।

स्कन्ध) -भव में कर्मज-रूप का सूत्रान्तिक पर्याय से[1] उपनिश्रय के अनुसार एक प्रकार से ही प्रत्यय होता है। अवशेष प्रथम भवाङ्ग से लेकर सारा भी विज्ञान उस-उस नामरूप का यथा-योग्य प्रत्यय होता है—ऐसा जानना चाहिये। विस्तार से उसके प्रत्यय होने के ढंग को दिखलाने पर सारे ही पट्ठान की अट्ठकथा का विस्तार करना पड़ेगा। इसलिये उसे नहीं आरम्भ करेंगे।

वहाँ, (प्रश्न) हो सकता है—यह कैसे जानना चाहिये कि प्रतिसन्धि का नामरूप विज्ञान के प्रत्यय से होता है? सूत्र और युक्ति से। सूत्र में—"चित्त के अनुसार परिवर्तन होने वाले धर्म।" आदि ढंग से बहुत प्रकार से वेदना आदि का विज्ञान के प्रत्यय से होना सिद्ध है। युक्ति से—

चित्तजेन हि रूपेन इध दिट्ठेन सिज्झति।
अदिट्ठस्सापि रूपस्स विञ्ञाणं पच्चयो इति॥

[यहाँ देखे गये चित्तज रूप से, नहीं देखे गये भी रूप का विज्ञान प्रत्यय होता है, यह सिद्ध है।]

चित्त से प्रसन्न या अप्रसन्न होने पर उसके अनुरूप रूप उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं और देखे हुए से नहीं देखे गये (रूपों) का अनुमान होता है—इससे यहाँ देखे गये चित्तज रूप से नहीं देखे गये भी प्रतिसन्धि-रूप का विज्ञान प्रत्यय होता है—यह जानना चाहिये। कर्म से उत्पन्न हुए भी उस (रूप) का चित्त से उत्पन्न (रूप) के समान विज्ञान का प्रत्यय होना **पट्ठान** में आया हुआ है। ऐसे प्रत्यय होने के ढङ्ग से भी यहाँ विनिश्चय जानना चाहिये।

यह "विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप" पद पर विस्तार पूर्वक वर्णन है।

(४) नामरूप के प्रत्यय से छः आयतन

"नामरूप के प्रत्यय से छः आयतन" पद में—

नामं खन्धत्तयं रूपं भूत वत्थादिकं मतं।
कतेकसेसं तं तस्स तादिसस्सेव पच्चयो॥

[नाम तीन स्कन्ध (=वेदना, संज्ञा, संस्कार) और रूप भूत, वस्तु आदि वाला माना जाता है। वह एकशेष[2] किया हुआ है तथा उसी प्रकार का उसका प्रत्यय भी होता है।]

जो यह छः आयतन का ही प्रत्यय हुआ नामरूप है, वहाँ, नाम वेदना आदि तीन स्कन्ध है। रूप अपनी सन्तति में होता है। नियम से चार भूत, छः वस्तुयें, जीवितेन्द्रिय—ऐसे भूत, वस्तु आदि वाला माना जाता है—ऐसा जानना चाहिये। वह नाम, रूप और नामरूप=नामरूप है—इस प्रकार एकशेष किया गया छठाँ आयतन और छः आयतन षडायतन है—ऐसे किये गये एकशेष के समान छः आयतन (=षडायतन) का प्रत्यय जानना चाहिये। क्यों? चूँकि अरूप

१. पट्ठानप्पकरण में "कुशल या अकुशल कर्म रूप का उपनिश्रय प्रत्यय से प्रत्यय होता है।" नहीं कहा गया है, इसलिये "सूत्रान्तिक पर्याय से" कहा है।

२. व्याकरण की एक विधि। द्वन्द्व समास। देखिये कच्चान व्याकरण में 'सट्ठि' शब्द आदि की सिद्धि।

में नाम ही प्रत्यय होता है और वह छठें आयतन का ही, दूसरे का नहीं। "नाम के प्रत्यय से छठाँ आयतन[1]" विभङ्ग में कहा गया है।

वहाँ (प्रश्न) हो सकता है—कैसे यह जानना चाहिये कि नामरूप छः आयतन का प्रत्यय होता है? नामरूप के होने पर होने से। उस-उस नाम और रूप के होने पर वह-वह आयतन होता है, अन्यथा नहीं। वह उसके होने पर उसका होना प्रत्यय होने के ढंग में ही प्रगट होगा। इसलिये—

पटिसन्धियं पवत्ते वा होति यं यस्स पच्चयो।
यथा च पच्चयो होति तथा नेय्यं विभाविना॥

[प्रतिसन्धि या प्रवर्ति में जो जिसका प्रत्यय होता है और जैसे प्रत्यय होता है, वैसे प्रज्ञावान् को जानना चाहिये।]

यह अर्थ-वर्णन है—

नाममेव हि आरुप्पे पटिसन्धिप्पवत्तिसु।
पच्चयो सत्तधा छद्धा होति तं अवकंसतो॥

[वह नाम ही अरूप-भव में प्रतिसन्धि और प्रवर्ति में सात प्रकार और छः प्रकार से अवकर्ष से प्रत्यय होता है।

कैसे? प्रतिसन्धि में अवकर्ष से सहजात, अन्योन्य, निश्रय, सम्युक्त, विपाक, अस्ति, अविगत प्रत्ययों से सात प्रकार से नाम छठें आयतन का प्रत्यय होता है। यहाँ कुछ हेतु प्रत्यय से और कुछ आहार प्रत्यय से—ऐसे अन्यथा भी प्रत्यय होता है। उसके अनुसार उत्कर्ष और अवकर्ष जानना चाहिये। प्रवर्ति में भी विपाक उक्त ढंग से ही प्रत्यय होता है। दूसरा अवकर्ष से उक्त प्रकार के प्रत्ययों में विपाक को छोड़कर छः प्रत्ययों से प्रत्यय होता है। कुछ यहाँ हेतु-प्रत्यय से और कुछ आहार प्रत्यय से—ऐसे अन्यथा भी प्राप्त होता है। उसके अनुसार उत्कर्ष और अवकर्ष[2] जानना चाहिये।

अञ्ञस्मिम्पि भवे नामं तथेव पटिसन्धियं।
छट्ठस्स इतरेसं तं छहाकारेहि पच्चयो॥

[अन्य भी भव में, नाम प्रतिसन्धि में वैसे ही छठें का और दूसरों का वह छः आकारों से प्रत्यय होता है।]

अरूप-भव से दूसरे भी पञ्चोकार-भव में वह विपाक नाम हृदय-वस्तु का सहायक होकर छठें मनायतन का जैसा अरूप में कहा गया है, वैसे ही अवकर्ष से सात प्रकार से प्रत्यय होता है; किन्तु वह दूसरे पाँच चक्षु-आयतन आदि का चारों महाभूतों का सहायक होकर सहजात, निश्रय, विपाक, विप्रयुक्त, अस्ति, अविगत के अनुसार छः आकारों से प्रत्यय होता है। यहाँ कुछ हेतु प्रत्यय से और कुछ आहार प्रत्यय से—ऐसे अन्यथा भी प्रत्यय होता है। उसके अनुसार उत्कर्ष और अवकर्ष जानना चाहिये।

---

१. विभङ्ग २।

२. सात प्रकार से प्रत्यय होने का उत्कर्ष आठ प्रकार से प्रत्यय होना है, तत्पश्चात् नव प्रकार से, तत्पश्चात् दस प्रकार से। यह उत्कर्ष है। अवकर्ष है दस प्रकार से प्रत्यय होने से नव प्रकार से प्रत्यय होना, तत्पश्चात् आठ प्रकार से, तत्पश्चात् सात प्रकार से।

पवत्तेपि तथा होति पाकं पाकस्स पच्चयो।
अपाकं अविपाकस्स छधा छट्ठस्स पच्चयो॥

[प्रवर्ति में भी जैसे होता है, वैसे विपाक विपाक का प्रत्यय होता है। अविपाक अविपाक वाले छठें का छः प्रकार से प्रत्यय होता है।]

प्रवर्ति में भी पञ्चोकार-भव में, जैसे प्रतिसन्धि में, वैसे ही विपाक नाम विपाक हुए छठें आयतन का अवकर्ष से सात प्रकार से प्रत्यय होता है। अविपाक अविपाक वाले छठें का अवकर्ष से ही उससे विपाक प्रत्यय को निकाल कर छः प्रकार से प्रत्यय होता है। उक्त ढंग से ही यहाँ उत्कर्ष और अवकर्ष जानना चाहिये।

तत्थेव सेसपञ्चन्नं विपाकं पच्चयो भवे।
चतुधा अविपाकम्पि एवमेव पकासितं॥

[वहीं शेष पाँचों का विपाक चार प्रकार से प्रत्यय होता है, अविपाक भी ऐसे प्रकाशित किया गया है।]

वहीं प्रवर्ति में शेष चक्षु-आयतन आदि पाँचों का चक्षु-प्रसाद आदि वस्तु वाला दूसरा भी विपाक-नाम पश्चात्-जात, विप्रयुक्त, अस्ति, अविगत प्रत्ययों से चार प्रकार से प्रत्यय होता है और जैसे विपाक है, अविपाक भी ऐसे ही प्रकाशित किया गया है। इसलिए कुशल आदि भी उनका चार प्रकार से प्रत्यय होता है—ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकार नाम ही प्रतिसन्धि या प्रवर्ति में जिस-जिस आयतन का प्रत्यय होता है और जैसे प्रत्यय होता है, वैसे जानना चाहिये।

रूपं पनेत्थ आरुप्पे भवे भवति पच्चयो।
न एकायतनस्सापि पञ्चक्खन्ध भवे पन॥
रूपतो सन्धियं वत्थु छधा छट्ठस्स पच्चयो।
भूतानि चतुधा होन्ति पञ्चन्नं अविसेसतो॥

[रूप अरूप-भव में एक आयतन का भी प्रत्यय नहीं होता है। पञ्चस्कन्ध-भव में रूप से वस्तु प्रतिसन्धि में छठें मनायतन का छः प्रकार से प्रत्यय होता है। भूत (रूप) सामान्य रूप से पाँचों का चार प्रकार से प्रत्यय होते हैं]

रूप से प्रतिसन्धि में वस्तु-रूप छठें मनायतन का सहजात, अन्योन्य, निश्रय, विप्रयुक्त, अस्ति, अविगत प्रत्ययों से छः प्रकार से प्रत्यय होता है। चार-भूत अ-विशेष से प्रतिसन्धि और प्रवर्ति में जो-जो आयतन उत्पन्न होता है, उस-उस के अनुसार पाँचों भी चक्षु-आयतन आदि का सहजात, निश्रय, अस्ति, अविगत प्रत्ययों से छः प्रकार से प्रत्यय होते हैं।

तिधा जीवितमेतेसं आहारो च पवत्तियं।
तानेव छधा छट्ठस्स वत्थु तस्सेव पञ्चधा॥

[प्रवर्ति में (रूप-) जीवित और आहार इनका तीन प्रकार से प्रत्यय होता है। वे ही छठें का छः प्रकार से प्रत्यय होते हैं। वस्तु उसी का पाँच प्रकार से प्रत्यय होता है।]

इन चक्षु आदि पाँचों का प्रतिसन्धि और प्रवर्ति में अस्ति, अविगत, इन्द्रिय के अनुसार रूप-जीवित तीन प्रकार से प्रत्यय होता है। आहार अस्ति, अविगत, आहार के अनुसार तीन प्रकार से प्रत्यय होता है और वह भी, जो सत्त्व आहार से जीने वाले हैं, उनके काय में आहार के जाने पर

प्रवर्ति में ही प्रतिसन्धि में नहीं। वे पाँच चक्षु-आयतन आदि छठें चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय-विज्ञान कहे जाने वाले मनायतन का निश्रय, पुरेजात, इन्द्रिय, विप्रयुक्त, अस्ति अविगत के अनुसार छः आकारों से प्रवर्ति में प्रत्यय होते हैं, प्रतिसन्धि में नहीं। पाँच विज्ञानों को छोड़ कर उस अवशेष मनायतन का ही वस्तुरूप, निश्रय, पुरेजात, विप्रयुक्त, अस्ति, अविगत के अनुसार पाँच प्रकार से प्रवर्ति में प्रत्यय होता है, प्रतिसन्धि में नहीं। ऐसे रूप ही प्रतिसन्धि या प्रवर्ति में जिस-जिस आयतन का प्रत्यय होता है और जैसे प्रत्यय होता है, वैसे जानना चाहिये।

नामरूपं पनुभयं होति यं यस्स पच्चयो।
यथा च तम्पि सब्बत्थ विञ्ञातब्बं विभाविना॥

[नामरूप दोनों, जो जिसका प्रत्यय होता है और जैसे प्रत्यय होता है, वह भी सर्वत्र प्रज्ञावान् को जानना चाहिये।]

जैसे—प्रतिसन्धि में, पञ्चोकार-भव में तीन स्कन्ध, वस्तु-रूप कहा जाने वाला नामरूप छठें आयतन का सहजात, अन्योन्य, निश्रय, विपाक, सम्प्रयुक्त, विप्रयुक्त, अस्ति, अविगत प्रत्यय आदि से प्रत्यय होता है—यह मुख-मात्र (=संक्षेप) है। चूँकि उक्त प्रकार से सब जाना जा सकता है, इसलिये यहाँ विस्तारपूर्वक नहीं दिखलाया गया है।

यह 'नामरूप के प्रत्यय से छः आयतन' पद पर विस्तारपूर्वक वर्णन है।

(५) छः आयतन के प्रत्यय से स्पर्श

"छः आयतन के प्रत्यय से स्पर्श" पद में—

सळेव फस्सा सङ्खेपा चक्खुसम्फस्स आदयो।
विञ्ञाणमिव बत्तिंस वित्थारेन भवन्ति ते॥

[संक्षेप से चक्षु-स्पर्श आदि स्पर्श छः ही हैं, वे विस्तार से विज्ञान के समान बत्तिस होते हैं।]

संक्षेप से, **छः आयतन के प्रत्यय से स्पर्श**—चक्षु-स्पर्श, श्रोत्र-स्पर्श, घ्राण-स्पर्श, जिह्वा-स्पर्श, काय-स्पर्श, मनोस्पर्श—ये चक्षु-स्पर्श आदि पाँच कुशल-विपाक वाले, पाँच अकुशल-विपाक वाले—दस और शेष बाइस लौकिक-विपाक विज्ञान से सम्प्रयुक्त बाइस—ऐसे सभी संस्कार के प्रत्यय से कहे गये विज्ञान के समान बत्तिस होते हैं।

जो इस बत्तिस प्रकार के भी स्पर्श का प्रत्यय छः आयतन है, वहाँ—

छट्ठेन सह अज्झत्तं चक्खादिं बहिरेहिपि।
सळायतनमिच्छन्ति छहि सद्धिं विचक्खणा॥

[छठें के साथ आध्यात्म चक्षु आदि को और बाह्य के भी छः के साथ प्रज्ञावान् छः आयतन मानते हैं।]

जो[1] 'यह उपादिन्नक प्रवर्ति का वर्णन है'—कह कर अपनी सन्तति में आये हुए ही प्रत्यय और प्रत्यय से उत्पन्न हुए को प्रकाशित करते हैं, वे "छठें आयतन के प्रत्यय से स्पर्श"[2] इस

१. महाविहारवासी आचार्यों में से जो कोई आचार्य—टीका।

२. विभङ्ग २।

पालि के अनुसार आरूप्य में छठाँ आयतन, और अन्यत्र सबको एक में करके छः आयतन स्पर्श का प्रत्यय है—ऐसे एक भाग और स्वरूप से एकशेष करके, छठें के साथ आध्यात्मिक चक्षु आदि को छः आयतन मानते हैं। वह छठाँ आयतन, और छः आयतन = छः आयतन ही कहा जाता है। किन्तु जो प्रत्यय से उत्पन्न को ही एक-सन्तति में आया हुआ बतलाते हैं, और प्रत्यय को सन्तति से भिन्न भी, वे जो-जो आयतन स्पर्श का प्रत्यय होता है, उस सभी को बतलाते हुये बाह्य को भी लेकर उसी को छठें के साथ आध्यात्म और बाह्य से भी रूप आयतन आदि के साथ छः आयतन मानते हैं। वह भी छठाँ आयतन और छः आयतन=छः आयतन है—ऐसे इनका एकशेष करने पर छः आयतन (=षडायतन) ही कहा जाता है।

यहाँ प्रश्न होता है—सब आयतनों से एक स्पर्श नहीं उत्पन्न होता है, एक आयतन से भी सब स्पर्श नहीं होते हैं और यह "छः आयतन के प्रत्यय से स्पर्श" एक ही कहा गया है, सो क्यों?

यह उत्तर है—यह सत्य है कि सबसे एक या एक से सब नहीं उत्पन्न होते हैं, किन्तु अनेक से एक उत्पन्न होता है। जैसे, चक्षु-स्पर्श चक्षु-आयतन, रूपायतन, चक्षु-विज्ञान कहे जाने वाले मनायतन और अवशेष सम्प्रयुक्त धर्मायतन से उत्पन्न होता है—ऐसे सर्वत्र यथानुरूप जोड़ना चाहिये। इसीलिये—

> एको पनेकायतनप्पभवो इति दीपितो।
> फस्सो यं एकवचननिद्देसेनिध तादिना॥

[यहाँ, यह एक स्पर्श अनेक आयतनों से उत्पन्न हुआ, एक वचन के निर्देश से भगवान् द्वारा प्रगट किया गया है।]

एक वचन के निर्देश से—'छः आयतन के प्रत्यय से स्पर्श' इस एक वचन के निर्देश से अनेक आयतनों से एक-स्पर्श होता है—ऐसे भगवान् द्वारा प्रगट किया गया है—यह अर्थ है। किन्तु आयतनों में—

> छधा पञ्च ततो एकं नवधा बाहिरानि छ।
> यथासम्भवमेतस्स पच्चयत्ते विभावये॥

[पाँच छः प्रकार से, तत्पश्चात् एक नव प्रकार से, और बाह्य छः यथासम्भव इसके प्रत्यय होते हैं—ऐसा विभावन करे।]

यह विभावन करना है—चक्षु आयतन आदि पाँच चक्षु-स्पर्श आदि के भेद से पाँच प्रकार के स्पर्श का निश्रय, पुरेजात, इन्द्रिय, विप्रयुक्त, अस्ति, अविगत के अनुसार छः प्रकार से प्रत्यय होते हैं। तत्पश्चात् एक विपाक मनायतन अनेक प्रकार के विपाक मनोस्पर्श का सहजात, अन्योन्य, निश्रय, विपाक, आहार, इन्द्रिय, सम्प्रयुक्त, अस्ति, अविगत के अनुसार नव प्रकार से प्रत्यय होता है। बाह्य में रूपायतन चक्षु-स्पर्श का आलम्बन, पुरेजात, अस्ति, अविगत के अनुसार चार प्रकार से प्रत्यय होता है। वैसे शब्दायतन आदि श्रोत्र-स्पर्श आदि का। किन्तु मनोस्पर्श का वे, धर्मालम्बन और वैसे ही आलम्बन-प्रत्यय मात्र से ही (प्रत्यय) होता है। इस प्रकार बाह्य छः यथासम्भव इसके प्रत्यय होते हैं—ऐसा विभावन करे।

यह "छः आयतन के प्रत्यय से स्पर्श" पद पर विस्तारपूर्वक वर्णन है।

(६) स्पर्श के प्रत्यय से वेदना

"स्पर्श के प्रत्यय से वेदना" पद में—

द्वारतो वेदना वुत्ता चक्खुसम्फस्सजादिका।
सळेव ता पभेदेन एकूननवुती मता॥

[चक्षु-स्पर्श से उत्पन्न होने वाली वेदनायें द्वार से छः ही कही गई हैं। वे प्रभेद से नवासी (८९) मानी जाती हैं।]

इस पद का भी विभङ्ग में—"चक्षु-स्पर्श से उत्पन्न वेदना, श्रोत्र...घ्राण...जिह्वा...काय... मनोस्पर्श से उत्पन्न वेदना।" ऐसे द्वार से छः ही वेदनायें कही गई हैं। वे प्रभेद से नवासी चित्तों से सम्प्रयुक्त होने से नवासी मानी जाती हैं।

वेदनासु पनेतासु इध बत्तिस वेदना।
विपाक सम्पयुत्ता व अधिप्पेताति भासिता॥
अट्ठधा तत्थ पञ्चन्नं पञ्चद्वारम्हि पच्चयो।
सेसानं एकधा फस्सो मनोद्वारेपि सो तथा॥

[इन वेदनाओं में विपाक से सम्प्रयुक्त बत्तिस वेदनायें ही यहाँ अभिप्रेत हैं—ऐसा कहा गया है। वहाँ पञ्चद्वार में पाँचों का वह स्पर्श आठ प्रकार से प्रत्यय होता है। शेषों का एक प्रकार से और मनोद्वार पर भी वैसे (ही)।]

वहाँ पञ्चद्वार पर चक्षु-प्रसाद आदि वस्तु वाली पाँच वेदनाओं का चक्षु-स्पर्श आदि वाला स्पर्श सहजात, अन्योन्य, निश्रय, विपाक, आहार, सम्प्रयुक्त, अस्ति, अविगत के अनुसार आठ प्रकार से प्रत्यय होता है। शेषों का एक द्वार में सम्प्रतिच्छन्न, सन्तीरण, तदालम्बन के अनुसार प्रवर्तित कामावचर-विपाक-वेदनाओं का वह चक्षु-स्पर्श आदि वाला स्पर्श उपनिश्रय के अनुसार एक प्रकार से ही प्रत्यय होता है।

मनोद्वार पर भी वैसे ही—मनोद्वार पर भी तदालम्बन के अनुसार प्रवर्तित कामावचर-विपाक-वेदनाओं का वह सहजात मनोस्पर्श कहा जाने वाला स्पर्श वैसे ही आठ प्रकार से प्रत्यय होता है। प्रतिसन्धि, भवाङ्ग, च्युति के अनुसार प्रवर्तित त्रैभूमक विपाक-वेदनाओं का भी। जो वे मनोद्वार पर तदालम्बन के अनुसार प्रवर्तित कामावचर-वेदनायें हैं, उनका मनोद्वारावर्जन से सम्प्रयुक्त मनोस्पर्श उपनिश्रय के अनुसार एक प्रकार से प्रत्यय होता है।

यह 'स्पर्श के प्रत्यय से वेदना' पद पर विस्तार पूर्वक वर्णन है।

(७) वेदना के प्रत्यय से तृष्णा

"वेदना के प्रत्यय से तृष्णा" पद में—

रूपतण्हादिभेदेन छ तण्हा इध दीपिता।
एकेका तिविधा तत्थ पवत्ताकारतो मता॥

[यहाँ रूप-तृष्णा आदि के भेद से छः तृष्णा बतलाई गई हैं। वह एक-एक प्रवर्तित होने के आकार से तीन प्रकार की मानी जाती हैं।]

इस पद में—सेठ का पुत्र, ब्राह्मण का पुत्र, ऐसे पिता से पुत्र के नाम के समान—"रूप-तृष्णा, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, धर्म-तृष्णा[1]" आलम्बन से नाम के अनुसार विभङ्ग में तृष्णा बताई गई हैं। उन तृष्णाओं में एक-एक प्रवर्ति के आकार से काम-तृष्णा, भव-तृष्णा, विभव-तृष्णा—ऐसे तीन प्रकार की मानी जाती हैं।

रूप-तृष्णा ही, जब चक्षु के सम्मुख आये हुए रूपालम्बन को काम के आस्वाद के अनुसार आस्वादन करती हुई प्रवर्तित होती है, तब काम-तृष्णा होती है। जब वही आलम्बन ध्रुव है, शाश्वत है—ऐसे प्रवर्तित शाश्वत-दृष्टि के साथ प्रवर्तित होती है, तब भव-तृष्णा होती है। शाश्वत-दृष्टि से युक्त राग ही भव-तृष्णा कही जाती है। जब, वही आलम्बन उच्छेद हो जाता है, विनाश हो जाता है—ऐसे प्रवर्तित उच्छेद-दृष्टि के साथ प्रवर्तित होती है, तब विभव-तृष्णा होती है। उच्छेद-दृष्टि से युक्त राग ही विभव-तृष्णा कही जाती है। यही नियम शब्द-तृष्णा आदि में भी है। ये अठारह तृष्णायें होती हैं। वे अध्यात्म (= भीतरी) रूप आदि में अठारह, बाह्य (= बाहरी) अठारह, कुल छत्तिस हैं। इस प्रकार भूतकाल की छत्तिस, भविष्यत्काल की छत्तिस, वर्तमान् काल की छत्तिस, (सब) एक सौ आठ तृष्णायें होती हैं। वे पुनः संक्षिप्त करते हुए रूप आदि आलम्बन के अनुसार छः या काम-तृष्णा आदि के अनुसार तीन ही तृष्णायें होती हैं—ऐसा जानना चाहिये।

चूँकि ये प्राणी, पुत्र को आस्वादन करके ममत्व करने वाली धायी के समान रूप आदि आलम्बन के अनुसार उत्पन्न होती हुई वेदना को आस्वादन करके वेदना के ममत्व से रूप आदि आलम्बन को देने वाले चित्रकार, गन्धर्व, गन्धिक (=गन्धका आलम्बन देने वाला), रसोईदार, तन्तुवाय (=जुलाहा), रसायन बनाने वाले वैद्य आदि का महासत्कार करते हैं, इसलिये सभी यह वेदना के प्रत्यय से तृष्णा होती है—ऐसा जानाना चाहिये।

यस्मा चेत्थ अधिप्पेता विपाक - सुख-वेदना।
एकाव एकधा वेसा तस्मा तण्हाय पच्चयो॥

[चूँकि यहाँ एक ही विपाक-चित्त से सम्प्रयुक्त सुख-वेदना अभिप्रेत है, इसलिये यह एक प्रकार से ही तृष्णा का प्रत्यय होती है।]

एक प्रकार से, अर्थात् उपनिश्रय-प्रत्यय से ही प्रत्यय होती है। चूँकि:—

दुक्खी सुखं पत्थयति सुखी भिय्योपि इच्छति।
उपेक्खा पन सन्तत्ता सुखमिच्चेव भासिता॥
तण्हाय पच्चया तस्मा होन्ति तिस्सोपि वेदना।
वेदना पच्चया तण्हा इति वुत्ता महेसिना॥
वेदना पच्चया चापि यस्मा नानुसयं विना।
होति तस्मा न सा होति ब्राह्मणस्स वुसीमतो॥

[दुःखी सुख की प्रार्थना करता है, सुखी और भी सुख चाहता है, किन्तु उपेक्षा शान्त होने से सुख ही कही गई है, इसलिये तीनों भी वेदनायें तृष्णा के प्रत्यय से होती हैं। 'महर्षि ने

---

१. विभङ्ग २।

वेदना के प्रत्यय से तृष्णा' कहा है और चूँकि वेदना के प्रत्यय से तृष्णा भी बिना अनुशय के नहीं होती है, इसलिये वह (मार्ग-ब्रह्मचर्य का) वास किये हुए ब्राह्मण[1] को नहीं होती है।]

यह 'वेदना के प्रत्यय से तृष्णा' पद पर विस्तार पूर्वक वर्णन है।

(८) तृष्णा के प्रत्यय से उपादान

"तृष्णा के प्रत्यय से उपादान" पद में—

उपादानानि चत्तारि तानि अत्थविभागतो।
धम्मसंखेपवित्थारा कमतो च विभावये॥

[उपादान चार हैं, उन्हें अर्थ-विभाग, धर्मों के संक्षेप-विस्तार और क्रम से विभावन करे।]

यह विभावन है—काम-उपादान, दृष्टि-उपादान, शील-व्रत-उपादान, आत्मवाद-उपादान-यहाँ ये चार उपादान हैं।

अर्थ-विभाग

उनका यह अर्थ-विभाग है—वस्तु कहे जाने वाले काम[2] को दृढ़तापूर्वक ग्रहण करता है, इसलिए काम-उपादान है। वह काम भी है और उपादान भी है, इसलिये भी काम-उपादान है। उपादान का अर्थ है दृढ़तापूर्वक ग्रहण करना। दृढ़ अर्थ का द्योतक ही यहाँ 'उप' शब्द है। उपायास, उपकुष्ट आदि के समान। वैसे (ही) दृष्टि भी है और वह उपादान भी है, इसलिये दृष्टि-उपादान है। या दृष्टि को दृढ़तापूर्वक ग्रहण करता है, इसलिए दृष्टि-उपादान है। "आत्मा और लोक शाश्वत हैं"[3] आदि में पहले की दृष्टि को पीछे की उत्पन्न हुई दृष्टि दृढ़तापूर्वक ग्रहण करती है।[4] वैसे (ही), शील-व्रत को दृढ़तापूर्वक ग्रहण करता है, इसलिए शील-व्रत-उपादान है। शील-व्रत भी है और वह उपादान भी है—इसलिये भी शीलव्रत-उपादान है। गौ-शील, गौ-व्रत आदि[5]—'ऐसे शुद्धि होती है'—इसके अभिनिवेश होने से स्वयं ही उपादान होते हैं। वैसे (ही) इस कारण को लेकर बोलते हैं, इसलिये वाद है और इससे दृढ़तापूर्वक ग्रहण करते हैं, इसलिये उपादान है। क्या बोलते या दृढ़तापूर्वक ग्रहण करते हैं ? आत्मा को। आत्मा के वाद का उपादान आत्मवाद-उपादान है। या आत्मवाद मात्र ही आत्मा है। इससे दृढ़तापूर्वक ग्रहण करते हैं, इसलिए आत्म-वाद-उपादान है। यह उनका अर्थ-विभाग है।

धर्म का संक्षेप और विस्तार

धर्म के संक्षेप-विस्तार में, काम-उपादान—"कौन सा काम-उपादान है ? जो काम गुणों में

---

१. सभी प्रकार के पापों को बहा देने वाले अर्हत् भिक्षु को ब्राह्मण कहते हैं।

२. काम दो प्रकार के होते हैं वस्तु-काम और क्लेश-काम। यहाँ वस्तु-काम अभिप्रेत है।

३. दीघनि० १,१।

४. पहले की दृष्टि को शाश्वत भाव से ग्रहण करती है या पहले की दृष्टि के आकार से पीछे की दृष्टि उत्पन्न होती हुई, उसी से पहले की दृष्टि को दृढ़ करती उसे दृढ़तापूर्वक ग्रहण करती है—टीका।

५. गौ-शील और गौ-व्रत आदि के लिये देखिये, मज्झिम नि० २,१,७।

कामच्छन्द, काम-राग, काम-नन्दी, काम-तृष्णा, काम-स्नेह, काम-परिदाह, काम-मूर्च्छा, काम में पड़े रहना है—यह काम-उपादान कहा जाता है।"[1] आये हुये होने से संक्षेप से तृष्णा का दृढ़त्व कहा जाता है। तृष्णा का दृढ़त्व पहले के तृष्णा के उपनिश्रय प्रत्यय से दृढ़ता से उत्पन्न हुई पिछली तृष्णा ही है। कोई-कोई कहते हैं—अप्राप्त विषय को पाने की इच्छा तृष्णा है, अन्धकार में चोर के हाथ फैलाने के समान। सम्प्राप्त विषय को ग्रहण करना उपादान है। उसी के सामान को ग्रहण करने के समान। वे धर्म-अल्पेच्छ और सन्तुष्टि के पक्षपाती हैं। वैसे ढूँढ़ने, रक्षा करने के दुःख-मूलक हैं। शेष तीनों उपादान संक्षेप से दृष्टिमात्र ही है।

विस्तार से, पहले रूप आदि में कही गयी एक सौ आठ प्रकार की भी तृष्णा का दृढ़ होना काम-उपादान है। दस वस्तु वाली मिथ्या-दृष्टि दृष्टि-उपादान है। जैसे कहा है—"कौन सा दृष्टि-उपादान है? दान नहीं है, यज्ञ नहीं है,···साक्षात् करके कहते हैं। जो इस प्रकार की दृष्टि···उल्टा पकड़ना है, यह दृष्टि-उपादान कहा जाता है।"[2] शील-व्रतों से शुद्धि होती है—ऐसे पकड़ना शील-व्रत-उपादान है। जैसे कहा है —"कौन-सा शीलव्रत-उपादान है?···उल्टा पकड़ना है—यह शील-व्रत-उपादान कहा जाता है।" बीस वस्तु वाली सत्काय-दृष्टि आत्मवाद-उपादान है। जैसे कहा है—"कौन सा आत्मवाद-उपादान है? यहाँ अश्रुत, पृथग्जन···सत्पुरुषों के धर्म में अ-विनीत (=अ-शिक्षित) रूप को आत्मा के तौर पर देखता है···उल्टा पकड़ना है—यह आत्मवाद-उपादान कहा जाता है।"[3] यह यहाँ (उपादान-) धर्मों का संक्षेप-विस्तार है।

क्रम

क्रम से—यहाँ, क्रम तीन प्रकार का होता है (१) उत्पत्ति-क्रम (२) प्रहाण क्रम (३) देशना-क्रम। उनमें, अनादि संसार में 'इसकी पहले उत्पत्ति हुई'—इस प्रकार के अभाव से क्लेशों का निष्पर्याय से उत्पत्ति-क्रम नहीं कहा जाता है। किन्तु पर्याय से अधिकांशतः एक-भव में आत्म-ग्राह का अग्रगामी शाश्वत, उच्छेद का अभिनिवेश है, तत्पश्चात् "यह आत्मा शाश्वत (=नित्य) है"—ऐसा ग्रहण करने वाले का आत्मा की विशुद्धि के लिये शील-व्रत-उपादान और "उच्छेद होगा" ऐसा ग्रहण करने वाले, परलोक की अनिच्छा वाले का काम-उपादान होता है। यह इनका एक-भव में उत्पत्ति-क्रम है।

स्रोतापत्ति-मार्ग से प्रहीण होने से दृष्टि-उपादान आदि पहले प्रहीण होते हैं और अर्हत्-मार्ग से प्रहीण होने से पीछे काम-उपादान। यह इनका प्रहाण-क्रम है।

महाविषय वाला होने और प्रगट होने से इनमें काम-उपादान की प्रथम देशना हुई है। आठ[4] चित्तों से सम्प्रयुक्त होने से महा विषय वाला है और अधिकांशतः आलय में रमने वाली प्रजा के लिये काम-उपादान प्रगट हैं, दूसरे नहीं। काम-उपादान वाला कामों की प्राप्ति के लिए कौतूहल-मङ्गल-बहुल होता है। वह उसकी दृष्टि होती है, इसलिये उसके अनन्तर दृष्टि-उपादान (की देशना हुई है)। वह बाँटने पर दो प्रकार का होता है—शीलव्रत और आत्मवाद-उपादान। उन दोनों में गौ की क्रिया या कुक्कुर की क्रिया को देखकर भी जानने और स्थूल होने

१. धम्मसङ्गणी।
२. धम्मसङ्गणी २।
३. विभङ्ग २।
४. आठ लोभ सहगत चित्तों से।

से शीलव्रत उपादान का पहले उपदेश हुआ है और सूक्ष्म होने से अन्त में आत्मवाद-उपादान। यह इनका देशना-क्रम है।

तण्हा च पुरिमस्सेत्थ एकधा होति पच्चयो।
सत्तधा अट्ठधा वापि होति सेसत्तयस्स सा॥

[तृष्णा पहले का एक प्रकार से ही प्रत्यय होती है, शेष तीनों का वह सात प्रकार या आठ प्रकार से भी।]

यहाँ, इस प्रकार उपदेश दिये गये उपादान-चतुष्क् में पहले काम-उपादान का काम-तृष्णा, तृष्णा से अभिनन्दित विषयों में उत्पन्न होने से उपनिश्रय के अनुसार एक प्रकार से ही प्रत्यय होती है। शेष तीनों का सहजात, अन्योन्य, निश्रय, सम्प्रयुक्त, अस्ति, अविगत, हेतु के अनुसार सात प्रकार या उपनिश्रय के साथ आठ प्रकार से भी प्रत्यय होती है और जब उपनिश्रय के अनुसार प्रत्यय होती है, तब सहजात के बिना ही होती है।

यह "तृष्णा के प्रत्यय से उपादान" पद पर विस्तार पूर्वक वर्णन है।

(९) उपादान के प्रत्यय से भव

"उपादान के प्रत्यय से भव" पद में—

अत्थतो धम्मतो चेव सात्थतो भेदसंगहा।
यं यस्स पच्चयो चेव विञ्ञातब्बो विनिच्छयो॥

[अर्थ, धर्म, सार्थक, भेद, संग्रह और जो जिसका प्रत्यय होता है, उससे विनिश्चय जानना चाहिये।]

अर्थ

वहाँ, होता है इसलिये भव कहते हैं। वह कर्म-भव और उत्पत्ति-भव—दो प्रकार का होता है। जैसे कहा है—"भव दो प्रकार का होता है, कर्म-भव है और उत्पत्ति-भव है।" कर्म ही भव है, इसलिये कर्म-भव है। वैसे उत्पत्ति ही भव है, इसलिये उत्पत्ति भव है। और यहाँ उत्पत्ति होती है, इसलिये भव है। कर्म यथा-सुख का कारण होने से—"बुद्धों का उत्पन्न होना सुखदायक है"[१] कहा गया है। ऐसे भव का कारण होने से फल के व्यवहार से भव होता है—इस प्रकार जानना चाहिये। ऐसे अर्थ से विनिश्चय जानना चाहिये।

धर्म

धर्म से—कर्म-भव संक्षेप से चेतना और चेतना से सम्प्रयुक्त अभिध्या (=लोभ) आदि कर्म कहे जाने वाले धर्म हैं। जैसे कहा है—"कौन-सा कर्म-भव है? पुण्याभिसंस्कार, अपुण्याभिसंस्कार, आनेञ्जाभिसंस्कार, कामावचर-भूमि वाला या महद्गत-भूमिवाला—यह कर्म-भव कहा जाता है। सभी भवगामी कर्म कर्म-भव है।"

पुण्याभिसंस्कार तेरह चेतना हैं, अपुण्याभिसंस्कार बारह और आनेञ्जाभिसंस्कार चार चेतना हैं। ऐसे, कामावचर-भूमि वाला या महद्गत-भूमि-वाला—इससे उन्हीं चेतनाओं का कम-बहुत विपाक वाली होना कहा गया है। 'सभी भवगामी कर्म'—इससे चेतना से सम्प्रयुक्त अभिध्या आदि कहे गये हैं।

उत्पत्ति-भव संक्षेप से कर्म से उत्पन्न स्कन्ध हैं। वह प्रभेद से नव प्रकार का होता है।

---

१. धम्मपद १९४।

जैसे कहा है—"कौन सा उत्पत्ति-भव है ? काम-भव, रूप-भव, अरूप-भव, संज्ञा-भव, असंज्ञा-भव, नैवसंज्ञानासंज्ञा-भव, एक अवकार-भव, चतुः अवकार-भव, पञ्च-अवकार-भव—यह उत्पत्ति-भव कहा जाता है।"

काम कहा जाने वाला भव काम-भव है। इसी प्रकार रूप-अरूप भव भी। संज्ञावान् भव या संज्ञा यहाँ भव में है, इसलिये संज्ञा-भव है और उसके विपरीत असंज्ञा-भव। स्थूल-संज्ञा के अभाव और सूक्ष्म के होने से इस भव में संज्ञा नहीं है, असंज्ञा भी नहीं है, इसलिये नैवसंज्ञाना-संज्ञा-भव है। एक रूपस्कन्ध से बिखरा हुआ भव एक-अवकार-भव है या इस भव का एक अवकार (=स्कन्ध) है, इसलिये एक अवकार-भव कहा जाता है। इसी प्रकार चतुःअवकार भव और पञ्च-अवकार भव को भी जानना चाहिये।

काम-भव पाँच उपादिन्न स्कन्ध हैं, वैसे रूप-भव; अरूप-भव चार, संज्ञा-भव पाँच, असंज्ञा-भव एक उपादिन्न स्कन्ध और नैवसंज्ञानासंज्ञा-भव चार स्कन्ध हैं। एक-अवकार-भव आदि एक, चार, पाँच स्कन्ध उपादिन्न-स्कन्धों से बिखरे हुए हैं। ऐसे धर्म से भी विनिश्चय जानना चाहिये।

सार्थक

सार्थक से—जैसे भव-निर्देश में, वैसे ही यद्यपि संस्कार-निर्देश में भी पुण्याभिसंस्कार आदि ही कहे गये हैं, ऐसा होने पर भी पहले (अविद्या के प्रत्यय से संस्कार) में पूर्व जन्म के किये हुए कर्म के अनुसार आगामी प्रतिसन्धि का प्रत्यय होने से (संस्कार का) पुनः कथन सार्थक ही है। अथवा, पहले में—"कौन-सा पुण्याभिसंस्कार है ? कामावचर की कुशल-चेतना।" ऐसे आदि ढंग से चेतना ही संस्कार कही गई है। यहाँ, "सभी भवगामी-कर्म।" वचन से चेतना से सम्प्रयुक्त भी। और पहले में विज्ञान का प्रत्यय ही कर्म संस्कार हैं—ऐसा कहा गया है। अब असंज्ञा-भव में उत्पन्न करने वाला भी।

बहुत कहने से क्या ? "अविद्या के प्रत्यय से संस्कार"—यहाँ पुण्याभिसंस्कार आदि ही कुशल-अकुशल-अव्याकृत धर्म कहे गये हैं। इसलिये सब प्रकार से भी यह पुनःकथन सार्थक ही है। ऐसे सार्थक से भी विनिश्चय जानना चाहिये।

भेद

भेद-संग्रह से—उपादान के प्रत्यय से भव के भेद और संग्रह से। जो काम-उपादान के काम-भव में उत्पन्न करने वाला कर्म किया जाता है, वह कर्म-भव है। उससे उत्पन्न हुए स्कन्ध, उत्पत्ति-भव है। इसी प्रकार रूप-अरूप भवों में। ऐसे काम-उपादान के प्रत्यय से दो काम-भव और उसके अन्तर्गत संज्ञा-भव, पञ्च-अवकार-भव हैं। दो अरूप-भव और उसके अन्तर्गत संज्ञाभव, नैवसंज्ञानासंज्ञा-भव, एक अवकार-भव हैं। इस प्रकार अन्तर्गत भवों के साथ छः भव हैं। जैसे काम-उपादान-प्रत्यय से अन्तर्गतों के साथ छः भव हैं, वैसे शेष-उपादान-प्रत्यय से भी। ऐसे 'उपादान के प्रत्यय से' भेद से अन्तर्गतों के साथ चौबीस भव हैं।

संग्रह

संग्रह से—कर्म-भव और उत्पत्ति-भव को एक में करके उपादान के प्रत्यय से अन्तर्गतों के साथ एक काम-भव है। वैसे रूप, अरूप भव। कुल तीन भव होते हैं। वैसे (ही) शेष उपादान-प्रत्ययों से भी। ऐसे उपादान के प्रत्यय से संग्रह से अन्तर्गतों के साथ बारह भव होते हैं।

और भी, सामान्य रूप से उपादान के प्रत्यय से काम-भव में ले जाने वाला कर्म कर्म-भव है। उससे उत्पन्न हुए स्कन्ध उत्पत्ति-भव है। इसी प्रकार रूप-अरूप भवों में। ऐसे उपादान के प्रत्यय से अन्तर्गतों के साथ दो काम-भव, दो रूप-भव, दो अरूप-भव—दूसरे पर्याय से संग्रह से छः भव होते हैं। या कर्म-भव, उत्पत्ति-भव के भेद को न लेकर अन्तर्गतों के साथ काम-भव आदि के अनुसार तीन भव होते हैं। काम-भव आदि भेद को न लेकर कर्म-भव, उत्पत्ति-भव के अनुसार दो भव होते हैं। कर्म-उत्पत्ति के भेद को भी न लेकर उपादान के प्रत्यय से भव—ऐसे भव के अनुसार एक ही भव होता है। इस प्रकार उपादान के प्रत्यय से भव का भेद, संग्रह से भी विनिश्चय जानना चाहिये।

प्रत्यय

जो जिसका प्रत्यय होता है—जो उपादान जिसका प्रत्यय होता है, उससे भी विनिश्चय जानना चाहिये—यह अर्थ है। कौन किसका प्रत्यय होता है? जो कोई जिस किसी का प्रत्यय होता ही है। क्योंकि पृथग्जन पागल के समान होता है। वह 'यह युक्त है, यह अयुक्त है'—ऐसा नहीं विचार कर जिस किसी उपादान के अनुसार जिस किसी भव की प्रार्थना करके जो कोई काम करता ही है। इसलिये जो कोई, शीलव्रत-उपादान से रूप-अरूप भव नहीं होते हैं—ऐसा कहते हैं, उसे नहीं मानना चाहिये।

जैसे, यहाँ कोई सुनने या देखने के अनुसार ये काम मनुष्य-लोक में क्षत्रिय महासार[1] कुल आदि में और छः कामावचर के देवलोक में समृद्ध हैं—इस प्रकार सोचकर उनकी प्राप्ति के लिये अ-सद्धर्म[2] के श्रवण आदि से वञ्चित हो, 'इस कर्म से काम प्राप्त होते हैं'—ऐसा मानता हुआ काम-उपादान के अनुसार कायदुश्चरित आदि करता है। वह दुश्चरित को परिपूर्ण करने से अपाय में उत्पन्न होता है या इसी जीवन में कामों को चाहते हुए और प्राप्त हुए को बचाते हुए काम-उपादान के अनुसार कायदुश्चरित आदि करता है। वह दुश्चरित को परिपूर्ण करने से अपाय में उत्पन्न होता है। वहाँ उसकी उत्पत्ति का हेतु हुआ कर्म कर्म-भव है, कर्म से उत्पन्न स्कन्ध उत्पत्ति-भव है। संज्ञा-भव, पञ्च-अवकार-भव उसके अन्तर्गत ही हैं।

दूसरा सद्धर्म-श्रवण आदि से बढ़े हुए ज्ञान वाला, 'इस कर्म से काम प्राप्त होते हैं'—ऐसा मानता हुआ काम-उपादान के अनुसार काय-सुचरित आदि करता है। वह कायसुचरित की परिपूर्ति से देवों या मनुष्यों में उत्पन्न होता है। वहाँ उसकी उत्पत्ति का हेतु हुआ कर्म कर्म-भव है, कर्म से उत्पन्न हुए स्कन्ध उत्पत्ति-भव है। संज्ञा-भव, पञ्च-अवकार-भव उसके अन्तर्गत ही हैं। इस प्रकार काम-उपादान प्रभेद के सहित अन्तर्गतों के साथ काम-भव का प्रत्यय होता है।

दूसरा, 'रूप-अरूप भवों में उससे समृद्धतर काम हैं' ऐसा सुनकर या कल्पना करके काम-उपादान के अनुसार ही रूप-अरूप समापत्तियों को उत्पन्न कर समापत्ति के बल से रूप-अरूप

---

१. जिसे सौ करोड़ कार्षापण निधान किया होता है और बीस अम्मण काम में लगा होता है, उसे क्षत्रिय महासार करते हैं। यथा—

"कोटीनं हेट्ठिमन्तेन सतं येसं निधानगं।
कहापणानं दिवसवलञ्जो वीसतम्मणं॥
ते खत्तियमहासाला..............। अभिधान० ३३७॥

२. पुराण, भारत, सीताहरण, पशुबन्ध-विधि आदि असद्धर्म हैं—टीका।

ब्रह्मलोक में उत्पन्न होता है। वहाँ उसकी उत्पत्ति का हेतु हुआ कर्म कर्म-भव है। कर्म से उत्पन्न हुए स्कन्ध उत्पत्ति-भव है। संज्ञा, असंज्ञा, नैवसंज्ञानासंज्ञा, एक, चार, पञ्च-अवकार-भव उनके अन्तर्गत ही हैं। इस प्रकार काम-उपादान प्रभेद सहित अन्तर्गतों के साथ रूप-अरूप भवों का भी प्रत्यय होता है।

दूसरा, "यह आत्मा कामावचर-सम्पत्ति के भव या रूप-अरूप भवों में से किसी एक के नष्ट होने पर भली प्रकार नष्ट हो जाता है" इस प्रकार की उच्छेद-दृष्टि को ग्रहण कर वहाँ जाने वाले कर्म को करता है। उसका कर्म कर्म-भव है, कर्म से उत्पन्न हुए स्कन्ध उत्पत्ति भव है। संज्ञा-भव आदि उनके अन्तर्गत ही हैं। इस प्रकार दृष्टि-उपादान प्रभेद सहित अन्तर्गतों के साथ तीनों भी काम, रूप, अरूप भवों का प्रत्यय होता है।

दूसरा "यह आत्मा कामावचर-सम्पत्ति के भव या रूप-अरूप भवों में से किसी एक में सुखी होता है, परिदाह (=पीड़ा) रहित होता है।" ऐसे आत्मवाद-उपादान से वहाँ ले जाने वाले कर्म को करता है। उसका वह कर्म कर्म-भव है और उससे उत्पन्न हुए स्कन्ध उत्पत्ति-भव है। संज्ञा-भव आदि उसके अन्तर्गत ही हैं। इस प्रकार आत्मवाद-उपादान प्रभेद सहित अन्तर्गतों के साथ तीनों भवों का प्रत्यय होता है।

दूसरा "यह शीलव्रत कामावचर की सम्पत्ति-भव में या रूप और अरूप भवों में से किसी एक में परिपूर्ण करनेवाले का सुख से परिपूर्ण होता है।" ऐसे शीलव्रत-उपादान के अनुसार वहाँ जाने वाले कर्म को करता है। उसका वह कर्म कर्म-भव है, और उससे उत्पन्न हुए स्कन्ध उत्पत्ति-भव है। संज्ञा-भव आदि उनके अन्तर्गत ही हैं। इस प्रकार शीलव्रत-उपादान प्रभेद के सहित अन्तर्गतों के साथ तीनों भवों का प्रत्यय होता है। ऐसे यहाँ जो जिसका प्रत्यय होता है, उससे भी विनिश्चय जानना चाहिये।

कौन किस भव का कैसे प्रत्यय होता है?

रूपारूपभवानं उपनिस्सयपच्चयो उपादानं।
सहजातादीहि पि तं कामभवस्सा'ति विञ्ञेय्यं॥

[रूप और अरूप भवों का उपादान उपनिश्रय प्रत्यय से प्रत्यय होता है। वह काम-भव का सहजात आदि से भी प्रत्यय होता है—ऐसा जानना चाहिये।]

रूप और अरूप भवों का तथा काम-भव का कर्म-भव में कुशल कर्म का ही, और उत्पत्ति-भव का—यह चार प्रकार का भी उपादान उपनिश्रय प्रत्यय से एक प्रकार से ही प्रत्यय होता है। काम-भव में अपने से सम्प्रयुक्त अकुशल कर्म-भव का सहजात, अन्योन्य, निश्रय, सम्प्रयुक्त, अस्ति, अविगत, हेतु-प्रत्यय के प्रभेदों से सहजात आदि से प्रत्यय होता है और विप्रयुक्त का उपनिश्रय प्रत्यय से ही।

यह 'उपादान के प्रत्यय से भव' पद पर विस्तारपूर्वक वर्णन है।

(१०) भव के प्रत्यय से जाति

भव के प्रत्यय से जाति—आदि में जाति आदि का विनिश्चय सत्य-निर्देश में कहे गये ढंग से ही जानना चाहिये। भव—यहाँ कर्म-भव ही अभिप्रेत है। क्योंकि वह जाति का प्रत्यय है, उत्पत्ति-भव का नहीं। वह कर्म-प्रत्यय, उपनिश्रय-प्रत्यय से दो प्रकार से प्रत्यय होता है।

प्रश्न हो सकता है—यह कैसे जानना चाहिये कि भव जाति का प्रत्यय होता है? बाहरी

प्रत्ययों के समान होने पर भी हीन, प्रणीत आदि विशेषता को देखने से। क्योंकि बाहरी जनक, जननी, शुक्र, शोणित, आहार आदि प्रत्ययों के युक्त होने पर भी, सत्वों का जोड़ा होने पर भी हीन, प्रणीत आदि विशेषता दिखाई देती है और वह सर्वदा सबके अभाव से अहेतुक नहीं है। उससे उत्पन्न सत्वों के अपने में अन्य कारण के अभाव से कर्म-भव से अहेतुक नहीं है; प्रत्युत कर्म-हेतुक ही है। क्योंकि कर्म ही सत्वों की हीन-प्रणीत आदि विशेषता का हेतु है। उससे भगवान् ने कहा है—"कर्म प्राणियों को हीन-प्रणीतता में विभक्त करता हैं।"[1] इसलिए यह जानना चाहिये कि भव जाति का प्रत्यय है।

चूँकि जाति (=जन्म) के नहीं होने पर जरा, मरण या शोक आदि धर्म नहीं होते हैं, किंतु जाति के होने पर जरा, मरण, और जरामरण कहे जाने वाले दुःख धर्म को प्राप्त हुये भज्ञ को, जरामरण से सम्बन्ध रखने वाले या उस-उस दुःख-धर्म को प्राप्त हुए नहीं सम्बन्ध रखने वाले शोक आदि धर्म होते हैं। इसलिये यह भी जाति, जरा, मरण और शोक आदि का प्रत्यय होती है—ऐसा जानना चाहिये। वह उपनिश्रय के अनुसार एक प्रकार से ही प्रत्यय होती है।

यह, 'भव के प्रत्यय से जाति' आदि पर विस्तारपूर्वक वर्णन है।

भव-चक्र कथा

चूँकि यहाँ शोक आदि अन्त में कहे गये हैं, इसलिये जो वह "अविद्या के प्रत्यय से संस्कार" ऐसे इस भव-चक्र के प्रारम्भ में कही गई है, यह अविद्या शोक आदि से सिद्ध है।

भवचक्कमविदितादिमिदं, कारकवेदकरहितं ।
द्वादसविधसुञ्ञतासुञ्ञं, सततं समितं पवत्तति ॥

[प्रारम्भ का पता न लगने वाला यह भव-चक्र कर्ता और अनुभव करने वाले से रहित बारह प्रकार की शून्यताओं से शून्य निरन्तर प्रवर्तित हो रहा है।]

—ऐसा जानना चाहिये।

कैसे यह शोक आदि से अविद्या सिद्ध है? कैसे यह भव-चक्र अनादि है? कैसे कर्ता और अनुभव करने वाले से रहित है? कैसे बारह प्रकार की शून्यता से शून्य है?

यहाँ, शोक, दौर्मनस्य, उपायास, अविद्या से अलग होने वाले नहीं हैं और परिदेव मूढ़ को होता है। उनके सिद्ध होने पर अविद्या सिद्ध होती है। और भी—"आश्रव की उत्पत्ति से अविद्या की उत्पत्ति होती है।"[2] कहा गया है। आश्रव की उत्पत्ति से ये शोक आदि होते हैं।

कैसे? वस्तु-काम के वियोग में शोक काम-आश्रव की उत्पत्ति से होता है। जैसे कहा है—

तस्स चे कामयमानस्स छन्दजातस्स जन्तुनो ।
ते कामा परिहायन्ति सल्लविद्धोव रुप्पति ॥[3]

[यदि तृष्णा के वशीभूत कामना वाले प्राणी के वे काम नष्ट हो जाते हैं, तो वह शल्य से छिदे हुए के समान पीड़ित होता है।]

और जैसे कहा है—"काम से शोक उत्पन्न होता है।"[4] ये सभी दृष्टाश्रव की उत्पत्ति

१. मज्झिम नि० ३,४,५।
२. मज्झिम नि० १,१,९।
३. सुत्त नि० ४,१।
४. धम्मपद १६,७।

से होते हैं। जैसे कहा है—"मैं रूप हूँ, मेरा रूप है—ऐसे उस दृष्टि से उठकर स्थित हो रहने वाले को रूप के विपरिणाम होने, अन्यथा होने से शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास उत्पन्न होते हैं।"[1]

जैसे दृष्टाश्रव की उत्पत्ति से, ऐसे भवाश्रव की उत्पत्ति से भी। जैसे कहा है—"जो भी वे देव दीर्घ आयु वाले, वर्णवान्, सुख-बहुल, ऊँचे विमानों में बहुत दिनों तक रहते हैं, वे भी तथागत की धर्म-देशना को सुनकर भय, संत्रास, संवेग, को प्राप्त होते हैं।"[2] ऐसे पाँच पूर्व-निमित्तों[3] को देखकर मरने के भय से डरे हुए देवों के समान।

और जैसे भवाश्रव की उत्पत्ति से, ऐसे अविद्या की उत्पत्ति से भी। जैसे कहा है—"भिक्षुओ, वह बाल इसी जीवन में तीन प्रकार के दुःख, दौर्मनस्य को भोगता है।"[4] इस प्रकार चूँकि आश्रव की उत्पत्ति से ये धर्म उत्पन्न होते हैं, इसलिये ये सिद्ध होते हुए अविद्या के हेतु हुए आश्रवों को सिद्ध करते हैं और आश्रवों के सिद्ध होने पर, प्रत्यय के होने पर होने से अविद्या भी सिद्ध ही होती है। ऐसे यहाँ शोक आदि से अविद्या सिद्ध होती है—जानना चाहिये।

चूँकि ऐसे प्रत्यय के होने में (उसके) होने से अविद्या के सिद्ध होने पर, फिर अविद्या के प्रत्यय से संस्कार, संस्कार के प्रत्यय से विज्ञान—इस प्रकार हेतु-फल की परम्परा का अन्त नहीं है। इसलिये उस हेतु-फल के सम्बन्ध से प्रवर्तित बारह अंगों वाले भव-चक्र के प्रारम्भ का पता नहीं है—यह सिद्ध होता है।

ऐसा होने पर "अविद्या के प्रत्यय से संस्कार"—यह प्रारम्भ मात्र कहना विरुद्ध होता है? यह प्रारम्भ मात्र कथन नहीं है, प्रत्युत यह प्रधान धर्म-कथन है। तीनों वर्त्तों[5] की अविद्या प्रधान है। अविद्या के ग्रहण से अवशेष क्लेश-वर्त्त और कर्म आदि साँप के शिर को पकड़ने से साँप का शेष शरीर जिस प्रकार बाँह को बेठ लेता है, उसी प्रकार बाल (= अज्ञ) को नाना प्रकार से दुःख देते हैं। अविद्या को नाश करने पर साँप के शिर के काट डालने पर लपेटी हुई बाँह की छुटकारा के समान, उनसे विमोक्ष होता है। जैसे कहा है—"अविद्या के ही सम्पूर्णतः विराग और निरोध से संस्कारों का निरोध होता है।"[6] आदि। इस प्रकार जिसे ग्रहण करने से बन्धन और छोड़ने से मोक्ष होता है, उस प्रधान-धर्म का यह कथन है, न कि प्रारम्भ मात्र का कथन है। ऐसे यह भव-चक्र अविदित प्रारम्भ वाला है—ऐसा जानना चाहिये।

यह, चूँकि अविद्या आदि कारणों से संस्कार आदि की प्रवर्ति होती है, इसलिये उस अन्य "ब्रह्मा, महाब्रह्मा······श्रेष्ठ, सृष्टि करने वाला।"[7] ऐसे परिकल्पित ब्रह्मा आदि संसार के कर्त्ता

---

१. संयुत्त नि० २१,१,१,३ ।

२. संयुत्त नि० २१,२,३,६ ।

३. इतिवुत्तक और अंगुत्तर निकाय में पाँच पूर्व-निमित्त ये बतलाये गये हैं—जब देव अपने देवविमान से च्युत होने वाले होते हैं तब (१) मालायें कुम्हला जाती हैं, (२) वस्त्र मैले हो जाते हैं, (३) काँखों से पसीना चूने लगता है, (४) शरीर विवर्ण और कुरूप हो जाता है, (५) देव-देवासन पर नहीं अभिरमण करते हैं।

४. मज्झिम नि० ३,३,९ ।

५. कर्म, क्लेश, विपाक—ये तीन वर्त्त हैं।

६. उदान १,२ ।

७. दीघनि० १,१ ।

या "वह मेरी आत्मा बोलने वाली, अनुभव करने वाली है"[1] ऐसे परिकल्पित सुख-दुःख को अनुभव करने वाली आत्मा से रहित है। इस प्रकार कर्त्ता और अनुभव करने वाले से रहित जानना चाहिये।

चूँकि यहाँ अविद्या उत्पत्ति, विनाश के स्वभाव वाली होने से ध्रुव है, संक्लिष्ट और संक्लेशिक होने से शुभ है, उत्पत्ति, विनाश से पीड़ित होने से सुख है, प्रत्ययों के अधीन होने और वश में रखने वाले आत्म-भाव (=शरीर) से शून्य है। वैसे ही संस्कार आदि भी अङ्ग। या चूँकि अविद्या आत्मा नहीं है, न आत्मा की है, न आत्मा में है, न आत्मा वाली है, वैसे संस्कार आदि भी अङ्ग। इसलिये बारह प्रकार की शून्यता से शून्य इस भव-चक्र को जानना चाहिये। और इस प्रकार जानकर पुनः —

तस्साविज्जा तण्हा, मूलमतीतादयो तयो काला।
द्वे अट्ठ द्वे एव च सरूपतो तेसु अङ्गानि॥

[उस (भव-चक्र) का अविद्या-तृष्णा मूल है, अतीत आदि तीन काल हैं, उनमें स्वरूप से अङ्ग दो, आठ और दो ही हैं।]

उस भव-चक्र का अविद्या और तृष्णा (इन) दो धर्मों को मूल जानना चाहिये। वह पूर्वान्त को लाने से अविद्या के मूल वाला और वेदना के अन्त वाला है। अपरान्त को मिलाने से तृष्णा के मूल और जरा-मरण के अन्त वाला है—ऐसे दो प्रकार का होता है।

उनमें पहला दृष्टि-चरित के अनुसार कहा गया है। पिछला तृष्णा-चरित के अनुसार। दृष्टि-चरित वालों को अविद्या और तृष्णा-चरित वालों को तृष्णा संसार में लाने वाली है। या उच्छेद-दृष्टि के नाश के लिये पहले फल की उत्पत्ति के हेतुओं के अनुपच्छेद को प्रकाशित करने से, शाश्वत-दृष्टि के नाश के लिये दूसरा, उत्पन्न हुए (व्यक्तियों) के जरा-मरण को प्रकाशित करने से। अथवा गर्भशायी के अनुसार पहला क्रमशः प्रवर्ति को करने से, औपपातिक के अनुसार पिछला, एक साथ उत्पत्ति होने को प्रगट करने से।

अतीत, वर्तमान् और भविष्यत्, उसके तीन काल हैं। उनमें, पालि में स्वरूप से आये हुए के अनुसार अविद्या और संस्कार दो अङ्ग अतीत काल वाले हैं। विज्ञान आदि भव के अन्त तक आठ वर्तमान् काल वाले हैं। जाति और जरा-मरण दो भविष्यत् काल वाले हैं—ऐसा जानना चाहिये। पुनः —

हेतु-फल-हेतुपुब्बक-तिसन्धि चतुभेदसङ्गहञ्चेतं।
वीसतिआकारारं तिवट्टमनवट्ठितं भमति॥

[हेतु, फल, पूर्व का हेतु, तीन सन्धि, चार प्रभेदों के संग्रह वाला, बीस आकार के आरा वाला और तीन वर्त्त वाला यह बिना रुके हुए चक्कर कर रहा है।]

इस प्रकार भी जानना चाहिये।

उनमें, संस्कारों और प्रतिसन्धि, विज्ञान के बीच में एक हेतु और फल की सन्धि (=जोड़) है। वेदना और तृष्णा के बीच में एक फल और हेतु की सन्धि है। भव और जाति के बीच में एक हेतु और फल की सन्धि है—ऐसे हेतु, फल और पूर्व के हेतु और तीन सन्धियों को जानना चाहिये।

---

१. मज्झिमनि० १,१,३।

सन्धियों के प्रारम्भ और अन्त का व्यवस्थान करने से इसके चार संग्रह[1] होते हैं। जैसे-अविद्या-संस्कार एक संग्रह है। विज्ञान, नामरूप, छः आयतन, स्पर्श, वेदना दूसरा; तृष्णा, उपादान, भव तीसरा; और जाति, जरा-मरण चौथा (संग्रह) है। ऐसे चार प्रभेदों के संग्रह को जानना चाहिये।

अतीते हेतवो पञ्च, इदानि फल पञ्चकं।
इदानि हेतवो पञ्च आयतिं फलपञ्चकं॥

[अतीत में पाँच हेतु थे, इस समय पाँच फल हैं। इस समय पाँच हेतु हैं, आगे पाँच फल होंगे।]

अतीत में पाँच हेतु थे—अविद्या और संस्कार—ये दो कहे ही गये हैं। चूँकि अविज्ञ तृष्णा से पिपासित होता है, तृष्णा से प्यासा हुआ दृढ़तापूर्वक ग्रहण करता है। उसके उपादान के प्रत्यय से भव होता है। इसलिये तृष्णा, उपादान, भव भी गृहीत हैं। उससे कहा है—"पूर्व कर्म-भव में मोह अविद्या है, राशि करना संस्कार हैं, चाह तृष्णा है, दृढ़तापूर्वक ग्रहण करना उपादान है, चेतना भव है—इस प्रकार ये पाँच धर्म पूर्व कर्म-भव में यहाँ प्रतिसन्धि के प्रत्यय होते हैं।"[2]

पूर्व-कर्म-भव में—पहले के कर्म-भव में। अतीत जन्म के कर्म-भव में किये हुये—यह अर्थ है। मोह अविद्या है—जो उस समय दुःख आदि में मोह होता है, जिससे मूढ़ होकर कर्म करते हैं, वह अविद्या है। राशि करना संस्कार है—उस कर्म को करने वाले की जो पहले की चेतनायें हैं, जैसे—'दान दूँगा' ऐसा चित्त उत्पन्न करके मास भर भी, वर्ष भर भी दान के उपकरण को सजाते हुए की उत्पन्न हुई पूर्व की चेतनायें। प्रतिग्राहकों के हाथ में दक्षिणा को रखने वाले की चेतना भव कही जाती है। एक आवर्जन या छः जवनों में (उत्पन्न) चेतना राशि करने वाली, संस्कार हैं। सातवीं भव है। अथवा जो कोई चेतना भव है। (स्पर्श या अभिध्या आदि से) सम्प्रयुक्त राशि करने वाली संस्कार हैं। चाह तृष्णा है—कर्म करने वाले की उसके फलोत्पत्ति-भव में जो चाह है, प्रार्थना है, वह तृष्णा है। दृढ़तापूर्वक ग्रहण करना उपादान है—जो कर्म-भव का प्रत्यय है, 'इसे करके अमुक स्थान में कामों का सेवन करूँगा, उच्छेद को प्राप्त होऊँगा' आदि प्रकार से होने वाला जो उपगमन है=ग्रहण करना है=पकड़ना है—यह उपादान है। चेतना भव है—राशि करने के अन्त में कही गई चेतना भव है। ऐसे अर्थ जानना चाहिये।

इस समय पाँच फल हैं—विज्ञान आदि वेदना के अन्त तक पालि में आया ही हुआ है। जैसे कहा है—"यहाँ, प्रतिसन्धि विज्ञान है, (माँ के पेट में) उतरना नामरूप है। प्रसाद आयतन है। छूना स्पर्श है। अनुभव करना वेदना है। इस प्रकार से पाँच धर्म यहाँ उत्पत्ति-भव में पूर्व के किये कर्म के प्रत्यय हैं।"

प्रतिसन्धि विज्ञान है—जो एक भव से दूसरे भव को जोड़ने के अनुसार उत्पन्न होने से प्रतिसन्धि कही जाती है, वह विज्ञान है। माता के पेट में उतरना नामरूप है—जो गर्भ में रूप और अरूप धर्मों का उतरना है, आकर प्रवेश करने के समान है, यह नामरूप है। प्रसाद आयतन है—यह चक्षु आदि पाँच आयतनों के अनुसार कहा गया है। छूना स्पर्श है—जो आलम्बन को छूने से उत्पन्न होता है, यह स्पर्श है। अनुभव करना वेदना है—जो प्रतिसन्धि विज्ञान या छः आयतन

१. इन्हें ही 'चार संक्षेप' भी कहते हैं।

२. पटिसम्भिदामग्ग १।

से स्पर्श के साथ उत्पन्न हुये विपाक का अनुभव करना है। वह वेदना है। ऐसे अर्थ जानना चाहिये।

इस समय पाँच हेतु हैं—तृष्णा आदि। पालि में आये हुए तृष्णा, उपादान, भव, भव के ग्रहण से उसके पूर्व भाग या उससे सम्प्रयुक्त संस्कार गृहीत ही होते हैं। और तृष्णा, उपादान के ग्रहण से उससे सम्प्रयुक्त या जिससे मूढ़ हुआ कर्म करता है, वह अविद्या गृहीत ही होती है—ऐसे पाँच। उससे कहा है—"यहाँ आयतनों के परिपक्व होने से मोह अविद्या है, राशि करना संस्कार हैं, चाह तृष्णा है, दृढ़तापूर्वक ग्रहण करना उपादान है, चेतना भव है। ये पाँच धर्म यहाँ कर्म-भव में आगे प्रतिसन्धि के प्रत्यय हैं।" उसमें, यहाँ आयतनों के परिपक्व होने से—परिपक्व हुये आयतन का कर्म करने के समय संमोह दिखलाया गया है। शेष अर्थ सरल ही है।

आगे पाँच फल होंगे—विज्ञान आदि पाँच। वे जाति के ग्रहण से कहे गये हैं। जरामरण, उन्हीं का जरा-मरण है। उससे कहा है—"आगे की प्रतिसन्धि विज्ञान है, माँ के पेट में उतरना नामरूप है। प्रसाद आयतन है, छूना स्पर्श है, अनुभव करना वेदना है—ये पाँच धर्म आगे उत्पत्ति-भव में यहाँ किये हुये कर्म के प्रत्यय से हैं।" ऐसे यह बीस आकार के आरा वाला है।

तीन वर्त्त वाला बिना रुके हुए चक्कर कर रहा है—यहाँ, संस्कार-भव-कर्म-वर्त्त है। अविद्या, तृष्णा, उपादान क्लेश-वर्त्त है। विज्ञान, नामरूप, छः आयतन, स्पर्श, वेदना विपाक-वर्त्त है—इन तीनों वर्त्तों से यह भव-चक्र तीन वर्त्त वाला है। जब तक क्लेश-वर्त्त नहीं टूटता है, तब तक नहीं टूटने के कारण बिना रुके पुनः पुनः घूमने से चक्कर करता ही है—ऐसा जानना चाहिये। वह ऐसे चक्कर करता हुआ—

सच्चप्पभवतो किच्चा वारणा उपमाहि च।
गम्भीर-नयभेदा च विञ्ञातब्बं यथारहं॥

[सत्य से उत्पन्न होने, कृत्य, निवारण, उपमा और गम्भीर नय के भेद से यथायोग्य जानना चाहिये।]

सत्य से उत्पन्न होना

चूँकि कुशल और अकुशल कर्म सामान्य रूप से समुदय सत्य है—ऐसा सत्यविभङ्ग में कहा गया है, इसलिए 'अविद्या के प्रत्यय से संस्कार'—ऐसे अविद्या से संस्कार, द्वितीय सत्य से उत्पन्न होने से द्वितीय सत्य है। संस्कारों से विज्ञान द्वितीय सत्य से उत्पन्न हुआ प्रथम सत्य है। विज्ञान आदि से नामरूप आदि विपाक-वेदना के अन्त तक प्रथम सत्य से उत्पन्न प्रथम सत्य है। वेदना से तृष्णा प्रथम सत्य से उत्पन्न द्वितीय सत्य है। तृष्णा से उपादान द्वितीय सत्य से उत्पन्न द्वितीय सत्य है। उपादान से भव द्वितीय सत्य से उत्पन्न प्रथम और द्वितीय दोनों सत्य हैं। भव से जाति द्वितीय सत्य से उत्पन्न प्रथम सत्य है। जाति से जरा-मरण प्रथम सत्य से उत्पन्न प्रथम सत्य है। ऐसे यह 'सत्य से उत्पन्न होने से' यथायोग्य जानना चाहिये।

प्रवर्ति का कृत्य

चूँकि यहाँ अविद्या वस्तुओं (=आलम्बनों) में प्राणियों को संमोहित करती है और संस्कारों की उत्पत्ति के लिये प्रत्यय होती है, वैसे संस्कार अपने साथ उत्पन्न हुये संस्कारों को एकत्र करते हैं

और विज्ञान के प्रत्यय होते हैं। विज्ञान भी आलम्बन को जानता है और नामरूप का प्रत्यय होता है। नामरूप भी एक दूसरे को सम्हालते हैं और छः आयतन का प्रत्यय होते हैं। छः आयतन भी अपने-विषय (=रूपायतन आदि) में प्रवर्तित होता है और स्पर्श का प्रत्यय होता है। स्पर्श भी आलम्बन को स्पर्श करता है और वेदना का प्रत्यय होता है। वेदना भी आलम्बन का अनुभव करती है और तृष्णा का प्रत्यय भी होती है। तृष्णा भी प्रेम करने के योग्य धर्मों में प्रेम करती है और उपादान का प्रत्यय होती है। उपादान भी दृढ़ता से ग्रहण करने योग्य धर्मों को दृढ़तापूर्वक ग्रहण करता है और भव का प्रत्यय होता है। भव भी नाना गतियों में डालता है और जाति (=जन्म) का प्रत्यय होता है। जाति भी उन (स्कन्धों) की उत्पत्ति में प्रवर्तित होने से स्कन्धों को उत्पन्न करती है और जरा-मरण का प्रत्यय भी होती है। जरा-मरण भी स्कन्धों के पकने, नाश होने में ठहरता है और शोक आदि का कारण होने से इस भव से दूसरे भव में उत्पत्ति का प्रत्यय होता है। इसलिए सब पदों में दो प्रकार से प्रवर्तित होने के कृत्य से भी यह यथायोग्य जानना चाहिये।

मिथ्या-दर्शन का निवारण

चूँकि यहाँ—"अविद्या के प्रत्यय से संस्कार"—यह कर्त्ता (=ईश्वर आदि) के दर्शन का निवारण है। 'संस्कार के प्रत्यय से विज्ञान' यह आत्मा की संक्रान्ति के दर्शन का निवारण है। 'विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप' यह 'आत्मा है' ऐसे काल्पनिक वस्तु के विनाश को देखने से घन-संज्ञा का निवारण है। "नामरूप के प्रत्यय से छः आयतन" आदि, आत्मा देखती है,......जानती है, स्पर्श करती है, अनुभव करती है, तृष्णा करती है, होती है, जन्मती है, जीती है, मरती है—ऐसे आदि दर्शन का निवारण है। इसलिये मिथ्या-दर्शन के निवारण से भी यह भव-चक्र यथायोग्य जानना चाहिये।

उपमा

चूँकि यहाँ स्वलक्षण और सामान्य लक्षण के अनुसार धर्मों के नहीं देखने से अन्धे के समान अविद्या है। अन्धे के फिसलने के समान अविद्या के प्रत्यय से संस्कार हैं। फिसले हुए के गिरने के समान संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान है। गिरे हुए को फोड़ा होने के समान विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप है। फोड़े के फूटने से उत्पन्न फुन्सियों के समान नामरूप के प्रत्यय से छः आयतन हैं। फोड़े-फुन्सियों के घर्षण के समान छः आयतन के प्रत्यय से स्पर्श है। संघर्षण के दुःख के समान स्पर्श के प्रत्यय से वेदना है। दुःख का उपचार करने की इच्छा के समान वेदना के प्रत्यय से तृष्णा है। उपचार की इच्छा से अपथ्य को ग्रहण करने के समान तृष्णा के प्रत्यय से उपादान है। ग्रहण किये गये अपथ्य के आलेपन के समान उपादान के प्रत्यय से भव है। अपथ्य के आलेपन से फोड़े के विकार उत्पन्न होने के समान भव के प्रत्यय से जाति है। फोड़े के विकार से फोड़े के फूटने के समान जाति के प्रत्यय से जरा-मरण है। अथवा, चूँकि यहाँ अविद्या अप्रतिपत्ति और मिथ्या प्रतिपत्ति होने से सत्त्वों को उसी प्रकार पीड़ित करती है जैसे कि पटल आँखों को। उससे पीड़ित बाल (= अज्ञ) पुनः पुनः होने वाले संस्कारों से अपने को उसी प्रकार लपेटता है, जैसे कि कोश के प्रदेशों से कोश बनाने वाला कीड़ा अपने को लपेटता है। संस्कारों से परिगृहीत विज्ञान गतियों में उसी प्रकार प्रतिष्ठा पाता है जैसे कि राज्य में परिनायक[1] द्वारा परिगृहीत राज-

---

१. राज्य के प्रधान मंत्री आदि।

कुमार। उत्पत्ति-निमित्त की परिकल्पना से विज्ञान प्रतिसन्धि में अनेक प्रकार के नामरूप को जादूगर के जादू के समान उत्पन्न करता है। नामरूप में प्रतिष्ठित छः आयतन वृद्धि = विरूढ़ि = वैपुल्य-भाव को प्राप्त होता है अच्छी भूमि में प्रतिष्ठित वन-समूह के समान। आयतन के संघर्ष से अरणि के युग्म को रगड़ने से अग्नि के समान स्पर्श उत्पन्न होता है। स्पर्श से छूये हुए को आग को छूने वाले के दाह के समान वेदना उत्पन्न होती है। अनुभव करने वाले की तृष्णा नमकीन जल पीने वाले की प्यास के समान बढ़ती है। प्यासा हुआ भवों में पानी के प्यास के समान अभिलाषा करता है। वह उसका उपादान है। उपादान से भव को दृढ़तापूर्वक उसी प्रकार ग्रहण करता है, जैसे कि मछली चारा (= आमिष) के लोभ से वंशी (= अंकुश) को। भव के होने पर जाति उसी प्रकार होती है, जैसे कि बीज के होने पर अंकुर। उत्पन्न हुये की, उत्पन्न वृक्ष के गिरने के समान जरामरण निश्चित हैं। इसलिये ऐसे उपमाओं से भी यह भव-चक्र यथायोग्य जानना चाहिये।

गम्भीर-भेद

चूँकि भगवान् ने अर्थ से भी, धर्म से भी, देशना से भी, प्रतिवेध से भी इसके गम्भीर होने के प्रति कहा है—"आनन्द, यह प्रतीत्य-समुत्पाद गम्भीर है और गम्भीर के रूप में दिखाई देने वाला[1] है।" इसलिये गम्भीर-भेद से भी यह भव-चक्र यथायोग्य जानना चाहिये।

नय-भेद

चूँकि जाति से ही जरा-मरण होता है, जाति के बिना अन्यत्र से नहीं होता है और इस प्रकार जाति से होता है—ऐसे जाति के प्रत्यय से हुए के दुर्बोध होने से जरामरण का जाति के प्रत्यय से उत्पन्न हुए का स्वभाव गम्भीर है। वैसे जाति का भव के प्रत्यय से......संस्कारों का अविद्या के प्रत्यय से उत्पन्न हुये का स्वभाव गम्भीर है। इसलिये यह भव-चक्र अर्थ से गम्भीर है—यह यहाँ अर्थ की गम्भीरता है। हेतु-फल अर्थ कहा जाता है। जैसे कहा है—"हेतु-फल में ज्ञान अर्थ-प्रतिसम्भिदा है।"

चूँकि जिस आकार से जिस अवस्था में अविद्या उन-उन संस्कारों का प्रत्यय होती है, उसके दुर्बोध होने से अविद्या का संस्कारों का प्रत्यय होना गम्भीर है। वैसे संस्कारों का,......जाति का, जरामरण का प्रत्यय होना गम्भीर है। इसलिये यह भव-चक्र धर्म गम्भीर है। यह यहाँ धर्म की गम्भीरता है। हेतु का ही नाम धर्म है। जैसे कहा है—"हेतु में ज्ञान धर्म-प्रतिसम्भिदा है।"

चूँकि उसका उस-उस कारण से वैसे-वैसे प्रवर्तित करने के योग्य होने से देशना भी गम्भीर है, वहाँ सर्वज्ञ-ज्ञान से दूसरा ज्ञान प्रतिष्ठा नहीं पाता है। वैसे ही यह कहीं सूत्र में अनुलोम से, कहीं प्रतिलोम से, कहीं अनुलोम-प्रतिलोम से, कहीं बीच से लेकर अनुलोम या प्रतिलोम से, कहीं तीन सन्धि, चार संक्षेप, कहीं दो सन्धि, तीन संक्षेप, कहीं एक सन्धि, दो संक्षेप से उपदेश किया गया है। इसलिये यह भव-चक्र देशना से गम्भीर है—यह देशना की गम्भीरता है।

चूँकि यहाँ जो वह अविद्या आदि का स्वभाव है, जिसके प्रतिवेध से अविद्या आदि सम्यक् स्वलक्षण से जानी जाती हैं। वह बुद्धि से नहीं पता लगा सकने के कारण गम्भीर है। इसलिये

१. दीघ नि० २, २।

यह भव-चक्र प्रतिवेध से गम्भीर है। वैसे ही ,यहाँ अविद्या का अज्ञान, नहीं दिखाई देना, और सत्यों का स्वभावतः ज्ञान न होना गम्भीर है। संस्कारों का कुशल-अकुशल कर्मों को करना, राग और विराग से युक्त होना गम्भीर है। विज्ञान का शून्य, व्यापार में न पड़ना, एक शरीर से दूसरे शरीर में निकल कर न जाना और प्रतिसन्धि में प्रगट होना गम्भीर है। नामरूप का एकोत्पाद, परस्पर विनिर्भोग और स्वयं अविनिर्भोग, झुकना तथा नष्ट होना गम्भीर है। छः आयतन को अधिपति, लोक, द्वार, क्षेत्र,[1] और विषय होना गम्भीर है। स्पर्श का छूना, संघर्षण, मिलना, एकत्र होना गम्भीर है। वेदना का आलम्बनों के रस का अनुभव करना, सुख-दुःख, उपेक्षा, निर्जीव और वेदन (=अनुभव) करना गम्भीर है। तृष्णा का अभिनन्दन करके प्रवेश करना, सरिता, लता, नदी, तृष्णा, समुद्र,[2] और कठिनाई से पूर्ण होना गम्भीर है। उपादान का ग्रहण करने का अभिनिवेश दृढ़तापूर्वक पकड़ना और नहीं अतिक्रमण किया जाना गम्भीर है। भव का एकत्र करना, अभिसंस्करण, योनि, गति, स्थिति, निवासों में डालना गम्भीर है। जाति की उत्पत्ति, उतरना, उत्पन्न होना, प्रगट होना गम्भीर है। जरामरण का क्षय-व्यय, भेद (=विनाश), विपरिणाम का होना गम्भीर है। ऐसे यहाँ प्रतिवेध की गम्भीरता है।

चूँकि यहाँ एकत्व नय, नानत्व नय, अ-व्यापार नय, एवं-धर्मता नय—ऐसे चार अर्थ नय होते हैं। इसलिये नय के भेद से भी यह भव-चक्र यथायोग्य जानना चाहिये।

यहाँ, अविद्या के प्रत्यय से संस्कार, संस्कार के प्रत्यय से विज्ञान—ऐसे बीज के अंकुर आदि के होने से वृक्ष के होने के समान सन्तति का उच्छेद न होना एकत्व नय है। जिसे सम्यक् रूप से देखने वाला हेतु-फल के सम्बन्ध से सन्तति के अनुपच्छेद के अवबोध से उच्छेद-दृष्टि को त्यागता है, मिथ्या रूप से देखने वाला हेतु-फल के सम्बन्ध से प्रवर्तित होते हुए सन्तान के अनुपच्छेद का एकत्व के ग्रहण से शाश्वत दृष्टि को ग्रहण करता है।

अविद्या आदि का अपने लक्षण के अनुसार व्यवस्थापन करना नानत्व नय है। जिसे सम्यक् रूप से देखने वाला नयी-नयी उत्पत्ति के दर्शन से शाश्वत दृष्टि को त्यागता है, मिथ्या रूप से देखने वाला एक सन्तान में पड़े हुए का भिन्न-सन्तान के समान नानत्व को ग्रहण करने से उच्छेद दृष्टि को ग्रहण करता है।

अविद्या का संस्कारों को मुझे उत्पन्न करना चाहिये या संस्कारों का विज्ञान को हम लोगों को उत्पन्न करना चाहिये—ऐसे व्यापार (=कृत्य) के अभाव से अव्यापार-नय है। जिसे सम्यक् रूप से देखने वाला कर्त्ता के अभाव के अवबोध (=ज्ञान) से आत्म-दृष्टि को त्यागता है। मिथ्या रूप से देखने वाला, जो व्यापार के नहीं होने पर भी अविद्या आदि का हेतु स्वभाव के नियम से सिद्ध है, उसे नहीं ग्रहण करने वाला अक्रिय-दृष्टि को ग्रहण करता है।

अविद्या आदि कारणों से संस्कार आदि का ही सम्भव है, दूध आदि से दही आदि के समान। दूसरे का नहीं। यह एवं-धर्मता नय है। जिसे सम्यक् रूप से देखने वाला प्रत्यय के अनुरूप फल के अवबोध से अहेतुक दृष्टि और अक्रिय दृष्टि को त्यागता है। मिथ्या रूप से देखने वाला प्रत्यय के अनुरूप फल की प्रवर्ति को नहीं ग्रहण करके जहाँ कहीं से जिस किसी के असम्भव होने के ग्रहण करने से अहेतुक दृष्टि और नियतिवाद को ग्रहण करता है। ऐसे यह भव-चक्र—

---

१. देखिये, धम्मसङ्गणी।

२. धम्मसङ्गणी २।

सच्चप्पभवतो किच्चा वारणा उपमाहि च।
गम्भीर-नयभेदा च विञ्ञातब्बं यथारहं ॥[1]

यह अति गम्भीर होने से अथाह, नाना नयों के ग्रहण से कठिनाई से अतिक्रमण करना, अशनि-मण्डल के समान नित्य मर्दन करने वाला, यह भव-चक्र समाधि रूपी उत्तम पत्थर पर भली प्रकार तेज की हुई ज्ञान की तलवार से नहीं काट कर संसार-भय के स्वप्न में भी पार किया हुआ कोई नहीं है। भगवान् ने यह कहा भी है—"आनन्द, यह प्रतीत्य-समुत्पाद गम्भीर है और गम्भीर के रूप में दिखाई देने वाला है। आनन्द, इस धर्म के अज्ञान से, अवबोध न होने से, ऐसे यह प्रजा (=प्राणी) अझुँराई ताँत हो गई है। बँधी गाँट-सी हो गई है। मूँज-भाभड़-सी हो गई है। अपाय, दुर्गति, विनिपात, संसार का अतिक्रमण नहीं कर पाती है।" इसलिये अपने या दूसरों के हित और सुख के लिए प्रतिपन्न हुआ अवशेष कामों को छोड़—

गम्भीरे पच्चयाकारप्पभेदे इध पण्डितो।
यथा गाधं लभेथेवमनुयुञ्जे सदा सतो'ति ॥

[यहाँ पण्डित (=बुद्धिमान्) सदा स्मृतिमान् गहरे प्रतीत्य-समुत्पाद के प्रभेद में जैसे थाह पाये, वैसे भिड़े ही।]

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धि मार्ग में प्रज्ञा-भावना के
भाग में प्रज्ञा-भूमि निर्देश नामक सत्रहवाँ
परिच्छेद समाप्त।

---

१. अर्थ के लिये देखिये पृष्ठ १८८।

अठारहवाँ परिच्छेद

दृष्टि-विशुद्धि निर्देश

अब, जो "इन भूमि हुए धर्मों में उद्ग्रहण (=अभ्यास), परिपृच्छा के अनुसार ज्ञान का परिचय करके शील विशुद्धि और चित्त विशुद्धि—दो मूल हुईं विशुद्धियों का सम्पादन करना चाहिये" कही गई हैं,[1] उनमें शीलविशुद्धि कहते हैं सुपरिशुद्ध प्रातिमोक्ष-संवर आदि चार प्रकार के शील को, और वह शील-निर्देश में विस्तारपूर्वक बतलाया ही गया है। चित्त-विशुद्धि कहते हैं उपचार के साथ आठ समापत्तियों को, वे भी चित्त शीर्षक से कहे गये समाधि-निर्देश में सब प्रकार से विस्तारपूर्वक बतलायी ही गई हैं, इसलिये उन्हें वहाँ विस्तारपूर्वक बतलाये हुए ढंग से ही जानना चाहिये।

किन्तु, जो कहा गया है—"दृष्टि-विशुद्धि, कांक्षा-विरतण-विशुद्धि, मार्गामार्ग ज्ञान-दर्शन-विशुद्धि, प्रतिपदा-ज्ञान-दर्शन विशुद्धि, ज्ञान-दर्शन विशुद्धि—ये पाँच विशुद्धियाँ शरीर हैं।"[2] वहाँ नाम-रूप के यथार्थ स्वभाव को देखना दृष्टि-विशुद्धि है।

नाम-रूप का निरूपण

उसका सम्पादन करना चाहते हुए शमथ-मार्गी को नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को छोड़कर अवशेष रूपावचर, अरूपावचर ध्यानों में से किसी एक से उठकर वितर्क आदि ध्यान के अङ्ग और उनसे सम्प्रयुक्त धर्मों को लक्षण, कृत्य आदि से भली प्रकार जानना चाहिये। भली प्रकार जानकर, सभी यह आलम्बन की ओर झुकने (=नमने) के स्वभाव से 'नाम' है—ऐसा निरूपण करना चाहिये।

उसके पश्चात्, जैसे आदमी घर के भीतर साँप को देखकर उसके पीछे-पीछे जाते हुए उसके बिल को देखता है, ऐसे ही यह भी योगी उस नाम की परीक्षा करते हुए—'यह नाम किसके सहारे प्रवर्तित हो रहा है?' इस प्रकार खोजते हुए उसके निश्रय हृदय-रूप को देखता है। तत्पश्चात् हृदय-रूप के निश्रय हुए भूतों को और भूतों के निश्रित शेष उपादान रूपों को—ऐसे रूप का परिग्रह करता है। वह यह सभी नाश होने से 'रूप' है—इस प्रकार निरूपण करता है। तत्पश्चात् (आलम्बन की ओर) झुकने(=नमने) के लक्षण वाला नाम और नाश होने के लक्षण वाला रूप है—ऐसे संक्षेप में नामरूप का निरूपण करता है।

किन्तु, शुद्ध विपश्यना-मार्गी[2] या यही शमथमार्गी 'चतुर्धातु व्यवस्थापन' में कहे गये उन-उन धातुओं के परिग्रह-मुखों में से किसी एक परिग्रह-मुख के अनुसार संक्षेप या विस्तार से चारों धातुओं का परिग्रह करता है। तब उसे स्वभाव के अनुसार लक्षण से प्रगट हुई धातुओं में से,

१. देखिये, पृष्ठ ६० ।

२. जो उपचार समाधि या अर्पणा समाधि को न पाकर ही विपश्यना करता है, वह शुद्ध विपश्यना मार्गी है।

पहले कर्म से उत्पन्न 'केश' में चार धातु, वर्ण, गन्ध, रस, ओज, जीवित, काय-प्रसाद—इस प्रकार काय-दशक के अनुसार दस रूप (प्रगट होते) हैं। वहीं भाव (=लिङ्ग) के होने से भाव-दशक के अनुसार दस। वहीं आहार से उत्पन्न होनेवाला ओजाष्टमक[1]। ऋतु से उत्पन्न होनेवाले और चित्त से उत्पन्न होनेवाले—ऐसे अन्य भी चौबीस (रूप)। इस प्रकार चारों (=कर्म, चित्त, ऋतु, आहार) से उत्पन्न हुए चौबीस भागों में चौवालीस-चौवालीस रूप (प्रगट होते हैं)। पसीना, आँसू, थूक, पोंटा—इन चार ऋतु और चित्तसे उत्पन्न होनेवालों में दोनों ओजाष्टमक के अनुसार सोलह-सोलह रूप और उदरस्थ वस्तुयें, पाखाना, पीब, मूत्र—इन चार ऋतु से उत्पन्न होनेवालों में ऋतु से उत्पन्न होनेवाले के ही ओजाष्टमक के अनुसार आठ-आठ रूप प्रगट होते हैं। यह बत्तीस भागों में ढंग है।

इस बत्तिस भागों के प्रगट होने पर जो दूसरे दस भाग[2] प्रगट होते हैं, उनमें खाये हुए आदि को हजम करने वाले कर्मज अग्नि के भाग में ओजाष्टमक और जीवित—नव रूप; वैसे (ही) चित्तज में आश्वास-प्रश्वास के भाग में भी ओजाष्टमक और शब्द—नव रूप; शेष चारों से उत्पन्न होने वाले आठों में जीवित नवक और तीन ओजाष्टमक—तैंतिस-तैंतिस रूप प्रगट होते हैं।

उसके ऐसे विस्तारपूर्वक बयालीस आकार के अनुसार इन भूतोपादा (=भूत को लेकर उत्पन्न) रूपों के प्रगट हो जाने पर वस्तु, द्वार के अनुसार पाँच, चक्षु-दशक आदि और हृदय-वस्तु-दशक—ये दूसरे भी साठ रूप प्रगट होते हैं। वह उन सभी को विनाश होने के लक्षण से एक में करके 'यह रूप है' ऐसे देखता है।

इस प्रकार उसे परिग्रह किये हुए रूप के अनुसार द्वार से अरूप धर्म (=नाम) प्रगट होते हैं। जैसे द्विपञ्च विज्ञान, तीन मनोधातु, अरसठ मनोविज्ञान धातु—ऐसे इक्कासी लौकिक चित्त और साधारण रूप से उन चित्तों के साथ उत्पन्न स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, जीवित, चित्तस्थिति[3] (=समाधि), मनस्कार—ये सात-सात चैतसिक; किन्तु लोकोत्तर चित्त अवबोध नहीं होने से न शुद्ध-विपश्यक को ही और न शमथमार्गी को परिग्रह होते हैं। वह उन सभी अरूप धर्मों को झुकने (=नमने) के लक्षण से एक में करके, 'यह नाम है'—ऐसा देखता है। इस प्रकार एक-चतुर्धातु व्यवस्थान के रूप में विस्तारपूर्वक वर्णन किये हुए नाम-रूप का निरूपण करता है।

दूसरा, अठारह धातुओं के अनुसार। कैसे? यहाँ, भिक्षु "इस शरीर में चक्षु-धातु है...... मनोविज्ञान-धातु है" ऐसे धातुओं का आवर्जन करके, जिसे लोक चित्रित श्वेत-कृष्ण गोल, लम्बे-चौड़े आँख के कूप (=गड्ढे) में स्नायु के सूत से बँधे हुए मांस के पिण्ड को 'चक्षु' जानता है, उसे नहीं ग्रहण करके स्कन्ध-निर्देश में उपादा-रूपों में कहे गये प्रकार के चक्षु-प्रसाद को "चक्षु-धातु" निरूपण करता है।

जो उसका निश्रय हुई चार धातुयें हैं और परिवार हुए चार वर्ण, गन्ध, रस, ओज रूप हैं, पालन करने वाली जीवितेन्द्रिय है—ये नव सहजात रूप हैं। वहीं रहने वाले काय-दशक और भाव-दशक के अनुसार बीस कर्मज रूप हैं। आहार से उत्पन्न होने वाले आदि तीन ओजाष्टमक के अनुसार चौबीस अनुपादित रूप हैं—इस प्रकार तिरपन रूप होते हैं। वे चक्षु-धातु नहीं हैं—

---

१. चार महाभूत, वर्ण, गन्ध, रस के साथ ओज ओजाष्टमक-रूप कहा जाता है।

२. अग्नि के चार और वायु के छः भाग। देखिये, ग्यारहवाँ परिच्छेद।

३. इसे चित्त की एकाग्रता भी कहते हैं।

ऐसे निरूपण करता है। इसी ढंग से श्रोत्रधातु आदि में भी। किन्तु काय-धातु में अवशेष तैंतालीस रूप होते हैं। कोई ऋतु और चित्त से उत्पन्न होनेवाले (रूपों) को शब्द के साथ नव-नव करके पैंतालीस कहते हैं।

इस प्रकार ये पाँच प्रसाद और उनके विषय रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श—पाँच, (ये) दस-रूप दस धातुयें होती हैं। अवशेष रूप धर्म-धातु ही होते हैं। चक्षुके कारण रूप रूपके प्रति प्रवर्तित हुआ चित्त चक्षुर्विज्ञान धातु है। ऐसे पाँच विज्ञान पाँच विज्ञान-धातुयें होती हैं। तीन मनोधातु चित्त एक मनोधातु और अरसठ मनोविज्ञान धातु चित्त मनोविज्ञान-धातु—सभी इक्कासी लौकिक चित्त, सात विज्ञान धातु और उनसे सम्प्रयुक्त स्पर्श आदि धर्म-धातु है। ऐसे यहाँ, साढ़े दस धातुयें रूप और साढ़े सात धातुयें नाम हैं—इस प्रकार एक अठारह धातुओं के अनुसार नामरूप का निरूपण करता है।

दूसरा, बारह आयतनों के अनुसार। कैसे? चक्षु-धातु में कहे गये ढंग से ही, तिरपन रूपों को छोड़कर चक्षु-प्रसाद मात्र को "चक्षु-आयतन" निरूपण करता है। और वहाँ कहे गये ढंगसे ही श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय धातुओं को श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय-आयतन। उनके विषय हुए पाँच धर्मों को रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श-आयतन। लौकिक सात विज्ञान धातुओं को मनायतन। उनसे सम्प्रयुक्त स्पर्श आदि और शेष रूप को धर्मायतन। ऐसे यहाँ साढ़े दस आयतन रूप और डेढ़ आयतन नाम है। इस प्रकार एक बारह आयतनों के अनुसार नामरूप का निरूपण करता है।

दूसरा, उससे संक्षेपतर स्कन्ध के अनुसार निरूपण करता है। कैसे? यहाँ, भिक्षु इस शरीर में चारों से उत्पन्न चार धातुयें, उनके निश्रित वर्ण, गन्ध, रस, ओज, चक्षु-प्रसाद आदि पाँच प्रसाद, वस्तु-रूप, भाव, जीवितेन्द्रिय, दो से उत्पन्न शब्द[1]—ये सत्रह रूप सम्मर्शन (=विचार करने) के योग्य हैं, निष्पन्न हैं, रूप-रूप हैं, किन्तु कायविज्ञप्ति, वाक् विज्ञप्ति, आकाश-धातु, रूप की लघुता, मृदुता, कर्मण्यता, उपचय, सन्तति, जरता, अनित्यता—ये दस रूप सम्मर्शन के योग्य नहीं हैं। ये आकार, विकार, अन्तर, परिच्छेद मात्र हैं। न निष्पन्न हैं, न रूप-रूप हैं। फिर भी रूपों के आकार, विकार, अन्तर, परिच्छेद मात्र से 'रूप' कहे जाते हैं। इस प्रकार सभी ये सत्ताइस रूप रूप-स्कन्ध है, इक्कासी लौकिक चित्तों के साथ उत्पन्न वेदना वेदना-स्कन्ध है, उससे सम्प्रयुक्त संज्ञा संज्ञा-स्कन्ध है, संस्कार संस्कार-स्कन्ध है, विज्ञान विज्ञान-स्कन्ध है—ऐसे रूप-स्कन्ध रूप है और चार अरूप-स्कन्ध नाम। इस प्रकार एक पञ्चस्कन्ध के अनुसार नामरूप का निरूपण करता है।

दूसरा, "जो कुछ रूप है वह सब रूप चार महाभूत और चारों महाभूतों को लेकर प्रवर्तित रूप है[2]।" ऐसे संक्षेप से ही इस शरीर में रूप का परिग्रह करके, वैसे (ही) मनायतन और धर्मायतन के एक भाग का परिग्रह कर, यह नाम है और यह रूप है—इसे नामरूप कहते हैं। इस प्रकार संक्षेप से नामरूप का निरूपण करता है।

यदि उसे उस-उस द्वार से रूप को परिग्रह करके अरूप का परिग्रह करते सूक्ष्म होने से अरूप नहीं जान पड़ता है, तो भी उसे हिम्मत न हार कर रूप का ही पुनः पुनः विचार करना चाहिये, उसे मन में करना चाहिये, परिग्रह करना चाहिये, निरूपण करना चाहिये। जैसे-जैसे उसे

---

१. शब्द ऋतु और चित्त से उत्पन्न होता है।

२. मज्झिम नि० १, ३, ८।

रूप परिशुद्ध होते जाते हैं, जटायें सुलझती जाती हैं, वैसे-वैसे उसके आलम्बन वाले अरूप-धर्म स्वयमेव प्रगट होते जाते हैं।

जैसे आँख वाले आदमी के अपरिशुद्ध दर्पण में मुख के प्रतिबिम्ब को देखते हुए प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता है। तब वह, "प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता है" (सोच कर) दर्पण को नहीं फेंकता है, प्रत्युत उसे पुनः पुनः रगड़ता है, तब परिशुद्ध दर्पण में उसे प्रतिबिम्ब स्वयमेव प्रकट हो जाता है और जैसे तेल चाहने वाला तिल के चूर्ण (=पिट्ठ) को द्रोणी में डालकर पानी से फौहारा दे एक बार, दो बार के पेरने मात्र से तेल के नहीं निकलने पर तिल के चूर्ण को नहीं फेंकता है, प्रत्युत उसे पुनः पुनः गर्म-जल से फौहारा देकर मर्दन करके, मर्दन करके पेरता है। उसके ऐसा करते हुए परिशुद्ध तिल का तेल निकलता है। या जैसे पानी को परिशुद्ध करने की इच्छावाला रीठा (=कतक, निर्मली) की गुठली को लेकर घड़े के भीतर हाथ उतार कर एक, दो बार रगड़ने मात्र से पानी के परिशुद्ध न होने पर रीठा की गुठली को नहीं फेंकता है, प्रत्युत उसे पुनः पुनः रगड़ता है। उसे ऐसा करते हुए कीचड़, कर्दम नीचे बैठ जाता है, पानी स्वच्छ, परिशुद्ध हो जाता है। ऐसे ही उस भिक्षु को हिम्मत न हारकर रूप को ही पुनः पुनः विचारना चाहिये, मन में करना चाहिये, परिग्रह करना चाहिये, निरूपण करना चाहिये।

जैसे-जैसे उसे रूप सुविशोधित, जटारहित और सुपरिशुद्ध होते जाते हैं, वैसे-वैसे उसके विरुद्ध रहने वाले क्लेश बैठ जाते हैं, कीचड़ के ऊपर पानी के समान चित्त परिशुद्ध हो जाता है। उसके आलम्बन वाले अरूप-धर्म स्वयमेव प्रकट होते हैं। ऐसे अन्य भी ऊख, चोर, बैल, दही, मछली, आदि की उपमाओं से इस बात को स्पष्ट करना चाहिये।[1]

ऐसे उस सुविशुद्ध का परिग्रह करने वाले को अरूप-धर्म तीन आकारों से जान पड़ते हैं स्पर्श के अनुसार या वेदना के अनुसार या विज्ञान के अनुसार। कैसे ? एक को, पृथ्वी-धातु ठोस लक्षण वाली है आदि प्रकार से धातुओं का परिग्रह करते हुए (आलम्बन में) प्रथम पड़ना स्पर्श है, उससे सम्प्रयुक्त वेदना वेदना-स्कन्ध है, संज्ञा संज्ञा-स्कन्ध है, स्पर्श के साथ चेतना संस्कार-स्कन्ध है, चित्त विज्ञान-स्कन्ध है—ऐसा जान पड़ता है। वैसे केश में पृथ्वी-धातु ठोस लक्षण वाली है······आश्वास-प्रश्वास में पृथ्वी-धातु ठोस लक्षण वाली है······आश्वास-प्रश्वास में पृथ्वी-धातु ठोस लक्षण वाली है, ऐसे (आलम्बन में) प्रथम पड़ना स्पर्श है, उससे सम्प्रयुक्त वेदना वेदना-स्कन्ध है······चित्त विज्ञान-स्कन्ध है—ऐसा जान पड़ता है। इस प्रकार अरूप-धर्म स्पर्श के अनुसार जान पड़ते हैं।

---

१. "जैसे ऊख के रस को निकालना चाहते हुए कल में डाल कर एक बार, दो बार कल के घूमने पर ऊख के रस के नहीं निकलने पर ऊख छोड़ कर नहीं चला जाता है, या जैसे चोरों को पकड़ कर उनके चौर-कर्म को जाने के लिए दो-तीन बार मारने मात्र से उनके नहीं बतलाने पर उन्हें नहीं छोड़ता है, या बैल को निकसाने की इच्छा से गाड़ी में जोत कर एक, दो बार मार्ग से नहीं चलने पर नहीं छोड़ देता है, या जैसे दही को मथ कर नवनीत निकालने वाला दही की नदिया में मथनी डाल कर एक बार या दो बार मथनी के घूमने मात्र से नवनीत के नहीं निकलने पर दही को नहीं फेंक देता है अथवा मछली को पकाकर खाना चाहते हुए एक बार या दो बार आग में डालने मात्र से नहीं पकने पर उन्हें छोड़ नहीं देता है, प्रत्युत 'पुनः पुनः रगड़ता है'—यहाँ कहे गये के अनुसार "प्रत्युत उसे कल में पुनः पुनः पेरता है" आदि प्रकार से सबमें उपमा के अनुसार जोड़ना चाहिये।"—टीका।

एक को, 'पृथ्वी-धातु ठोस लक्षण वाली है', ऐसे उसके आलम्बन के रस को अनुभव करने वाली वेदना-स्कन्ध है, उससे सम्प्रयुक्त संज्ञा-स्कन्ध है। उससे सम्प्रयुक्त स्पर्श और चेतना संस्कार-स्कन्ध है। उससे सम्प्रयुक्त चित्त विज्ञान-स्कन्ध है—ऐसा जान पड़ता है। वैसे केश में पृथ्वी धातु ठोस लक्षण वाली है......आश्वास-प्रश्वास में पृथ्वी-धातु ठोस लक्षण वाली है—ऐसा जान पड़ता है। उसके आलम्बन के रस का अनुभव करने वाली वेदना वेदना-स्कन्ध है।......उससे सम्प्रयुक्त चित्त विज्ञान-स्कन्ध है—ऐसा जान पड़ता है। इस प्रकार वेदना के अनुसार अरूप-धर्म जान पड़ते हैं।

दूसरे को, पृथ्वी-धातु ठोस लक्षण वाली है, ऐसे आलम्बन को जानने वाला विज्ञान विज्ञान-स्कन्ध है। उससे सम्प्रयुक्त वेदना वेदना-स्कन्ध है। संज्ञा संज्ञा-स्कन्ध है, स्पर्श और चेतना संस्कार-स्कन्ध है—ऐसा जान पड़ता है। वैसे केश में पृथ्वी-धातु ठोस लक्षण वाली है......आश्वास-प्रश्वास में पृथ्वी-धातु ठोस लक्षण वाली है,— ऐसे आलम्बन को जानने वाला विज्ञान विज्ञान-स्कन्ध है, उससे सम्प्रयुक्त वेदना वेदना-स्कन्ध है, संज्ञा संज्ञा-स्कन्ध है, स्पर्श और चेतना संस्कार-स्कन्ध है—ऐसा जान पड़ता है। इस प्रकार विज्ञान के अनुसार अरूप-धर्म जान पड़ते हैं।

इसी उपाय से, कर्म से उत्पन्न होने वाले केश में पृथ्वी-धातु ठोस लक्षण वाली है—आदि ढंग से बयालीस धातु के भागों में चार-चार धातुओं के अनुसार और शेष चक्षु-धातु आदि रूप परिग्रहों में सब नय (=ढंग) के भेद के अनुसार समझ कर योजना करनी चाहिये।

और चूँकि ऐसे सुविशुद्ध रूप का परिग्रह करने वाले उस (योगी) को ही अरूप-धर्म तीन आकारों से प्रगट होते हैं, इसलिये सुविशुद्ध रूप के परिग्रह करने वाले को ही अरूप के परिग्रह के लिये भिड़ना चाहिये। दूसरे को नहीं। यदि एक या दो अरूप-धर्म के जान पड़ने पर रूप को छोड़कर अरूप का परिग्रह करना प्रारम्भ करता है, तो कर्मस्थान से परिहीन हो जाता है। पृथ्वी-कसिण की भावना में कही गयी पहाड़ी गाय के समान। किन्तु सुविशुद्ध रूप का परिग्रह करने वाले का अरूप के परिग्रह के लिये योग करने वाले का कर्मस्थान वृद्धि, विरूढ़ि, वैपुल्यता को प्राप्त होता है।

वह ऐसे स्पर्श आदि के अनुसार जान पड़ने पर चार अरूपी-स्कन्धों को नाम, तथा उनके आलम्बन हुए चार महाभूत और चारों महाभूतों को लेकर प्रवर्तित रूप रूप है—ऐसा निरूपण करता है। इस प्रकार अठारह धातुयें, बारह आयतन, पाँच स्कन्ध—ऐसे सभी त्रैभूमक धर्मों को तलवार से सन्दूक (=समुग्ग=पेटी) को उघाड़ने वाले के समान और जोड़े ताड़के स्कन्धों को फाड़ने के समान नाम और रूप का दो भागों में निरूपण करता है। नाम-रूप मात्र से आगे अन्य सत्त्व, पुद्गल, देव या ब्रह्मा नहीं है—इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है।

वह ऐसे यथार्थ स्वभाव से नामरूप का निरूपण करके भली प्रकार, 'सत्त्व', 'पुद्गल'—इस लोक-व्यवहार के प्रहाण के लिए, सत्त्व-संमोह को त्यागने और अ-संमोह भूमि पर चित्त को रखने के लिए बहुत से सूत्रान्तों के अनुसार, 'यह नामरूप मात्र है, सत्त्व नहीं है, पुद्गल नहीं है' इस बात का मेल बैठाकर निरूपण करता है। यह कहा गया है—

> यथापि अङ्ग सम्भारा होति सद्दो रथो इति।
> एवं खन्धेसु सन्तेसु होति सत्तो'ति सम्मुति ॥[1]

---

१. संयुत्त नि० ६, २, १०।

[जैसे अंगों के सम्भार से 'रथ'—यह शब्द होता है, ऐसे स्कन्धों के होने पर 'सत्त्व है' ऐसा व्यवहार होता है।]

दूसरा भी कहा गया है—"आवुस, जैसे काष्ठ, बल्ली, मिट्टी और तृण से घिरा आकाश घर कहा जाता है, ऐसे ही आवुस, हड्डी, स्नायु, मांस और चर्म से घिरा हुआ आकाश रूप (=शरीर) कहा जाता है।"[1] दूसरा भी कहा गया है—

> दुक्खमेव हि सम्भोति दुक्खं तिट्ठति वेति च।
> नाञ्ञत्र दुक्खा सम्भोति नाञ्ञं दुक्खा निरुज्झति ॥[2]

[दुःख ही उत्पन्न होता है, दुःख रहता है और नाश होता है। दुःख के अतिरिक्त दूसरा नहीं उत्पन्न होता है और न दुःख के अतिरिक्त दूसरा निरुद्ध होता है।]

ऐसे सौ से अधिक सूत्रान्तों से नामरूप ही प्रकाशित किया गया है, न सत्त्व, न पुद्गल। इसीलिए जैसे धुरी, चक्का, पञ्जर (=रथ का खजाना), ईषा (=हरिष) आदि अंग-सम्भारों (=अवयवों) के एक आकार से बनाये होने पर 'रथ' कहा जाता है, परमार्थ से एक-एक अंग में भली प्रकार विचार करने पर 'रथ' नहीं है और जैसे काष्ठ आदि घर के सम्भारों (=अवयवों) के एक आकार से आकाश को घेर कर रहने पर 'घर' कहा जाता है, परमार्थ से 'घर' नहीं है और जैसे अंगुली, अँगूठा आदि के एक आकार से रहने पर 'मुट्ठी' कहा जाता है, द्रोणी, ताँत आदि के वीणा, हाथी-घोड़े आदि के सेना, प्रकार, गृह, गोपुर (=पुर-द्वार) आदि के नगर, डाली, शाखा, पल्लव आदि के एक आकार से रहने पर वृक्ष कहा जाता है, परमार्थ से एक-एक भाग में भली प्रकार विचार करने पर 'वृक्ष' नहीं है। ऐसे ही पाँच उपादान-स्कन्धों के होने पर सत्त्व, पुद्गल कहा जाता है, परमार्थ से एक-एक धर्म में भली प्रकार विचार करने पर 'मैं हूँ' या "मैं"[3] इस भाँति ग्रहण करने की वस्तु हुआ सत्त्व नहीं है। परमार्थ से नामरूप मात्र ही है। ऐसे देखने वाले का दर्शन यथार्थ दर्शन होता है।

जो इस यथार्थ-दर्शन को छोड़कर 'सत्त्व है' ऐसा ग्रहण करता है, वह उसके विनाश या अविनाश को मानेगा। अविनाश को मानते हुए शाश्वत (-दृष्टि) में पड़ जाता है और विनाश को मानते हुए उच्छेद में पड़ जाता है। क्यों? दूध के अन्वय से दही के समान, उसके अन्वय से अन्य के अभाव से। वह 'सत्त्व शाश्वत है' ऐसा ग्रहण करते हुए (भव में ही) चिमट जाता है, 'उच्छेद हो जाता है' ऐसा ग्रहण करते हुए अतिधावन करता है। उससे भगवान्‌ने कहा है—"भिक्षुओ, दो दृष्टियों से पछाड़े गये देव-मनुष्यों में से कोई (भव में ही) चिमट जाते हैं। कोई अतिधावन करते हैं। आँख वाले ही देखते हैं। भिक्षुओ, कैसे कोई (भव में ही) चिमट जाते हैं? भिक्षुओ, देव-मनुष्य भव में रमने वाले हैं, भव में रत रहने वाले हैं, भव में मुदित हैं। उन्हें भव के निरोध के लिए धर्म का उपदेश दिये जाने पर, चित्त नहीं दौड़ता है, नहीं प्रसन्न होता है। नहीं ठहरता है, नहीं लगता है। भिक्षुओ, ऐसे कोई भव में (ही) चिमट जाते हैं।

और भिक्षुओ, कैसे कोई अतिधावन करते हैं? भव से ही कोई दुःखित होते हुए, लज्जित होते हुए, घृणा करते हैं, विनाश होने का अभिनन्दन करते हैं, जिससे यह आत्मा काय के भेद से

---

१. मज्झिम नि० १, ३, ८।

२. संयुत्त नि० ६, २, १०।

३. "मैं हूँ" अभिमान और "मैं" आत्मा के होने को ग्रहण करने के अनुसार कहा गया है।

उच्छेद हो जाता है, विनष्ट हो जाता है, परम मरण के पश्चात् नहीं होता है, यह शान्त है, यह उत्तम है, यह यथार्थ है। भिक्षुओ, ऐसे कोई अतिधावन करते हैं।

और भिक्षुओ, कैसे आँखवाले ही देखते हैं? यहाँ भिक्षुओ, भिक्षु भूत (=पञ्चस्कन्ध) को भूत के रूप में देखता है, भूत को भूत के रूप में देखकर भूत के निर्वेद, विराग, निरोध के लिए प्रतिपन्न होता है। ऐसे भिक्षुओ, आँखवाले ही देखते हैं[1]।"

इसलिए, जैसे काष्ठ-यन्त्र शून्य, निर्जीव, निरीह होता है, किन्तु काष्ठ और रस्सी के योग से चलता भी है, खड़ा भी होता है, सचेष्ट और सक्रिय के समान जान पड़ता है। ऐसे यह नाम-रूप भी शून्य, निर्जीव, निरीह है, किन्तु एक दूसरे के समायोग से चलता भी है, खड़ा भी होता है, सचेष्ट और सक्रिय के समान जान पड़ता है—ऐसा समझना चाहिये। उसी से पुराने लोगों ने कहा है—

नामञ्च रूपञ्च इधत्थि सच्चतो
न हेत्थ सत्तो मनुजो च विज्जति।
सुञ्ञं इदं यन्तमिवाभिसङ्खतं
दुक्खस्स पुञ्जो तिणकट्ठसादिसो॥

[इस शरीर में यथार्थतः नाम और रूप है, सत्त्व और मनुज इसमें नहीं विद्यमान है। बनाये गये यन्त्र के समान यह शून्य है, तृण या काष्ठ के (पुञ्ज) के समान दुःख का पुञ्ज है।]

न केवल इसे काष्ठ यन्त्र की उपमा से, प्रत्युत अन्य भी, नरकुल के बोझ आदि की उपमाओं से स्पष्ट करना चाहिये। जैसे नरकुल के दो बोझों को एक दूसरे के सहारे रखे गये होने पर एक एकका अवलम्ब होता है, एक के गिरते हुए दूसरा भी गिरता है, ऐसे ही पञ्च-अवकार-भव में नामरूप एक दूसरे के सहारे प्रवर्तित होता है। एक, एकका अवलम्ब होता है, मरण के अनुसार एक के गिरने पर दूसरा भी गिर पड़ता है। उससे पुराने लोगों ने कहा है—

यमकं नामरूपञ्च उभो अञ्ञोञ्ञनिस्सिता।
एकस्मिं भिज्जमानस्मिं उभो भिज्जन्ति पच्चया॥

[नाम और रूप दोनों जोड़े अन्योन्याश्रित हैं, एक के नाश होने पर दोनों प्रत्यय नष्ट हो जाते हैं।]

और जैसे डण्डे से पीटने पर भेरी के सहारे शब्द निकलता है, किन्तु भेरी दूसरी होती है, शब्द दूसरा होता है, भेरी तथा शब्द अ-मिश्रित हैं। भेरी शब्द से शून्य है, शब्द भेरी से शून्य है। ऐसे ही वस्तु, द्वार, आलम्बन कहे जाने वाले रूप के सहारे नाम प्रवर्तित होता है, किन्तु रूप दूसरा है और नाम दूसरा। नाम तथा रूप अ-मिश्रित हैं। नाम रूप से शून्य है, रूप नाम से शून्य है। फिर भी भेरी के कारण शब्द के होने के समान, रूप के कारण नाम प्रवर्तित होता है। उससे पुराने लोगों ने कहा है—

न चक्खुतो जायरे फस्सपञ्चमा, न रूपतो नो च उभिन्नमन्तरा।
हेतुं पटिच्च पभवन्ति संखता यथापि सद्दो पहटाय भेरिया॥

---

१. इतिवुत्तक २, २, १२।

[चक्षु से स्पर्श-पञ्चम[1] नहीं उत्पन्न होते हैं, न तो रूप से और न दोनों के बीच से। हेतु[2] के कारण संस्कृत (=प्रत्यय-समुत्पन्न) वैसे ही उत्पन्न होते हैं जैसे कि भेरी के पीटने पर शब्द।]

न सोततो जायरे फस्सपञ्चमा न सद्दतो नो च उभिन्नमन्तरा।
हेतुं पटिच्च पभवन्ति सङ्खता यथापि सद्दो पहटाय भेरिया॥
न घानतो जायरे फस्सपञ्चमा न गन्धतो नो च उभिन्नमन्तरा।
हेतुं पटिच्च पभवन्ति सङ्खता यथापि सद्दो पहटाय भेरिया॥
न जिव्हतो जायरे फस्सपञ्चमा न रसतो नो च उभिन्नमन्तरा।
हेतुं पटिच्च पभवन्ति सङ्खता यथापि सद्दो पटहाय भेरिया॥
न कायतो जायरे फस्सपञ्चमा न फस्सतो नो च उभिन्नमन्तरा।
हेतुं पटिच्च पभवन्ति सङ्खता यथापि सद्दो पहटाय भेरिया॥
न वत्थुरूपा पभवन्ति सङ्खता न चापि धम्मायतनेहि निग्गता।
हेतुं पटिच्च पभवन्ति सङ्खता यथापि सद्दो पहटाय भेरिया॥

[श्रोत्र से स्पर्श-पञ्चम नहीं उत्पन्न होते हैं, न तो शब्द से और न दोनों के बीच से।......। घ्राण से स्पर्श-पञ्चम नहीं उत्पन्न होते हैं, न तो गन्ध से और न दोनों के बीच से।......। जिह्वा से स्पर्श-पञ्चम नहीं उत्पन्न होते हैं, न तो रस से और न दोनों के बीच से।......। काय से स्पर्श-पञ्चम नहीं उत्पन्न होते हैं, न तो स्पर्श से और न दोनों के बीच से।......। वस्तुरूप से संस्कृत (=प्रत्यय-समुत्पन्न) नहीं उत्पन्न होते हैं और धर्मायतन से भी निकले नहीं हैं। हेतु के कारण संस्कृत वैसे ही उत्पन्न होते हैं जैसे कि भेरी के पीटने पर शब्द।]

और भी, यहाँ नाम निस्तेज है, अपने तेज से प्रवर्तित नहीं हो सकता है। न खाता है, न पीता है, न बोलता है, न ईर्य्यापथ करता है। रूप भी निस्तेज है, अपने तेज से प्रवर्तित नहीं हो सकता है, उसे खाने की इच्छा नहीं है, पीने की इच्छा नहीं है, बोलने की इच्छा नहीं है, ईर्य्यापथ करने की इच्छा नहीं है, किन्तु नाम के सहारे रूप प्रवर्तित होता है और रूप के सहारे नाम प्रवर्तित होता है। नाम के खाने की इच्छा, पीने की इच्छा, बोलने की इच्छा, ईर्य्यापथ करने की इच्छा होने पर रूप खाता है, पीता है, बोलता है, ईर्य्यापथ करता है।

इस बातको स्पष्ट करने के लिए इस उपमा को कहते हैं—जैसे एक जन्मान्ध और एक लँगड़ा कहीं जाना चाहे। जन्मान्ध ने लँगड़े को ऐसा कहा—"भाई, मैं पैर से चल सकता हूँ, किन्तु मुझे आँखें नहीं हैं, जिनसे कि सम-विषम देखूँ।" लँगड़े ने भी जन्मान्ध को ऐसा कहा—"भाई, मैं आँख से देख सकता हूँ, किन्तु मुझे पैर नहीं हैं, जिनसे कि चलूँ या लौटूँ।" वह बहुत ही प्रसन्न हुआ जन्मान्ध लँगड़े को (अपने) कन्धे पर रख लिया। लँगड़ा जन्मान्ध के कन्धे पर बैठकर ऐसा कहा—"बायाँ छोड़ो, दायाँ पकड़ो, दायाँ छोड़ो, बायाँ पकड़ो।" वह जन्मान्ध भी निस्तेज और दुर्बल है, अपने तेज और अपने बल से नहीं जाता है, लँगड़ा भी निस्तेज और दुर्बल है, अपने तेज और बल से नहीं जाता है किन्तु उनका गमन एक दूसरे के सहारे होता है। ऐसे ही नाम भी निस्तेज है, अपने तेज से नहीं उत्पन्न होता है। उन-उन क्रियाओं में नहीं प्रवर्तित होता है। रूप भी निस्तेज है, अपने तेज से नहीं उत्पन्न होता है। उन-उन क्रियाओं में नहीं

१. स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, चित्त—ये पाँच स्पर्श-पञ्चम कहे जाते हैं। दे० धम्मसङ्गणी १।
२. चक्षु, रूप, आलोक, मनस्कार—ये हेतु हैं।

प्रवर्तित होता है, किन्तु उनकी उत्पत्ति और प्रवर्ति एक दूसरे के सहारे होती है। उससे यह कहा जाता है—

न सकेन बलेन जायरे, नोपि सकेन बलेन तिट्ठरे।
परधम्मवसानुवत्तिनो जायरे संखता अत्तदुब्बला॥

[अपने बल से नहीं उत्पन्न होते हैं, अपने बल से नहीं स्थित हैं, प्रत्युत दूसरे धर्मों के वश में रहने वाले आत्म-दुर्बल और संस्कृत धर्म ही उत्पन्न होते हैं।]

परपच्चयतो च जायरे, परआरम्मणतो समुट्ठिता।
आरम्मणपच्चयेहि च परधम्मेहि चिमे पभाविता॥

[अन्य (धर्मों) के प्रत्यय से उत्पन्न होते हैं। अन्य (धर्मों) के आलम्बन से स्थित रहते हैं। ये अन्य धर्मों के आलम्बन और प्रत्यय से उत्पादित हैं।]

यथापि नावं निस्साय मनुस्सा यन्ति अण्णवे।
एवमेव रूपं निस्साय नामकायो पवत्तति॥

[जैसे नाव के सहारे मनुष्य समुद्र में जाते हैं, ऐसे ही रूप के सहारे नाम-काम प्रवर्तित हो रहा है।]

यथा मनुस्से निस्साय नावा गच्छति अण्णवे।
एवमेव नामं निस्साय रूपकायो पवत्तति॥

[जैसे मनुष्यों के सहारे नौका समुद्र में जाती है, ऐसे ही नाम के सहारे रूप-काय प्रवर्तित हो रहा है।]

उभो निस्साय गच्छन्ति मनुस्सा नावा च अण्णवे।
एवं नामञ्च रूपञ्च उभो अञ्ञोञ्ञनिस्सिता॥

[मनुष्य और नौका दोनों एक दूसरे के सहारे समुद्र में जाते हैं, ऐसे नाम और रूप दोनों अन्योन्याश्रित हैं।]

इस प्रकार नाना ढंग से नाम-रूप का निरूपण करने वाले के सत्व की संज्ञा को दबाकर अ-संमोह-भूमि पर स्थित नाम और रूप के यथार्थ दर्शन को दृष्टि-विशुद्धि जानना चाहिये। 'नामरूप का निरूपण' और 'संस्कारों का परिच्छेद' इसी का नाम है।

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धि मार्ग में
प्रज्ञाभावना के भाग में दृष्टि-विशुद्धि
नामक अठारहवाँ परिच्छेद
समाप्त।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

कांक्षा-वितरण-विशुद्धि-निर्देश

इसी नामरूप के प्रत्यय के परिग्रह से तीनों कालों में कांक्षा (=सन्देह) को मिटाकर प्राप्त हुआ ज्ञान **कांक्षा-वितरण विशुद्धि** है।

उसे पूर्ण करने की इच्छावाला भिक्षु, जैसे दक्ष वैद्य रोग को देखकर उसके कारण को ढूँढ़ता है अथवा जैसे दयालु पुरुष छोटे नन्हे उतान सोनेवाले बच्चे को गली में सोया हुआ देखकर 'यह किसका पुत्र है?' उसके माँ-बाप का आवर्जन करता है, ऐसे ही इस नाम-रूप के हेतु-प्रत्यय को ढूँढ़ता है।

वह प्रारम्भ से ही इस प्रकार सोचता है—'यह नामरूप बिना हेतु के नहीं है, क्योंकि (यदि हेतु न हो तो) सब जगह, सर्वदा सब एक सदृश हों। ईश्वर आदि हेतु से भी नहीं है क्योंकि नाम के आगे ईश्वर आदि का अभाव है। जो लोग नामरूप मात्र को ही ईश्वर आदि कहते हैं तो उनका ईश्वर आदि कहा जानेवाला नामरूप अहेतुक नहीं है। इसलिये इसके हेतु-प्रत्यय होने चाहिये। वे कौन से हैं?

वह इस प्रकार नामरूप के हेतु-प्रत्ययों का आवर्जन कर, इस रूप-काय के हेतु-प्रत्ययों का ऐसे परिग्रह करता है—"यह काय उत्पन्न होती हुई उत्पल, पद्म, पुण्डरीक, कुमुदिनी आदि के भीतर नहीं उत्पन्न होती है। न मणि, मोती के आकर आदि के भीतर। प्रत्युत आमाशय और पक्वाशय के बीच उदर पटल को पीछे और पीठ के काँटों को आगे करके आँत तथा छोटी आँत से घिरी स्वयं भी दुर्गन्ध, घृणित, प्रतिकूल; दुर्गन्ध, घृणित, प्रतिकूल अत्यन्त सँकरे स्थान में सड़ी मछली, सड़े मुर्दे, सड़ी दाल, गड़हा-गड़ही आदि में कीड़ों के समान उत्पन्न होती है। उस ऐसे उत्पन्न हुई (काय) का अविद्या, तृष्णा, उपादान, कर्म—ये चार धर्म उत्पन्न करने से हेतु हैं और आहार सम्हालने से प्रत्यय हैं—ऐसे पाँच धर्म हेतु-प्रत्यय होते हैं। उनमें भी अविद्या आदि तीन इस काय का बच्चे के लिए माता के समान उपनिश्रय होते हैं। कर्म पुत्र के लिए पिता के समान जनक होता है। आहार बच्चे के लिए धायी के समान धारण करनेवाला होता है।"

इस प्रकार रूप-काय के प्रत्यय का परिग्रह करके, फिर—"चक्षु और रूप के कारण चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है।"[१] आदि प्रकार से नाम-काय का परिग्रह करता है। वह ऐसे प्रत्यय से नामरूप की प्रवर्ति को देखकर, जैसा यह इस समय है, ऐसा (ही) अतीतकाल में भी प्रत्यय से प्रवर्तित हुआ था और भविष्य में भी प्रवर्तित होगा—देखता है।

उस ऐसे देखनेवाले को जो वह पूर्वान्त के प्रति—"मैं अतीत-काल में हुआ था न? मैं अतीतकाल में क्या हुआ था? कैसा मैं अतीतकाल में हुआ था? अतीतकाल में क्या होकर क्या हुआ था?"[२] पाँच प्रकार की विचिकित्सा कही गई है। जो भी अपरान्त के प्रति "मैं भविष्य काल में होऊँगा? क्या मैं भविष्य काल में होऊँगा न? मैं भविष्य में क्या होऊँगा? कैसा भविष्य-

---

१. संयुत्त नि० १२, ५, ४।
२. मज्झिम नि० १, १, २।

काल में होऊँगा ? भविष्य-काल में क्या होकर क्या होऊँगा ?" पाँच प्रकार की विचिकित्सा कही गई है और जो वर्तमान् काल के प्रति आध्यात्म की शंका करने वाला होता है—"मैं हूँ ? मैं नहीं हूँ ? मैं क्या हूँ ? मैं कैसा हूँ ? यह सत्व कहाँ से आया है ? वह कहाँ जाने वाला होगा ?" छः प्रकार की विचिकित्सा कही गई है। वह सभी दूर हो जाती है।

दूसरा साधारण और असाधारण के अनुसार दो प्रकार के नाम के प्रत्यय को देखता है तथ कर्म आदि के अनुसार चार प्रकार के रूप के। नाम के साधारण और असाधारण दो प्रत्यय होते हैं। चक्षु आदि छः द्वार और रूप आदि छः आलम्बन नाम के साधारण प्रत्यय हैं। कुशल आदि के भेद से सब प्रकार की भी उससे प्रवर्तित होने से मनस्कार आदि असाधारण हैं। योनिशः मनस्कार, सद्धर्म-श्रवण आदि कुशल का ही होता है, विपरीत से अकुशल का, कर्म आदि विपाक का, भवाङ्ग आदि क्रिया का।

रूप का कर्म, चित्त, ऋतु, आहार—यह कर्म आदि चार प्रकार का प्रत्यय है। उनमें अतीत काल का ही कर्म कर्म से उत्पन्न रूप का प्रत्यय होता है। चित्त, चित्त से उत्पन्न होने वाले (रूप) का उत्पन्न होते हुए, ऋतु, आहार, ऋतु-आहार से उत्पन्न होने वाले का स्थिति के क्षण प्रत्यय होते हैं। ऐसे एक नाम-रूप के प्रत्यय का परिग्रह करता है।

वह इस प्रकार प्रत्यय से नाम-रूप की प्रवर्ति को देखकर, जैसा यह इस समय है, ऐसा (ही) अतीत काल में भी प्रत्यय से प्रवर्तित हुआ था, भविष्य काल में भी प्रत्यय से प्रवर्तित होगा —ऐसा देखता है। उस ऐसे देखने वाले को उक्त प्रकार से ही तीनों कालों में विचिकित्सा दूर हो जाती है।

दूसरा, उन्हीं नाम-रूप कहे जाने वाले संस्कारों के बूढ़े होने और बूढ़े हुए के विनष्ट होने को देखकर, यह संस्कारों का बूढ़ा होना और मरना जन्म होने पर होता है। जन्म भव के होने पर, भव उपादान के होने पर, उपादान तृष्णा के होने पर, तृष्णा वेदना के होने पर, वेदना स्पर्श के होने पर, स्पर्श छः आयतनों के होने पर, छः आयतन नाम-रूप के होने पर, नाम-रूप विज्ञान के होने पर, विज्ञान संस्कारों के होने पर, संस्कार अविद्या के होने पर—ऐसे प्रतिलोम-प्रतीत्य-समुत्पाद के अनुसार नामरूप के प्रत्यय का परिग्रह करता है। तब कहे गये प्रकार से उसकी विचिकित्सा दूर हो जाती है।

दूसरा, "इस प्रकार......अविद्या के प्रत्यय से संस्कार"[1] पहले विस्तारपूर्वक दिखलाये गये अनुलोम-प्रतीत्य-समुत्पाद के अनुसार ही नाम-रूप के प्रत्यय का परिग्रह करता है। तब उक्त प्रकार से ही उसकी विचिकित्सा दूर हो जाती है।

दूसरा, "पहले के कर्म-भव में मोह अविद्या है, राशि-करण संस्कार है, चाह तृष्णा है, दृढ़ता पूर्वक ग्रहण करना उपादान है, चेतना भव है—इस प्रकार ये पाँच धर्म पहले के कर्म-भव में यहाँ प्रतिसन्धि के प्रत्यय हैं। यहाँ प्रतिसन्धि विज्ञान है, माँ के पेट में उतरना नामरूप है, प्रसाद आयतन है, छूना स्पर्श है, अनुभव करना वेदना है—इस प्रकार ये पाँच धर्म यहाँ उत्पत्ति-भव में पहले किये कर्म के प्रत्यय हैं। यहाँ आयतनों के परिपक्व होने से मोह अविद्या है·········चेतना भव है—इस प्रकार ये पाँच धर्म यहाँ कर्म-भव में आगे प्रतिसन्धि के प्रत्यय हैं।"[2] ऐसे कर्म-वर्त्त और विपाक-वर्त्त के अनुसार नामरूप के प्रत्यय का परिग्रह करता है।

---

१. देखिये, पृष्ठ १२९।

२. पटिसम्भिदामग्ग तथा देखिये, सत्रहवाँ परिच्छेद।

चार प्रकार के कर्म

चार प्रकार के कर्म हैं—(१) दृष्ट-धर्म वेदनीय (२) उपपद्य-वेदनीय (३) अपरापर्य वेद-नीय और (४) अहोसि कर्म। उनमें एक जवन की वीथि में सातों चित्तों में कुशल या अकुशल चेतना **दृष्ट-धर्मवेदनीय कर्म** है। वह इसी आत्म-भाव (=जीवन-काल) में विपाक देता है। वैसा नहीं कर सकते हुए, कर्म हुआ, किन्तु कर्म-विपाक नहीं हुआ, कर्म-विपाक नहीं होगा, कर्म-विपाक नहीं है—इस त्रिक् के अनुसार **अहोसि कर्म** होता है। अर्थ को सिद्ध करनेवाली सातवीं जवन-चेतना **उपपद्य-वेदनीय कर्म** है। वह ठीक बादवाले आत्म-भाव में विपाक देता है। वैसा नहीं कर सकते हुए उक्त प्रकार से ही अहोसि कर्म हो जाता है। दोनों के बीच की पाँच जवन-चेतनायें **अपरापर्य-वेदनीय** कर्म है। वह भविष्य में जब अवसर पाता है, तब विपाक देता है। संसार की प्रवर्ति होने पर अहोसि-कर्म नहीं होता है।

दूसरे भी चार प्रकार के कर्म हैं—(१) यद्गरुक (२) यद्बहुल (३) यदासन्न और (४) कृत-त्वात् कर्म। कुशल हो या अकुशल, गरु और अ-गरु (कर्मों) में जो गरु मातृ-घात आदि कर्म या महद्गत कर्म होता है, वही पहले विपाक देता है। वैसे बहुल, अ-बहुल (कर्मों) में जो बहुल होता है, सुशीलता या दुःशीलता; वही पहले विपाक देता है। मरने के समय में अनुस्मरण किया हुआ कर्म यदासन्न कहा जाता है। मृत्यु के समीप होने वाला (व्यक्ति) जिस (कर्म) का अनुसरण कर सकता है, उसी से उत्पन्न होता है। इनसे रहित पुनः पुनः सेवित कृतत्वात्-कर्म होता है। उनके अभाव में वह प्रतिसन्धि को खींच लाता है।

दूसरे भी चार प्रकार के कर्म हैं—(१) जनक (२) उपस्तम्भक (३) उपपीड़क और (४) उपघातक। **जनक** कुशल भी होता है, अकुशल भी होता है। वह प्रतिसन्धि में भी, प्रवर्ति (=जीवन-काल) में भी रूप-अरूप विपाक-स्कन्धों को उत्पन्न करता है। **उपस्तम्भक** विपाक उत्पन्न नहीं कर सकता है, अन्य कर्म से दी गई प्रतिसन्धि से विपाक के उत्पन्न होने पर उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख को अवलम्ब देता है, बहुत दिनों तक प्रवर्तित करता है। **उपपीड़क** अन्य कर्म से दी गई प्रतिसन्धि से विपाक के उत्पन्न होने पर, उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख को पीड़ित करता है। बाधा डालता है, बहुत दिनों तक प्रवर्तित होने नहीं देता है। **उपघातक** स्वयं कुशल, अकुशल होते हुए भी अन्य दुर्बल कर्म की हिंसा कर उसके विपाक को हटाकर अपने विपाक के लिये अवकाश करता है। ऐसे कर्म से अवकाश किये जाने पर वह विपाक उत्पन्न हुआ कहा जाता है।

इस प्रकार इन बारह कर्मों के कर्मान्तर और विपाकान्तर बुद्धों के कर्म-विपाक ज्ञान को ही यथार्थ रूप से प्रगट होता है। श्रावकों को असाधारण है। किन्तु विपश्यना करने वाले (योगी) को कर्मान्तर और विपाकान्तर के एक भाग को जानना चाहिये। इसलिए यह द्वार मात्र के दर्शन से कर्म की विशेषता बतलाई गई है। इस प्रकार इस बारह प्रकार के कर्म को कर्म-वर्त्त में डाल कर, ऐसे एक कर्म-वर्त्त और विपाक-वर्त्त के अनुसार नाम-रूप के प्रत्यय का परिग्रह करता है।

वह इस प्रकार कर्म-वर्त्त और विपाक-वर्त्त के अनुसार प्रत्यय से नाम-रूप की प्रवर्ति को देखकर, जैसे यह इस समय है, ऐसा अतीत काल में भी कर्म-वर्त्त के अनुसार प्रत्यय से प्रवर्तित हुआ था। भविष्य में भी कर्म-वर्त्त और विपाक-वर्त्त के अनुसार प्रत्यय से प्रवर्तित होगा। इस

तरह कर्म और विपाक, कर्म-वर्त्त और विपाक-वर्त्त, कर्म की प्रवर्ति और विपाक की प्रवर्ति, कर्म की सन्तति और विपाक की सन्तति एवं क्रिया और क्रिया का फल है।

कम्मा विपाका वत्तन्ति, विपाको कम्मसम्भवो।
कम्मा पुनब्भवो होति, एवं लोको पवत्तति॥

[कर्म और विपाक विद्यमान हैं, विपाक कर्म से सम्भूत है, और कर्म से पुनर्भव होता है—ऐसे संसार प्रवर्तित हो रहा है।]

—इस प्रकार देखता है।

"उस ऐसे देखने वाले (योगी) की जो वह पूर्वान्त आदि के प्रति—"मैं हुआ था ?" आदि प्रकार से कही सोलह तरह की विचिकित्सा है, वह सब दूर हो जाती है। सब भव, योनि, गति, स्थिति, निवास में हेतु-फल के सम्बन्ध के अनुसार प्रवर्तित होता हुआ नाम-रूप मात्र ही जान पड़ता है। वह कारण से आगे कर्त्ता को नहीं देखता है, न विपाक की प्रवर्ति से आगे विपाक भोगने वाले को। किन्तु कारण के होने पर कर्त्ता है और विपाक की प्रवर्ति के होने पर भोगने वाला है—ऐसे व्यवहार मात्र से पण्डित लोग कहते हैं—इस प्रकार वह भली-भाँति प्रज्ञा से देखता है। उससे पुराने लोगों ने कहा है—

कम्मस्स कारको नत्थि, विपाकस्स च वेदको।
सुद्धधम्मा पवत्तन्ति, एवेतं सम्मदस्सनं॥

[कर्म का कर्त्ता नहीं है और न विपाक को भोगने वाला। शुद्ध धर्म (=संस्कार) मात्र प्रवर्तित होते हैं—इस प्रकार जानना सम्यक् दर्शन है।]

एवं कम्मे विपाके च वत्तमाने सहेतुके।
बीज रुक्खादिकानं व पुब्बा कोटि न आयति॥

[ऐसे सहेतुक कर्म और विपाक के प्रवर्तित होने पर बीज, वृक्ष आदि के समान पूर्व छोर नहीं जान पड़ता है।]

अनागतेपि संसारे अप्पवत्तिं न दिस्सति।
एतमत्थं अनञ्ञाय तित्थिया असयंवसी॥

[भविष्यत्-काल में भी संसार में अ-प्रवर्ति नहीं दिखाई देती है, इस बात को नहीं जानकर तीर्थक (=अन्य मतावलम्बी) परवश हैं।]

सत्त सञ्ञं गहेत्वान सस्सतुच्छेददस्सिनो।
द्वासट्ठिदिट्ठिं गण्हन्ति अञ्ञमञ्ञविरोधिता॥

[सत्व होने की संज्ञा को ग्रहण करके शाश्वत और उच्छेद दर्शन को मानने वाले परस्पर विरोधी बासठ प्रकार की दृष्टियों को ग्रहण करते हैं।]

दिट्ठिबन्धनबन्धा ते तण्हासोतेन वुय्हरे।
तण्हासोतेन वुय्हन्ता न ते दुक्खा पमुच्चरे॥

[वे दृष्टि के बन्धन से बँधे हुए, तृष्णा के स्रोत से बह रहे हैं और वे तृष्णा के स्रोत से बहते हुए दुःख से नहीं छुटकारा पाते हैं।]

एवमेतं अभिञ्ञाय भिक्खु बुद्धस्स सावको।
गम्भीरं निपुणं सुञ्ञं पच्चयं पटिविज्झति ॥

[ऐसे इसे जानकर बुद्ध का श्रावक भिक्षु गम्भीर, निपुण, शून्य प्रत्यय का ज्ञान प्राप्त करता है।]

कम्मं नत्थि विपाकम्हि, पाको कम्मे न विज्जति।
अञ्ञमञ्ञं उभो सुञ्ञा, न च कम्मं विना फलं ॥

[विपाक से कर्म नहीं है, कर्म में विपाक नहीं है, एक दूसरे से दोनों शून्य हैं, और कर्म के विना फल नहीं है।]

यथा न सुरिये अग्गि, न मणिम्हि न गोमये।
न तेसं वहि सो अत्थि, सम्भारेहि च जायति ॥

[जैसे सूर्य्य में अग्नि नहीं है। न मणि में, न गोबर में है और वह उनके बाहर भी नहीं है, प्रत्युत कारणों से उत्पन्न होता है।]

तथा न अन्तो कम्मस्स विपाको उपलब्भति।
वहिद्धापि न कम्मस्स न कम्मं तत्थ विज्जति ॥

[वैसे कर्म के भीतर विपाक नहीं होता है, कर्म के बाहर भी नहीं होता है और उसमें कर्म नहीं है।]

फलेन सुञ्ञं तं कम्मं, फलं कम्मे न विज्जति।
कम्मञ्च खो उपादाय ततो निब्बत्तती फलं ॥

[वह कर्म फल से शून्य है, फल कर्म में नहीं है, किन्तु कर्म के कारण उससे फल उत्पन्न होता है।]

न हेत्थ देवो ब्रह्मा वा संसारस्सत्थि कारको।
सुद्धधम्मा पवत्तन्ति हेतुसम्भार पच्चया ॥

[कोई संसार का कर्त्ता देव या ब्रह्मा नहीं है, हेतु-प्रत्यय के कारण शुद्ध-धर्म मात्र प्रवर्तित हो रहे हैं।]

उस ऐसे कर्म-वर्त्त और विपाक-वर्त्त के अनुसार नाम-रूप के प्रत्यय का परिग्रह करके तीनों कालों में दूर हुई विचिकित्सा वाले को सारे अतीत, भविष्यत्, वर्तमान् के धर्म च्युति, प्रतिसन्धि के अनुसार विदित होते हैं। वह उसकी ज्ञानवती-प्रज्ञा होती है। वह ऐसा जानता है—जो अतीत में कर्म के प्रत्यय से उत्पन्न स्कन्ध थे, वे वहीं निरुद्ध हो गये, किन्तु अतीत कर्म के प्रत्यय से इस भव में अन्य स्कन्ध उत्पन्न हुए। अतीत-भव से इस भव में आया हुआ एक भी धर्म नहीं है। इस भव में भी कर्म के प्रत्यय से उत्पन्न हुए स्कन्ध निरुद्ध हो जायेंगे। दूसरे भव में अन्य उत्पन्न होंगे। इस भव से दूसरे भव में एक धर्म भी नहीं जायेगा। फिर भी जैसे आचार्य के मुख से निकल कर पाठ शिष्य के मुख में नहीं घुस जाता है, और उसके कारण उसके मुख में पाठ नहीं होता है—ऐसा भी नहीं है। दूत द्वारा पिया गया मन्त्र-जल रोगी के पेट में नहीं घुसता है, और उसका उस कारण से रोग नहीं शान्त हो जाता है—ऐसा भी नहीं है। मुख के ऊपर किया हुआ मण्डन-विधान दर्पण-तल आदि पर पड़ा हुआ मुख-निमित्त नहीं जाता है, और उस कारण से मण्डन-विधान नहीं दिखाई देता है—ऐसा भी नहीं है। एक बत्ती की दीप-शिखा दूसरी

बत्ती में नहीं चली जाती है और वहाँ उस कारण से दीप-शिखा नहीं उत्पन्न होती है—ऐसा भी नहीं है। ऐसे ही अतीत-भव से इस भव में या यहाँ से पुनर्भव में कोई धर्म नहीं जाता है, और अतीत-भव में स्कन्ध, आयतन, धातु के प्रत्यय से यहाँ या यहाँ स्कन्ध, आयतन, धातु के प्रत्यय से पुन-र्भव में स्कन्ध, आयतन, धातुयें नहीं उत्पन्न होती हैं—ऐसा भी नहीं है।

यथेव चक्खुविञ्ञाणं मनोधातु अनन्तरं।
न चेव आगतं, नापि न निब्बत्तं अनन्तरं॥
तथेव पटिसन्धिम्हि वत्तते चित्तसन्तति।
पुरिमं भिज्जति चित्तं, पच्छिमं जायति ततो॥
तेसं अन्तरिका नत्थि, वीचि तेसं न विज्जति।
न चितो गच्छति किञ्चि, पटिसन्धि च जायति॥

[जैसे मनोधातु के अनन्तर चक्षुर्विज्ञान नहीं आया है और उसके अनन्तर नहीं उत्पन्न हुआ है—ऐसा नहीं है। वैसे ही प्रतिसन्धि में चित्त-सन्तति प्रवर्तित होती है, पूर्व का चित्त नाश हो जाता है, उसके बाद पिछला चित्त उत्पन्न होता है। उनके बीच अन्तर नहीं है। उनकी वीचि नहीं है। यहाँ से कुछ नहीं जाता है और प्रतिसन्धि उत्पन्न हो जाती है।]

ऐसे च्युति और प्रतिसन्धि के अनुसार जानने योग्य धर्म का सब प्रकार से नाम-रूप के परिग्रह का ज्ञान बलवान् होता है। सोलह प्रकार की विचिकित्सा भली भाँति दूर हो जाती है और न केवल वही—"शास्ता में कांक्षा (=शंका) करता है"[1] आदि प्रकार से प्रवर्तित होने वाली आठ[2] प्रकार की भी विचिकित्सायें दूर हो ही जाती हैं, बासठ (प्रकार की) दृष्टियाँ दब जाती हैं।

ऐसे नाना प्रकार से नाम-रूप के प्रत्यय के परिग्रह से तीनों कालों में कांक्षा (=सन्देह=शंका) को मिटाकर प्राप्त हुआ ज्ञान **कांक्षा-वितरण-विशुद्धि** है—ऐसा जानना चाहिये। 'धर्म-स्थिति ज्ञान', 'यथाभूत ज्ञान' और 'सम्यक्-दर्शन' इसी का नाम है।

कहा गया है—"अविद्या प्रत्यय है, संस्कार प्रत्यय से समुत्पन्न हैं। ये दोनों धर्म प्रत्यय से समुत्पन्न हैं—ऐसे प्रत्यय के परिग्रह में प्रज्ञा धर्म-स्थिति ज्ञान है।"[3] "अनित्य के तौर पर मन में करते हुए कितने धर्मों को यथार्थ जानता है, देखता है? कैसे सम्यक् दर्शन होता है? कैसे उसके सम्बन्ध से सारे संस्कार अनित्य के तौर पर भली प्रकार देखे गये होते हैं? कहाँ कांक्षा प्रहीण होती है? दुःख के तौर पर···अनात्मा के तौर पर मन में करते हुए कितने धर्मों को यथार्थ जानता है, देखता है?······कहाँ कांक्षा प्रहीण होती है? अनित्य के तौर पर मन में करते हुए निमित्त को यथार्थ जानता है। देखता है। उससे कहा जाता है सम्यक् दर्शन। ऐसे उसके सम्बन्ध से सारे संस्कार अनित्य के तौर पर भली प्रकार देखे गये होते हैं। यहाँ कांक्षा प्रहीण होती है। दुःख के तौर पर मनमें करते हुए प्रवर्ति को यथार्थ जानता है, देखता है।······अनात्मा के तौर पर मन में करते हुए निमित्त और प्रवर्ति को यथार्थ जानता है, देखता है। उससे कहा

---

१. धम्मसङ्गणी तथा विभङ्ग।

२. शास्ता, धर्म, संघ, शिक्षा, पूर्वान्त, अपरान्त, और प्रतीत्य-समुत्पाद धर्म—इनमें विचि-कित्सा करना।

३. पटिसम्भिदामग्ग १, १८।

जाता है सम्यक् दर्शन। ऐसे उसके सम्बन्ध से सारे धर्म अनात्मा के तौर पर भली प्रकार देखे गये होते हैं। यहाँ कांक्षा प्रहीण होती है। जो यथार्थ ज्ञान है, जो सम्यक् दर्शन है और जो कांक्षा-वितरण है—ये धर्म नाना अर्थ, नाना व्यञ्जन वाले हैं अथवा एक अर्थ वाले हैं, व्यञ्जन ही भिन्न हैं? जो यथार्थ ज्ञान है, जो सम्यक् दर्शन है और जो कांक्षा-वितरण है—ये धर्म एक अर्थ वाले हैं, व्यंजन ही भिन्न हैं।"[1]

इस ज्ञान से युक्त विपश्यना करने वाला (भिक्षु) बुद्ध शासन में आश्वासन पाया, प्रतिष्ठा पाया, नियत-गति वाला छोटा स्रोतापन्न होता है।

तस्मा भिक्खु सदा सतो नामरूपस्स सब्बसो।
पच्चये परिगण्हेय्य कङ्खावितरणत्थिको॥

[इसलिए कांक्षा-वितरण की इच्छा वाला भिक्षु सर्वदा स्मृतिमान् हो सब प्रकार से नाम-रूप के प्रत्ययों का परिग्रह करे।]

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धि मार्ग में प्रज्ञा-
भावना के भाग में कांक्षा-वितरण विशुद्धि नामक
उन्नीसवाँ परिच्छेद समाप्त।

---

१. पटिसम्भिदामग्ग १, १८।

बीसवाँ परिच्छेद

मार्गामार्गज्ञान-दर्शन-विशुद्धि-निर्देश

'यह मार्ग है' 'यह अ-मार्ग है' इस प्रकार मार्ग और अमार्ग को जानकर प्राप्त हुआ ज्ञान मार्गामार्ग-ज्ञान-दर्शन विशुद्धि है।

अनित्य आदि के अनुसार स्कन्धों का सम्मसन

उसे पूर्ण करने की इच्छा वाले को कलापों के सम्मसन[1] (=विचार = मनन) रूपी नय-विपश्यना में लगना चाहिये। क्यों? आरब्ध-विपश्यक के अवभास आदि के उत्पन्न होने पर मार्गामार्ग ज्ञान के उत्पन्न होने से। क्योंकि आरब्ध-विपश्यक को अवभास आदि के उत्पन्न होने पर मार्गामार्ग ज्ञान होता है और विपश्यना का कलापों का सम्मसन आदि है, इसलिये यह कांक्षा-वितरण के अनन्तर कहा गया है। और भी, चूँकि तीरण-परिज्ञा के प्रवर्तित होते हुए मार्गामार्ग ज्ञान उत्पन्न होता है और तीरण-परिज्ञा ज्ञात-परिज्ञा के अनन्तर होती है, इसलिये भी उस मार्गामार्ग-ज्ञान-दर्शन विशुद्धि को पूर्ण करने की इच्छा वाले को कलापों के सम्मसन में लगना चाहिये।

यह विनिश्चय है—तीन लौकिक परिज्ञा हैं—(१) ज्ञात-परिज्ञा (२) तीरण-परिज्ञा और (३) प्रहाण-परिज्ञा। जिनके सम्बन्ध में कहा गया है—"अभिज्ञा की प्रज्ञा जानने के अर्थ में ज्ञान है। परिज्ञा की प्रज्ञा तीरण (=निर्णय) करने के अर्थ में ज्ञान है, प्रहाण की प्रज्ञा (क्लेशों को) त्यागने के अर्थ में ज्ञान है।" वहाँ, विनष्ट होने के लक्षण वाला रूप है। अनुभव करने के लक्षण वाली वेदना है—ऐसे उन उन धर्मों के आध्यात्म लक्षण का विचार करने के अनुसार प्रवर्तित प्रज्ञा ज्ञात-परिज्ञा है। रूप अनित्य है, वेदना अनित्य है, आदि प्रकार से उन्हीं धर्मों के सामान्य लक्षण को लेकर प्रवर्तित लक्षण को आलम्बन की हुई प्रज्ञा तीरण-परिज्ञा है। उन्हीं धर्मों में नित्य होने के ख्याल आदि को त्यागने के अनुसार प्रवर्तित लक्षण को आलम्बन की हुई प्रज्ञा प्रहाण-परिज्ञा है।

संस्कार-परिच्छेद (=नामरूप का निरूपण) से लेकर प्रत्यय-परिग्रह तक ज्ञात-परिज्ञा की भूमि है। इसमें धर्मों के आध्यात्म लक्षण के ज्ञान की ही प्रधानता होती है। कलापों के सम्मसन से लेकर उदय-व्यय की अनुपश्यना तक तीरण-परिज्ञा की भूमि है। इसमें सामान्य लक्षण के ज्ञान की ही प्रधनता होती है। भंगानुपश्यना से प्रारम्भ करके ऊपर प्रहाण-परिज्ञा की भूमि है। वहाँ से लेकर—"अनित्य के तौर पर देखते हुए नित्य संज्ञा को त्यागता है। दुःख के तौर पर देखते हुए सुख-संज्ञा को......अनात्मा के तौर पर देखते हुए आत्म-संज्ञा को, निरोध करते हुए समुदय को, प्रतिनिःसर्ग करते हुए ग्रहण करने को त्यागता है।" ऐसे नित्य-संज्ञा आदि के प्रहाण को सिद्ध करने वाली सात अनुपश्यनाओं की प्रधानता है।

---

१. 'सम्मसन' शब्द का संस्कृतरूप 'सम्मृशन' होगा, जिसका अर्थ विचार करना है, किन्तु मैंने पालि शब्द को ही अधिक उपयुक्त समझ कर ग्रहण किया है।

इस प्रकार इन तीनों परिज्ञाओं में संस्कार-परिच्छेद और प्रत्यय-परिग्रह के सिद्ध होने से इस योगी को ज्ञात-परिज्ञा ही प्राप्त होती है और दूसरी प्राप्त करने के योग्य। जिससे कहा है—"चूँकि तीरण-परिज्ञा के प्रवर्तित होते हुए मार्गामार्ग-ज्ञान उत्पन्न होता है।
दर्शन विशुद्धि को पूर्ण करने की इच्छा वाले को कलापों के सम्मर्शण में लगाना चाहिये।

यह पालि है—"कैसे भूत, भविष्यत् और वर्तमान् के धर्मों को संग्रह करके निरूपण करने में प्रज्ञा सम्मसन में ज्ञान है? जो कोई रूप भूत, भविष्यत् और वर्तमान् का है, भीतरी···जो दूरस्थ या समीपस्थ है, सब रूप को अनित्य के तौर पर निरूपण करता है—यह एक सम्मसन है। दुःख के तौर पर निरूपण करता है—यह एक सम्मसन है। जो कोई वेदना···जो कोई विज्ञान··· अनात्मा के तौर पर निरूपण करता है—यह एक सम्मसन है। चक्षु···जरामरण भूत, भविष्यत्, वर्तमान् का है, उसे अनित्य के तौर पर सम्मसन करता है—यह एक सम्मसन है। दुःख के तौर पर···अनात्मा के तौर पर निरूपण करता है—यह एक सम्मसन है।

भूत, भविष्यत्, वर्तमान् रूप क्षय होने के अर्थ में अनित्य है। भय होने के अर्थ में दुःख है। सार रहित होने के अर्थ में अनात्मा है—ऐसे संग्रह करके निरूपण करने में प्रज्ञा सम्मसन में ज्ञान है। वेदना···विज्ञान···चक्षु···जरामरण···सम्मसन में ज्ञान है। भूत, भविष्यत्, वर्तमान् का रूप अनित्य, संस्कृत (=प्रत्ययों से बना हुआ), प्रतीत्य समुत्पन्न, क्षय, व्यय, विराग, निरोध के स्वभाव वाला है—ऐसे संग्रह करके निरूपण करने में प्रज्ञा सम्मसन में ज्ञान है। वेदना...विज्ञान··· चक्षु···जरामरण भूत, भविष्यत्, वर्तमान्, अनित्य···निरोध के स्वभाव वाला है—ऐसे संग्रह करके निरूपण करने में प्रज्ञा सम्मसन ज्ञान है।

जाति (=जन्म) के प्रत्यय से जरामरण होता है, जाति के नहीं होने पर जरामरण नहीं होता है—ऐसे संग्रह करके निरूपण करने में प्रज्ञा सम्मसन में ज्ञान है। भूत काल में भी भविष्यत् काल में भी, जाति के प्रत्यय से जरामरण होता है, जाति के नहीं होने पर जरामरण नहीं होता है। ऐसे संग्रह करके निरूपण करने में प्रज्ञा सम्मसन में ज्ञान है। भव के प्रत्यय से जाति···अविद्या के प्रत्यय से संस्कार होते हैं, अविद्या के नहीं होने पर संस्कार नहीं होते हैं—ऐसे संग्रह करके निरूपण करने में प्रज्ञा सम्मसन में ज्ञान है। भूतकाल में भी, भविष्यत् काल में भी अविद्या के प्रत्यय से संस्कार होते हैं, अविद्या के नहीं होने पर संस्कार नहीं होते हैं—ऐसे संग्रह करके निरूपण करने में प्रज्ञा सम्मसन में ज्ञान है। वह जानने के अर्थ में ज्ञान है। प्रजानन करने के अर्थ में प्रज्ञा है। उससे कहा जाता है भूत, भविष्यत्, वर्तमान् के धर्मों को संग्रह करके निरूपण करने में प्रज्ञा सम्मसन में ज्ञान है।"[1]

और वहाँ,—"चक्षु···जरामरण" इस पेय्याल[2] से द्वार और आलम्बनों के साथ द्वार पर प्रवर्तित धर्म, पञ्चस्कन्ध, छः द्वार, छः आलम्बन, छः विज्ञान, छः स्पर्श, छः वेदना, छः संज्ञा, छः चेतना, छः तृष्णा, छः वितर्क, छः विचार, छः धातुयें, दस कसिण (=कृत्स्न), बत्तीस भाग, बारह आयतन, अठारह धातुयें, बाइस इन्द्रियाँ, तीन धातुयें, नव भव, चार ध्यान, चार अप्रमाण्य (=ब्रह्म विहार), चार समापत्तियाँ, बारह प्रतीत्य समुत्पाद के अंग—ये धर्म-समूह संग्रह किये गये हैं—ऐसा जानना चाहिये।

अभिज्ञेय निर्देश में यह कहा गया है—"भिक्षुओ, सब अभिज्ञेय है। भिक्षुओ, क्या सब अभिज्ञेय है? भिक्षुओ, चक्षु, रूप,···चक्षुर्विज्ञान···चक्षु-स्पर्श···जो भी यह चक्षु के स्पर्श के

१. पटिसम्भिदामग्ग १
२. देखिये, पहला भाग पृष्ठ ४८।

कारण सुःख, दुःख या अदुःख (=उपेक्षा)—वेदना उत्पन्न होती है, वह भी अभिज्ञेय है। श्रोत्र··· जो भी यह मनोस्पर्श के कारण सुख, दुःख या अ-दुःख-अ-सुख-वेदना उत्पन्न होती है, वह भी अभिज्ञेय है।

रूप···विज्ञान···चक्षु···मन···रूप···धर्म···चक्षुर्विज्ञान···मनोविज्ञान·· चक्षु-स्पर्श······ मनोस्पर्श···चक्षु-स्पर्श से उत्पन्न वेदना···मनोस्पर्श से उत्पन्न वेदना···रूप-संज्ञा···धर्म-संज्ञा··· रूप संचेतना (=रूप को आलम्बन करके उत्पन्न चेतना)···धर्म संचेतना (=धर्म के कारण उत्पन्न चेतना)···रूप-तृष्णा···धर्म-तृष्णा···रूप-वितर्क···धर्म-वितर्क (= रूप आदि धर्मों में होने वाला वितर्क)···रूप-विचार···धर्म-विचार···पृथ्वी-धातु···विज्ञान-धातु···पृथ्वी कसिण ···विज्ञान कसिण···केश···मस्तिष्क···चक्षु-आयतन···धर्मायतन···चक्षु-धातु···मनोविज्ञानधातु··· चक्षु-इन्द्रिय···आज्ञातावेन्द्रिय···कामधातु···रूपधातु···अरूप-धातु···काय-भव, रूप-भव, अरूप-भव, संज्ञा-भव, असंज्ञा-भव, नैवसंज्ञानासंज्ञाभव, एक अवकार भव, चार अवकार भव, पञ्चअवकार भव···प्रथम ध्यान···चतुर्थ ध्यान···मैत्री चित्त की विमुक्ति···उपेक्षा चित्त की विमुक्ति···आकाशानन्त्यायतन समापत्ति···नैवसंज्ञानासंज्ञायतन समापत्ति···अविद्या अभिज्ञेय है···जरामरण अभिज्ञेय है।"[1]

वह वहाँ ऐसे विस्तार करके कहे गये होने से यहाँ सब पेय्याल से संक्षिप्त किया गया है। इस प्रकार संक्षिप्त होने पर यहाँ जो लोकोत्तर धर्म आये हुए हैं, वे सम्मसन के योग्य नहीं होने से इस प्रसङ्ग में नहीं ग्रहण करने चाहिये और जो भी सम्मसन के योग्य हैं, उनमें जो जिसे प्रगट होते हैं, सुखपूर्वक परिग्रह हो जाते हैं, उनमें उसे सम्मसन आरम्भ करना चाहिये।

यह स्कन्धों के अनुसार आरम्भ करने के विधान की योजना है—जो कोई रूप···सब रूप अनित्य के तौर पर निरूपण करता है—यह एक सम्मसन है। दुःख के तौर पर, अनात्मा के तौर पर निरूपण करता है—यह एक सम्मसन है। इतने से यह भिक्षु "जो कुछ रूप है" ऐसे अनिश्चित रूप से निर्दिष्ट सभी रूपों को भूतकाल के त्रिक्[2] और चार आध्यात्म आदि[3] द्विकों से—ऐसे ग्यारह स्थानों से परिच्छेद करके सब रूप को अनित्य के तौर पर निरूपण करता है। 'अनित्य है' ऐसा सम्मसन करता है। कैसे ? आगे कहे गये प्रकार से। कहा गया है—"भूत, भविष्यत्, वर्तमान् रूप क्षय होने के अर्थ में अनित्य है।"

इसलिये यह—"जो भूत काल में रूप था, वह चूँकि भूतकाल में ही क्षीण हो गया, इस भव को नहीं पाया—ऐसे क्षय होने के अर्थ में अनित्य है। जो भविष्यत् में, ठीक पिछले जन्म में उत्पन्न होगा, वह भी वहीं क्षीण हो जायेगा, उसके बाद दूसरे भव को नहीं जायेगा—ऐसे क्षय होने के अर्थ में अनित्य है। जो वर्तमान् रूप है, वह भी यहीं क्षीण हो जाता है, यहाँ से नहीं जाता है,—ऐसे क्षय होने के अर्थ में अनित्य है। जो आध्यात्म है, वह भी आध्यात्म में ही क्षीण हो जाता है, बाह्य को नहीं प्राप्त होता है। ऐसे क्षय होने के अर्थ में अनित्य है। जो बाह्य है······स्थूल, सूक्ष्म, हीन, प्रणीत, दूरस्थ, समीपस्थ है, वह भी वहीं क्षीण हो जाता है, दूरस्थ नहीं होता है—ऐसे क्षय होने के अर्थ में अनित्य है। इस प्रकार सम्मसन करता है। यह सारा भी क्षय होने के अर्थ में अनित्य है—इसके अनुसार एक सम्मसन है, किन्तु भेद से ग्यारह प्रकार का होता है।

---

१. पटिसम्भिदामग्ग १, ३।

२. भूत, भविष्यत्, वर्तमान्—यह भूत काल का त्रिक् है।

३. आध्यात्म या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, जो दूरस्थ हैं या समीपस्थ—इन चार द्विकों से।

और सारा ही वह भय होने के अर्थ में दुःख है। भय होने के अर्थ में=इसके भयानक होने से। क्योंकि जो अनित्य होता है, वह भयावह होता है। 'सीहोपम'[१] सूत्र में देवताओं के समान। इस प्रकार यह भी भय होने के अर्थ में दुःख है—इसके अनुसार एक सम्मसन है, किन्तु भेद से ग्यारह प्रकार का होता है।

और जैसे दुःख है, ऐसे सारा भी वह सार-रहित होने के अर्थ में अनात्मा है। सार-रहित होने के अर्थ में=आत्मा, वास करने वाला, कर्त्ता, अनुभव करने वाला, अपने वश में रहने वाला —ऐसे परिकल्पित आत्म-सार के अभाव से। क्योंकि जो अनित्य होता है, वह दुःख होता है, अपनी भी अनित्यता या उत्पत्ति और विनाश की पीड़ा को टाल नहीं सकता है। तो कहाँ से वह कर्त्ता आदि होगा? कहा है—"भिक्षुओ, यह रूप आत्मा हो, तो यह रूप रोगी न होवे"[२] आदि। इस प्रकार यह भी सार-रहित होने के अर्थ में अनात्मा है—इसके अनुसार एक सम्मसन है, किन्तु भेद से ग्यारह प्रकार का होता है। ऐसे ही वेदना आदि में।

जो अनित्य है, वह चूँकि नियमतः संस्कृत आदि के भेद वाला होता है, इसलिये उसके पर्याय को दिखलाने के लिये—"भूत, भविष्यत्, वर्तमान् रूप अनित्य, संस्कृत, प्रतीत्य-समुत्पन्न, क्षय, व्यय, विराग, निरोध स्वभाव वाले हैं" फिर पालि कही गई है। इसी प्रकार वेदना आदि में।

वह उस ही पाँच स्कन्धों में अनित्य, दुःख, अनात्म के सम्मसन को स्थिर होने के लिये, जो वह भगवान् द्वारा—"किन चालीस आकारों से आनुलोमिक[३]-क्षान्ति को प्राप्त करता है? किन चालीस आकारों से आर्यमार्ग (=सम्यकत्व-नियाम) में उतरता है?" इसके विभङ्ग (=व्याख्या) में "पञ्चस्कन्धों को अनित्य, दुःख, रोग, गण्ड (=फोड़ा), शल्य (=काँटा), अघ (=पाप), आबाधा, परवश, प्रलोक (=विनाश), विपत्ति, उपद्रव, भय, उपसर्ग, चंचल, प्रभंगुर, अ-ध्रुव, अ-त्राण, अ-गुहा, अ-शरण, रिक्त, तुच्छ, शून्य, अनात्म, आदीनव (=अवगुण), विपरिणाम धर्म, असार, अघ की जड़, बधक, विभव, (=विनाश), साश्रव, संस्कृत, मार का आमिष (=भोज्य वस्तु), जाति (=जन्म) के स्वभाव, जरा के स्वभाव, व्याधि के स्वभाव, मृत्यु के स्वभाव, शोक के स्वभाव, परिदेव के स्वभाव, उपायास के स्वभाव और संक्लेश के स्वभाव से पञ्चस्कन्धों को अनित्य के तौर पर देखते हुए आनुलोमिक क्षान्ति को पाता है। पाँचों स्कन्धों का निरोध निर्वाण है—ऐसे देखते हुए आर्य-मार्ग में उतरता है।" आदि प्रकार से अनुलोम-ज्ञान का विस्तार करते हुए, भेद से अनित्य आदि का देखना कहा गया है। उसके अनुसार इन पञ्चस्कन्धों को देखता है।

कैसे? वह एक-एक स्कन्ध को अशाश्वत होने और आदि, अन्त वाला होने से अनित्य है। उत्पत्ति, विनाश से पीड़ित होने और दुःख की वस्तु होने से दुःख है। प्रत्ययों पर निर्भर रहने वाला होने और रोग की जड़ होने से रोग है। (तीन प्रकार की) दुःखता रूपी शूल से युक्त होने, क्लेश रूपी अशुचि (=गन्दगी) के बहते होने और उत्पत्ति, जरा, भङ्ग (=विनाश) द्वारा फूलने, पकने, नाश होने से गण्ड (=फोड़ा) है। पीड़ा उत्पन्न करने वाला होने, भीतर छेदने और कठिनाई से निकाले जाने के योग्य होने से काँटा है। विशेष रूप से निन्दनीय होने, अ-वृद्धि का आह्वान करने और पाप की वस्तु होने से अघ है। अ-स्वतन्त्र-भाव को उत्पन्न करने वाला होने और

१. संयुत्त नि० २१,२,३,६।
२. संयुत्त नि० २१,१,२,४।
३. आर्य मार्ग के अधिगम के अनुकूल रहने वाली।

आबाधा का पदस्थान होने से आबाधा है। वश में नहीं होने और विधान करने के योग्य नहीं होने से परवश है। व्याधि, जरा, मरण से प्रलोक है। अनेक व्यसनको बुलाने से विपत्ति है। नहीं विदित हुए ही विपुल अनर्थों को बुलाने और सब उपद्रवों की वस्तु होने से उपद्रव है। सब भयों का आकर (=उत्पत्ति-स्थान) होने और दुःख का उपशम कहे जाने वाले परम-आश्वास (=निर्वाण) का विपक्षी होने से भय है। अनेक अनर्थों द्वारा बँधे होने, द्वेष से युक्त होने और राग आदि के नहीं दूर होने से उपसर्ग है। व्याधि, जरा, मृत्यु और लाभ, अलाभ आदि लोक-धर्मों से प्रकम्पित होने से चंचल है। उपक्रम और स्वाभाविक-काल से भङ्ग, होने की ओर जाने के स्वभाव वाला होने से प्रभङ्गुर है। (वृक्ष के फल के समान) सब अवस्थाओं में नीचे गिरने वाला होने और स्थिर होने के अभाव से अ-ध्रुव है। आरक्षा नहीं करने और नहीं पाये जाने के योग्य क्षेम-भाव वाला होने से अ-त्राण है। सटने के योग्य नहीं होने और सटे हुओं का भी गुहा का काम नहीं करने से अ-गुहा है। निश्रितों के (जन्म आदि) के भय को नहीं नाश करने वाला होने से अ-शरण है। (परमार्थ से अविद्यमान, मूर्खों द्वारा) यथा-परिकल्पित ध्रुव, शुभ, सुख, आत्मा से खाली होने से खाली होने से रिक्त है। रिक्त होने से ही तुच्छ है। अथवा अल्प होने से। क्योंकि अल्पमात्र भी लोक में तुच्छ कहा जाता है। स्वामी, निवासी, कर्त्ता, अनुभव करने वाला (=वेदक), ठहरने वाला से रहित होने से शून्य है। अपने भी स्वामी आदि नहीं होने से अनात्म है। (संसार-) प्रवर्ति के दुःखदायक होने और दुःख के अवगुण वाला होने से आदीनव है। अथवा निरन्तर दीन (=दरिद्र) होता जाता है, प्रवर्तित होता है, इसलिये आदीनव है। यह (=दरिद्र=दीन) मनुष्य का अधिवचन (=नाम) है। और स्कन्ध भी कृपण ही हैं, इस प्रकार आदीनव के समान होने से आदीनव है। जरा और मृत्यु—दो प्रकार के परिणाम के स्वभाव वाला होने से विपरिणाम स्वभाव वाला है। फल्गु (=सार रहित, हीर रहित काष्ठ) के समान होने और सुख को विनाश करने वाला होने से असार है। अघ का हेतु होने से अघ की जड़ है। मित्र स्वरूप शत्रु के समान विश्वास-घातक होने से बधक है। वृद्धि रहित होने और तृष्णा, दृष्टि से उत्पन्न होने से विभव है। आश्रवों का प्रत्यय होने से साश्रव है। हेतु-प्रत्ययों से बने होने से संस्कृत है। मृत्यु-मार और क्लेश-मार का आमिष होने से मार का आमिष है। जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु की प्रकृति वाला होने से जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु के स्वभाव वाला है। शोक, परिदेव, उपायास का हेतु होने से शोक, परिदेव, उपायास के स्वभाव वाला है। तृष्णा-दृष्टि, दुश्चरित, संक्लेश के विषय होने के स्वभाव से संक्लेशिक है। ऐसे प्रभेद से कहे गये अनित्य आदि को देखने के अनुसार सम्मसन (=विचार) करता है।

यहाँ, अनित्य, प्रलोक, चंचल, प्रभङ्गुर, अध्रुव, विपरिणाम-स्वभाव, असार, विभव, संस्कृत और मरण स्वभाव के तौर पर एक-एक स्कन्ध में दस-दस करके पचास अनित्यानुपश्यनायें होती हैं। परवश, रिक्त, तुच्छ, शून्य और अनात्म के तौर पर एक-एक स्कन्ध में पाँच-पाँच करके पच्चीस अनात्मानुपश्यनायें होती हैं। शेष दुःख, रोग आदि के तौर पर एक-एक स्कन्ध में पच्चीस-पच्चीस करके एक सौ पच्चीस दुःखानुपश्यनायें होती हैं। इस प्रकार इस दो सौ भेदवाले अनित्य आदि के सम्मसन से पञ्चस्कन्धों को सम्मसन करनेवाले इस (योगी) का नय-विपश्यना कहा जाने वाला अनित्य, दुःख, अनात्म का सम्मसन स्थिर होता है। यह यहाँ पालि के नय के अनुसार सम्मसन के आरम्भ का विधान है।

रूप और अरूप का सम्मसन

जिसे ऐसे नय-विपश्यना में योग करते हुए भी नय-विपश्यना नहीं पूर्ण होती है, उसे "नव आकारों से इन्द्रियाँ तीक्ष्ण होती हैं, उत्पन्न हुए, उत्पन्न हुए संस्कारों के क्षय को ही देखता है और उसे आदरपूर्वक करके पूर्ण करता है। निरन्तर करते रहने से पूर्ण करता है। अनुरूप क्रिया से पूर्ण करता है। समाधि के निमित्त को ग्रहण करने से, बोध्यङ्गों के अनुरूप प्रवर्तित होने से, काय और जीवन में अपेक्षा नहीं करता है। वहाँ नैष्क्रम्य से मर्दन कर और बीच में असंकोच से।" ऐसे कहे गये नव आकारों के अनुसार इन्द्रियों को तीक्ष्ण करके पृथ्वी-कसिण-निर्देश में कहे गये ढंग से सात अननुरूप कारणों को त्याग कर सात अनुरूप कारणों का सेवन करते हुए समय से रूप को भली प्रकार देखना चाहिये। समय से अरूप को।

रूप के देखने वाले को रूप की उत्पत्ति देखनी चाहिए। जैसे—यह रूप कर्म आदि के अनुसार चार कारणों से उत्पन्न होता है। सारे प्राणियों का रूप उत्पन्न होते हुए प्रथम कर्म से उत्पन्न होता है। प्रतिसन्धि के क्षण ही गर्भशायी (सत्त्वों) को तीन सन्ततियों के अनुसार वस्तु, काय, भाव-दशक कहे जाने वाले तीस रूप उत्पन्न होते हैं और वे प्रतिसन्धि-चित्त की उत्पत्ति के क्षण में ही। जैसे उत्पत्ति के क्षण में, वैसे स्थिति के क्षण में भी, भङ्ग के क्षण में भी।

रूप धीरे-धीरे निरुद्ध होनेवाला और देरी से परिवर्तित होनेवाला है। चित्त शीघ्र निरुद्ध होनेवाला और जल्दी से परिवर्तित होनेवाला है। कहा है—"भिक्षुओ, मैं एक भी धर्म को ऐसा शीघ्र परिवर्तित होते नहीं देखता हूँ, जैसा कि भिक्षुओ, यह चित्त है[1]।"

रूप के रहते हुए ही सोलह बार भवाङ्ग चित्त उत्पन्न होकर निरुद्ध होता है। चित्त का उत्पत्ति-क्षण भी, भङ्ग क्षण भी, एक समान होते हैं। रूप के उत्पत्ति और विनाश के क्षण ही उनके समान लघु होते हैं। स्थिति-क्षण बड़ा होता है, जब तक सोलह-चित्त उत्पन्न होकर निरुद्ध होते हैं, तब तक प्रवर्तित होता है।

प्रतिसन्धि-चित्त की उत्पत्ति के क्षण में उत्पन्न स्थिति को प्राप्त, पहले उत्पन्न (हृदय-) वस्तु के सहारे दूसरा भवाङ्ग उत्पन्न होता है। उसके साथ उत्पन्न स्थिति को प्राप्त पहले उत्पन्न हुए हृदय-वस्तु के सहारे तीसरा भवाङ्ग-उत्पन्न होता है। इस प्रकार यावज्जीवन चित्त की प्रवर्ति जाननी चाहिए। आसन्न मृत्यु वाले (व्यक्ति) को एक ही स्थिति प्राप्त वस्तु के सहारे सोलह चित्त उत्पन्न होते हैं।

प्रतिसन्धि चित्त की उत्पत्ति के क्षण में उत्पन्न रूप प्रतिसन्धि चित्त से आगे सोलहवें चित्त के साथ निरुद्ध होता है। स्थिति के क्षण में उत्पन्न सत्रहवें की उत्पत्ति के साथ निरुद्ध होता है। भङ्ग के क्षण में उत्पन्न सत्रहवें के स्थिति-क्षण को पाकर निरुद्ध होता है। जब तक प्रवर्ति होती है, तब तक ऐसे ही प्रवर्तित होता है। औपपातिकों का भी सात सन्ततियों के अनुसार सत्तर रूप ऐसे ही प्रवर्तित होते हैं।

कर्म, कर्म से उत्पन्न, कर्म-प्रत्यय, कर्म-प्रत्यय चित्त से उत्पन्न, कर्म-प्रत्यय आहार से उत्पन्न, कर्म-प्रत्यय ऋतु से उत्पन्न—यह विभाग जानना चाहिए।

वहाँ, कर्म कुशल, अकुशल चेतना है। कर्म से उत्पन्न, विपाक-स्कन्ध और चक्षुदशक

---

१. अंगुत्तर नि० १, १०।

आदि सत्तर रूप हैं। कर्म प्रत्यय, वही है। क्योंकि कर्म कर्म से उत्पन्न हुए रूप का उपनिश्रय (=उपस्तम्भक)-प्रत्यय भी होता है।

कर्म-प्रत्यय चित्त से उत्पन्न, विपाक-चित्त से उत्पन्न रूप को कहते हैं। **कर्म-प्रत्यय आहार से उत्पन्न**, कर्म से उत्पन्न रूपों में स्थिति प्राप्त ओज अन्य ओजाष्टमक को उत्पन्न करता है। वहाँ भी ओज स्थिति को पाकर अन्य को—ऐसे चार या पाँच प्रवर्तियों को मिलाता है। **कर्म-प्रत्यय ऋतु से उत्पन्न**, कर्मज अग्नि-धातु स्थिति प्राप्त ऋतु से उत्पन्न ओजाष्टमक को उत्पन्न करता है, वहाँ भी ऋतु अन्य ओजाष्टमक को—ऐसे चार या पाँच प्रवर्तियों को मिलाता है। इस प्रकार कर्मज रूप की उत्पत्ति देखनी चाहिए।

चित्तजों में भी चित्त, चित्त से उत्पन्न, चित्त-प्रत्यय, चित्त-प्रत्यय आहार से उत्पन्न, चित्त-प्रत्यय ऋतु से उत्पन्न,—यह विभाग जानना चाहिये।

वहाँ, **चित्त**, नवासी चित्त हैं। उनमें—

द्वत्तिंस चित्तानि छब्बीस ऊनवीसति सोलस।
रूपिरियापथ-विञ्ञत्ति-जनकाजनका मता॥

[बत्तीस, छब्बीस, उन्नीस, सोलह चित्त रूप-ईर्य्यापथ, विज्ञप्ति के जनक और अजनक माने जाते हैं।]

कामावचर से आठ कुशल, बारह अकुशल, मनोधातु को छोड़कर दस क्रिया, कुशल-क्रिया से दो अभिज्ञा चित्त—यह बत्तीस चित्त रूप-ईर्य्यापथ और विज्ञप्ति को उत्पन्न करते हैं। विपाकों को छोड़कर शेष दस रूपावचर, आठ अरूपावचर, आठों भी लोकोत्तर चित्त—यह छब्बीस चित्त ईर्य्यापथ को उत्पन्न करते हैं, विज्ञप्ति को नहीं। कामावचर में दस भवाङ्ग चित्त, रूपावचर में पाँच, तीन मनोधातु, एक विपाक अहेतुक मनोविज्ञान धातु सौमनस्य-सहगत—यह उन्नीस चित्त रूप को ही उत्पन्न करते हैं, ईर्य्यापथ और विज्ञप्ति को नहीं उत्पन्न करते हैं। द्वे-पञ्च-विज्ञान, सब प्राणियों का प्रतिसन्धि चित्त, क्षीणाश्रवों का च्युति चित्त, चार आरुप्य-विपाक—यह सोलह चित्त रूप को नहीं उत्पन्न करते हैं। न ईर्य्यापथ और विज्ञप्ति को। और जो यहाँ रूप को उत्पन्न करते हैं, वे न स्थिति के क्षण में या न भङ्ग के क्षण में। क्योंकि उस समय चित्त दुर्बल होता है, किन्तु उत्पत्ति के क्षण बलवान् होता है। इसलिये वह उस समय पहले उत्पन्न हृदय-वस्तु के सहारे रूप को उत्पन्न करता है।

चित्त से उत्पन्न, तीन अरूपी स्कन्ध, शब्द नवक, काय-विज्ञप्ति, वाक् विज्ञप्ति, आकाश-धातु, लघुता, मृदुता, कर्मण्यता, उपचय, सन्तति—ये सत्तर प्रकार के रूप हैं। **चित्त-प्रत्यय**, "पीछे उत्पन्न हुए चित्त-चैतसिक धर्म पहले उत्पन्न हुए इस शरीर का।" इस प्रकार कहा गया (कर्म, चित्त, आहार और ऋतु) चारों से उत्पन्न रूप है।

चित्त प्रत्यय-आहार से उत्पन्न, चित्त से उत्पन्न हुए रूपों में स्थान-प्राप्त ओज अन्य ओजाष्टमक को उत्पन्न करता है, ऐसे दो-तीन प्रवर्तियों को मिलता है।

चित्त-प्रत्यय ऋतु से उत्पन्न, चित्त से उत्पन्न ऋतु स्थान-प्राप्त अन्य ओजाष्टमक को उत्पन्न करता है, ऐसे दो-तीन प्रवर्तियों को मिलाता है। इस प्रकार चित्तज रूप की उत्पत्ति को देखना चाहिये।

आहार से उत्पन्न हुए (रूपों) में भी, आहार, आहार से उत्पन्न, आहार-प्रत्यय, आहार-प्रत्यय-आहार से उत्पन्न, आहार-प्रत्यय ऋतु से उत्पन्न—यह विभाग जानना चाहिये।

वहाँ, आहार, कवलिंकार आहार को कहते हैं। **आहार से उत्पन्न**, उपादिन्न कर्मज-रूप के प्रत्यय को पाकर, यहाँ प्रतिष्ठित हो, स्थान-प्राप्त ओज से उत्पन्न किये हुए ओजाष्टमक, आकाश-धातु, लघुता, मृदुता, कर्मण्यता, उपचय, सन्तति—ये चौदह प्रकार के रूप हैं। **आहार-प्रत्यय** कहते हैं, "कवलिंकार आहार इस शरीर का आहार प्रत्यय से प्रत्यय होता है।" ऐसे कहे गये चारों से उत्पन्न रूप को।

आहार-प्रत्यय आहार से उत्पन्न, आहार से उत्पन्न हुए रूपों में स्थान-प्राप्त ओज अन्य ओजाष्टमक को उत्पन्न करता है, वहाँ भी ओज अन्य को—इस प्रकार दस-बारह बार प्रवर्तियों को मिलाता है। एक-दिन खाया हुआ आहार सप्ताह भर भी चलता है। किन्तु दिव्य ओज एक महीना, दो महीना भी चलता है। माता का खाया हुआ आहार भी बच्चे के शरीर में व्याप्त होकर[1] रूप को उत्पन्न करता है। शरीर में लिपटा हुआ आहार भी रूप को उत्पन्न करता है। कर्मज आहार को ही उपादिन्नक आहार कहते हैं। वह भी स्थान-प्राप्त रूप को उत्पन्न करता है। वहाँ भी ओज अन्य (रूप) को उत्पन्न करता है—ऐसे चार या पाँच प्रवर्तियों को मिलाता है।

आहार-प्रत्यय ऋतु से उत्पन्न, आहार से उत्पन्न अग्नि-धातु स्थान-प्राप्त ऋतु से उत्पन्न ओजाष्टमक को उत्पन्न करती है। वहाँ यह आहार आहार से उत्पन्न हुए (रूपों) का जनक होकर प्रत्यय होता है और शेष (रूपों) का निश्रय, आहार, अस्ति, अविगत के अनुसार। इस प्रकार आहार से उत्पन्न रूप की उत्पत्ति को देखना चाहिये।

ऋतु से उत्पन्न हुए (रूपों) में भी, ऋतु, ऋतु से उत्पन्न, ऋतु-प्रत्यय, ऋतु-प्रत्यय-ऋतु से उत्पन्न, ऋतु-प्रत्यय आहार से उत्पन्न—यह विभाग जानना चाहिये।

वहाँ, **ऋतु** कहते हैं चारों से उत्पन्न अग्नि-धातु को। उष्ण-ऋतु और शीत-ऋतु—ऐसे यह दो प्रकार का होता है। **ऋतु से उत्पन्न**, चारों से उत्पन्न ऋतु उपादिन्नक के प्रत्यय को पाकर स्थान-प्राप्त शरीर में रूप को उत्पन्न करता है। वह शब्द-नवक, आकाश-धातु, लघुता, मृदुता, कर्मण्यता, उपचय, सन्तति—ऐसे पन्द्रह प्रकार का होता है। **ऋतु-प्रत्यय**, ऋतु चारों से उत्पन्न रूपों की प्रवर्ति और विनाश का प्रत्यय होता है।

ऋतु-प्रत्यय ऋतु से उत्पन्न, ऋतु से उत्पन्न अग्नि-धातु स्थान-प्राप्त अन्य ओजाष्टमक को उत्पन्न करती है। वहाँ भी ऋतु अन्य को—ऐसे चिरकाल तक[2] भी अनुपादिन्नों में [3]रहकर भी ऋतु से उत्पन्न प्रवर्तित होती ही है।

ऋतु-प्रत्यय आहार से उत्पन्न, ऋतु से उत्पन्न स्थान-प्राप्त ओज अन्य ओजाष्टमक को उत्पन्न करता है। वहाँ भी ओज अन्य को—इस प्रकार दस-बारह बार प्रवर्तियों को मिलाता है। वहाँ यह ऋतु ऋतु से उत्पन्न (रूपों) का जनक होकर प्रत्यय होता है। शेष (रूपों) का निश्रय, अस्ति, अविगत के अनुसार। ऐसे ऋतु से उत्पन्न हुए रूप की उत्पत्ति को देखना चाहिये। इस प्रकार रूप की उत्पत्ति को देखते हुए समय से रूप का सम्मसन (=विचार) करता है।

और जैसे रूप का सम्मसन करने वाले को रूप की, ऐसे (ही) अरूप का सम्मसन करने

---

१. नाभि के मूल से रस जाकर बच्चे की स्नायु द्वारा शरीर में व्याप्त होकर—टीका।

२. जो दूसरों के लिए 'दस-बारह बार' कहा गया है, उससे भी बहुत देर तक—टीका।

३. मांस के अतिरिक्त केश, लोम, नख, चर्म, तिलक आदि के अनुसार जीवित शरीर में—सिंहल सन्नय।

वाले को भी अरूप की उत्पत्ति को देखना चाहिये। वह भी इक्कासी लौकिक-चित्तोत्पत्ति के अनुसार ही। जैसे—यह अरूप पहले के भव में किये हुए कर्म के अनुसार प्रतिसन्धि में उन्नीस चित्तोत्पाद के भेद से उत्पन्न होता है। इसके उत्पन्न होने के आकार को प्रतीत्य समुत्पाद-निर्देश में कहे गये ढंग से ही जानना चाहिये। वही प्रतिसन्धि चित्त के अनन्तर चित्त से लेकर भवाङ्ग के अनुसार और आयु के अन्त में च्युति के अनुसार। जो वहाँ कामावचर है, वह छः द्वारों में बलवान्[1] आलम्बन के होने पर तदालम्बन के अनुसार उत्पन्न होता है।

प्रवर्ति (=जीवन-काल) में चक्षु-प्रसाद के विकृत न होने पर, रूपों के सम्मुख आने से आलोक से युक्त मनस्कार के हेतु सम्प्रयुक्त धर्मों के साथ चक्षु-विज्ञान उत्पन्न होता है। चक्षु-प्रसाद की स्थिति के क्षण, स्थिति-प्राप्त ही रूप चक्षु से संघर्षण करता है। उसके संघर्षण करने पर भवाङ्ग दो बार उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाता है। तत्पश्चात् उसी आलम्बन में क्रिया-मनोधातु आवर्जन के कृत्य को सिद्ध करती हुई उत्पन्न होती है। तदनन्तर उसी रूप को देखते हुए कुशल विपाक या अकुशल विपाकवाला चक्षु-विज्ञान उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् उसी रूप का सम्प्रतिच्छन्न (=सम्प्रत्येक्षण = स्वीकार) करती हुई विपाक-मनोधातु उत्पन्न होती है। उसके पश्चात् उसी रूप का सन्तीरण करती हुई विपाक-अहेतुक-मनोविज्ञान-धातु। तत्पश्चात् उसी रूप का व्यवस्थापन (=निरूपण) करती हुई उपेक्षा सहगत क्रिया-अहेतुक-मनोविज्ञान-धातु। उसके पश्चात् कामावचर के कुशल और अकुशल क्रियाचित्तों में से एक उपेक्षा-सहगत अहेतुक चित्त अथवा पाँच या सात जवन। तत्पश्चात् कामावचर के प्राणियों के ग्यारह तदालम्बन चित्तों में से जवन के आलम्बन के अनुरूप जो कोई तदालम्बन। इसी प्रकार शेष द्वारों में भी। किन्तु मनोद्वार में महद्गत चित्त भी उत्पन्न होते हैं। ऐसे छः द्वारों में अरूप की उत्पत्ति को देखना चाहिए। इस प्रकार अरूप की उत्पत्ति को देखते हुए समय से अरूप का सम्मसन करता है।

ऐसे समय-समय पर रूप और अरूप का सम्मसन करके भी त्रिलक्षण (=अनित्य, दुःख, अनात्म) का आरोपण करके क्रमशः चलता हुआ एक (योगी) प्रज्ञा-भावना का सम्पादन करता है।

रूप-सप्तक के अनुसार सम्मसन

दूसरा, रूप-सप्तक और अरूप-सप्तक के अनुसार त्रिलक्षण का आरोपण करके संस्कारों का सम्मसन (=मनन=विचार) करता है।

वहाँ, (१) आदान-निःक्षेपण से, (२) वय-वृद्ध-अस्तगमन से, (३) आहारमय से, (४) ऋतुमय से, (५) कर्मज से, (६) चित्त से उत्पन्न होने से, (७) धर्मता के रूप से—इन आकारों से आरोपण करके सम्मसन करते हुए रूप-सप्तक के अनुसार आरोपण करके सम्मसन करता है। इसलिए पुराने लोगों ने कहा है—

"आदाननिक्खेपनतो वयोवुद्धत्थगामितो।
आहारतो च उतुतो कम्मतो चापि चित्ततो।
धम्मतारूपतो सत्त वित्थारेन विपस्सति॥"

[आदान-निःक्षेपण, वय-वृद्ध-अस्तगामी, आहार, ऋतु, कर्म, चित्त और धर्मता के रूप से सात प्रकार के विस्तार से (योगी संस्कारों) की विपश्यना करता है।]

वहाँ, **आदान** का अर्थ है प्रतिसन्धि। **निःक्षेप** का अर्थ है च्युति। इस प्रकार योगी इन

---

१. अति महन्त आलम्बन में।

आदान और निःक्षेपों से एक सौ वर्ष का परिच्छेद करके संस्कारों में त्रिलक्षण का आरोपण करता है। कैसे? इसके बीच सभी संस्कार अनित्य हैं। क्यों? उत्पन्न और लय होने की प्रवर्ति से, विपरिणाम से, क्षणिक होने से, और नित्य विरोधी होने से। चूँकि उत्पन्न हुए संस्कार स्थिति को प्राप्त होते हैं, स्थिति में जरा से पीड़ित होते हैं और जरा को प्राप्त अ-वश होकर नाश हो जाते हैं, इसलिए प्रतिक्षण पीड़ित करने, असह्य होने, दुःख की वस्तु होने और सुख के प्रतिपक्षी होने से दुःख हैं। चूँकि उत्पन्न संस्कार स्थिति को न प्राप्त हों, स्थान-प्राप्त हुए न जरा को प्राप्त हों, और जरा को प्राप्त नाश न हों—इन तीन बातों में किसी का भी वश नहीं है, वे उस वशवर्ती से शून्य हैं, इसलिए शून्य, स्वामी रहित होने, अवशवर्ती और अपना विरोध करने से अनात्मा हैं।

ऐसे आदान-निःक्षेपण के अनुसार सौ वर्ष का परिच्छेद किये हुए रूप में त्रिलक्षण का आरोपण करके, उसके बाद वय-वृद्ध-अस्तगमन से आरोपण करता है। वहाँ वय-वृद्ध-अस्तगमन कहते हैं अवस्था के अनुसार वृद्ध=बढ़े हुए रूप के अस्तगमन को। उसके अनुसार त्रिलक्षण का आरोपण करता है—यह अर्थ है।

कैसे? वह उसी सौ वर्ष का प्रथम अवस्था, मध्यम अवस्था और अन्तिम अवस्था—इन तीन अवस्थाओं से परिच्छेद करता है। प्रारम्भ से तैंतीस वर्ष प्रथम अवस्था है। तत्पश्चात् चौंतीस मध्यम अवस्था है। उसके बाद तैंतीस अन्तिम अवस्था है। इस प्रकार इन तीन अवस्थाओं से परिच्छेद करके, प्रथम अवस्था में प्रवर्तित रूप मध्यम अवस्था को विना पाये हुए ही निरुद्ध हो जाता है। इसलिये वह अनित्य है, जो अनित्य है, वह दुःख है, जो दुःख है, वह अनात्म है। मध्यम अवस्था में प्रवर्तित रूप भी अन्तिम अवस्था को बिना पाये हुए वहीं निरुद्ध हो जाता है, इसलिये वह भी अनित्य, दुःख, अनात्म है। अन्तिम अवस्था में तैंतीस वर्षों तक प्रवर्तित रूप भी मृत्यु के पश्चात् जाने की सामर्थ्य वाला नहीं है, इसलिये वह भी अनित्य, दुःख, अनात्म है—इस प्रकार त्रिलक्षण का आरोपण करता है।

ऐसे प्रथम अवस्था आदि के अनुसार वय-वृद्ध-अस्तगमन से त्रिलक्षण का आरोपण करके पुनः (१) मन्द-दशक (२) क्रीड़ा-दशक (३) वर्ण-दशक (४) बल-दशक (५) प्रज्ञा-दशक (६) हानि-दशक (७) प्राग्भार-दशक (८) प्रवङ्क-दशक (९) मोमूढ़-दशक (१०) शयन-दशक—इन दस दशकों के अनुसार वय-वृद्ध-अस्तगमन से त्रिलक्षण का आरोपण करना चाहिये।

वहाँ, दशकों में सौ वर्ष जीने वाले व्यक्ति के प्रथम दस वर्ष **मन्द-दशक** है। क्योंकि वह उस समय नन्हा चपल (=चंचल) कुमार होता है। उसके पश्चात् दस **क्रीड़ा-दशक** है। उस समय वह क्रीड़ा-रति में लगा रहने वाला होता है। उसके बाद दस **वर्ण-दशक** है। उस समय उसका रूप बढ़ता है। उसके बाद दस **बल-दशक** है। उस समय उसका बल और स्थाम (=शक्ति) बढ़ता है। उसके बाद दस **प्रज्ञा-दशक** है। उस समय उसकी प्रज्ञा सुप्रतिष्ठित होती है। स्वभावतः दुर्बल-प्रज्ञा वाले को भी उस समय अल्पमात्र प्रज्ञा उत्पन्न होती ही है। उसके बाद दस **हानि-दशक** है। उस समय उसकी क्रीड़ा-रति, वर्ण, बल और प्रज्ञा परिहानि को प्राप्त होती है। उसके बाद दस **प्राग्भार-दशक** है। उस समय उसका शरीर आगे की ओर झुक जाता है। उसके बाद दस **प्रवङ्क-दशक** है। उस समय उसका शरीर हल के सिरे के समान टेढ़ा हो जाता है। उसके बाद दस **मोमूढ़-दशक** है। उस समय वह मोमूढ़ (=स्मृति रहित) हो जाता है। किया-किया हुआ भूल जाता है। उसके बाद दस **शयन-दशक** है। सौ वर्ष का (वृद्ध व्यक्ति) अधिक-तर सोने वाला ही होता है।

यह योगी इन दशकों के अनुसार वय-वृद्ध-अस्तगमन से त्रिलक्षण का आरोपण करने के लिये इस प्रकार सोचता है—प्रथम दशक में प्रवर्तित हुआ रूप द्वितीय दशक को बिना पाया हुआ वहीं निरुद्ध हो जाता है। इसलिये वह अनित्य, दुःख, अनात्म है। द्वितीय-दशक में·········नवम दशक में प्रवर्तित हुआ दशम दशक को बिना पाया हुआ वहीं निरुद्ध हो जाता है। दशम दशक में प्रवर्तित हुआ रूप पुनर्भव को बिना पाया हुआ वहीं निरुद्ध हो जाता है, इसलिये वह भी अनित्य, दुःख, अनात्म है, इस प्रकार त्रिलक्षण का आरोपण करता है।

ऐसे दस-दशक के अनुसार वय-वृद्ध-अस्तगमन से त्रिलक्षण का आरोपण करके पुनः उसी सौ वर्ष को पाँच वर्ष के अनुसार बीस भाग करके वय-वृद्ध अस्तगमन से त्रिलक्षण का आरोपण करता है।

कैसे? वह इस प्रकार सोचता है—पहले पाँच वर्ष में प्रवर्तित हुआ रूप दूसरे पाँच वर्ष को बिना पाया हुआ वहीं निरुद्ध हो जाता है, इसलिये वह अनित्य, दुःख, अनात्म है। दूसरे पाँच वर्ष में प्रवर्तित हुआ रूप तीसरे······उन्नीसवें पाँच वर्ष में प्रवर्तित हुआ रूप बीसवें पाँच वर्ष को बिना पाया हुआ वहीं निरुद्ध हो जाता है···बीसवें पाँच वर्ष में प्रवर्तित हुआ रूप मृत्यु से आगे जाने की सामर्थ्य वाला नहीं है, इसलिये यह भी अनित्य, दुःख, अनात्म है।

ऐसे बीस भागों के अनुसार वय-वृद्ध-अस्तगमन से त्रिलक्षण का आरोपण करके पुनः पच्चीस भाग करके चार-चार वर्षों के अनुसार आरोपण करता है। तत्पश्चात् तैंतीस भाग करके तीन-तीन वर्षों के अनुसार। पचास भाग करके दो-दो वर्षों के अनुसार। सौ भाग करके एक-एक वर्ष के अनुसार। उसके बाद एक वर्ष के तीन भाग करके बरसात, जाड़ा, गर्मी तीन ऋतुओं से एक-एक ऋतु के अनुसार उस वय-वृद्ध-अस्तगमन वाले रूप में त्रिलक्षण का आरोपण करता है।

कैसे? बरसात में चार महीने प्रवर्तित हुआ रूप जाड़े को बिना पाये हुए वहीं निरुद्ध हो गया। जाड़े में प्रवर्तित हुआ रूप गर्मी को बिना पाये हुए वहीं निरुद्ध हो गया। गर्मी में प्रवर्तित हुआ रूप पुनः बरसात को बिना पाये हुए वहीं निरुद्ध हो गया, इसलिये वह अनित्य, दुःख, अनात्म है।

ऐसे आरोपण करके पुनः एक वर्ष को छः भागों में करके, बरसात के दो मास में प्रवर्तित हुआ रूप शरद को बिना पाये हुए वहीं निरुद्ध हो गया। शरद में प्रवर्तित हुआ रूप हेमन्त··· हेमन्त में प्रवर्तित हुआ रूप शिशिर, शिशिर में प्रवर्तित हुआ रूप वसन्त, वसन्त में प्रवर्तित हुआ रूप ग्रीष्म, ग्रीष्म में प्रवर्तित हुआ रूप बरसात को बिना पाये हुए ही निरुद्ध हो गया, इसलिये अनित्य, दुःख, अनात्म है। ऐसे उस वय-वृद्ध-अस्तगमन वाले रूप में त्रिलक्षण का आरोपण करता है।

इस प्रकार आरोपण करके पुनः कृष्ण, शुक्ल (पक्ष) के अनुसार। कृष्ण (-पक्ष) में प्रवर्तित हुआ रूप शुक्ल (-पक्ष) को बिना पाये हुए, शुक्ल (-पक्ष) में प्रवर्तित हुआ रूप कृष्ण (-पक्ष) को बिना पाये हुए वहीं निरुद्ध हो गया, इसलिये अनित्य, दुःख, अनात्म है—ऐसे त्रिलक्षण का आरोपण करता है।

तत्पश्चात् रात्रि-दिन के अनुसार। रात्रि में प्रवर्तित हुआ रूप दिन को बिना पाये हुए वहीं निरुद्ध हो गया, दिन में प्रवर्तित हुआ रूप भी रात्रि को बिना पाये हुए वहीं निरुद्ध हो गया, इसलिये अनित्य, दुःख, अनात्म है। ऐसे त्रिलक्षण का आरोपण करता है।

उसके बाद रात्रि-दिन का पूर्वाह्ण आदि के अनुसार छः भाग करके, पूर्वाह्ण में प्रवर्तित

हुआ रूप मध्याह्न, मध्याह्न में प्रवर्तित हुआ रूप सन्ध्या, सन्ध्या में प्रवर्तित हुआ रूप प्रथम याम, प्रथम-याम में प्रवर्तित हुआ रूप मध्यम याम, और मध्यम-याम में प्रवर्तित हुआ रूप अन्तिमयाम को बिना पाये हुए वहीं निरुद्ध हो गया तथा अन्तिम-याम में प्रवर्तित हुआ रूप पुनः पूर्वाह्न को बिना पाये हुए वहीं निरुद्ध हो गया, इसलिए अनित्य, दुःख, अनात्म है—ऐसे त्रिलक्षण का आरोपण करता है।

इस प्रकार आरोपण करके पुनः उसी रूप में चलने, फिरने, अवलोकन-विलोकन करने, समेंटने-पसारने के अनुसार। चलने में प्रवर्तित हुआ रूप फिरने (=पीछे की ओर जाने) को बिना पाये हुए वहीं निरुद्ध हो जाता है, फिरने में प्रवर्तित हुआ रूप अवलोकन करने, अवलोकन करने में प्रवर्तित हुआ रूप विलोकन करने, विलोकन करने में प्रवर्तित हुआ रूप समेंटने, समेंटने में प्रवर्तित हुआ रूप पसारने (=फैलाने) को बिना पाये हुए, वहीं निरुद्ध हो जाता है। इसलिये अनित्य, दुःख, अनात्म है—ऐसे त्रिलक्षण का आरोपण करता है।

तत्पश्चात् एक पद रखने के बाद में उद्धरण, अतिहरण, वीतिहरण, अवसर्जन, सन्निःक्षेपण, सन्निरुन्धन के अनुसार छः भाग करता है।

वहाँ **उद्धरण** का अर्थ है पैर को भूमि से उठाना। **अतिहरण** का अर्थ है आगे की ओर ले जाना। **वीतिहरण** का अर्थ है स्थाणु, काँटा, सर्प आदि में से किसी को देखकर इधर-उधर पैर को चलाना। **अवसर्जन** कहते हैं पैर के नीचे रखने को। **सन्निःक्षेपण** कहते हैं भूमि पर रखने को। **सन्निरुन्धन** का अर्थ है फिर पैर को उठाने के समय पैर को भूमि के साथ दबाने को।

उद्धरण में पृथ्वी धातु, जल धातु—ये दो धातुयें मन्द और शक्ति-हीन होती हैं। दूसरी दो तीव्र और बलवान् होती हैं। वैसे ही अतिहरण और वीतिहरण में। अवसर्जन में अग्निधातु, वायु-धातु—ये धातुयें मन्द और शक्ति-हीन होती हैं, दूसरी दो तीव्र और बलवान् होती हैं। वैसे ही सन्निःक्षेपण और सन्निरुन्धन में। इस प्रकार छः भाग करके उनके अनुसार उसमें वय-वृद्ध-अस्तगमन वाले रूप में त्रिलक्षण का आरोपण करता है।

कैसे? वह इस प्रकार सोचता है—जो उद्धरण में प्रवर्तित धातुयें और जो उन्हें लेकर रूप होते हैं, वे सभी धर्म अतिहरण को बिना पाये हुए वहीं निरुद्ध हो जाते हैं, इसलिये अनित्य, दुःख, अनात्म हैं। वैसे ही अतिहरण में प्रवर्तित वीतिहरण, वीतिहरण में प्रवर्तित अवसर्जन, अवसर्जन में प्रवर्तित सन्निःक्षेपण, सन्निःक्षेपण में प्रवर्तित सन्निरुन्धन को बिना पाये हुए वहीं निरुद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार वहाँ-वहाँ उत्पन्न दूसरे-दूसरे भाग को बिना पाये हुए वहीं-वहीं पर्व-पर्व, सन्धि-सन्धि, अवधि-अवधि होकर तप्त कड़ाही में डाले गये तिल के समान चटचट करते हुए संस्कार नाश हो जाते हैं, इसलिये अनित्य, दुःख, अनात्म हैं। उसके इस प्रकार पर्व-पर्व में रहने वाले संस्कारों को देखते हुए रूप का सम्मसन सूक्ष्म हो जाता है।

इसके सूक्ष्म होने में यह उपमा है—एक सीमान्त प्रदेश का रहने वाला व्यक्ति लकड़ी और तृण की उल्का (=मशाल) का अभ्यासी था, किन्तु उसने दीपक कभी नहीं देखा था। वह नगर में आकर बाजार में जलते हुए दीपक को देख एक पुरुष से पूछा—"हे, ऐसा सुन्दर क्या है?" उसे उसने कहा—"इसमें क्या सुन्दरता है? यह दीपक है। तेल और बत्ती के खत्म हो जाने पर इसके जाने का मार्ग भी नहीं जान पड़ेगा।" उसे दूसरे ने ऐसा कहा—"यह स्थूल है, इस क्रमशः जलती हुई बत्ती के तीसरे-तीसरे भाग में की लौ दूसरे भाग को बिना पाये हुए ही निरुद्ध हो जायेगी।" उसे दूसरे ने ऐसा कहा—"यह भी स्थूल है, इसकी अंगुल-अंगुल पर, आधे अंगुल,

आधे अंगुल पर, सूत-सूत में, अंशु-अंशु में होने वाली लौ दूसरे अंशु को बिना पाये हुए ही निरुद्ध हो जायेगी। अंशु को छोड़ कर लौ नहीं की जा सकती है।"

वहाँ, "तेल और बत्ती के खत्म होने से दीपक के जाने का मार्ग भी नहीं जान पड़ेगा।" पुरुष के ज्ञान के समान योगी के आदान-निःक्षेपण से सौ वर्ष से परिच्छिन्न किए हुए रूप में त्रिलक्षण का आरोपण करना। "बत्ती के तीसरे-तीसरे भाग की लौ दूसरे भाग को विना पाये हुए ही निरुद्ध हो जायेगी।" पुरुष के ज्ञान के समान सौ वर्ष के तीन भाग करके वय-वृद्ध-अस्तगमन वाले रूप में त्रिलक्षण का आरोपण करना। "अंगुल-अंगुल पर लौ दूसरे को विना पाये हुए ही निरुद्ध हो जायेगी।" पुरुष के ज्ञान के समान योगी के दस वर्ष, पाँच वर्ष, चार वर्ष, तीन वर्ष, दो वर्ष, एक वर्ष के परिच्छेद किये हुए रूप में त्रिलक्षण का आरोपण करना। "आधे अंगुल-आधे अंगुल पर लौ दूसरे को बिना पाये हुए ही निरुद्ध हो जायेगी।" पुरुष के ज्ञान के समान योगी के एक-एक ऋतु के अनुसार एक वर्ष को तीन और छः भागों में बाँट कर चार मास, दो मास के परिच्छेद वाले रूप में त्रिलक्षण का आरोपण करना। सूत-सूत में रहने वाली लौ दूसरे को बिना पाये हुए ही निरुद्ध हो जायेगी।" पुरुष के ज्ञान के समान योगी के कृष्ण (-पक्ष), शुक्ल (-पक्ष) और रात्रि-दिन के अनुसार एक रात्रि-दिन को छः भागों में करके पूर्वाह्न आदि के अनुसार परिच्छेद किये हुए रूप में त्रिलक्षण का आरोपण। "अंशु-अंशु में रहने वाली लौ दूसरे को बिना पाये हुए ही निरुद्ध हो जायेगी।" पुरुष के ज्ञान के समान योगी के चलने और उद्धरण आदि के अनुसार एक-एक भाग के अनुसार परिच्छेद किये हुए रूप में त्रिलक्षण का आरोपण।

वह ऐसे नाना प्रकार से वय-वृद्ध-अस्तगमन वाले रूप में त्रिलक्षण का आरोपण करके पुनः उसी रूप का विभाग करके आहारमय आदि के अनुसार चार भाग करके एक-एक भाग में त्रिलक्षण का आरोपण करता है। उसका आहारमय रूप भूख और भोजन से तृप्त हुए के अनुसार प्रगट होता है। भूख के समय उत्पन्न हुआ रूप जले हुए स्थाणु के समान म्लान और क्लान्त होता है और कोयले की टोकरी (=खाँची) में छिपे हुए कौआ के समान कुरूप और भद्दा होता है। भोजन से तृप्त हुए समय में उत्पन्न हुआ रूप तृप्त, मोटा, मृदु, स्निग्ध और स्पर्शवान् होता है। वह उसका परिग्रह करके, भूख के समय प्रवर्तित रूप भोजन से तृप्त हुए समय को बिना पाये हुए, वहीं निरुद्ध हो जाता है और भोजन से तृप्त हुए समय में भी प्रवर्तित रूप भूख के समय को बिना पाये हुए वहीं निरुद्ध हो जाता है, इसलिए वह अनित्य, दुःख, अनात्म है। इस प्रकार उसमें त्रिलक्षण का आरोपण करता है।

ऋतुमय जाड़ा, गर्मी के अनुसार प्रगट होता है। गर्मी के समय में उत्पन्न हुआ रूप म्लान, क्लान्त और कुरूप होता है। जाड़े के ऋतु से उत्पन्न हुआ रूप तृप्त, मोटा, मृदु, स्निग्ध और स्पर्शवान् होता है। वह उसका परिग्रह करके, गर्मी के समय में प्रवर्तित हुआ रूप जाड़े के समय को विना पाये हुए, वहीं निरुद्ध हो जाता है, और जाड़े के समय में प्रवर्तित हुआ रूप गर्मी के समय को विना पाये हुए वहीं निरुद्ध हो जाता है, इसलिये वह अनित्य, दुःख, अनात्म है। इस प्रकार उसमें त्रिलक्षण का आरोपण करता है।

कर्मज आयतन और द्वार के अनुसार प्रगट होता है। चक्षु-द्वार में चक्षु, काय, भाव-दशक के अनुसार तीस कर्मज रूप होते हैं, और उनको सम्हालने वाले ऋतु, चित्त, आहार से उत्पन्न चौबीस—सब चौवन (रूप) होते हैं। वैसे श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा के द्वारों में। काय-द्वार में काय-भाव-दशक और ऋतु आदि से उत्पन्न होने के अनुसार चौवन ही। वह उस सभी रूप का

परिग्रह करके, चक्षु-द्वार में प्रवर्तित हुआ रूप श्रोत्र-द्वार को बिना पाये हुए वहीं निरुद्ध हो जाता है, श्रोत्र-द्वार में प्रवर्तित हुआ रूप घ्राण-द्वार, घ्राण-द्वार में प्रवर्तित हुआ रूप जिह्वा-द्वार, जिह्वा-द्वार में प्रवर्तित हुआ रूप काय-द्वार, काय-द्वार में प्रवर्तित हुआ रूप मनोद्वार को बिना पाये हुए वहीं निरुद्ध हो जाता है। इसलिए वह अनित्य, दुःख, अनात्म है। इस प्रकार उसमें त्रिलक्षण का आरोपण करता है।

चित्त से उत्पन्न (रूप) सौमनस्य और दौर्मनस्य होने के अनुसार प्रगट होता है। सौमनस्य होने के समय में उत्पन्न हुआ रूप स्निग्ध, मृदु, मोटा और स्पर्शवान् होता है, और दौर्मनस्य होने के समय में उत्पन्न हुआ रूप म्लान, क्लान्त और कुरूप होता है। वह उसका परिग्रह करके, सौमनस्य होने के समय में प्रवर्तित हुआ रूप दौर्मनस्य होने के समय को बिना पाये हुए वहीं निरुद्ध हो जाता है। और दौर्मनस्य होने के समय में प्रवर्तित हुआ रूप सौमनस्य होने के समय को बिना पाये हुए वहीं निरुद्ध हो जाता है। इसलिए वह भी अनित्य, दुःख, अनात्म है। इस प्रकार उसमें त्रिलक्षण का आरोपण करता है।

उसमें ऐसे चित्त से उत्पन्न रूप का परिग्रह करके त्रिलक्षण का आरोपण करते हुए यह बात प्रगट होती है—

जीवितं अत्तभावो च सुखदुक्खा च केवला।
एकचित्त समायुत्ता लहुसो वत्तते खणो॥

[जीवितेन्द्रिय, आत्म-भाव, सुख और दुःख—ये सारे एक-एक चित्त के ही साथ रहते हैं; ऐसा छोटा (जीवन) क्षण है।]

चुल्लासीति सहस्सानि कप्पं तिट्ठन्ति ये मरू।
न त्वेव तेपि तिट्ठन्ति द्वीहि चित्तेहि समोहिता॥

[जो देवता चौरासी हजार कल्पों तक (जीवित) रहते हैं, वे भी दो चित्तों से युक्त नहीं होते।]

ये निरुद्धा मरन्तस्स तिट्ठमानस्स वा इध।
सब्बेव सदिसा खन्धा गता अप्पटिसन्धिका॥

[मरते हुए या यहाँ रहने वाले व्यक्ति के जो स्कन्ध निरुद्ध हो गये, वे सभी एक समान पुनः प्रतिसन्धि वाले न हो कर चले गये।]

अनन्तरा च ये भग्गा ये च भग्गा अनागते।
तदन्तरा निरुद्धानं वेसमं नत्थि लक्खणे॥

[जो पूर्व के समानान्तर भग्न हुए और जो भविष्य में भग्न होंगे तथा जो दोनों के बीच (=वर्तमान काल में) भग्न हो रहे हैं, उनके लक्षण में कोई विभिन्नता नहीं है।]

अनिब्बत्तेन न जातो पच्चुप्पन्नेन जीवति।
चित्तभङ्गा मतो लोको पञ्ञत्ति परमत्थिया॥

[नहीं उत्पन्न हुए चित्त से अजात (=नहीं उत्पन्न हुआ) होता है, वर्तमान चित्त से जीवित होता है, चित्त के भङ्ग से लोक परमार्थतः मरा हुआ कहा जाता है।]

अनिधानगता भग्गा पुञ्जो नत्थि अनागते।
निब्बत्ता येपि तिट्ठन्ति आरग्गे सासपूपमा॥

[जो संस्कार निरुद्ध हो गये, वे किसी स्थान में निधान नहीं किये गये हैं। भविष्यत् में पुञ्ज (=राशि) भी नहीं होंगे, और जो भी उत्पन्न हैं वे सुई की नोंक पर सरसों के समान ठहरते हैं।]

निब्बत्तानञ्च धम्मानं भङ्गो नेसं पुरक्खतो।
पलोकधम्मा तिट्ठन्ति पुराणेहि अमिस्सिता॥

[उत्पन्न हुए धर्मों का विनाश उनके आगे-आगे रहता है, नाश होने के स्वभाव वाले धर्म पुराने[1]धर्मों से अमिश्रित होकर ठहरते हैं।]

अदस्सनतो आयन्ति भग्गागच्छन्तदस्सनं।
विज्जुप्पादो व आकासे उप्पज्जन्ति वयन्ति च॥[2]

[अदृश्य रूप में आते हैं और भग्न होकर पुनः अदृश्य हो जाते हैं। ये आकाश में बिजली के उत्पन्न होने के समान उत्पन्न होते और लय हो जाते हैं।]

ऐसे आहारमय आदि में त्रिलक्षण का आरोपण करके पुनः धर्मता-रूप में त्रिलक्षण का आरोपण करता है। धर्मता-रूप कहते हैं—बाह्य जीवितेन्द्रिय से बद्ध न रहने वाले लोहा, ताबाँ, राँगा, शीशा, सोना, चाँदी, मोती, मणि, नीलरत्न (=वैदूर्य), शङ्ख, शिला, मूँगा, रक्तमणि, मसारगल्ल (=चितकबरा मणि), भूमि, पत्थर, पर्वत, तृण, वृक्ष, लता आदि प्रकार के विवर्त्त कल्प से लेकर उत्पन्न होने वाले रूप को। वह उसे अशोक के अंकुर आदि के अनुसार प्रगट होता है।

अशोक के अंकुर का रूप प्रारम्भ से ही कुछ लाल होता है। तत्पश्चात् दो-तीन दिन के बीत जाने पर गाढ़ा लाल होता है। पुनः दो-तीन दिन के बीत जाने पर मन्द लाल होता है। तत्पश्चात् बड़े पल्लव के रंग का हो जाता है। उसके बाद परिणत-पल्लव के रंग का, और उसके पश्चात् हरे पत्ते के रंग का हो जाता है। तत्पश्चात् नीले पत्ते के रंग का, और उसके बाद नीले पत्ते के रंग का होने के समय से लेकर अनुरूप रूप-सन्तति को मिलाये हुए वर्ष भर में पीला होकर भेंटी से टूट कर गिर जाता है।

वह उसका परिग्रह करके, कुछ लाल रहने के समय में प्रवर्तित हुआ रूप गाढ़ा लाल होने के समय को बिना पाये हुए ही निरुद्ध हो जाता है। गाढ़ा लाल होने के समय में प्रवर्तित हुआ रूप मन्द लाल होने के समय, मन्द लाल होने के समय प्रवर्तित हुआ रूप बड़े पल्लव के रंग के समय, बड़े पल्लव के रंग के होने के समय प्रवर्तित हुआ रूप परिणत पल्लव के रंग के होने के समय, हरे पत्ते के रंग का होने के समय प्रवर्तित हुआ रूप नीले पत्ते के रंग का होने के समय, नीले पत्ते के रंग का होने के समय प्रवर्तित हुआ पीला पड़ने के समय, पीला पड़ने के समय प्रवर्तित भेंटी से टूट कर गिरने के समय को बिना पाये हुए ही निरुद्ध हो जाता है, इसलिये वह अनित्य, दुःख, अनात्म है। इस प्रकार त्रिलक्षण का आरोपण करता है। ऐसे उसमें त्रिलक्षण का आरोपण करके इसी प्रकार सभी धर्मता-रूप का सम्मसन करता है। ऐसे रूप-सप्तक के अनुसार त्रिलक्षण का आरोपण करके संस्कारों का सम्मसन करता है।

---

१. पूर्व के अतीत धर्मों से।
२. महानिद्देस ४२–४३।

अरूप-सप्तक के अनुसार सम्मसन

जो कि कहा गया है—'अरूप-सप्तक के अनुसार'। उसमें यह शीर्षक है—कलाप से, यमक से, क्षणिक से, परिपाटी से, दृष्टि-उद्घाटन से, मान-समुद्घाटन से, निकन्ति-परियादान से।

कलाप

कलाप से—स्पर्श-पञ्चम् धर्म। कैसे? कलाप से सम्मसन (=मनन) करता है? यहाँ भिक्षु इस प्रकार सोचता है, जो ये केश अनित्य, दुःख, अनात्म हैं—इस प्रकार सम्मसन करने में उत्पन्न स्पर्शपञ्चम धर्म हैं और जो लोम...मस्तिष्क अनित्य, दुःख, अनात्म हैं—इस प्रकार सम्मसन करने में उत्पन्न स्पर्श-पञ्चम् धर्म हैं, वे सभी दूसरे को बिना पाये हुए, पर्व-पर्व, अवधि-अवधि होकर, गर्म कड़ाही में डाले गये तिल के समान चटचटाते हुए नष्ट हो गये, इसलिये अनित्य, दुःख, अनात्म हैं। यह विशुद्धि-कथा[1] में आया हुआ ढंग है।

किन्तु आर्यवंश[2] की कथा में, पहले रूप-सप्तक में सातों स्थानों में रूप अनित्य, दुःख, अनात्म है—ऐसे प्रवर्तित हुआ चित्त दूसरे चित्त से अनित्य, दुःख, अनात्म है—इस प्रकार सम्मसन करते हुए कलाप से सम्मसन करता है—ऐसा कहा गया है। वह युक्त है। इसलिये शेषों का भी उसी प्रकार से विभाजन करेंगे।

यमक

यमक से—यहाँ भिक्षु आदान-निःक्षेप रूप अनित्य, दुःख, अनात्म है—ऐसे सम्मसन कर, उस चित्त को भी दूसरे से अनित्य, दुःख, अनात्म है—इस प्रकार सम्मसन करता है। वय-वृद्ध-अस्तगमन रूप···आहारमय, ऋतुमय, कर्मज, चित्त से उत्पन्न धर्मता रूप अनित्य, दुःख, अनात्म है—ऐसे सम्मसन कर, उस चित्त को भी दूसरे चित्त से अनित्य, दुःख, अनात्म है—इस प्रकार सम्मसन करता है। ऐसे यमक से सम्मसन करता है।

क्षणिक

क्षणिक से—यहाँ भिक्षु आदान-निःक्षेप रूप अनित्य, दुःख, अनात्म है—ऐसे सम्मसन करके, उस प्रथम चित्त को दूसरे चित्त से, दूसरे को तीसरे से, तीसरे को चौथे से, चौथे को पाँचवें से, यह भी अनित्य, दुःख अनात्म है—ऐसे सम्मसन करता है। वय-वृद्ध-अस्तगमन रूप, आहारमय, ऋतु-मय, कर्मज, चित्त से उत्पन्न, धर्मता-रूप अनित्य, दुःख, अनात्म है—ऐसे सम्मसन करके, उस प्रथम चित्त को दूसरे चित्त से, दूसरे को तीसरे से, तीसरे को चौथे से, चौथे को पाँचवें से, यह भी अनित्य, दुःख, अनात्म है—ऐसे सम्मसन करता है। इस प्रकार रूप के परिग्रह से लेकर चार चित्तों का सम्मसन करते हुए क्षणिक सम्मसन (=मनन) करता है।

परिपाटी

परिपाटी से—आदान-निःक्षेप रूप अनित्य, दुःख, अनात्म है—ऐसे सम्मसन करके, उस प्रथम चित्त को दूसरे चित्त से, दूसरे को तीसरे से, तीसरे को चौथे से···दसवें को ग्यारहवें से, यह भी अनित्य, दुःख, अनात्म है—ऐसे सम्मसन करता है। वय-वृद्ध-अस्तगमन रूप, आहारमय, ऋतु-

१. "रथविनीत सुत्त" की अट्ठकथा के वर्णन में आया हुआ ढंग है—ऐसा जानना चाहिये।
२. अंगुत्तर नि० ४, ३, ८।

मय, कर्मज, चित्त से उत्पन्न, धर्मता रूप अनित्य, दुःख, अनात्म है—ऐसे सम्मसन करके, उस प्रथम चित्त को दूसरे चित्त से, दूसरे को तीसरे से···दसवें को ग्यारहवें से, यह भी अनित्य, दुःख, अनात्म है—ऐसे विपश्यना की परिपाटी से सम्पूर्ण भी दिन सम्मसन करना उचित हो, किन्तु दसवें चित्त के सम्मसन तक रूप-कर्मस्थान, अरूप-कर्मस्थान—(दोनों) भी अभ्यस्त हो जाते हैं, इसलिये दसवें में ही रखना चाहिये—ऐसा कहा गया है। इस प्रकार सम्मसन करते हुए परिपाटी से सम्मसन करता है।

दृष्टि उद्घाटन आदि

दृष्टि उद्घाटन से, मान समुद्घाटन से, निकन्ति परियादान से—इन तीनों में अलग-अलग सम्मसन करने का ढंग नहीं है। जो कि पहले रूप और यहाँ अरूप का परिग्रह किया गया है, उसे देखते हुए रूप-अरूप से आगे सत्त्व को नहीं देखता है। सत्त्व के अदर्शन से लेकर सत्त्व होने की संज्ञा (=ख्याल) उद्घाटित (=उखाड़ दी गई) होती है। सत्त्व होने की संज्ञा को उद्घाटित हुए चित्त से संस्कारों का परिग्रह करते हुए दृष्टि नहीं उत्पन्न होती है। दृष्टि के नहीं उत्पन्न होने पर दृष्टि उद्घाटित होती है। दृष्टि का उद्घाटन किये हुए चित्त से संस्कारों का परिग्रह करते हुए मान नहीं उत्पन्न होता है। मान के नहीं उत्पन्न होने पर मान उद्घाटित होता है। मान का उद्घाटन किये हुए चित्त से संस्कारों का परिग्रह करते हुए तृष्णा नहीं उत्पन्न होती है। तृष्णा के नहीं उत्पन्न होने पर निकन्ति (=तृष्णा) नाश हो गई होती है। यह विशुद्धि-कथा में कहा गया है।

किन्तु आर्यवंश की कथा में—"दृष्टि उद्घाटन से, मान-उद्घाटन से, निकन्ति परियादान से "ऐसा शीर्षक करके यह ढंग दिखलाया गया है—"मैं विपश्यना करता हूँ, मेरी विपश्यना है—ऐसा मानते हुए दृष्टि का समुद्घाटन (=उखाड़ फेंकना) नहीं होता है। संस्कार ही संस्कारों की विपश्यना करते हैं, सम्मसन करते हैं, निरूपण करते हैं, परिग्रह करते हैं, परिच्छेद करते हैं—ऐसा मानते हुए दृष्टि का उद्घाटन होता है। भली प्रकार विपश्यना करता हूँ, सुन्दरता से विपश्यना करता हूँ—ऐसा मानते हुए मान का समुद्घाटन नहीं होता है। संस्कार ही संस्कारों की विपश्यना करते हैं, सम्मसन करते हैं, निरूपण करते हैं, परिग्रह करते हैं, परिच्छेद करते हैं,—ऐसा मानते हुए मान का समुद्घाटन होता है। विपश्यना कर सकता हूँ—ऐसे विपश्यना का आस्वादन की निकन्ति (=तृष्णा=चाह) का परियादान (=नाश) नहीं होता है। संस्कार ही संस्कारों की विपश्यना करते हैं, सम्मसन करते हैं, निरूपण करते हैं, परिग्रह करते हैं, परिच्छेद करते हैं—ऐसा मानते हुए की निकन्ति का परियादान (=नाश) होता है।

यदि संस्कार आत्मा हों, तो 'आत्मा' मानना पड़े, किन्तु अनात्मा को 'आत्मा' माना है, इसलिये वे वशवर्ती नहीं होने से अनात्मा हैं, होकर अभाव को प्राप्त होने से अनित्य हैं, उत्पत्ति, लय से पीड़ा देने के कारण दुःख हैं—ऐसे देखते हुए दृष्टि का समुद्घाटन होता है।

यदि संस्कार नित्य हों, तो 'नित्य' मानना पड़े, किन्तु अनित्य को 'नित्य' माना है, इसलिये वे होकर अभाव को प्राप्त होने से अनित्य हैं, उत्पत्ति और लय से पीड़ा देने के कारण दुःख हैं, वशवर्ती नहीं होने से अनात्मा हैं—ऐसे देखते हुए मान का समुद्घाटन होता है।

यदि संस्कार सुख हों, तो 'सुख' मानना पड़े, किन्तु दुःख को सुख माना है, इसलिये वे

उत्पत्ति और लय से पीड़ा देने के कारण दुःख हैं, होकर अभाव को प्राप्त होने से अनित्य हैं, वश-वर्ती नहीं होने से अनात्मा हैं—ऐसे देखते हुए निकन्ति का परियादान (=नाश) होता है।

इस प्रकार संस्कारों को अनात्म से देखने वाले की दृष्टि-समुद्घाटित होती है। अनित्य से देखने वाले का मान समुद्घाटित होता है। दुःख से देखने वाले की निकन्ति का परियादान (=नाश) होता है। ऐसे यह विपश्यना अपने-अपने स्थान में ही रहती हैं।"

इस प्रकार अरूप-सप्तक के अनुसार त्रिलक्षण का आरोपण करके संस्कारों का सम्मसन करता है। इतने से उसका रूप कर्मस्थान और अरूप-कर्मस्थान भी अभ्यस्त होता है।

अठारह महाविपश्यना

वह इस प्रकार अभ्यस्त कर्मस्थान वाला (योगी) जो आगे भङ्गानुपश्यना से लेकर प्रहाण-परिज्ञा के अनुसार सब प्रकार से पाने योग्य अठारह महाविपश्यना हैं, उनके एक भाग को यहीं प्राप्त करते हुए, उनके विरोधी धर्मों को त्यागता है।

अठारह महाविपश्यना कहते हैं अनित्यानुपश्यना आदि की प्रज्ञा को। जिनमें अनित्यानु-पश्यना की भावना करते हुए नित्य होने की संज्ञा (=ख्याल) को त्यागता है, दुःखानुपश्यना की भावना करते हुए सुख की संज्ञा को त्यागता है, अनात्मानुपश्यना की भावना करते हुए आत्मा होने की संज्ञा को त्यागता है, निर्वेदानुपश्यना की भावना करते हुए नन्दि (=काम-राग) को त्यागता है, विरागानुपश्यना की भावना करते हुए राग को त्यागता है, निरोधानुपश्यना की भावना करते हुए समुदय को त्यागता है; प्रतिनिःसर्गानुपश्यना की भावना करते हुए आदान (=ग्रहण करना) को त्यागता है; क्षयानुपश्यना की भावना करते हुए घन (=स्थूल) होने के ख्याल को त्यागता है, व्ययानुपश्यना की भावना करते हुए आयूहन (=संस्कारों का राशि-करण) को त्यागता है, विपरिणामानुपश्यना की भावना करते हुए ध्रुव होने की संज्ञा को त्यागता है। अनिमित्तानुपश्यना की भावना करते हुए निमित्त को त्यागता है, अप्रणिहितानुपश्यना की भावना करते हुए प्रणिधि को त्यागता है, शून्यतानुपश्यना की भावना करते हुए अभिनिवेश (= आग्रह) को त्यागता है, अधिप्रज्ञा-धर्म-विपश्यना की भावना करते हुए नित्य आदि सार को ग्रहण करने की दृष्टि के अभिनिवेश को त्यागता है, यथाभूत-ज्ञान-दर्शन की भावना करते हुए सम्मोह[1] के अभिनिवेश को त्यागता है, आदीनवानुपश्यना की भावना करते हुए आलय (=राग) के अभिनिवेश को त्यागता है, प्रतिसंख्यानुपश्यना की भावना करते हुए अप्रतिसंख्या (=अविद्या) को त्यागता है, विवर्त्तानुपश्यना की भावना करते हुए संयोग के अभिनिवेश को त्यागता है।"

चूँकि उनमें इस अनित्य आदि त्रिलक्षण के अनुसार संस्कार देखे गये हैं, इसलिए अनित्य, दुःख, अनात्म की अनुपश्यना प्राप्त हुई होती हैं। और चूँकि "जो अनित्यानुपश्यना है और जो अनिमित्तानुपश्यना है, ये धर्म एक अर्थ वाले हैं, व्यञ्जन ही भिन्न हैं।" वैसे ही "जो दुःखानु-पश्यना है और जो अप्रणिहितानुपश्यना है, ये धर्म एक अर्थ वाले हैं। व्यञ्जन ही भिन्न हैं।" "जो अनात्मानुपश्यना है और जो शून्यतानुपश्यना है, ये धर्म एक अर्थ वाले हैं, व्यञ्जन ही भिन्न हैं।" कहा गया है, इसलिए वे भी प्राप्त हुई होती हैं। किन्तु अधिप्रज्ञा-धर्म-विपश्यना सभी विपश्यना

१. मैं पहले था या नहीं ? ईश्वर आदि से बनाया गया—ऐसे संमोह के अभिनिवेश को त्यागता है—टीका।

है। यथाभूत-ज्ञान-दर्शन कांक्षावितरण विशुद्धि में ही संग्रहीत है। इस प्रकार ये भी दोनों प्राप्त हुई ही होती हैं। शेष विपश्यना-ज्ञानों में कोई प्राप्त और कोई अप्राप्त होता है। उनका वर्णन आगे करेंगे।

जो कि प्राप्त हुई होती हैं, उनके प्रति यह कहा गया है—"इस प्रकार अभ्यस्त कर्मस्थान वाला (योगी) जो आगे भङ्गानुपश्यना से लेकर प्रहाण-परिज्ञा के अनुसार सब प्रकार से पाने योग्य अठारह महाविपश्यना हैं, उनके एक भाग को यहीं प्राप्त करते हुए, उनके विरोधी धर्मों को त्यागता है[1]।"

उदय-व्यय की अनुपश्यना

वह ऐसे अनित्यानुपश्यना आदि के विरोधी नित्य-संज्ञा आदि के प्रहाण से विशुद्ध ज्ञान वाला (योगी) सम्मसन-ज्ञान के पार जाकर जो वह सम्मसन-ज्ञान के अनन्तर "वर्तमान् धर्मों के विपरिणामानुपश्यना में प्रज्ञा उदय-व्यय की अनुपश्यना में ज्ञान है।" इस प्रकार उदय-व्यय की अनुपश्यना कही गई है, उसकी प्राप्ति के लिये योग करता है, और योग करते हुए प्रथम संक्षेप से करता है।

उस सम्बन्ध में यह पालि (पाठ) है—"कैसे वर्तमान् धर्मों की विपरिणामानुपश्यना में प्रज्ञा उदय-व्यय की अनुपश्यना में ज्ञान है? उत्पन्न रूप वर्तमान् है, उसकी उत्पत्ति का लक्षण उदय है, विपरिणाम का लक्षण व्यय है, अनुपश्यना ज्ञान है। उत्पन्न वेदना···संज्ञा···संस्कार···विज्ञान···उत्पन्न चक्षु···उत्पन्न भव वर्तमान् है, उसकी उत्पत्ति का लक्षण उदय है, विपरिणाम का लक्षण व्यय है, अनुपश्यना ज्ञान है।"

वह इस पालि (पाठ) के अनुसार, उत्पन्न हुए नामरूप की उत्पत्ति के लक्षण जन्म (=जाति), उत्पाद, अभिनव आकार को 'उदय' और विपरिणाम के लक्षण क्षय, भङ्ग को 'व्यय' है—ऐसा देखता है।

वह इस प्रकार जानता है—इस नाम-रूप की उत्पत्ति से पहले नहीं उत्पन्न हुए का राशि या संचय नहीं है, उत्पन्न होने वाले भी राशि या संचय से नहीं आते हैं, निरुद्ध होने वाले भी दिशा-विदिशा में नहीं जाते हैं, निरुद्ध होने वाले भी एक स्थान में राशि, संचय निधान के तौर पर स्थिर नहीं होते हैं। किन्तु जैसे वीणा के बजाने पर उत्पन्न हुए शब्द का, उत्पत्ति से पूर्व सञ्चय नहीं होता है, न उत्पन्न होता हुआ वह संचय से आता है, न निरुद्ध होते हुए दिशा-विदिशा में जाता है, और न निरुद्ध होने पर कहीं संचित होकर रहता है, प्रत्युत वीणा, उपवीणा[2] और पुरुष के प्रयत्न से नहीं होकर भी उत्पन्न होता है और होकर नाश हो जाता है, ऐसे (ही) सभी रूप और अरूप धर्म नहीं होकर उत्पन्न होते हैं और होकर नाश हो जाते हैं।

प्रत्यय और क्षण से उदय-व्यय का दर्शन

ऐसे संक्षेप से उदय-व्यय का मनस्कार करके, पुनः जो इसी उदय-व्यय ज्ञान के विभङ्ग (=व्याख्या) में—"अविद्या के समुदय से रूप का समुदय होता है—प्रत्यय की उत्पत्ति के

---

१. देखिए, पृष्ठ २२६।

२. इसे ग्रामीण भाषा में "कुकुही" कहते हैं।

अर्थ में रूप-स्कन्ध के उदय को देखता है, तृष्णा के समुदय से···कर्म के समुदय से···आहार के समुदय से रूप का समुदय होता है = प्रत्यय की उत्पत्ति के अर्थ में रूप-स्कन्ध के उदय (=उत्पत्ति) को देखता है, उत्पत्ति के लक्षण को देखते हुए भी रूप स्कन्ध के उदय को देखता है। रूपस्कन्ध के उदय को देखते हुए इन पाँच लक्षणों को देखता है···अविद्या के निरोध से रूप का निरोध होता है = प्रत्यय के निरोध के अर्थ में रूप-स्कन्ध के व्यय (=लय) को देखता है। तृष्णा के निरोध से···कर्म के निरोध से···आहार के निरोध से रूप का निरोध होता है = प्रत्यय के निरोध होने के अर्थ में रूप-स्कन्ध के व्यय को देखता है, विपरिणाम के लक्षण को देखता हुआ भी रूप-स्कन्ध के व्यय को देखता है। रूप-स्कन्ध के व्यय को देखते हुए इन पाँच लक्षणों को देखता है।" वैसे (ही) "अविद्या के समुदय से वेदना का समुदय होता है = प्रत्यय के समुदय होने के अर्थ में वेदना-स्कन्ध के उदय को देखता है, तृष्णा के समुदय से···कर्म के समुदय से···स्पर्श के समुदय से वेदना का समुदय होता है=प्रत्यय के समुदय होने के अर्थ में वेदना-स्कन्ध के उदय को देखता है, उत्पत्ति के लक्षण को देखते हुए भी वेदना-स्कन्ध के उदय को देखता है। वेदना-स्कन्ध के उदय को देखते हुए इन पाँच लक्षणों को देखता है···अविद्या के निरोध से···तृष्णा के निरोध से···कर्म के निरोध से···स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध होता है=प्रत्यय के निरोध होने के अर्थ में वेदना-स्कन्ध के व्यय को देखता है। विपरिणाम होने के लक्षण को देखते हुए भी वेदना-स्कन्ध के व्यय को देखता है। वेदना-स्कन्ध के व्यय को देखते हुए इन पाँच लक्षणों को देखता है।" वेदना-स्कन्ध के समान संज्ञा, संस्कार और विज्ञान-स्कन्धों का भी। किन्तु विज्ञान-स्कन्ध के स्पर्श के स्थान में यह विशेषता है—"नाम-रूप के समुदय से···नाम-रूप के निरोध से···" ऐसे एक-एक स्कन्ध के उदय-व्यय दर्शन में दस-दस करके पचास लक्षण कहे गये हैं, उनके अनुसार—ऐसे भी रूप का उदय होता है, ऐसे भी रूप का व्यय होता है, ऐसे भी रूप उत्पन्न होता है, ऐसे भी रूप नाश हो जाता है,—इस प्रकार प्रत्यय और लक्षण से विस्तार पूर्वक मनस्कार करता है।

उस ऐसे मनस्कार करने वाले का 'ये धर्म नहीं होकर उत्पन्न होते हैं और होकर नाश हो जाते हैं' यह ज्ञान विशदतर होता है। उस ऐसे प्रत्यय और क्षण—दो प्रकार से उदय-व्यय को देखने वाले (योगी) को सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद, नय[1] और लक्षण[2] के भेद प्रगट होते हैं।

जो वह अविद्या आदि के समुदय से स्कन्धों के समुदय और अविद्या आदि के निरोध से स्कन्धों के निरोध को देखता है, यह उसका **प्रत्यय से** उदय-व्यय का दर्शन है। जो उत्पत्ति के लक्षण और विपरिणाम के लक्षण को देखते हुए स्कन्धों के उदय-व्यय को देखता है, यह उसका **क्षण से** उदय-व्यय का दर्शन है। क्योंकि उत्पत्ति-क्षण में ही उत्पत्ति का लक्षण है और भङ्ग-क्षण में विपरिणाम का लक्षण।

ऐसे प्रत्यय और क्षण से—दो प्रकार से उदय-व्यय को देखते हुए उसे प्रत्यय से उदय के दर्शन से जनक होने के अवबोध से समुदय-सत्य प्रगट होता है।। क्षण से उदय-व्यय के दर्शन से जन्म-दुःख के अवबोध से दुःख-सत्य प्रगट होता है। प्रत्यय से व्यय के दर्शन से प्रत्यय से उत्पन्न होने वाले प्रत्ययवान् धर्मों के नहीं उत्पन्न होने के अवबोध से निरोध-सत्य प्रगट होता है। क्षण से व्यय के दर्शन से मृत्यु-दुःख के अवबोध से दुःख-सत्य प्रगट होता है। जो उसका उदय-व्यय का दर्शन है, वह लौकिक मार्ग ही है—ऐसे उसमें संमोह के नहीं होने से मार्ग-सत्य प्रगट होता है।

---

१. एकत्व आदि के नय भेद।
२. अनित्य आदि लक्षण।

उसे प्रत्यय से उदय के दर्शन से "इसके होने पर यह होता है"[1] ऐसे अवबोध से अनुलोम प्रतीत्य समुत्पाद प्रगट होता है। प्रत्यय से व्यय के दर्शन से "इसके निरोध से यह निरुद्ध हो जाता है।" ऐसे अवबोध से प्रतिलोम-प्रतीत्य समुत्पाद प्रगट होता है। क्षण से उदय-व्यय के दर्शन से संस्कृत लक्षण के अवबोध से प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्म प्रगट होते हैं। क्योंकि संस्कृत और प्रतीत्य समुत्पन्न (दोनों) ही उदय-व्यय के स्वभाव वाले हैं।

प्रत्यय से उसे उदय के दर्शन से हेतु-फल के सम्बन्ध से सन्तति के उपच्छेद के न होने के अवबोध से एकत्व-नय प्रगट होता है। तब भली प्रकार उच्छेद-दृष्टि (=नास्तिक-दृष्टि) को त्याग देता है। क्षण से उदय के दर्शन से नये-नये के उत्पन्न होने के अवबोध से नानत्व-नय प्रगट होता है। तब भली प्रकार शाश्वत-दृष्टि को त्याग देता है। प्रत्यय से उदय-व्यय के दर्शन से धर्मों के वशवर्ती न होने के अवबोध से उसे अव्यापार-नय प्रगट होता है। तब भली प्रकार आत्म-दृष्टि (= आत्मवाद) को त्याग देता है। प्रत्यय से उदय के दर्शन से प्रत्यय के अनुरूप फलोत्पत्ति के अवबोध से एवं धर्मता-नय प्रगट होता है। तब भली प्रकार अक्रिय-दृष्टि को त्याग देता है।

प्रत्यय से उसके उदय के दर्शन से धर्मों के निरीह होने और प्रत्यय के सहारे रहने के स्वभाव के अवबोध से अनात्म-लक्षण प्रगट होता है। क्षण से उदय-व्यय के दर्शन से होकर नहीं होने और पूर्वान्तापरन्त के विवेक के अवबोध से अनित्य-लक्षण प्रगट होता है। उदय-व्यय से पीड़ित होने के अवबोध से दुःख-लक्षण भी प्रगट होता है। उदय-व्यय के परिच्छिन्न होने के अवबोध से स्वभाव-लक्षण भी प्रगट होता है। उदय के क्षण व्यय और व्यय के क्षण उदय के न होने के अवबोध से स्वभाव-लक्षण में संस्कृत लक्षण का क्षणिक होना भी प्रगट होता है।

उस ऐसे सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद, नय और लक्षण के भेद के प्रगट हुए (योगी) को, 'ऐसे ये धर्म पहले कभी भी नहीं उत्पन्न हुए उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए निरुद्ध हो जाते हैं, इस प्रकार नित्य नये ही होकर संस्कार जान पड़ते हैं। न केवल नित्य नये, सूर्योदय होने पर ओस की बूँद के समान, पानी के बुलबुला की भाँति, जल में डण्डा फेंकने पर बनी हुई पंक्ति के सदृश, सूई की नोंक पर सरसों के समान, और बिजली के चमकने की भाँति क्षणिक हैं, माया, (मृग-) मरीचिका, स्वप्न में देखी गई वस्तु, आग के गोले का चक्र, गन्धर्व नगर, फेन, केला (के खम्भा) आदि के समान सार रहित, निस्सार हैं—ऐसे भी जान पड़ते हैं। यहाँ तक उसे, 'व्यय धर्म ही उत्पन्न होता है, और उत्पन्न हुआ लय हो जाता है'—इस प्रकार से (एक-एक स्कन्ध में दस-दस करके) पचास लक्षणों को जानने वाला उदय-व्यय की अनुपश्यना नाम का प्रथम तरुण-विपश्यना-ज्ञान प्राप्त होता है, जिसके प्राप्त होने से "आरब्ध-विपश्यक" कहा जाता है।

विपश्यना के दस उपक्लेश

तब इस तरुण-विपश्यना से उस आरब्ध विपश्यक को दस विपश्यना के उपक्लेश उत्पन्न होते हैं। विपश्यना के उपक्लेश ज्ञान प्राप्त आर्य-श्रावक और (शील-विपत्ति आदि से) बुरे आचरण करने वाले कर्मस्थान को छोड़ आलसी व्यक्ति को नहीं उत्पन्न होते हैं, किन्तु भली प्रतिपत्ति पर चलने वाले, ज्ञान-भावना में लगे हुए, आरब्ध-विपश्यक कुलपुत्र को उत्पन्न होते ही हैं। वे दस

१. मज्झिम नि० २, १, २। संयुत्त नि० १२, १, १। उदान १, १।

उपक्लेश कौन से हैं ? (१) अवभास, (२) ज्ञान, (३) प्रीति, (४) प्रश्रब्धि, (५) सुख, (६) अधिमोक्ष, (७) प्रग्रह, (८) उपस्थान, (९) उपेक्षा और (१०) निकन्ति ।

यह कहा गया है—"कैसे धर्म के औद्धत्य से ग्रहण किया गया चित्त होता है ? अनित्य से मनस्कार करने वाले को अवभास उत्पन्न होता है, अवभास धर्म है। ऐसे अवभास का आवर्जन करता है, तत्पश्चात् विक्षेप औद्धत्य है, उस औद्धत्य से ग्रहण किये गये मन वाला अनित्य से उपस्थान (=स्मृति) को यथार्थ नहीं जानता है।" दुःख से···अनात्म से उपस्थान को यथार्थ नहीं जानता है।" वैसे (ही) "अनित्य से मनस्कार करते हुए ज्ञान उत्पन्न होता है···प्रीति···प्रश्रब्धि···सुख···अधिमोक्ष···प्रग्रह (= वीर्य = प्रयत्न)···उपस्थान (=स्मृति)···उपेक्षा···निकन्ति उत्पन्न होती है, 'निकन्ति धर्म है' ऐसे निकन्ति का आवर्जन करता है; तत्पश्चात् विक्षेप औद्धत्य है, इस औद्धत्य से ग्रहण किये गये मन वाला अनित्य से उपस्थान को यथार्थ नहीं जानता है, दुःख से···अनात्म से उपस्थान को यथार्थ नहीं जानता है।"

अवभास

अवभास कहते हैं विपश्यना के अवभास को। उसके उत्पन्न होने पर योगी, इससे पहले मुझे इस प्रकार का अवभास नहीं उत्पन्न हुआ था, निश्चय ही मैं मार्ग को पा लिया हूँ, फल को पा लिया हूँ, ऐसे अमार्ग को ही मार्ग और अ-फल को ही फल मानता है। उस अमार्ग को मार्ग और अ-फल को फल मानने वाले की विपश्यना की वीथी छूट जाती है। वह अपने मूल-कर्मस्थान को छोड़कर अवभास का ही आस्वादन करते हुए बैठता है।

वह अवभास किसी भिक्षु का पालथी मारे हुए स्थान मात्र को ही प्रकाशित करते हुए उत्पन्न होता है, किसी का कोठरी को, किसी का कोठरी के बाहरी भाग को भी, किसी का सम्पूर्ण विहार को, गव्यूति, आधा योजन, एक योजन, दो योजन, तीन योजन···किसी का पृथ्वी के तल से अकनिष्ट ब्रह्मलोक तक प्रकाश से परिपूर्ण करते हुए। किन्तु भगवान् का दस-हजार लोक-धातु को प्रकाशित करते हुए उत्पन्न हुआ।

इसकी विभिन्नता के सम्बन्ध में यह कथा है—चित्तल पर्वत[1] पर दो भीत वाले घर के भीतर दो स्थविर बैठे। उस दिन कृष्णपक्ष का उपोशथ था[2], दिशायें बादलों से घिरी हुई थीं, रात्रि में चार अंगों से युक्त[3] अन्धकार विद्यमान था। तब एक स्थविर ने कहा—"भन्ते, मुझे इस समय चैत्य के आँगन में सिंहासन पर पाँच रंग के फूल दिखाई देते हैं।" उन्हें दूसरे ने कहा—"आवुस, आश्चर्य की बात नहीं कह रहे हो। मुझे इस समय महासमुद्र में एक योजन की दूरी पर मछली, कछुये दिखाई दे रहे हैं।"

---

१. लंका का 'सित्-पवुल' नामक पर्वत।

२. अमावस्या का उपोशथ था—यह भावार्थ है।

३. (१) कृष्णपक्ष की चातुर्दशी, (२) घना जंगल, (३) बादलों की घटा और (४) अर्द्ध रात्रि—इन चारों अंगों से युक्त अन्धकार था। कहा है—

"चतुरंग तमं एवं कालपक्खचतुद्दसी।
वनसण्डो घनो, मेघपटलं चड्ढरत्तिति ॥" —अभिधान० ७१।

यह विपश्यना का उपक्लेश प्रायः शमथ और विपश्यना के प्राप्त (योगी) को उत्पन्न होता है। वह समापत्ति से दबे हुए क्लेशों के नहीं उत्पन्न होने से 'मैं अर्हत् हूँ' ऐसा चित्त उत्पन्न करता है। उच्चवालिक के रहने वाले महानाग स्थविर के समान, हङ्कन के रहने वाले महादत्त स्थविर के समान और चित्तल पर्वत में निकपेन्नक-प्रधान-घर के रहने वाले चुल्लसुमन स्थविर के समान।

उनमें से यहाँ एक कथा दी जाती है। तलङ्गर के रहने वाले धर्मदिन्न स्थविर महाभिक्षु-संघ को उपदेश देने वाले एक प्रतिसम्भिदा प्राप्त महाक्षीणाश्रव थे। वे एक दिन अपने दिन के रहने वाले स्थान में बैठ कर, क्या हमारे आचार्य उच्चवालिक के रहने वाले महानाग स्थविर का श्रमण होने का कार्य शिरे को प्राप्त कर लिया या 'नहीं ?' इस प्रकार आवर्जन करते हुए उनके पृथक्-जन होने की बात को देखकर, "मेरे नहीं जाने पर पृथक्-जन-मृत्यु को ही प्राप्त करेंगे" ऐसा जानकर ऋद्धि से आकाश में उड़कर दिन में विहार करने के स्थान में बैठे हुए स्थविर के समीप उतर वन्दना कर, व्रत को करके एक ओर बैठ गये। और "आवुस, धर्मदिन्न ! असमय में क्या आये हो ?" कहने पर "भन्ते, प्रश्न पूछने आया हूँ।" कहा। तत्पश्चात्--"आवुस, पूछो, जानते हुए कहेंगे।" कहने पर हजार प्रश्नों को पूछा।

स्थविर ने पूछे-पूछे हुये (प्रश्नों का) उत्तर बिना रुके हुए दिया। तत्पश्चात्—भन्ते, आपका ज्ञान अति तीक्ष्ण है, कब आपने इस धर्म को प्राप्त किया ?" कहने पर "आज से साठ वर्ष पूर्व आवुस !" कहा।

"भन्ते ! समाधि का उपभोग करते हैं ?"

"आवुस ! यह कठिन नहीं है।"

"अच्छा भन्ते ! एक हाथी बनाइये। स्थविर ने सम्पूर्ण सफेद रंग का हाथी बनाया।

"अब भन्ते, जैसे यह हाथी कान को निश्चल किये, पूँछ फैलाये, सूँड को मुख में डालकर भयानक शब्द करते हुये आपके सामने आता है, वैसा उसे बनाइये।"

स्थविर ने वैसा बना कर वेग से आते हुए हाथी के भयानक आकार को देख, उठकर भागने लगे। उन्हें क्षीणाश्रव स्थविर ने हाथ बढ़ाकर चीवर के कोने को पकड़ कर "भन्ते, क्षीणाश्रव को भय नहीं होता है।" कहा।

उन्होंने उस समय अपने पृथक्-जन होने की बात जानकर—"आवुस, धर्म्मदिन्न ! मेरी सहायता करो।" कह पैर के पास उकड़ूँ बैठ गये।

"भन्ते ! मैं आपकी सहायता करने के लिए ही आया हूँ, मत चिन्ता कीजिये।" कह कर कर्मस्थान कहा। स्थविर ने कर्मस्थान को ग्रहण कर चंक्रमण करने के स्थान में जाकर तीसरी बार पैर रखने के समय अग्र-फल अर्हत्व को पा लिया। स्थविर द्वेष-चरित वाले थे। इस प्रकार के भिक्षु अवभास में विचलित हो जाते हैं।

ज्ञान

ज्ञान कहते हैं विपश्यना-ज्ञान को। उसे रूप और अरूप धर्मों की तुलना करते हुए, विचार करते हुए, छूटे हुए इन्द्र के वज्र के समान नहीं रुकने के वेग वाला, तीक्ष्ण, तेजस्वी, अत्यन्त विशद ज्ञान उत्पन्न होता है।

प्रीति

प्रीति कहते हैं विपश्यना-प्रीति को। उसे उस समय क्षुद्रिका-प्रीति, क्षणिका-प्रीति, अवक्रान्तिका-प्रीति, उद्वेगा-प्रीति, स्फरण-प्रीति[1]—यह पाँच प्रकार की प्रीति सारे शरीर को पूर्ण करती हुई उत्पन्न होती है।

प्रश्रब्धि

प्रश्रब्धि कहते हैं विश्यना-प्रश्रब्धि को। उसे उस समय रात्रि या दिन के रहने वाले स्थान में बैठे हुए काय और चित्त की न पीड़ा होती है, न वे भारी होते हैं, न (उनमें) कर्कशता आती है, न अकर्मण्यता होती है, न वे ग्लान (=रोगी) होते हैं और न वक्र होते हैं। प्रत्युत उसके काय और चित्त प्रश्रब्ध (=शान्त), लघु (=हल्का), मृदु, कर्मण्य, सुविशद और ऋजु (=सीधा) ही होते हैं। यह इन प्रश्रब्धि आदि से अनुग्रहीत काय और चित्त वाला (भिक्षु) उस समय अमानुषी रति (=आनन्द) का अनुभव करता है, जिसके प्रति कहा गया है—

सुञ्ञागारं पविट्ठस्स सन्तचित्तस्स भिक्खुनो।
अमानुसी रती होति सम्मा धम्मं विपस्सतो॥

[शून्य-गृह में प्रविष्ट, शान्तचित्त भिक्षु को भली प्रकार धर्म का साक्षात्कार करते, अमानुषी रति (=आनन्द) होता है।]

यतो यतो सम्मसति खन्धानं उदयब्बयं।
लभति पीतिपामोज्जं अमतं तं विजानतं॥

[वह जैसे जैसे स्कन्धों की उत्पत्ति और विनाश पर विचार करता है, (वैसे ही वैसे) ज्ञानियों की प्रीति और प्रमोद (रूपी) अमृत को प्राप्त करता है।]

ऐसे उसके इस अमानुषी रति को सिद्ध करती हुई लघुता आदि से युक्त प्रश्रब्धि उत्पन्न होती है।

सुख

सुख कहते हैं विपश्यना-सुख को। उसे उस समय सारे शरीर में संचार करता हुआ अति उत्तम सुख उत्पन्न होता।

अधिमोक्ष

अधिमोक्ष कहते हैं श्रद्धा को। विपश्यना से युक्त ही उसके चित्त और चैतसिकों को प्रसन्न करने वाली बलवान् श्रद्धा उत्पन्न होती है।

प्रग्रह

प्रग्रह कहते हैं वीर्य को। विपश्यना से युक्त ही उसे न शिथिल और न अत्यन्त आरब्ध भली प्रकार ग्रहण किया हुआ वीर्य उत्पन्न होता है।

उपस्थान

उपस्थान कहते हैं स्मृति को। विपश्यना से युक्त ही उसे सुप्रतिष्ठित गाड़े हुए के समान

१. देखिये, चौथा परिच्छेद।

अचल, पर्वत-राज के समान स्मृति उत्पन्न होती है। वह जिस-जिस स्थान का आवर्जन करता है, अपना मन ले जाता है, मनस्कार करता है, विचार-पूर्वक देखता है, वह-वह स्थान प्रवेश कर, कूदकर, दिव्यचक्षु वाले के परलोक को देखने के समान उसकी स्मृति में जान पड़ते हैं।

उपेक्षा

उपेक्षा कहते हैं विपश्यना-उपेक्षा और आवर्जन-उपेक्षा को। उस समय उसे सब संस्कारों में मध्यस्थ हुई विपश्यना-उपेक्षा भी बलवान् (होकर) उत्पन्न होती है। मनोद्वार पर आवर्जन-उपेक्षा भी। वह उसके उस-उस स्थान का आवर्जन करते हुए छूटे इन्द्र के वज्र के समान और बर्तन में डाले हुए धधकते नाराच के समान तेजस्विनी, तीक्ष्ण होकर प्रवर्तित होती है।

निकन्ति

निकन्ति कहते हैं विपश्यना-निकन्ति को। ऐसे अवभास आदि से युक्त उसकी विपश्यना आलय करती हुई सूक्ष्म, शान्तकर निकन्ति उत्पन्न होती है, जिसे 'निकन्ति-क्लेश है' जाना भी नहीं जा सकता।

और जैसे अवभास में, ऐसे इनमें से किसी के उत्पन्न होने पर योगी, आज से पहले इस प्रकार का मुझे ज्ञान नहीं उत्पन्न हुआ था'''इस प्रकार की प्रीति'''प्रश्रब्धि, सुख, अधिमोक्ष, प्रग्रह, उपस्थान, उपेक्षा, निकन्ति पहले नहीं उत्पन्न हुई थी, निश्चय ही मैं मार्ग प्राप्त कर लिया हूँ, फल प्राप्त कर लिया हूँ—ऐसे अमार्ग को ही मार्ग, और अ-फल को ही फल मानता है। उसके अमार्ग को मार्ग और अ-फल को फल मानते हुए विपश्यना की वीथि छूट जाती है। वह अपने मूल कर्मस्थान को छोड़कर निकन्ति का ही आस्वादन करते हुए बैठता है।

यहाँ अवभास आदि उपक्लेश की वस्तु होने से उपक्लेश कहे गये हैं, अकुशल होने से नहीं। किन्तु निकन्ति उपक्लेश और उपक्लेश की वस्तु भी है। वस्तु के अनुसार ये दस हैं, किन्तु ग्राह के अनुसार तीस होते हैं।

कैसे? 'मेरा अवभास उत्पन्न हुआ है' ऐसा मानने से दृष्टिग्राह होता है। 'क्या ही सुन्दर अवभास उत्पन्न हुआ है' ऐसा मानने से मान-ग्राह होता है। अवभास का आस्वादन करते हुए तृष्णा-ग्राह होता है। इस प्रकार अवभास में दृष्टि, मान, तृष्णा के अनुसार तीन ग्राह होते हैं। वैसे (ही) शेषों में भी। ऐसे ग्राह के अनुसार तीस उपक्लेश होते हैं। उनके अनुसार अकुशल, अदक्ष योगी अवभास आदि में विचलित हो जाता है, विक्षिप्त हो जाता है, अवभास आदि में एक-एक को—"यह मेरा है, यह मुझमें है, यह मेरी आत्मा है" ऐसा देखता है। इसीलिये पुराने लोगों ने कहा है—

> ओभासे चेव ञाणे च पीतिया च विकम्पति।
> पस्सद्धिया सुखे चेव येहि चित्तं पवेधति॥
> अधिमोक्खे च पग्गाहे उपट्ठाने च कम्पति।
> उपेक्खावज्जनायञ्च उपेक्खाय निकन्तिया॥

[अवभास, ज्ञान, प्रीति, प्रश्रब्धि, सुख, अधिमोक्ष, प्रग्राह, उपस्थान, उपेक्षा-आवर्जन की उपेक्षा और निकन्ति—इनसे चित्त प्रकम्पित और विचलित हो जाता है।]

किन्तु, कुशल पण्डित, दक्ष, बुद्धिमान् योगी अवभास आदि के उत्पन्न होने पर 'यह अवभास मुझे उत्पन्न हुआ है, वह अनित्य, संस्कृत, प्रतीत्यसमुत्पन्न, क्षय, व्यय (= लय), विराग और

निरोध के स्वभाव वाला है'—इस प्रकार प्रज्ञा से अलग करता है, परीक्षा करता है अथवा उसे ऐसा होता है—यदि अवभास आत्मा हो, तो आत्मा मानना पड़े, किन्तु यह अनात्मा को आत्मा माना है, इसलिये वह वशवर्ती न होने से अनात्मा है, होकर नहीं होने से अनित्य है, उत्पत्ति और लय से पीड़ित करने से दुःख है—ऐसे अरूप-सप्तक में कहे गये प्रकार से सबका विस्तारपूर्वक (वर्णन) करना चाहिये। और अवभास में, वैसे (ही) शेषों में भी।

वह इस प्रकार विचार करके अवभास "मेरा नहीं है, मुझमें नहीं है, यह मेरी आत्मा नहीं है" देखता है······ज्ञान······निकन्ति, मेरा नहीं है, मुझमें नहीं है, यह मेरी आत्मा नहीं है" देखता है। ऐसा देखते हुए अवभास आदि में प्रकम्पित नहीं होता है, विचलित नहीं होता है। इसीलिए पुराने लोगों ने कहा है—

इमानि दस ठानानि पञ्ञा यस्स परिचिता।
धम्मुद्धच्चकुसलो होति न च विक्खेपं गच्छति॥

[इन दस बातों में जिसकी प्रज्ञा परिचित (= अभ्यस्त) है, वह धर्म के औद्धत्य में कुशल होता है, और विक्षेप को नहीं प्राप्त होता है।]

वह इस प्रकार विक्षेप को नहीं प्राप्त होते हुए उस तीस प्रकार की उपक्लेश की जटा को काटकर, अवभास आदि धर्म मार्ग नहीं है, किन्तु उपक्लेश से रहित वीथि में प्रतिपन्न विपश्यना-ज्ञान मार्ग है—ऐसे मार्ग और अमार्ग का निरूपण करता है।

उसके 'यह मार्ग है, यह मार्ग नहीं है'—इस प्रकार मार्ग और अमार्ग को जाने हुए ज्ञान को **मार्गामार्ग-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि** जानना चाहिये। यहाँ तक, वह तीन सत्यों का निरूपण कर चुका होता है।

कैसे ? दृष्टि-विशुद्धि में नाम-रूप के निरूपण से दुःखसत्य का निरूपण किया है, कांक्षा-वितरण-विशुद्धि में प्रत्ययों के परिग्रह से समुदयसत्य का निरूपण और इस मार्गामार्ग-ज्ञान-दर्शन-विशुद्धि में मार्ग को भली प्रकार जानने से मार्ग-सत्य का निरूपण किया है। ऐसे लौकिक ज्ञान से ही तीन सत्यों का निरूपण कर चुका होता है।

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धि मार्ग में प्रज्ञाभावना
के भाग में मार्गामार्ग-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि
नामक बीसवाँ परिच्छेद समाप्त।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

प्रतिपदा-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि-निर्देश

आठ ज्ञानों के अनुसार सिरे को प्राप्त हुई विपश्यना और नवाँ सत्य के अनुलोम जानेवाला ज्ञान—यह प्रतिपदा-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि है। आठ का यहाँ तात्पर्य, उपक्लेश से रहित, वीथि में लगे हुए विपश्यनावाले (१) उदय-व्यय की अनुपश्यना का ज्ञान, (२) भङ्गानुपश्यना का ज्ञान, (३) भयतोपस्थानज्ञान, (४) आदीनवानुपश्यना ज्ञान, (५) निर्वेदानुपश्यनाज्ञान, (६) मुञ्चितु-कम्यता ज्ञान, (७) प्रतिसंख्यानुपश्यना ज्ञान, और (८) संस्कारोपेक्षा ज्ञान—इन आठ ज्ञानों को जानना चाहिये। नवाँ सत्य के अनुलोम जानेवाला ज्ञान = इसके अनुलोम का नाम है। इसलिये उसे पूर्ण करने की इच्छावाले को उपक्लेश से रहित उदय-व्यय-ज्ञान को प्रारम्भ करके इन ज्ञानों में योग करना चाहिये।

पुनः उदय-व्यय-ज्ञान में योग करने की क्या आवश्यकता है? लक्षणों का भली प्रकार विचार करने के लिये। उदय-व्यय-ज्ञान पहले दस उपक्लेशों से उपक्लिष्ट होकर स्वभाव के अनुसार त्रिलक्षण का विचार नहीं कर सका, किन्तु उपक्लेश से रहित होकर (विचार कर) सकता है, इसलिये पुनः लक्षणों को भली प्रकार जानने के लिए ही योग करना चाहिये।

लक्षण किसको मनमें न करने और किससे ढँके हुए होने से नहीं दीख पड़ते हैं? अनित्य-लक्षण उदय-व्यय को मन में न करने और सन्तति से ढँका हुआ होने से नहीं दीख पड़ता है। दुःख-लक्षण सर्वदा पीड़ित होने को मन में न करने और ईर्यापथों से ढँका हुआ होने से नहीं दीख पड़ता है। अनात्म-लक्षण नाना धातुओं को अलग-अलग करके मन में न करने और घने से ढँका हुआ होने से नहीं दीख पड़ता है।

उदय-व्यय का परिग्रह करके सन्तति के कुपित होने से अनित्य-लक्षण स्वभाव से दीख पड़ता है। सर्वदा पीड़ित करने को मन में करके ईर्यापथ को देखने पर दुःख-लक्षण स्वभाव से दीख पड़ता है। नाना धातुओं को अलग-अलग करके, घन को विभक्त कर देने पर अनात्म-लक्षण स्वभाव से दीख पड़ता है।

यहाँ, (१) अनित्य, अनित्य-लक्षण (२) दुःख, दुःख-लक्षण और (३) अनात्म, अनात्म-लक्षण—इस विभाग को जानना चाहिये।

अनित्य—पञ्चस्कन्ध हैं। क्यों? उत्पत्ति, लय और अन्यथा होने से, अथवा होकर अभाव को प्राप्त हो जाने से। उत्पत्ति, लय और अन्यथा होना **अनित्य-लक्षण** है, या होकर अभाव कहा जाने वाला आकर-प्रकार

"जो अनित्य है, वह दुःख है" वचन से वही पाँचों स्कन्ध दुःख है। क्यों? सर्वदा पीड़ित करने से। सर्वदा पीड़ित करने का आकार **दुःख-लक्षण** है।

"जो दुःख है, वह अनात्मा है" वचन से वही पाँचों स्कन्ध **अनात्म** है। क्यों? अ-वश-वर्ती होने से। वशवर्ती न होने का आकार **अनात्म-लक्षण** है।

इन सभी को यह योगी उपक्लेश रहित, वीथि में लगे हुए विपश्यना वाले उदय-व्यय की अनुपश्यना के ज्ञान से स्वभाव से विचार करता है।

उसे इस प्रकार विचार करके बार-बार 'अनित्य, दुःख, अनात्म हैं'—ऐसे रूप और अरूप धर्मों का विचार करते हुए, सोचते हुए वह ज्ञान तीक्ष्ण होकर प्रवर्ति होता है, संस्कार लघु होकर दीख पड़ते हैं। ज्ञान के तीक्ष्ण होकर प्रवर्तित होने और संस्कारों के लघु होकर दीख पड़ने पर उत्पाद, स्थिति (=जरता), प्रवर्ति (=भव की प्रवर्ति), या निमित्त (=संस्कारों का निमित्त) को नहीं पाता है, क्षय और व्यय (=लय) के निरोध में ही स्मृति ठहरती है।

भङ्गानुपश्यना ज्ञान

उसे, "ऐसे उत्पन्न होकर, ऐसे संस्कार निरुद्ध हो जाता है" देखते हुए एक स्थान में **भङ्गानुपश्यना** नामक विपश्यना-ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसके प्रति कहा गया है—"कैसे आलम्बन को जानकर भङ्गानुपश्यना में प्रज्ञा विपश्यना में ज्ञान है ? रूप के आलम्बन से चित्त उत्पन्न होकर नाश हो जाता है, उस आलम्बन को जानकर उस चित्त के भङ्ग की अनुपश्यना करता है।···कैसे अनुपश्यना करता है ? अनित्य के तौर पर अनुपश्यना करता है, नित्य के तौर पर नहीं। दुःख के तौर पर अनुपश्यना करता है, सुख के तौर पर नहीं। अनात्मा के तौर पर अनुपश्यना करता है, आत्मा के तौर पर नहीं। निर्वेद को प्राप्त होता है, अभिनन्दन नहीं करता। विराग करता है, राग नहीं करता। निरुद्ध करता है, उत्पन्न नहीं करता। त्याग देता है, ग्रहण नहीं करता। अनित्य के तौर पर अनुपश्यना करते हुए नित्य होने की संज्ञा (=ख्याल) को छोड़ देता है। दुःख के तौर पर अनुपश्यना करते हुए सुख-संज्ञा को······अनात्मा के तौर पर अनुपश्यना करते हुए आत्मा होने की संज्ञा को······निर्वेद को प्राप्त होते हुए नन्दी (=तृष्णा) को······विराग करते हुए राग को······निरुद्ध करते हुए उत्पत्ति को······त्यागते हुए ग्रहण करने को छोड़ देता है। वेदना के आलम्बन से······संज्ञा के आलम्बन से······संस्कारों के आलम्बन से······विज्ञान के आलम्बन से······चक्षु के······जरा-मरण के आलम्बन से चित्त उत्पन्न होकर नाश हो जाता है।······त्यागते हुए ग्रहण करने को छोड़ देता है।

वत्थुसङ्कमना चेव पञ्ञाय च विवट्टना।
आवज्जनाबलञ्चेव पटिसङ्खा विपस्सना॥

[वस्तु का संक्रमण, प्रज्ञा से विवर्त्तन और आवर्जन की सामर्थ्य—प्रतिसंख्या भंगानुपश्यना है।]

आरम्मणअन्वयेन उभो एकववत्थाना।
निरोधे अधिमुत्तता वयलक्खणविपस्सना॥

[आलम्बन के अनुसार दोनों का एक प्रकार से निरूपण और निरोध में अधिमुक्त होना—यह व्यय-लक्षण की विपश्यना है।]

आरम्मणञ्च पटिसङ्खा भङ्गञ्च अनुपस्सति।
सुञ्ञतो च उपट्ठानं अधिपञ्ञा विपस्सना॥

[आलम्बन को जानकर भंग की अनुपश्यना करता है, तब शून्य के तौर पर जान पड़ता है—यह अधिप्रज्ञा-विपश्यना है।]

कुसलो तीसु अनुपस्सनासु चतस्सो च विपस्सनासु।
तयो उपट्ठाने कुसलता नानादिट्ठिसु न कम्पति॥

[(अनित्य आदि की) तीनों अनुपश्यनाओं, चार विपश्यनाओं, और तीन प्रकार से दीख पड़ने में कुशल भिक्षु नाना दृष्टियों में विचलित नहीं होता है।]

वह जानने के अर्थ में ज्ञान है, प्रजानन के अर्थ में प्रज्ञा है, इसलिए कहा जाता है कि आलम्बन को जानकर भंग की अनुपश्यना में प्रज्ञा विपश्यना में ज्ञान है।

वहाँ, **आलम्बन को जानकर**—जिस किसी आलम्बन को जानकर।······क्षय=व्यय के तौर पर देख कर—अर्थ है। **भङ्ग की अनुपश्यना में प्रज्ञा है**—उसके आलम्बन को क्षय = व्यय के तौर पर जानकर उत्पन्न हुए ज्ञान के भंग की अनुपश्यना करने में जो प्रज्ञा होती है, यह विपश्यना में ज्ञान—कहा गया है, वह कैसे होता है? यह प्रश्नोत्तर देने की इच्छा से किये गये प्रश्न का अर्थ है।

तत्पश्चात् जैसे वह होता है, उसे दिखलाने के लिये रूप के आलम्बन से आदि कहा गया है। वहाँ, **रूप के आलम्बन से चित्त उत्पन्न होकर नाश हो जाता है**—रूप के आलम्बन वाला चित्त उत्पन्न होकर नाश हो जाता है। अथवा रूपालम्बन होने पर चित्त उत्पन्न होकर नाश हो जाता है—अर्थ है। **उस आलम्बन को जानकर**—उस रूपालम्बन को जानकर।···क्षय= व्यय से देखकर—अर्थ है। **उस चित्त के भङ्ग की अनुपश्यना करता है**—जिस चित्त से उस रूपालम्बन को क्षय=व्यय के तौर पर देखा है, उस चित्त के बाद दूसरे चित्त से भंग की अनुपश्यना करता है—यह अर्थ है। इसीलिये पुराने लोगों ने कहा है—"जाने हुए की और ज्ञान की—दोनों की भी विपश्यना करता है।"

यहाँ, **अनुपश्यना करता है**—अनु-अनु देखता है। अनेक आकारों से बार-बार देखता है—यह अर्थ है। इसलिये कहा है—···**कैसे अनुपश्यना करता है? अनित्य के तौर पर अनुपश्यना करता है** आदि।

वहाँ, चूँकि भंग अनित्यता की अन्तिम कोटि (=छोर) है, इसलिये वह भंग की अनुपश्यना करने वाला योगी सब संस्कारों को **अनित्य के तौर पर अनुपश्यना करता है, नित्य के तौर पर नहीं**। तत्पश्चात् अनित्य के दुःख और दुःख के अनात्म होने से, उसी की **दुःख के तौर पर अनुपश्यना करता है, सुख के तौर पर नहीं। अनात्मा के तौर पर अनुपश्यना करता है, आत्मा के तौर पर नहीं।**

चूँकि जो अनित्य, दुःख, अनात्म है, उसका अभिनन्दन नहीं करना चाहिए। और जिसका अभिनन्दन नहीं करना चाहिये, उसमें राग भी नहीं करना चाहिये। इसलिये इसमें भङ्ग की अनुपश्यना के अनुसार, अनित्य, दुःख अनात्म हैं—ऐसा देखने पर संस्कारों में **निर्वेद को प्राप्त होता है, अभिनन्दन नहीं करता। विराग करता है, राग नहीं करता**। वह ऐसे राग नहीं करता हुआ, लौकिक ज्ञान से ही राग को **निरुद्ध करता है, उत्पन्न नहीं करता**। समुदय नहीं करता है—यह अर्थ है। अथवा वह ऐसा विरक्त, जैसे देखे गये संस्कारों को, वैसे (ही) नहीं देखे गये भी (संस्कारों) को उनके ज्ञान के अनुसार निरुद्ध करता है, उत्पन्न नहीं करता। निरोध के तौर पर ही मन में करता है। निरोध को ही देखता है, समुदय को नहीं—यह अर्थ है।

वह इस प्रकार प्रतिपन्न हुआ (योगी) **प्रतिनिःसर्ग (=त्याग) करता है, ग्रहण नहीं करता**। क्या कहा गया है? यह भी अनित्य आदि की अनुपश्यना तदाङ्ग के अनुसार स्कन्ध और

अभिसंस्कारों के साथ क्लेशों को त्यागने और संस्कृत होने के दोष को देखने से उसके विपरीत निर्वाण में झुका हुआ दौड़ने से—परित्याग-प्रतिनिःसर्ग और प्रस्कन्दन-प्रतिनिःसर्ग कहा जाता है। इसलिये उससे युक्त भिक्षु यथोक्त प्रकार से क्लेशों को त्यागता है और निर्वाण में दौड़ता है, न उत्पत्ति के अनुसार क्लेशों को ग्रहण करता है, और न अ-दोष को देखने के अनुसार संस्कृत के आलम्बन को। इसलिये कहा जाता है—त्यागता है, ग्रहण नहीं करता।

अब, उसके उन ज्ञानों से जिन धर्मों का प्रहाण होता है, उन्हें दिखलाने के लिये, **अनित्य के तौर पर अनुपश्यना करते हुए नित्य होने की संज्ञा को छोड़ देता है** आदि कहा गया है। वहाँ, **नन्दी**—प्रीति-युक्त तृष्णा है। शेष कहे गये प्रकार से ही।

गाथाओं में—**वत्थुसङ्कमना**—रूप के भंग को देखकर, फिर जिस चित्त से भंग देखा गया है, उसके भी भंग को देखने के अनुसार पहले की वस्तु से दूसरे वस्तु को संक्रमण करना। **पञ्ञाय च विवट्टना**—उदय को छोड़ कर व्यय में ठहरना। **आवज्जनाबलञ्चेव**—रूप के भंग को देखकर, फिर भंग के आलम्बन वाले चित्त के भंग को देखने के लिये उसके पश्चात् ही आवर्जन करने की सामर्थ्य। **पटिसङ्खा विपस्सना**—यह आलम्बन को जानने वाली भंगानुपश्यना है।

आरम्मणअन्वयेन उभो एकववत्थाना—प्रत्यक्ष देखे हुए आलम्बन के अन्वय से, अनगमन से, जैसे यह, वैसे भूतकाल में भी संस्कार नाश हुआ था, भविष्यत् में भी नाश होगा—ऐसे दोनों का एक स्वभाव से ही निरूपण करना—अर्थ है। पुराने लोगों ने यह कहा भी है—

> **संविज्जमानम्हि विसुद्धदस्सनो तदन्वयं नेति अतीतनागते।**
> **सब्बेपि सङ्खारगता पलोकिनो उस्सावबिन्दू सुरिये व उग्गते॥**

[वर्तमान् में विशुद्ध रूप से भंग को देखनेवाला (भिक्षु) उसीके अनुसार भूत और भविष्यत् में भी सभी संस्कारों को सूर्य्य के निकलने पर ओस की बूँद के समान नश्वर निरूपण करता है।]

निरोधे अधिमुत्तता—ऐसे दोनों को भंग के अनुसार एक होने का निरूपण करके, उसी भंग कहे जाने वाले निरोध में अधिमुक्त होना। उसका गौरव करना, उसकी ओर झुकना,······ अर्थ है। **वयलक्खणविपस्सना**—यह व्यय-लक्षण की विपश्यना है—ऐसा कहा गया है।

आरम्मणञ्च पटिसङ्खा—पहले के रूप आदि आलम्बन को जानकर। **भङ्गञ्च अनुपस्सति**—उस आलम्बन के भंग को देखकर, उसके आलम्बन वाले चित्त के भंग की अनुपश्यना करता है।

सुञ्ञतो च उपट्ठानं—उसी के भंग की अनुपश्यना करते हुए, संस्कार ही नाश होते हैं, उनका नाश होना मरण है, दूसरा कोई नहीं है—ऐसे शून्य के तौर पर जान पड़ता है। इसलिये पुराने लोगों ने कहा है—

> **खन्धा निरुज्झन्ति न चत्थि अञ्ञो,**
> **खन्धानं भेदो मरणन्ति वुच्चति।**
> **तेसं खयं पस्सति अप्पमत्तो,**
> **मणिं व विज्झं वजिरेन योनिसो॥**

[स्कन्ध निरुद्ध होते हैं, दूसरा कोई निरुद्ध होने वाला नहीं है, स्कन्धों का नाश होना ही 'मरण' कहा जाता है। उसके क्षय को अप्रमत्त (योगी) वज्र से मणि को छेदने के समान भली प्रकार से देखता है।]

अधिपञ्ञा विपस्सना—जो आलम्बनों को जानता है और जो भंगानुपश्यना है, तथा जो शून्य के तौर पर जान पड़ता है—यह अधिप्रज्ञाविपश्यना है—ऐसा कहा गया है।

कुसलो तीसु अनुपस्सनासु—अनित्य आदि की तीनों अनुपश्यनाओं में दक्ष भिक्षु। **चतस्सो च विपस्सनासु**—और निर्वेद आदि की चारों विपश्यनाओं में। **तयो उपट्ठाने कुसलता**—क्षय के तौर पर, व्यय के तौर पर, शून्य के तौर पर—इस तीन प्रकार के जान पड़ने में कुशलता। **नानादिट्ठिसु न कम्पति**—शाश्वत आदि नाना प्रकार की दृष्टियों में प्रकम्पित नहीं होता है।

वह ऐसे प्रकम्पित न होता हुआ, नहीं निरुद्ध हुआ ही निरुद्ध होता है, नहीं नाश हुआ ही नाश होता है—इस प्रकार मनस्कार करते हुए, कमजोर बर्तन के टूटने के समान, सूक्ष्म धूल के उड़ने के समान, और तिलों के समान चूर्ण होते हुए सब संस्कारों के उत्पाद, स्थिति के प्रवर्तित होने के निमित्त को त्याग कर नाश को ही देखता है। वह, जैसे कि आँख वाला पुरुष पुष्करिणी के किनारे या नदी के किनारे खड़ा हुआ, बड़ी-बड़ी बूँदों के बरसते हुए मेंह में पानी के ऊपर बड़े-बड़े पानी के बुलबुलों को उत्पन्न होकर—उत्पन्न होकर जल्दी-जल्दी नाश हो जाते हुए देखे, इसी प्रकार सारे संस्कार नाश हो जाते हैं—नाश हो जाते हैं—ऐसा देखता है। ऐसे ही योगी के प्रति भगवान् ने कहा है—

यथा बुब्बुलकं पस्से यथा पस्से मरीचिकं।
एवं लोकं अवेक्खन्तं मच्चुराजा न पस्सति॥[1]

[जो इस लोक को बुलबुले की तरह या मरीचि की तरह देखे, उसे यमराज नहीं देखता है।]

उसे ऐसे 'सारे संस्कार नाश हो जाते हैं-नाश हो जाते हैं'—प्रति क्षण देखते हुए आठ आनृशंसों वाला भंगानुपश्यना-ज्ञान बलप्राप्त हो जाता है। ये आठ आनृशंस हैं—(१) भव-दृष्टि का प्रहाण, (२) जीने की चाह का त्याग, (३) सर्वदा भावना में लगे रहना, (४) विशुद्ध आजीविका का होना, (५) नाना प्रकार के कार्यों में भिड़ने की उत्सुकता का त्याग, (६) भय से रहित होना, (७) सहन-शीलता की प्राप्ति, और (८) उदासी तथा आसक्ति पर विजय प्राप्त कर लेना। इसलिये पुराने लोगों ने कहा है—

इमानि अट्ठगुणमुत्तमानि दिस्वा तहिं सम्मसति पुनप्पुनं।
आदित्तचेलस्सिरसूपमो मुनि भङ्गानुपस्सी अमतस्स पत्तिया॥

[इन आठ उत्तम गुणों को देखकर शिर के वस्त्र के जलते हुए के समान भंग की अनुपश्यना करने वाला मुनि (=भिक्षु) अमृत (=निर्वाण) की प्राप्ति के लिये, उसी में बार-बार विचार करता है।]

भयतोपस्थान ज्ञान

उसे ऐसे सब संस्कारों के क्षय, व्यय, भेद (=नाश) और निरोध के आलम्बन वाले भंग की अनुपश्यना करते हुए, भावना करते हुए, अभ्यास करते हुए, सारे भव, योनि, गति, स्थिति, सत्त्वावास के संस्कार उसी प्रकार महाभयानक जान पड़ते हैं, जिस प्रकार कि डरपोक पुरुष को

१. धम्मपद १३, ४।

सिंह, बाघ, चीता, भालू, लकड़बग्घा, यक्ष, राक्षस, चण्डबैल, चण्ड कुत्ता, मदमस्त हाथी, भयानक आशीविष (=सर्प), अशनि-चक्र, श्मशान, युद्ध-भूमि, जले हुए अंगार आदि को देखकर। उसे 'भूतकाल के संस्कार निरुद्ध हो गये, वर्तमान् काल के निरुद्ध हो रहे हैं, भविष्यत् काल में उत्पन्न होने वाले संस्कार भी इसी प्रकार निरुद्ध हो जायेंगे'—ऐसे देखते हुए, इस स्थान में भयतोपस्थान-ज्ञान उत्पन्न होता है।

उस सम्बन्ध में यह उपमा है—एक स्त्री के तीन पुत्रों ने राजा का अपराध (=दोष) किया था। राजा ने उनके शिर काट लेने की आज्ञा दी। वह (स्त्री) पुत्रों के साथ वधस्थल पर गई। तब उसके जेठे पुत्र के शिर को काटकर मझले का काटना आरम्भ किये। वह जेठे के शिर को कटा हुआ और मझले का कटता हुआ देख छोटे के आलय को त्याग दी,—'यह भी इन्हीं के समान होगा।' उसके जेठे पुत्र के कटे हुए शिर को देखने के समान योगी का भूत-काल के संस्कारों के निरोध को देखना है, मझले के कटते हुए शिर को देखने के समान वर्तमान् काल के (संस्कारों के) निरोध को देखना है। 'यह भी इन्हीं के समान होगा'—ऐसा सोच कर छोटे के आलय को त्यागने के समान, भविष्यत् काल में भी उत्पन्न होने वाले संस्कार नाश हो जायेंगे—इस प्रकार भविष्यत् काल के (संस्कारों के) निरोध को देखना है। उसे ऐसे देखते हुए, इस स्थान में भयतोपस्थान-ज्ञान उत्पन्न होता है।

दूसरी भी उपमा है—एक **पूतिप्रजा-स्त्री**[1] दस पुत्रों को उत्पन्न की। उनमें नव मर गये, एक हाथ में आया हुआ मर रहा है, दूसरा पेट में है। वह नव पुत्रों को मरे हुए और दसवें को मरते हुए देखकर पेट में रहने वाले के आलय को त्याग दी—'यह भी इन्हीं के समान होगा।' वहाँ, उस स्त्री के नव पुत्रों के मरने के अनुस्मरण के समान योगी का भूत-काल के संस्कारों के निरोध को देखना है। हाथ में आये हुए को, मरते हुए देखने के समान योगी का वर्तमान्-काल के (संस्कारों के) निरोध को देखना है। पेट में रहने वाले के आलय को त्यागने के समान भविष्यत्-काल के (संस्कारों के) निरोध को देखना है। उसे ऐसे देखते हुए, इस क्षण में भयतोपस्थान-ज्ञान उत्पन्न होता है।

भयतोपस्थान-ज्ञान डरता है या नहीं डरता है? नहीं डरता है। क्योंकि वह 'भूत-काल के संस्कार निरुद्ध हो गये, वर्तमान् काल के निरुद्ध हो रहे हैं, भविष्यत् काल के निरुद्ध होंगे'—ऐसा विचार करना मात्र ही होता है। इसलिये जैसे कि आँख वाला पुरुष नगर के द्वार पर तीन अग्नि के गड्ढों को देखते हुए स्वयं नहीं डरता है, केवल उसे 'जो जो इसमें गिरेंगे, सब महा-दुःख पायेंगे'—ऐसा विचार मात्र ही होता है, अथवा जैसे आँख वाला पुरुष खैरा का शूल, लोहे का शूल, सोने का शूल—ऐसे परिपाटी से रखे हुए तीन शूलों को देखता हुआ स्वयं नहीं डरता है, केवल उसे 'जो जो इन शूलों पर गिरेंगे, सब दुःख प्राप्त करेंगे'—ऐसा विचार मात्र ही होता है। इसी प्रकार भयतोपस्थान स्वयं नहीं डरता है, केवल उसे, तीन अग्नि के गड्ढों और तीन शूलों के समान तीनों भवों में "भूत-काल के संस्कार निरुद्ध हो गये, वर्तमान् काल के निरुद्ध हो रहे हैं, भविष्यत् काल के निरुद्ध होंगे" ऐसा विचार मात्र ही होता है।

चूँकि उसे केवल सारे योनि, गति, स्थिति और निवास के संस्कार विनाश में पड़े हुए भय-युक्त होकर भय के तौर पर जान पड़ते हैं, इसलिये भयतोपस्थान कहा जाता है। ऐसे भय के तौर

---

१. जिस स्त्री की सभी सन्तानें उत्पन्न होकर ही मर जाती हैं, उसे 'पूतिप्रजा' स्त्री कहते हैं।

पर जान पड़ने के सम्बन्ध में यह पालि (पाठ) है—"अनित्य के तौर पर मनस्कार करते हुए क्या भय के तौर पर जान पड़ता है? दुःख······अनात्मा के तौर पर मनस्कार करते हुए क्या भय के तौर पर जान पड़ता है? अनित्य के तौर पर मनस्कार करते हुए निमित्त भय के तौर पर जान पड़ता है। दुःख के तौर पर मनस्कार करते हुए प्रवर्ति भय के तौर पर जान पड़ता है। अनात्मा के तौर पर मनस्कार करते हुए निमित्त और प्रवर्ति भय के तौर पर जान पड़ते हैं।"[1]

वहाँ, **निमित्त** का तात्पर्य है—संस्कार-निमित्त। भूत, भविष्यत्, वर्तमान् काल के संस्कारों का यह नाम है। अनित्य के तौर पर मनस्कार करते हुए संस्कारों के मरण को ही देखता है। उससे उसे निमित्त भय के तौर पर जान पड़ता है। **प्रवर्त्ति** का अर्थ है—रूप और अरूप के भवों की प्रवत्ति। दुःख के तौर पर मनस्कार करते हुए सुख माना जाने पर भी प्रवर्ति के प्रतिक्षण पीड़ित होने को ही देखता है। उससे उसे प्रवर्ति भय के तौर पर जान पड़ती है। किन्तु अनात्मा के तौर पर मनस्कार करते हुए इन दोनों को भी शून्य ग्राम के समान और (मृग-) मरीचिका, गन्धर्व-नगर आदि के समान रिक्त, तुच्छ, शून्य, स्वामी रहित, मार्ग-दर्शक रहित देखता है। उससे उसे निमित्त और प्रवर्ति दोनों भय के तौर पर जान पड़ते हैं।

आदीनव-ज्ञान

उसे उस भयतोपस्थान-ज्ञान की भावना करते हुए, अभ्यास करते हुए सारे भव, योनि, गति, स्थिति, सत्त्वावास में त्राण (= रक्षा), लेण (= रक्षा-स्थान), गति, और प्रतिशरण नहीं दिखाई देता है, सारे भव, योनि, गति, स्थिति, निवास के संस्कारों में एक संस्कार में भी प्रार्थना (=चाह) या परामर्श (= दृढ़-ग्राह) नहीं होता है, तीनों भव लपट रहित अग्नि से पूर्ण गड्ढे के समान, चारों महाभूत (= पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) भयानक विषवाले आशीविष (सर्प) के समान, पाँच स्कन्ध तलवार उठाये बधक के समान, छः भीतरी आयतन शून्य ग्राम के समान, छः बाहरी आयतन गाँव को लूटनेवाले डाकुओं के समान, सात विज्ञान की स्थितियाँ और नव सत्त्वावास ग्यारह अग्नियों से आदिप्त, धधक-धधक कर जलते और प्रकाशमान् होने के समान, तथा सारे संस्कार फोड़ा, रोग, शल्य (= काँटा), दुःख, आबाधा होने के समान आस्वाद रहित, नीरस, महादोषों की राशि होकर जान पड़ते हैं।

कैसे? सुखपूर्वक जीने की इच्छावाले डरपोंक पुरुष के लिए रमणीय आकार से रहनेवाले भी हिंसक जन्तुओं से युक्त जंगल के समान, सिंह युक्त गुफा के समान, राक्षस रहनेवाले जल के समान, तलवार उठाये रिपु के समान, विष युक्त भोजन के समान, चोरों से युक्त मार्ग के समान, जलते हुए घर के समान और चढ़ाई की हुई सेना के युद्ध-भूमि के समान होता है। जैसे कि वह पुरुष इन हिंसक जन्तुओं से युक्त जंगल आदि को पाकर डरा हुआ, संविग्न हो, लोमहर्षण को प्राप्त हो चारों ओर खतरा ही देखता है, इसी प्रकार यह योगी भङ्ग की अनुपश्यना के अनुसार सब संस्कारों के भय के तौर पर जान पड़ने पर चारों ओर नीरस, आस्वाद रहित दोषों को ही देखता है।

उसे ऐसे देखते हुए **आदीनव-ज्ञान** उत्पन्न होता है। जिसके प्रति यह कहा गया है—"कैसे भयतोपस्थान में प्रज्ञा आदीनव में ज्ञान है? उत्पाद भय है—यह भयतोपस्थान में प्रज्ञा आदीनव में ज्ञान है। प्रवर्ति भय है·········निमित्त भय है···आयूहन (= राशिकरण) भय है

१. पटिसम्भिदा पालि।

······प्रतिसन्धि भय है·····गति भय है···निब्बत्ति (=पैदा होना) भय है······उत्पत्ति भय है ······जन्म भय है······जरा भय है······व्याधि भय है···मरण भय है······शोक भय है······ परिदेव भय है······उपायास भय है—यह भयतोपस्थान में प्रज्ञा आदीनव में ज्ञान है। अनु-उत्पाद क्षेम (= कल्याणकर) है—यह शान्ति-पद में ज्ञान है, अ-प्रवर्ति······अनु-उपायास क्षेम है—यह शान्तिपद में ज्ञान है। उत्पाद भय और अनुत्पाद क्षेम है—यह शान्तिपद में ज्ञान है, प्रवर्ति······उपायास भय और अनु-उपायास क्षेम है—यह शान्ति-पद में ज्ञान है। उत्पाद दुःख है—यह भयतोपस्थान में प्रज्ञा आदीनव में ज्ञान है, प्रवर्ति······उपायास दुःख है—यह भयतोपस्थान में प्रज्ञा आदीनव में ज्ञान है। अनुत्पाद सुख है—यह शान्ति-पद में ज्ञान है···अ-प्रवर्ति ···अनु-उपायास सुख है—यह शान्तिपद में ज्ञान है। उत्पाद दुःख और अनुत्पाद सुख है—यह शान्ति-पद में ज्ञान है, प्रवर्ति···उपायास दुःख है और अनु-उपायास सुख है—यह शान्ति-पद में ज्ञान है। उत्पाद सामिष है—यह भयतोपस्थान में प्रज्ञा आदीनव में ज्ञान है।······प्रवर्ति······ उपायास सामिष है—यह भयतोपस्थान में प्रज्ञा आदीनव में ज्ञान है। अनुत्पाद निरामिष है—यह शान्ति-पद में ज्ञान है, अ-प्रवर्ति······अनु-उपायास निरामिष है—यह शान्तिपद में ज्ञान है। उत्पाद सामिष है और अनुत्पाद निरामिष है—यह शान्ति-पद में ज्ञान है। प्रवर्ति······उपायास सामिष और अनुपायास निरामिष है—यह शान्तिपद में ज्ञान है। उत्पाद संस्कार हैं—यह भयतोपस्थान में प्रज्ञा आदीनव में ज्ञान है। प्रवर्ति······उपायास संस्कार हैं—यह भयतोपस्थान में प्रज्ञा आदीनव में ज्ञान है। अनुत्पाद निर्वाण है—यह शान्तिपद में ज्ञान है। अ-प्रवर्ति······अनु-उपायास निर्वाण है—यह शान्तिपद में ज्ञान है। उत्पाद संस्कार और अनुत्पाद निर्वाण है—यह शान्तिपद में ज्ञान है। प्रवर्ति······उपायास संस्कार और अनु-उपायास निर्वाण है—यह शान्ति-पद में ज्ञान है।

उप्पादञ्च पवत्तञ्च निमित्तं दुक्खन्ति पस्सति।
आयूहनं पटिसन्धि ञाणं आदीनवे इदं॥

[उत्पाद, प्रवर्ति, निमित्त, दुःख, आयूहन, प्रतिसन्धि—दुःख हैं; इस प्रकार देखता है—यह आदीनव में ज्ञान है।]

अनुप्पादं अप्पवत्तं अनिमित्तं सुखन्ति च।
अनायूहनं अप्पटिसन्धि ञाणं सन्तिपदे इदं॥

[अनुत्पाद, अ-प्रवर्ति, अ-निमित्त, सुख, अनु-आयूहन, अप्रतिसन्धि सुख हैं—यह शान्ति-पद में ज्ञान है।]

आदीनवे ञाणं पञ्च ठानेसु जायति।
पञ्च ठाने सन्तिपदे दसञाणे पजानाति।
द्विन्नं ञाणानं कुसलता नानादिट्ठिसु न कम्पति॥

[आदीनव में ज्ञान पाँच स्थानों में उत्पन्न होता है और शान्तिपद में (ज्ञान) पाँच स्थानों में। ऐसे दस ज्ञानों को जानता है। दोनों ज्ञानों की कुशलता से नाना प्रकार की दृष्टियों में प्रकम्पित नहीं होता है।]

वह ज्ञात होने के अर्थ में ज्ञान है, प्रजानन के अर्थ में प्रज्ञा है, इसलिए कहा जाता है कि भयतोपस्थान में प्रज्ञा आदीनव में ज्ञान है।"[1]

---

१. पटिसम्भिदामग्ग।

वहाँ, **उत्पाद**—पूर्व कर्म के प्रत्यय से यहाँ उत्पन्न होना। **प्रवर्ति**—उस प्रकार से उत्पन्न हुए का प्रवर्तित होना। **निमित्त**—सभी संस्कार-निमित्त। **आयूहन**—भविष्य की प्रतिसन्धि का हेतु हुआ कर्म। **प्रतिसन्धि**—भविष्य की उत्पत्ति। **गति**—जिस गति से वह प्रतिसन्धि होती है। **निब्बत्ति**—स्कन्धों का उत्पन्न होना। **उत्पत्ति**—"समापन्न हुए या उत्पन्न हुए की[1]" ऐसे कही गयी विपाक की प्रवर्ति। **जन्म** (= जाति)—जरा आदि का कारण हुआ जन्म। जरा, व्याधि, मरण आदि प्रगट ही हैं।

यहाँ उत्पाद आदि पाँच ही आदीनव-ज्ञान की वस्तु के अनुसार कहे गये हैं, शेष उनके पर्यायवाची होने के अनुसार। निब्बत्ति और जन्म—ये दो उत्पाद और प्रतिसन्धि के पर्यायवाची हैं। गति और उत्पत्ति—ये दो प्रवर्ति और जरा आदि निमित्त के। इसलिये कहा है—

उप्पादञ्च पवत्तञ्च निमित्तं दुक्खन्ति पस्सति।
आयूहनं पटिसन्धि ञाणं आदीनवे इदं[2]॥
और
"आदीनवे ञाणं पञ्च ठानेसु जायति[2]।"

'अनुत्पाद क्षेम है—यह शान्तिपद में ज्ञान है' आदि आदीनव ज्ञान के विरोधी ज्ञान को दिखलाने के लिये कहा गया है। या भयतोपस्थान से आदीनव (= दोष) को देखकर उद्विग्न हृदयवाले को अभय, क्षेम, निरादीनव (= दोष-रहित) भी है—ऐसे आश्वासन देने के लिए भी यह कहा गया है। अथवा चूँकि इसके उत्पाद आदि भय के तौर पर जान पड़ते हैं, उसका चित्त उनके विपरीत झुका होता है, इसलिये भयतोपस्थान के अनुसार सिद्ध हुए आदीनव ज्ञान के आनृशंस को दिखलाने के लिए भी यह कहा गया है—ऐसा जानना चाहिये।

यहाँ जो भय है, वह चूँकि नियमतः दुःख है और जो दुःख है, वह वर्त्त-आमिष (= भव-राग), लोक-आमिष (= वस्तु-काम-राग), और क्लेश-आमिष (= छन्द-राग) से मुक्त नहीं होने से सामिष है। और जो सामिष है, वह संस्कार मात्र ही है। इसलिये **'उत्पत्ति दुःख है—यह भयतोपस्थान में प्रज्ञा आदीनव में ज्ञान है'** आदि कहा गया है। ऐसा होने पर भी भय, दुःख और सामिष के आकार से—ऐसे विभिन्न आकारों से प्रवर्ति के अनुसार यहाँ विभिन्नता जाननी चाहिये।

दस ज्ञानों को जानता है—आदीनव ज्ञानको जानते हुए, उत्पाद आदि वस्तुवाले पाँच और अनुत्पाद आदि वस्तु वाले पाँच—(इन) दस ज्ञानों को जानता है, प्रतिवेध करता है, साक्षात्कार करता है।

दोनों ज्ञानों की कुशलता से—आदीनव ज्ञान और शान्तिपद-ज्ञान—इन दोनों (ज्ञानों) की कुशलता से। **नाना प्रकार की दृष्टियों में प्रकम्पित नहीं होता है**—परम दृष्ट-धर्म-निर्वाण[3] आदि के अनुसार होनेवाली दृष्टियों में प्रकम्पित नहीं होता है। यहाँ शेष सरल ही है।

---

१. धम्मसंगणी।

२. दे० पृष्ठ २४२।

३. "भिक्षुओ, कितने श्रमण और ब्राह्मण पाँच कारणों से दृष्टधर्म-निर्वाणवादी (=इसी संसार में देखते-देखते निर्वाण हो जाता है, ऐसा माननेवाले) हैं।" आदि। इस प्रकार कही गयी दृष्टि। देखिये, दीघनि० १, १।

निर्वेदानुपश्यना-ज्ञान

वह ऐसे सब संस्कारों को आदीनव के तौर पर देखते हुए सारे भव, योनि, गति, विज्ञान की स्थिति, सत्त्वावास के संस्कारों में निर्वेद को प्राप्त होता है, उदास होता है, उसमें अभिरमण नहीं करता है। जैसे कि **चित्रकूट पर्वत**[1] के निचले भाग में अभिरमण करनेवाला सुवर्ण राजहंस चण्डाल-ग्राम के द्वार के गन्दे गड्ढे में नहीं अभिरमण करता है, (वह) **सात**[2] **महासरों** में ही अभिरमण करता है, ऐसे ही यह भी योगी रूपी राजहंस भली प्रकार आदीनव देखे गये संस्कारों में नहीं अभिरमण करता है, किन्तु भावना की रति से युक्त होने से भावना के रमण करनेवाली सात अनुपश्यनाओं में ही रमण करता है। जैसे सोने के पिंजड़े में डाला हुआ पशुओं का राजा सिंह अभिरमण नहीं करता है, (वह) तीन हजार योजन विस्तृत **हिमालय** में ही रमण करता है, ऐसे ही योगी रूपी सिंह तीन प्रकार के सुगति-भव में नहीं अभिरमण करता है, किन्तु तीन अनुपश्यनाओं में ही रमण करता है। और जैसे कि एकदम सफेद सात प्रकार से प्रतिष्ठित ऋद्धिमान्, आकाश (-मार्ग) से जानेवाला हाथियों का राजा **छद्दन्त** नगर के बीच नहीं अभिरमण करता है, हिमालय के छद्दन्द-ह्रद के जंगल में ही अभिरमण करता है, ऐसे ही यह योगी रूपी श्रेष्ठ हाथी सभी संस्कारों में नहीं अभिरमण करता है, "अनुत्पाद क्षेम है" आदि प्रकार से देखे हुए शान्तिपद में ही अभिरमण करता है, उसकी ओर झुके हुए मन वाला होता है।

मुञ्चितुकम्यता-ज्ञान

यह पूर्व के दो ज्ञानों के अर्थ से एक ही है। इसीलिए पुराने लोगों ने कहा है—"भयतोपस्थान, एक ही तीन नामों को प्राप्त होता है। सब संस्कारों को भय के तौर पर देखने से भयतोपस्थान नाम हुआ है। उन्हीं संस्कारों के आदीनव को उत्पन्न करने से आदीनवानुपश्यना नाम हुआ है। उन्हीं संस्कारों में निर्वेद को उत्पन्न करने से निर्वेदानुपश्यना नाम हुआ है।" पालि में भी कहा गया है—"जो भयतोपस्थान में प्रज्ञा है, जो आदीनव में ज्ञान है और जो निर्वेद है—ये धर्म एक अर्थवाले हैं, व्यञ्जनमात्र भिन्न हैं[3]।"

इस निर्वेद-ज्ञान से इस कुलपुत्र के निर्वेद, उदासी और अनभिरत होते हुए सारे भव, योनि, गति, विज्ञान की स्थिति, सत्त्वावास के संस्कारों में एक भी संस्कार में चित्त नहीं लगता

---

१. अनवतप्त (= मानसरोवर) ह्रद को घेरकर स्थित दो सौ योजन ऊँचे······गन्धमादन, काल, कैलाश, सुदर्शन, चित्रकूट—इन हिमालय की पाँच चोटियों में से पश्चिम दिशा की चोटी चित्रकूट-पर्वत कही जाती है—टीका।

२. सात महासर विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार से वर्णित हैं, यथा—"कर्णमुण्डक, रथकार, अनवतप्त, सिंह-प्रपात, छद्दन्त, मन्दाकिनी, कुणाल ह्रद" [दीघनि० अट्ठ०], "कर्णमुण्डक, रथकार, अनवतप्त, सिंह प्रपात, छद्दन्त, मुचिलिन्द, कुणाल ह्रद" [मज्झिमनि० अट्ठ०], "कर्णमुण्डक, रथकार, अनवतप्त, सिंह प्रपात, मन्दाकिनी, मुचलिन्द, कुणाल-ह्रद" [संयुत्त नि० अट्ठ०], "कण्डमुण्डक, रथकार, सिंह-प्रपात, छद्दन्त, तियर्गल (= तियग्गल), अनवतप्त, कुणाल ह्रद" [जातकट्ठकथा] और "अनवतप्त, कर्णमुण्ड, रथकार, छद्दन्त, कुणाल, मन्दाकिनी, सिंह-प्रपात" [अभिधानप्पदीपिका]।

३. पटिसम्भिदामग्ग।

है, नहीं चिमटता है, नहीं बँधता है, सारे संस्कारों से छुटकारा पाने और निकलने की इच्छा वाला होता है।

किस प्रकार ? जैसे जाल के बीच गयी-हुई मछली, साँप के मुख में गया हुआ मेंढक, पिंजड़े में डाला गया जंगली मुर्गा, दृढ़ पाश में गया हुआ मृग, सँपेरे के हाथ में गया हुआ साँप, महादलदल में फँसा हुआ हाथी, गरुड़ के मुख में पड़ा हुआ सर्पराज, राहु के मुख में प्रवेश किया हुआ चन्द्रमा, दुश्मनों से घिरा हुआ आदमी—आदि; इस प्रकार के (सभी) उन-उन से छुटकारा पाना और निकलना ही चाहते हैं, ऐसे उस योगी का चित्त सारे संस्कारों से छुटकारा पाने और निकलने की इच्छावाला होता है। तब, ऐसे सब संस्कारों के आलय से रहित, सारे संस्कारों से छुटकारा पाने की इच्छावाले उस (योगी) को **मुञ्चितुकम्यता-ज्ञान** उत्पन्न होता है।

प्रतिसंख्या-ज्ञान

वह ऐसे सारे भव, योनि, गति, स्थिति, निवास के संस्कारों से छुटकारा पाने की इच्छा-वाला सारे संस्कारों से छुटकारा पाने के लिए पुनः उन्हीं संस्कारों को प्रतिसंख्यानुपश्यना-ज्ञान से त्रिलक्षण का आरोपण करके परिग्रह करता है।

वह सारे संस्कारों को अत्यन्त अनित्य (=अ-ध्रुव=अशाश्वत), क्षणिक, उत्पाद और व्यय के परिच्छेद, नाशवान् , चंचल, प्रभंगुर, अध्रुव, विपरिणाम स्वभाव, सार-रहित, विभव (=विनाश), संस्कृत, मरण-स्वभाववाले होने आदि के कारणों से अनित्य हैं—ऐसे देखता है। सर्वदा पीड़ित करने, असह्य होने, दुःख की वस्तु होने, रोग, फोड़ा, शल्य (=काँटा), पाप, आबाधा, विपत्ति, उपद्रव, भय, उपसर्ग (=झंझट), अ-त्राण, अ-लेण (=अ-रक्षा-स्थान), अशरण, आदीनव, पाप की जड़, बधक, सास्रव, मार का आमिष, जन्म के स्वभाववाला, बूढ़ा होने के स्वभाव वाला, व्याधि, शोक, परिदेव, उपायास, संक्लेश होने के स्वभाववाला होने आदि के कारणों से दुःख हैं—ऐसा देखता है। असुन्दर, दुर्गन्ध, जिगुप्सित, प्रतिकूल, सँवारने के अयोग्य, कुरूप, बीभत्स होने आदि के कारणों से दुःख-लक्षण के परिवार हुए अशुभ के तौर पर देखता है। परवश, रिक्त, तुच्छ, शून्य, स्वामी रहित, अनात्मा (=अनीश्वर), अवशवर्ती आदि होने के कारणों से अनात्म के तौर पर देखता है। ऐसे देखते हुए त्रिलक्षण का आरोपण करके संस्कार परिग्रहीत होते हैं।

क्यों यह इन्हें ऐसे परिग्रह करता है? छुटकारा पाने के उपाय को ठीक करने के लिए। उस सम्बन्ध में यह उपमा है— एक आदमी 'मछलियों को पकड़ूँगा' सोचकर टाप (=मच्छखिपं) लेकर पानी में डाला। वह टाप के मुख से हाथ को उतार, पानी में साँप की गर्दन को पकड़कर, 'मैंने मछली पकड़ा है' (सोच) प्रसन्न हुआ। वह "मैंने बहुत बड़ी मछली को पा लिया" (सोच) उठाकर देखते हुए **तीन स्वस्तिक** को देखने से 'साँप है' जानकर भयभीत हुआ, उसके दोष को देख, पकड़ने में निर्वेद को प्राप्त होता, छुटकारा पाना चाहते हुए, छुटकारा पाने का उपाय करते पूँछ के सिरे से लेकर हाथ को छुड़ाकर, बाँह को उठा, शिर के ऊपर दो तीन बार मार कर, साँप को दुर्बल करके "जाओ, दुष्ट साँप !" (कहते हुए) छोड़, जल्दी से तालाब के किनारे मेंड़ पर चढ़ कर "मैं महान् साँप के मुख से छुटकारा पाया हूँ !" (सोचते) अपने आने के मार्ग को देखते हुए खड़ा हो गया।

वहाँ उस आदमी के 'मछली' जानकर साँप की गर्दन को पकड़कर प्रसन्न होने के समय के समान इस भी योगी का प्रारम्भ से ही शरीर को प्राप्त कर प्रसन्न होने का समय है। उसके टाप

के मुख से शिर को निकाल कर तीन स्वस्तिक को देखने के समान इसका घन को अलग-अलग करके संस्कारों में त्रिलक्षण को देखना है। उसके भयभीत होने के समय के समान इसका भयतोपस्थान-ज्ञान है। तत्पश्चात् आदीनव देखने के समान आदीनवानुपश्यना-ज्ञान है। पकड़ कर निर्वेद प्राप्त होने के समान निर्वेदानुपश्यना-ज्ञान है। साँप को छुड़ाने की इच्छा के समान मुञ्चितुकम्यता-ज्ञान है। छुटकारा पाने के उपाय को करने के समान प्रतिसंख्यानुपश्यना-ज्ञान से संस्कारों में त्रिलक्षण का आरोपण करना है। जैसे वह आदमी साँप को मार कर दुर्बल करके लौट कर डँसने के लिए असमर्थ बना कर, भली प्रकार छोड़ दिया, ऐसे यह योगी त्रिलक्षण के आरोपण से संस्कारों को मार कर दुर्बल करके, पुनः नित्य, सुख, शुभ, आत्मा के आकार से जान पड़ने के लिए असमर्थ करके भली प्रकार छोड़ देता है। इसलिये कहा है—"छुटकारा पाने के उपाय को ठीक करने के लिए।"

इतने से उसे **प्रतिसंख्या-ज्ञान** उत्पन्न हो गया होता है। जिसके प्रति कहा गया है—"अनित्य के तौर पर मनस्कार करते हुए कौन-सा प्रतिसंख्या-ज्ञान उत्पन्न होता है? दुःख के तौर पर······ अनात्मा के तौर पर मनस्कार करते हुए कौन-सा प्रतिसंख्या ज्ञान उत्पन्न होता है? अनित्य के तौर पर मनस्कार करते हुए प्रवर्ति-प्रतिसंख्या-ज्ञान उत्पन्न होता है। अनात्म के तौर पर मनस्कार करते हुए निमित्त और प्रवर्ति प्रतिसंख्या-ज्ञान उत्पन्न होता है।"

यहाँ, **निमित्त प्रतिसंख्या**—संस्कार-निमित्त अध्रुव, क्षणिक है--ऐसे अनित्य लक्षण के अनुसार जानकर। यद्यपि प्रथम जानकर पीछे ज्ञान उत्पन्न होता है, किन्तु व्यवहार के अनुसार "मन और धर्म के कारण मनोविज्ञान उत्पन्न होता है" आदि के समान ऐसा कहा जाता है। या एकत्व नय से पहले और पिछले को एक करके ऐसा कहा गया है—जानना चाहिये। इसी प्रकार अन्य भी दो पदों का अर्थ जानना चाहिये।

संस्कारोपेक्षा-ज्ञान

वह ऐसे प्रतिसंख्यानुपश्यना-ज्ञान से, सब संस्कार शून्य हैं—परिग्रह करके, फिर—"यह आत्मा या आत्मीय से शून्य है।"[1] दो प्रकार की शून्यता का परिग्रह करता है। वह ऐसे न अपने को और न अन्य कुछ अपने परिष्कार होने के रूप में देखकर, फिर—"नाहं क्वचनि, कस्सचि किञ्चनतस्मिं, न च मम क्वचनि किस्मिञ्चि किञ्चनतत्थि।" जो यहाँ चार प्रकार की शून्यता कही गई है, उसका परिग्रह करता है।

कैसे? यह, **नाहं क्वचनि**—कहीं आत्मा को कहीं देखता है। **कस्सचि किञ्चनतस्मिं**—अपनी आत्मा को किसी दूसरे के आत्म-भाव में ले जाने योग्य नहीं देखता है। भाई के स्थान पर भाई को, सहायक के स्थान पर सहायक को या परिष्कार के स्थान पर परिष्कार को मानकर ले जाने योग्य नहीं देखता—यह अर्थ है। **न च मम क्वचनि**—यहाँ, 'मम' शब्द को प्रथम छोड़कर कहीं दूसरे और अपनी आत्मा को नहीं देखता है—यह अर्थ है। अब, 'मम' शब्द को लाकर **मम किस्मिञ्चि किञ्चनतत्थि**—वह दूसरेकी आत्मा मेरी किसी भी वस्तु में है—ऐसा नहीं देखता है। अपने भाई के स्थान पर भाई को, सहायक के स्थान पर सहायकको या परिष्कार के स्थान पर परिष्कार को—ऐसे किसी भी स्थान पर दूसरे की आत्मा को इस आत्म-भाव से ले जाने के योग्य नहीं देखता है—यह अर्थ है। ऐसे यह चूँकि न तो कहीं आत्मा

१. मज्झिम नि० २

को देखता है, न उसे दूसरे के आत्मभाव में ले जाने के योग्य देखता है और न दूसरे की आत्मा को अपने आत्म-भाव में लाने के योग्य देखता है, इसलिये इसके द्वारा चार प्रकार की शून्यता परिग्रहीत होती है।

ऐसे चार प्रकार की शून्यता का परिग्रह करके फिर छः प्रकार से शून्यता का परिग्रह करता है। कैसे? "चक्षु आत्मा या आत्मीय से, नित्य, ध्रुव, शाश्वत या अपरिवर्तनशील स्वभाव से शून्य है। मन···शून्य है।···रूप···शून्य है।···धर्म···शून्य हैं।···चक्षु-विज्ञान···मनोविज्ञान·· चक्षु-स्पर्श शून्य है।" ऐसे जरा-मरण तक ले जाना चाहिये।

ऐसे छः प्रकार से शून्यता का परिग्रह करके, फिर आठ प्रकार से परिग्रह करता है। जैसे कि—"रूप नित्य-सार, ध्रुव-सार, सुख-सार, आत्म-सार, नित्य, ध्रुव, शाश्वत या अपरिवर्तशील-स्वभावसे अ-सार, सार-रहित और सार से दूर रहने वाला है। वेदना···संज्ञा···संस्कार···विज्ञान ···चक्षु···जरामरण नित्य-सार, ध्रुव-सार, सुख-सार, आत्म-सार, नित्य, ध्रुव, शाश्वत या अपरिवर्तनशील स्वभाव से अ-सार, सार-रहित और सार से दूर रहनेवाला है। जैसे नरकुल, एरण्ड (=रेंड़), गूलर, श्वेतवर्चस (=सेतवच्छो=सैंजन?), पारिभद्रक (=फरहद का वृक्ष), फेन का पिण्ड, जल का बुलबुला, (मृग–) मरीचिका, केलेका खम्भा और माया अ-सार, सार-रहित, सार से दूर रहनेवाली होती है, ऐसे ही रूप···जरा-मरण···सार से दूर रहनेवाला है।"[1]

वह ऐसे आठ प्रकार से शून्यता का परिग्रह करके फिर दस प्रकार से परिग्रह करता है। "रूप को रिक्त, तुच्छ, शून्य, अनात्म, अनीश्वर, अ-कार्य को करनेवाले, चाहे हुए प्रकार से नहीं होनेवाले, अवशवर्ती, परवश, विवृत्त के तौर पर देखता है। वेदना को···विज्ञानको···विवृत्त के तौर पर देखता है।

ऐसे दस प्रकार से शून्यता का परिग्रह करके फिर बारह प्रकार से परिग्रह करता है। जैसे— "रूप न सत्त्व है, न जीव है, न नर है, न मानव है, न स्त्री है, न पुरुष है, न आत्मा है, न आत्मीय है, न मैं हूँ, न मेरा है, न दूसरे का है, न किसी का है। वेदना······विज्ञान······न किसी का है।"

ऐसे बारह प्रकार से शून्यता का परिग्रह करके फिर तीरण-परिज्ञा के अनुसार बयालीस प्रकार से शून्यता का परिग्रह करता है। रूप को अनित्य, दुःख, रोग, गण्ड (= फोड़ा), शल्य (= काँटा), अघ (= पाप), आबाधा (= पीड़ा), दूसरे के वश में होने, नाशवान्, विपत्ति, उपद्रव, भय, उपसर्ग, चंचल, प्रभंगुर, अ-ध्रुव, अ-त्राण, अ-लेण, अ-शरण, शरण नहीं किया जाने योग्य, रिक्त, तुच्छ, शून्य, अनात्म, अ-स्वाद, आदीनव, परिवर्तनशील स्वभाव, असार, अघ की जड़, बधक, विभव (= विनाश), सास्रव, संस्कृत, मार का आमिष, जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास के स्वभाववाला और समुदय (= उत्पत्ति), अस्तगमन, आदीनव तथा निःसरण (= निस्तार) के तौर पर देखता है। वेदना को······विज्ञान को······ निःसरण के तौर पर देखता है।

यह कहा भी गया है—"रूप को अनित्य······निःसरण के तौर पर देखते हुए लोक को शून्य के तौर पर देखता है। वेदना को······विज्ञान को······निःसरण के तौर पर देखते हुए लोक को शून्य के तौर पर देखता है।"

---

१. चुल्ल निद्देस।

सुञ्ञतो लोकं अवेक्खस्सु मोघराज सदा सतो।
अत्तानुदिट्ठिं ऊहच्च एवं मच्चुतरो सिया॥
एवं लोकं अवेक्खन्तं मच्चुराजा न पस्सति[1]॥"

[मोघराज ! सदा स्मृतिमान् होकर शून्य के तौर पर लोक को देखो, 'आत्मा' होने की दृष्टि को त्याग दो, ऐसे मृत्यु को पार कर जाओगे, क्योंकि ऐसे लोक को देखनेवाले (व्यक्ति) को मृत्युराज नहीं देख पाता है।]

इस प्रकार शून्य के तौर पर देखकर त्रिलक्षण का आरोपण कर संस्कारों का परिग्रह करते हुए भय और नन्दि को त्याग संस्कारों में मध्यस्थ = उदासीन होता है। 'मैं' या 'मेरा' नहीं ग्रहण करता है, जैसे कि छोड़ दी गयी हुई स्त्री को पुरुष।

जैसे (किसी) पुरुष की स्त्री प्यारी, सुन्दरी और मन को आकर्षित करनेवाली हो। वह उसके बिना एक मुहूर्त्त भी रह नहीं सके, उसे अत्यन्त ममत्व करे। वह उस स्त्री को अन्य पुरुष के साथ खड़ी, बैठी, बात करती हुई, या हँसती हुई देखकर क्रोधित हो, अप्रसन्न हो, और बहुत अधिक दौर्मनस्य का अनुभव करे। वह कुछ समय बाद उस स्त्री के दोष को देखकर त्यागने की इच्छा वाला होकर उसे छोड़ दे। उसे 'यह मेरी है'—न माने, तब से लेकर उसे जिस किसी के साथ जो कुछ करते हुए देखकर भी न क्रोध करे, न दौर्मनस्य का अनुभव करे, प्रत्युत मध्यस्थ = उदासीन हो। ऐसे ही यह सब संस्कारों से छुटकारा पाने की इच्छा वाला होकर प्रतिसंख्यानुपश्यना से संस्कारों का परिग्रह करते हुए, 'मैं' 'मेरा' ग्रहण करने योग्य को न देखकर भय और नन्दि को त्याग, सब संस्कारों में मध्यस्थ = उदासीन होता है।

उसे ऐसा जानते, ऐसा देखते तीनों भवों में, चारों योनियों में, पाँचों गतियों में, सातों विज्ञान की स्थितियों में, नव सत्त्वावासों में चित्त सिकुड़ जाता है, स्थिर हो जाता है, इधर-उधर नहीं फैलता है, उपेक्षा या प्रतिकूलता उत्पन्न होती है। जैसे थोड़े से ढालुआँ कमल के पत्ते पर वर्षा की बूँदें सिकुड़ जाती हैं, एकत्र हो जाती हैं, इधर-उधर नहीं फैलती हैं, ऐसे ही······जैसे मुर्गा की पाँख या स्नायु के समूह को आग में डालने पर सिकुड़ जाता है, एकत्र हो जाता है, इधर-उधर नहीं फैलता है, ऐसे ही उसे तीनों भवों में······उपेक्षा या प्रतिकूलता उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् उसे **संस्कारोपेक्षा-ज्ञान** उत्पन्न हो जाता है।

यदि यह शान्तिपद निर्वाण को शान्त के तौर पर देखता है, तो सब संस्कार की प्रवर्ति को छोड़कर निर्वाण में ही दौड़ जाता है, और यदि निर्वाण को शान्त के तौर पर नहीं देखता है, तो बार-बार संस्कारों का आलम्बन ही होकर प्रवर्तित होता है, जैसे कि समुद्र में यात्रा करनेवालों का कौवा।

समुद्र में यात्रा करनेवाले व्यापारी नाव पर चढ़ते समय दिशाकाक (=दिशा को बतलानेवाला कौवा) ले लेते हैं। वे, जब नाव वायु-वेग से चलाई गयी विदेश की ओर दौड़ती है, तट नहीं जान पड़ता है, तब दिशाकाक को छोड़ते हैं। वह मस्तूल की लाठी से आकाश में उड़कर सारी दिशा-विदिशाओं में जाकर, यदि तट देखता है, तो उस ओर ही चला जाता है और यदि नहीं देखता है तो बार-बार आकर मस्तूल की लाठी से चिपक जाता है। इसी प्रकार यदि संस्कारोपेक्षा-ज्ञान शान्तिपद निर्वाण को शान्ति के तौर पर देखता है, तो सब संस्कार की प्रवर्तियों को छोड़कर

१. सुत्तनिपात ५, १६।

निर्वाण को ही दौड़ता है, और यदि नहीं देखता है, तो बार-बार संस्कारों का आलम्बन ही होकर प्रवर्तित होता है।

वह सूप में अन्न के चूर्ण (=पिट्ठ) को फटकने के समान, बीज निकाली हुई कपास को धुनने के समान नाना प्रकार से संस्कारों का परिग्रह करके भय और नन्दि को त्याग, संस्कारों का विचार करने में मध्यस्थ होकर तीन प्रकार की अनुपश्यना के अनुसार ठहरता है। ऐसे ठहरते हुए तीन प्रकार के विमोक्ष-मुख को प्राप्त होकर सात आर्य-पुद्गल के विभाग का प्रत्यय होता है। यह तीन प्रकार की अनुपश्यना के अनुसार प्रवर्तित होने से तीनों[1] इन्द्रियों के अधिपति के अनुसार तीन प्रकार के विमोक्ष-मुखको प्राप्त होता है।

तीन अनुपश्यना, तीन विमोक्ष-मुख कहे जाते हैं। जैसे कहा है—"लोक से निस्तार के लिए ये तीन विमोक्ष-मुख हैं—(१) सब संस्कारों को परिच्छेद और परिवृत्त के तौर पर देखने से अनिमित्त-धातु में चित्त दौड़ता है, (२) सब संस्कारों में मन को उत्तेजित करने से अप्रणिहित धातु में चित्त दौड़ता है, (३) सब धर्मों को अपने वश में नहीं देखने से शून्यता-धातु में चित्त दौड़ता है। लोक से निस्तार के लिए ये तीन विमोक्ष-मुख हैं।[2]"

वहाँ, **परिच्छेद और परिवृत्त के तौर पर**—उदय-व्यय के अनुसार परिच्छेद और परिवृत्त के तौर पर। अनित्य की अनुपश्यना, उदय से पूर्व संस्कार नहीं हैं—ऐसे परिच्छेद करके उनकी गति को ढूँढ़ते हुए व्यय (=लय) के पीछे नहीं जाते हैं, यहीं अन्तर्धान हो जाते हैं—ऐसे परिवृत्त से देखता है। **मन को उत्तेजित करने से**—चित्त को संविग्न करने से। दुःख की अनुपश्यना से संस्कारों में चित्त संविग्न होता है। **अपने वश में नहीं देखने से**—'मेरा नहीं है' ऐसे अनात्म के तौर पर देखने से।

इस प्रकार ये तीन पद अनित्य की अनुपश्यना आदि के अनुसार कहे गये हैं—ऐसा जानना चाहिये। इसीलिए उसके पश्चात् प्रश्नोत्तर में कहा गया है—"अनित्य के तौर पर मनस्कार करने वाले को क्षय के तौर पर संस्कार जान पड़ते हैं। अनात्म के तौर पर मनस्कार करने वाले को शून्य के तौर पर संस्कार जान पड़ते हैं।[2]"

विमोक्ष-कथा

वे विमोक्ष कौन-से हैं, जिनके ये विपश्यनायें मुख हैं? (१) अनिमित्त (२) अप्रणिहित (३) शून्यता—ये तीन हैं। कहा गया है—"अनित्य के तौर पर मनस्कार करते हुए अधिमोक्ष-बहुल (भिक्षु) अनिमित्त-विमोक्ष को प्राप्त होता है। दुःख के तौर पर मनस्कार करते हुए प्रश्रब्धि-बहुल (भिक्षु) अप्रणिहित-विमोक्ष को प्राप्त होता है। अनात्म के तौर पर मनस्कार करते हुए ज्ञान-बहुल (भिक्षु) शून्यता-विमोक्ष को प्राप्त होता है।[2]"

यहाँ, **अनिमित्त विमोक्ष**—अनिमित्त के आकार से निर्वाण को आलम्बन करके प्रवर्तित हुआ आर्य-मार्ग। वह अनिमित्त धातु से उत्पन्न होने से अनिमित्त है और क्लेशों से विमुक्त होने से विमोक्ष। इसी प्रकार अप्रणिहित के आकार से निर्वाण को आलम्बन करके प्रवर्तित हुआ **अप्रणिहित** है। शून्यता के आकार से निर्वाण को आलम्बन करके प्रवर्तित हुआ **शून्यता** है—ऐसा जानना चाहिये।

---

१. श्रद्धा, समाधि और प्रज्ञा—इन तीनों इन्द्रियों के—टीका।

२. पटिसम्भिदामग्ग २।

जो अभिधर्म में—"जिस समय निर्याणिक,[१] अपचयगामी,[२] (मिथ्या-) दृष्टियों के प्रहाण और प्रथम भूमि की प्राप्ति के लिए लोकोत्तर ध्यान की भावना करता है, कामों से अलग होकर प्रथम ध्यान को प्राप्त हो विहरता है, अप्रणिहित,…शून्यता।"[३] ऐसे दो ही विमोक्ष कहा गया है, वह निष्पर्याय से विपश्यना के आगमन के प्रति कहा गया है।

विपश्यना-ज्ञान, यद्यपि प्रतिसम्भिदामार्ग में "अनित्य की अनुपश्यना का ज्ञान नित्य के तौर पर अभिनिवेश (= दृढ़ ग्राह) को छोड़ता है, इसलिए शून्यता विमोक्ष है, दुःख की अनुपश्यना का ज्ञान सुख के तौर पर अभिनिवेश को छोड़ता है,……अनात्मा की अनुपश्यना का ज्ञान आत्मा के तौर पर अभिनिवेश को छोड़ता है, इसलिये शून्यता-विमोक्ष है।" ऐसे अभिनिवेश को छोड़ने के अनुसार शून्यता-विमोक्ष, "अनित्य की अनुपश्यना का ज्ञान नित्य के तौर पर निमित्त को छोड़ता है, इसलिये अनिमित्त विमोक्ष है, दुःख की अनुपश्यना का ज्ञान सुख के तौर पर निमित्त को……अनात्म की अनुपश्यना का ज्ञान आत्मा के तौर पर निमित्त को छोड़ता है, इसलिए अनिमित्त विमोक्ष है।" ऐसे निमित्त को छोड़ने के अनुसार अनिमित्त विमोक्ष और "अनित्य की अनुपश्यना का ज्ञान नित्य के तौर पर प्रणिधि (= इच्छा) को छोड़ता है, इसलिए अप्रणिहित विमोक्ष है, दुःख की अनुपश्यना का ज्ञान सुख के तौर पर प्रणिधि को……अनात्म की अनुपश्यना का ज्ञान आत्मा के तौर पर प्रणिधि को छोड़ता है, इसलिए अप्रणिहित विमोक्ष है।" ऐसे प्रणिधि (= इच्छा) को छोड़ने के अनुसार अप्रणिहित विमोक्ष कहा गया है, तथापि वह संस्कार के निमित्त को नहीं छोड़ने से निष्पर्याय से अनिमित्त नहीं है, प्रत्युत निष्पर्याय से शून्यता और अप्रणिहित है। उसके आगमन के अनुसार आर्यमार्ग के क्षण विमोक्ष कहा गया है। इसलिए अप्रणिहित, शून्यता—दो ही विमोक्ष कहा गया है—ऐसा जानना चाहिये। यह विमोक्ष-कथा है।

सात आर्य-पुद्गल

जो कहा गया है—"सात आर्य-पुद्गल के विभाग का प्रत्यय होता है" वहाँ, (१) श्रद्धानुसारी (२) श्रद्धा-विमुक्त (३) कायसाक्षी (४) उभतोभाग-विमुक्त (५) धर्मानुसारी (६) दृष्टिप्राप्त और (७) प्रज्ञाविमुक्त—ये सात आर्य-पुद्गल हैं। उनके विभाग के लिए यह संस्कारोपेक्षा-ज्ञान प्रत्यय होता है।

जो अनित्य के तौर पर मनस्कार करते हुए अधिमोक्ष-बहुल (भिक्षु) श्रद्धेन्द्रिय को प्राप्त होता है, वह स्रोतापत्ति-मार्ग के क्षण में **श्रद्धानुसारी** होता है। शेष सात स्थानों में **श्रद्धा-विमुक्त**। जो दुःख के तौर पर मनस्कार करते हुए प्रश्रब्धि-बहुल (भिक्षु) समाधि…इन्द्रिय को प्राप्त होता है, वह सर्वत्र **कायसाक्षी** होता है। अरूप-ध्यान को प्राप्त कर अग्र-फल (= अर्हत्व) को पानेवाला (भिक्षु) **उभतोभाग-विमुक्त** होता है। जो अनात्म के तौर पर मनस्कार करते हुए ज्ञान-बहुल (भिक्षु) प्रज्ञेन्द्रिय को प्राप्त होता है, वह स्रोतापत्ति-मार्ग के क्षण **धर्मानुसारी** होता है, शेष स्थानों में **दृष्टिप्राप्त** और अग्रफल में **प्रज्ञाविमुक्त**।

---

१. मार्ग-फल आदि को जानते हुए जाने से निर्याणिक कहा जाता है।

२. संचित कुशल-अकुशल और च्युति-प्रतिसन्धि का विध्वंस करते हुए जाता है, इसलिये अपचयगामी कहते हैं।

३. धम्मसङ्गणी।

यह कहा गया है—"अनित्य के तौर पर मनस्कार करते हुए श्रद्धेन्द्रिय के प्रबल होने से स्रोतापत्ति मार्ग को प्राप्त होता है, उससे श्रद्धानुसारी कहा जाता है।" वैसे ही "अनित्य के तौर पर मनस्कार करते हुए श्रद्धेन्द्रिय प्रबल होती है, श्रद्धेन्द्रिय के प्रबल होने से स्रोतापत्ति फल का साक्षात्कार होता है, उससे श्रद्धा-विमुक्त कहा जाता है।" आदि।

अन्य भी कहा गया है—"विश्वास करते हुए विमुक्त होने से श्रद्धा-विमुक्त होता है। स्पर्श करते हुए साक्षात् करने से कायसाक्षी होता है। दृष्टि के अन्त को प्राप्त होने से दृष्टि-प्राप्त होता है। विश्वास करते हुए विमुक्त होता है, इसलिए श्रद्धा-विमुक्त है। ध्यान के स्पर्श को पहले स्पर्श करता है, पीछे निरोध=निर्वाण का साक्षात् करता है, इसलिये कायसाक्षी है। संस्कार दुःख हैं, निरोध सुख है,—ऐसा ज्ञात होता है, देखा गया, जाना गया, साक्षात् किया गया, प्रज्ञा से स्पर्श किया गया होता है, इसलिए दृष्टि-प्राप्त है।"

अन्य चारों में, श्रद्धा का अनुस्मरण करता है, या श्रद्धा से अनुस्मरण करते जाता है, इसलिये **श्रद्धानुसारी** है। वैसे प्रज्ञा रूपी धर्म का अनुस्मरण करता है, या धर्म से अनुस्मरण करता है, इसलिये **धर्मानुसारी** है। अरूप-ध्यान और आर्य-मार्ग-दोनों भागों से विमुक्त होने से **उभतोभाग-विमुक्त** है। जानते हुए विमुक्त होने से **प्रज्ञा-विमुक्त** है। ऐसे शब्दार्थ जानना चाहिये।

यह पहले के दो ज्ञानों के साथ अर्थ में एक है। इसलिए पुराने लोगों ने कहा है—"यह संस्कारोपेक्षा-ज्ञान एक ही तीन नामों को पाता है, प्रारम्भ में मुञ्चितुकम्यता-ज्ञान नाम है, बीच में प्रतिसंख्यानुपश्यना-ज्ञान और अन्त में शिखा-प्राप्त संस्कारोपेक्षा-ज्ञान।"

पालि में भी कहा गया है—"कैसे छुटकारा पाने की इच्छा से जानकर रहनेवाली प्रज्ञा संस्कारोपेक्षा में ज्ञान है? उत्पाद से छुटकारा पाने की इच्छा से जानकर रहने वाली प्रज्ञा संस्कारोपेक्षा में ज्ञान है···प्रवर्ति···निमित्त···उपायास से छुटकारा पाने की इच्छा से जानकर रहने वाली प्रज्ञा संस्कारोपेक्षा में ज्ञान है। 'उत्पाद दुःख है'···भय है···सामिष है···उत्पाद संस्कार हैं··· उपायास संस्कार हैं—(ऐसे) छुटकारा पाने की इच्छा से जानकर रहने वाली प्रज्ञा संस्कारोपेक्षा-ज्ञान है।"

वहाँ, छुटकारा पाने की इच्छा, जानना और रहना ही छुटकारा पाने की इच्छा से जानकर रहना है। इस प्रकार पूर्व भाग में निर्वेद-ज्ञान से निर्वेद को प्राप्त होते हुए (भिक्षु) की उत्पाद आदि से छुटकारा पाने की इच्छा मुञ्चितुकम्यता है, छुटकारा पाने को उपाय करने के लिए बीच में जानना प्रतिसंख्या है। छुटकारा पाकर अन्त में उपेक्षा के साथ देखना सन्तिष्ठन् (=रहना) है। जिसके प्रति, "उत्पाद संस्कार हैं, उन संस्कारों को उपेक्षा के साथ देखता है, इसलिये संस्कारोपेक्षा है।" आदि कहा गया है। ऐसे यह एक ही ज्ञान है।

और भी इस पालि से इसे एक ही जानना चाहिये। यह कहा गया है—"जो मुञ्चितुकम्यता है, जो प्रतिसंख्यानुपश्यना है और जो संस्कारोपेक्षा है—ये धर्म एक अर्थ वाले हैं, व्यञ्जन ही भिन्न हैं।"

ऐसे संस्कारोपेक्षा को प्राप्त हुए इस कुलपुत्र की विपश्यना शिखा-प्राप्त उत्थानगामिनी होती है। शिखा-प्राप्त विपश्यना या उत्थानगामिनी संस्कारोपेक्षा आदि तीन ज्ञानों[1] का ही यह नाम है। वह शिखा अर्थात् उत्तम भाव को प्राप्त होने से **शिखा-प्राप्त** है, उत्थान की ओर जाती है,

१. मुञ्चितुकम्यता, प्रतिसंख्यानुपश्यना, संस्कारोपेक्षा—इन तीन ज्ञानों का।

इसलिये **उत्थानगामिनी** है। बाह्य निमित्त हुई, अभिनिवेश की हुई वस्तु से, और आध्यात्म में प्रवर्ति से उठने से मार्ग उत्थान कहा जाता है, उस पर चलने से उत्थानगामिनी है। मार्ग के साथ मिलता है—यह अर्थ है।

वहाँ, अभिनिवेश के उत्थान को स्पष्ट करने के लिए यह मात्रिका है—आध्यात्म[1] में अभिनिवेश करके आध्यात्म से उठता है, आध्यात्म में अभिनिवेश करके बाह्य[2] से उठता है, बाह्य में अभिनिवेश करके बाह्य से उठता है, बाह्य में अभिनिवेश करके अरूप से उठता है, अरूप में अभिविशेष करके अरूप से उठता है, अरूप में अभिनिवेश करके रूप से उठता है, एक साथ पाँचों स्कन्धों से उठता है, अनित्य के तौर पर अभिनिवेश करके अनित्य से उठता है, अनित्य के तौर पर अभिनिवेश करके दुःख से, अनात्म से उठता है, दुःख के तौर पर अभिनिवेश करके दुःख से··· अनित्य से, अनात्म से उठता है, अनात्म के तौर पर अभिनिवेश करके अनात्म से···अनित्य से, दुःख से उठता है।

कैसे? यहाँ कोई प्रारम्भ से ही आध्यात्म (=भीतरी) संस्कारों में अभिनिवेश करता है, अभिनिवेश करके उन्हें देखता है। चूँकि केवल आध्यात्म को देखने मात्र से ही मार्ग का उत्थान नहीं होता है, बाह्य भी देखना पड़ता ही है, इसलिये दूसरे के स्कन्धों को भी, अनुपादिन्न संस्कारों को भी अनित्य, दुःख, अनात्म हैं—देखता है। वह समय से आध्यात्म का विचार करता है, समय से बाह्य का। उसे ऐसे विचार करते हुए आध्यात्म का विचार करने के समय विपश्यना मार्ग के साथ मिल जाती है। यह आध्यात्म का अभिनिवेश करके आध्यात्म से उठता है। यदि उसे बाह्य का विचार करने के समय विपश्यना मार्ग के साथ मिलती है, तो यह आध्यात्म का अभिनिवेश करके बाह्य से उठता है। इसी प्रकार बाह्य का अभिनिवेश करके बाह्य और आध्यात्म से उठने में भी।

दूसरा प्रारम्भ से ही रूप में अभिनिवेश करता है, अभिनिवेश करके भूत-रूप और उपादा-रूप को राशि करके देखता है। चूँकि केवल रूप को देखने मात्र से ही उत्थान नहीं होता है, अरूप को भी देखना पड़ता है ही, इसलिये उस रूप को आलम्बन करके उत्पन्न वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान—ये अरूप हैं—ऐसे अरूप को देखता है। वह समय से रूप का विचार करता है, समय से अरूप का। उसे ऐसा करते हुए रूप का विचार करने के समय विपश्यना मार्ग से मिल जाती है। यह रूप में अभिनिवेश करके रूप से उठता है। यदि उसे अरूप का विचार करने के समय विपश्यना मार्ग के साथ नहीं मिलती है, तो यह रूप में अभिनिवेश करके अरूप से उठता है। इस प्रकार अरूप में अभिनिवेश करके अरूप और रूप से उठने में भी।

"जो कुछ उत्पन्न होने के स्वभाव वाला है, वह सब निरुद्ध होने के स्वभाव वाला है।[3]" ऐसे अभिनिवेश करके इसी प्रकार उठने के समय एक ही साथ पाँचों स्कन्धों से उठता है।

एक (भिक्षु) प्रारम्भ से ही अनित्य के तौर पर संस्कारों का विचार करता है। चूँकि अनित्य के तौर पर विचार करने मात्र से ही उत्थान नहीं होता है, दुःख के तौर पर भी, अनात्म के तौर पर भी विचार करना ही पड़ता है, इसलिये दुःख के तौर पर भी, अनात्म के तौर पर भी विचार करता है। उस ऐसे प्रतिपन्न हुए को अनित्य के तौर पर विचार करने के समय उत्थान होता है। यह अनित्य के तौर पर अभिनिवेश करके अनित्य से उठता है। यदि उसे दुःख के तौर

१. आध्यात्म का अर्थ अपने भीतर से है।
२. बाह्य का अर्थ दूसरे व्यक्तियों से है।
३. मज्झिम नि० २. ५. १।

पर, अनात्म के तौर पर विचार करने के समय उत्थान होता है, तो यह अनित्य के तौर पर अभिनिवेश करके दुःख से, अनात्म से उठता है। इसी प्रकार दुःख के तौर पर, अनात्म के तौर पर अभिनिवेश करके शेष उत्थानों में भी।

यहाँ, जो भी अनित्य के तौर पर अभिनिविष्ट होता है, जो भी दुःख के तौर पर, जो भी अनात्म के तौर पर, उठने के समय अनित्य से उत्थान होता है। तीनों भी व्यक्ति अधिमोक्ष-बहुल होते हैं, श्रद्धेन्द्रिय को प्राप्त होते हैं, अनिमित्त विमोक्ष से विमुक्त होते हैं, प्रथम मार्ग के क्षण में श्रद्धानुसारी होते हैं, सातों स्थानों में श्रद्धा-विमुक्त होते हैं। यदि दुःख से उत्थान होता है, तो तीनों भी व्यक्ति प्रश्रब्धि-बहुल होते हैं, समाधि-इन्द्रिय को प्राप्त होते हैं, अप्रणिहित विमोक्ष से विमुक्त होते हैं, सर्वत्र कायसाक्षी होते हैं। जिसे यहाँ अरूप-ध्यान पादक होता है, वह अग्र-फल में उभतोभाग-विमुक्त होता है। तब उनका अनात्म से उत्थान होता है। तीनों भी व्यक्ति ज्ञान-बहुल होते हैं, प्रज्ञेन्द्रिय को प्राप्त होते हैं, शून्यता-विमोक्ष से विमुक्त होते हैं, प्रथम-मार्ग के क्षण में धर्मानुसारी होते हैं, छः स्थानों में दृष्टि-प्राप्त होते हैं, अग्र-फल (अर्हत्व) में प्रज्ञा-विमुक्त होते हैं।

अब, प्रारम्भ और अन्त के ज्ञानों के साथ इस उत्थानगामिनी विपश्यना को स्पष्ट करने के लिए बारह उपमाओं को जानना चाहिये। उनके लिये यह उदान[1] है—

वग्गुली कण्हसप्पो च घरं गो-यक्खि-दारको।
खुदं पिपासं सीतुण्हं अन्धकारं विसेन च॥

[चमगीदड़, काला साँप, घर, बैल, यक्षिणी, पुत्र, भूख, प्यास, शीत, ऊष्ण, अन्धकार और विष।]

—ये उपमायें भयतोपस्थान ज्ञान से लेकर जहाँ कहीं भी ज्ञान में स्थित होकर लानी पड़ेंगी, किन्तु इस (उत्थानगामिनी विपश्यना) में लाने पर भयतोपस्थान से फल के ज्ञान तक सब प्रगट हो जाता है, इसलिये यहीं लानी चाहिये—ऐसा कहा गया है।

(१) चमगीदड़ की उपमा

एक चमगीदड़ "यहाँ फूल या फल को पाऊँगा" (सोचकर) पाँच शाखा वाले महुआ के वृक्ष पर बैठकर एक शाखा का स्पर्श करके उसमें फूल या फल कुछ भी ग्रहण करने योग्य नहीं देखा। और ऐसे एक को, ऐसे दूसरी, तीसरी, चौथी तथा पांचवीं शाखा को भी स्पर्श करके कुछ नहीं देखा। वह "यह वृक्ष फल-रहित है, इसमें कुछ भी ग्रहण करने योग्य नहीं है" (सोच) उस वृक्ष में आलय को छोड़कर सीधी शाखा पर चढ़कर विटप के बीच शिर को निकाल, ऊपर देख आकाश में उड़कर अन्य फलवान् वृक्ष पर बैठा।

वहाँ, चमगीदड़ के समान योगी को जानना चाहिये, पाँच शाखा वाले महुआ के पेड़ के समान पाँच उपादान-स्कन्धों को, वहाँ चमगीदड़ के बैठने के समान योगी का पाँच स्कन्धों में अभिनिवेश है, उसके एक एक शाखा का स्पर्श करके कुछ भी ग्रहण करने योग्य न देखकर अवशेष शाखाओं को स्पर्श करने के समान योगी का रूप-स्कन्ध का विचार करके उसमें कुछ भी ग्रहण करने के योग्य नहीं देखकर अवशेष स्कन्धों का विचार करना। उसके "यह वृक्ष फल-रहित है।" (सोचकर) वृक्ष में आलय को छोड़ने के समान योगी का पाँचों भी स्कन्धों में अनित्य-लक्षण आदि को देखने के अनुसार निर्वेद प्राप्त होते हुए मुञ्चितकम्यता आदि तीनों ज्ञान है, उसके सीधी

१. उदान का अर्थ है संक्षेप से करना।

शाखा पर ऊपर चढ़ने के समान योगी का अनुलोम है, शिर को निकालकर ऊपर देखने के समान गोत्रभू ज्ञान है। आकाश में उड़ने के समान मार्ग-ज्ञान है। अन्य फलवान् वृक्ष पर बैठने के समान फल-ज्ञान है।

(२) काला-साँप की उपमा

काला-साँप की उपमा प्रतिसंख्या-ज्ञान में कही गई ही है। उपमा की तुलना में यहाँ, साँप को त्यागने के समान गोत्रभू-ज्ञान है, छुड़ाकर आये हुए मार्ग को देखते हुए (व्यक्ति) के स्थान के समान मार्ग-ज्ञान है, जाकर अभय स्थान पर खड़े होने के समान फल-ज्ञान है—यह विशेषता है।

(३) घर की उपमा

सन्ध्या के समय भोजन करके बिछावन पर जाकर घर के मालिक के सोने पर घर जलने लगा। वह उठकर आग देख भयभीत हो "बहुत अच्छा हो कि मैं बिना जले हुए ही निकल जाऊँ" (सोच) देखता हुआ मार्ग को देख, निकलकर वेग से निर्भय स्थान पर जा खड़ा हो गया।

वहाँ, घर के मालिक के भोजन करके बिछावन पर जाकर सोने के समान बाल (=अज्ञ) पृथक् जनका पञ्चस्कन्ध में 'मैं' 'मेरा' ग्रहण करना है। उठकर आग देख भयभीत होने के समय के समान सम्यक् प्रतिपदा पर चलते हुए त्रिलक्षण को देखकर भयतोपस्थान ज्ञान है। निकलने के मार्ग को देखने के समान मुञ्चितुकम्यता-ज्ञान है। मार्ग को देखने के समान अनुलोम है। निकलने के समान गोत्रभू-ज्ञान है। वेग से जाने के समान मार्ग-ज्ञान है। निर्भय स्थान पर खड़ा होने के समान फल-ज्ञान है।

(४) बैल की उपमा

एक किसान के रात्रि में सोते समय व्रज (=घेरा) को तोड़कर बैल भाग गये। वह भोर के समय वहाँ जाकर देखते हुए उनके भाग जाने की बात जान पैर के चिह्नों को देखकर पीछे-पीछे जा, राजा के बैलों को देखा। उन्हें 'मेरे बैल हैं' समझ कर लाते हुए प्रातःकाल 'ये मेरे बैल नहीं हैं, राजा के बैल हैं' जानकर "जब तक मुझे 'यह चोर है' (कहकर) पकड़ राज-पुरुष पीड़ित नहीं करते हैं, तब तक भागूँगा" भयभीत होकर बैलों को छोड़ वेग से भाग कर निर्भय स्थान में (जा) खड़ा हुआ।

वहाँ, 'मेरे बैल हैं' (सोचकर) राजा के बैलों को पकड़ने के समान बाल (=अज्ञ), पृथक्-जन का 'मैं' 'मेरा' (कहकर) स्कन्धों को ग्रहण करना है। प्रातःकाल राजा के बैल हैं—जानने के समान योगी का त्रिलक्षण के अनुसार स्कन्धों को अनित्य, दुःख, अनात्म जानना है। भयभीत होने के समय के समान भयतोपस्थान ज्ञान है। छोड़कर जाने की इच्छा के सामन मुञ्चितुकम्यता है। छोड़ने के समान गोत्रभू है। भागने के समान मार्ग है। भागकर निर्भय स्थान में खड़ा होने के समान फल है।

(५) यक्षिणी की उपमा

एक आदमी यक्षिणी के साथ सहवास किया। वह रात्रि में 'यह सो गया है' जानकर कच्चे श्मशान में जाकर मनुष्य-मांस खाती थी। वह 'यह कहाँ जाती है' (सोचकर) उसके पीछे-

पीछे जा मनुष्यमांस को खाते हुए देख उसके अ-मनुष्य होने की बात को जानकर 'जब तक मुझे नहीं खाती है, तब तक भागूँगा' (सोच) भयभीत हो वेग से भाग कर निर्भय स्थान में (जा) खड़ा हुआ।

वहाँ, यक्षिणी के साथ सहवास के समान स्कन्धों को 'मैं' 'मेरा' ग्रहण करना है। श्मशान में मनुष्य-मांस खाते हुए देख कर 'यह यक्षिणी है' जानने के समान स्कन्धों के त्रिलक्षण को देखकर अनित्य आदि होने को जानना है। भयभीत होने के समय के समान भयतोपस्थान है, भागने की इच्छा के समान मुञ्चितुकम्यता है, श्मशान को छोड़ने के समान गोत्रभू है। वेग से भागने के समान मार्ग है। निर्भय स्थान में (जाकर) खड़ा होने के समान फल है।

(६) पुत्र की उपमा

एक पुत्र-वत्सला स्त्री थी। वह महल के ऊपर बैठी हुई ही गली में बच्चे के शब्द को सुनकर 'मेरे पुत्र को कोई पीड़ित कर रहा है' (सोच) वेग से जा, अपना पुत्र जानकर दूसरे के पुत्र को ले ली। वह 'यह दूसरे का पुत्र है।' जान संकोच करती हुई इधर-उधर देखकर 'यह पुत्र-चोरिनी है', ऐसा कोई मुझे न कहे—(सोच) पुत्र को वहीं रखकर पुनः वेग से महल पर चढ़कर बैठ गई।

वहाँ, अपना पुत्र जानकर लेने के समान 'मैं' 'मेरा' (कहकर) पञ्चस्कन्ध को ग्रहण करना है। 'यह दूसरे का पुत्र है'—ऐसा जानने के समान त्रिलक्षण के अनुसार 'न मैं हूँ' 'न मेरा है' ऐसा जानना है। संकोच करने के समान भयतोपस्थान है। इधर-उधर देखने के समान मुञ्चितु-कम्यता-ज्ञान है। वहीं पुत्र को रखने के समान अनुलोम है। गली में खड़ा होने के समान गोत्रभू है। महल पर चढ़ने के समान मार्ग है। चढ़कर बैठने के समान फल है।

(७) भूख की उपमा

भूख, प्यास, शीत, ऊष्ण, अन्धकार और विष—ये छः उपमायें उत्थानगामिनी विपश्यना में स्थित (व्यक्ति) के लोकोत्तर धर्म की ओर झुकने, नमने और लगे रहने के भाव को दिखलाने के लिये कही गई हैं।

जैसे भूख से पीड़ित, बहुत ही भूखा हुआ पुरुष स्वादिष्ट रसवाले भोजन को चाहता है, ऐसे ही यह संसार-चक्र की भूख से भूखा हुआ योगी अमृत-रस कायगतास्मृति के भोजन को चाहता है।

(८) प्यास की उपमा

जैसे प्यासा हुआ पुरुष, (जिसके प्यास के मारे) गला और मुख सूख रहे हैं, अनेक वस्तुओं से बनाये हुए पेय (=शर्बत) को चाहता है, ऐसे ही यह संसार-चक्र की प्यास से प्यासा हुआ योगी आर्य-अष्टाङ्गिक-मार्ग के पेय (=शर्बत) को चाहता है।

(९) शीत की उपमा

जैसे शीत से पीड़ित हुआ पुरुष ऊष्णता चाहता है, ऐसे ही यह संसार-चक्र में तृष्णा और स्नेह के शीत से पीड़ित हुआ योगी क्लेशों को सन्तप्त कर देने वाले मार्गाग्नि को चाहता है।

(१०) ऋण की उपमा

जैसे ऋण से पीड़ित हुआ पुरुष शीतलता चाहता है, ऐसे ही यह संसार-चक्र में ग्यारह अग्नि[1] के सन्ताप से सन्तप्त हुआ योगी ग्यारह अग्नियों को शान्त करनेवाले निर्वाण को चाहता है।

(११) अन्धकार की उपमा

जैसे अन्धकार में पड़ा हुआ पुरुष आलोक चाहता है, ऐसे ही यह अविद्या के अन्धकार से भली प्रकार घिरा हुआ योगी ज्ञान के आलोक मार्ग-भावना को चाहता है।

(१२) विष की उपमा

और जैसे विष से पीड़ित हुआ पुरुष (उसको) नाश करनेवाली दवा चाहता है, ऐसे ही यह क्लेश-विष से पीड़ित हुआ योगी क्लेश-विष को शान्त कर देने वाले अमृत-औषधि निर्वाण को चाहता है।

उससे कहा है—"उसे ऐसा जानते, ऐसा देखते तीन भवों में··· नव सत्त्वावासों में चित्त सिकुड़ जाता है, स्थिर हो जाता है, इधर उधर नहीं फैलता है, उपेक्षा या प्रतिकूलता उत्पन्न होती है। जैसे थोड़े से बीच में ढालुआ कमल के पत्ते पर।"[2] सब पहले कहे गये ढंग से ही जानना चाहिये।

इतने से यह एकाग्र-चित्त होकर विचरण करने वाला होता है। जिसके प्रति कहा गया है—

पटिलीनचरस्स भिक्खुनो भजमानस्स विवित्तमानसं।
सामग्गियमाहु तस्स तं यो अत्तानं भवने न दस्सये॥[3]

[एकाग्र-चित्त होकर विचरण करने वाले और एकान्त का सेवन करने वाले भिक्षु (को लोकोत्तर मार्ग-फल की प्राप्ति के लिये) यह सामग्री कही गई है। (पुनः) वह भव में अपने को नहीं दिखलाता है।]

इस प्रकार यह संस्कारोपेक्षा-ज्ञान योगी के एकाग्र-चित्त होकर विचरण करने के भाव को नियमित करके आगे आर्य-मार्ग के लिए भी बोध्यङ्ग, मर्गाङ्ग, ध्यानाङ्ग, प्रतिपदा विमोक्ष की विशेषता को नियमित करता है। कोई-कोई स्थविर बोध्यङ्ग, मार्गाङ्ग, ध्यानाङ्ग, की विशेषता को पादक-ध्यान नियमित करता है—ऐसा कहते हैं। कोई, विपश्यना के आलम्बन हुए स्कन्ध नियमित करते हैं—ऐसा कहते हैं। कोई, व्यक्ति का आशय नियमित करता है—ऐसा कहते हैं। उनके भी बाद में यह पूर्व भाग में उत्थानगामिनी विपश्यना नियमित करती ही है—ऐसा जानना चाहिये।

यह क्रमशः वर्णन है—विपश्यना के नियम से शुष्क-विपश्यक[4] का उत्पन्न मार्ग भी, समापत्ति के लाभी का ध्यान को पादक नहीं करके उत्पन्न मार्ग भी, और प्रथम-ध्यान को पादक

---

१. ग्यारह अग्नि ये हैं—(१) राग (२) द्वेष (३) मोह (४) जन्म (५) जरा (६) मरण (७) शोक (८) परिदेव (९) दुःख (१०) दौर्मनस्य और (११) उपायास।

२. देखिये पृष्ठ २४८।

३. सुत्त निपात।

४. जो ध्यानों को बिना प्राप्त किये ही विपश्यना करते हैं, उन्हें शुष्क-विपश्यक कहते हैं।

करके प्रकीर्णक संस्कारों का विचार करके उत्पन्न किया हुआ मार्ग भी, प्रथम-ध्यान वाले ही होते हैं। सब में सात बोध्यङ्ग, आठ मार्गाङ्ग, पाँच ध्यानाङ्ग होते हैं। उनकी पूर्व भाग की विपश्यना सौमनस्य सहगत भी और उपेक्षा-सहगत भी होकर उठने के समय संस्कारोपेक्षा होकर सौमनस्य सहगत होती है।

पञ्चक-नय में द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ ध्यानों को पादक करके उत्पन्न किये हुए मार्गों में क्रमशः ही ध्यान चार अंगों वाला, तीन अंगों वाला और दो अंगों वाला होता है। किन्तु सबमें सात मार्ग के अङ्ग[1] होते हैं। चतुर्थ में छः बोध्यङ्ग[2]। यह विशेषता पादकध्यान और विपश्यना को नियमित करने से होती है। उनकी भी पूर्व भाग की विपश्यना सौमनस्य-सहगत भी, उपेक्षा-सहगत भी होती है, उत्थानगामिनी सौमनस्य-सहगत ही होती है।

पञ्चम-ध्यान को पादक करके उत्पन्न हुए मार्ग में उपेक्षा और चित्त की एकाग्रता के अनुसार दो ध्यानाङ्ग, बोध्यङ्ग छः और मार्गाङ्ग सात होते हैं। यह भी विशेषता दोनों नियमों के अनुसार होती है। इस नय में पूर्वभाग की विपश्यना सौमनस्य-सहगत या उपेक्षा-सहगत होती है, उत्थानगामिनी उपेक्षा-सहगत ही होती है। अरूप-ध्यानों को पादक करके उत्पन्न किये हुए मार्ग में भी इसी प्रकार। ऐसे पादक-ध्यान से उठकर जिन किन्हीं संस्कारों का विचार करके उत्पन्न हुए मार्ग के सन्निकट भाग में उठी हुई समापत्ति अपने समान करती है, जैसे कि भूमि के वर्ण के समान गोंहटी का वर्ण होता है।

द्वितीय स्थविर-वाद में जिस-जिस समापत्ति से उठकर जिन-जिन समापत्ति के धर्मों का विचार करके मार्ग उत्पन्न होता है, उस-उस समापत्ति के समान ही होता है। वहाँ भी विपश्यना का नियम उक्त प्रकार से ही जानना चाहिये।

तृतीय स्थविर-वाद में अपने-अपने आशय के अनुसार जिस ध्यान को पादक करके जिन-जिन ज्ञान-धर्मों का विचार कर मार्ग उत्पन्न होता है, उस-उस ध्यान के समान ही होता है। पादक ध्यान या विचार किया हुआ ध्यान के बिना, वह आशय मात्र से ही नहीं सिद्ध होता है।[3] इस अर्थ को **नन्दकोवाद सूत्र**[4] से प्रकाशित करना चाहिये। यहाँ भी विपश्यना के नियम को उक्त प्रकार से ही जानना चाहिये। ऐसे संस्कारोपेक्षा बोध्यङ्ग, मार्गाङ्ग और ध्यानाङ्गों को नियमित करती है—ऐसा जानना चाहिये।

यदि यह (संस्कारोपेक्षा) प्रारम्भ से क्लेशों को दबाती हुई दुःख के साथ अत्यन्त प्रयत्न करते हुए उत्साहपूर्वक दबा सकती है, तब दुःख-प्रतिपदा होती है और उसके प्रतिकूल सुख-प्रतिपदा। क्लेशों को दबाकर विपश्यना के परिवास मार्ग को धीरे-धीरे प्रगट करती हुई मन्द-अभिज्ञा होती है और उसके प्रतिकूल क्षिप्र-अभिज्ञा। इस प्रकार यह संस्कारोपेक्षा आने के स्थान में रहकर अपने मार्ग का नाम रखती है, उससे मार्ग चार नामों को प्राप्त करता है।

---

१. सम्यक् संकल्प को छोड़कर शेष सात।

२. चतुर्थ-ध्यान में प्रीति के अभाव से प्रीति सम्बोध्यङ्ग को छोड़कर शेष छः बोध्यङ्ग ही होते हैं।

३. उस उस ध्यान के समान होना, केवल आशय मात्र से ही नहीं पूर्ण होता है—यह भावार्थ है।

४. मज्झिम नि० ३, ५, ४।

वह प्रतिपदा किसी भिक्षु की नाना होती है और किसी की चारों भी मार्गों में एक ही। किन्तु भगवान् बुद्ध के चारों भी मार्ग सुख-प्रतिपदा, क्षिप्र-अभिज्ञा वाले ही थे। वैसे (ही) धर्मसेनापति के। किन्तु महामौद्गल्यायन स्थविर का प्रथम मार्ग सुख-प्रतिपदा, क्षिप्र-अभिज्ञा वाला था और ऊपर के तीन दुःख-प्रतिपदा, मन्द-अभिज्ञा वाले।

जैसे प्रतिपदा, ऐसे (ही) अधिपति[1] भी किसी भिक्षु के चारों मार्गों में नाना होते हैं और किसी के चारों में भी एक ही। ऐसे संस्कारोपेक्षा प्रतिपदा की विशेषता को नियमित करती है। जैसे विमोक्ष की विशेषता को नियमित करती है, वह पहले कहा ही गया है।[2]

मार्ग का नामकरण

फिर भी मार्ग का पाँच कारणों से नाम पड़ता है—(१) कृत्य से, (२) विघ्न से, (३) स्व-गुण से, (४) आलम्बन से और (५) आगमन से।

कृत्य से

यदि संस्कारोपेक्षा (-ज्ञान से युक्त योगी) अनित्य के तौर पर संस्कारों का विचार करके उठता है, तो अनिमित्त-विमोक्ष से विमुक्त होता है। यदि दुःख के तौर पर विचार करके उठता है, तो अप्रणिहित विमोक्ष से विमुक्त होता है। यदि अनात्म के तौर पर विचार करके उठता है, तो शून्यता-विमोक्ष से विमुक्त होता है। यह कृत्य से नाम का पड़ना है।

विघ्न से

चूँकि यह अनित्य की अनुपश्यना से संस्कारों के वन का विभाग करके नित्य-निमित्त, ध्रुव-निमित्त, शाश्वत-निमित्त को त्यागते हुए आया है, इसलिये अनिमित्त है। दुःख की अनुपश्यना से सुख होने के ख्याल को त्याग कर प्रणिधि और चाह को सुखा कर आने से अप्रणिहित है। अनात्म की अनुपश्यना से आत्मा, सत्व और पुद्गल होने के ख्याल को त्याग कर संस्कारों को शून्य के तौर पर देखने से शून्यता। यह विघ्न से नाम का पड़ना है।

स्व-गुण से

राग आदि से यह शून्य होने से शून्यता है। रूप-निमित्त आदि या राग-निमित्त आदि के ही अभाव से अनिमित्त है। राग-प्रणिधि आदि के अभाव से अप्रणिहित है। यह इसके स्वगुण से नाम का पड़ना है।

आलम्बन से

यह शून्यता, अनिमित्त और अप्रणिहित निर्वाण को आलम्बन करता है, इसलिये भी शून्यता, अनिमित्त, अप्रणिहित कहा जाता है। यह इसका आलम्बन से नाम का पड़ना है।

आगमन से

आगमन दो प्रकार का होता है—(१) विपश्यना-आगमन और (२) मार्ग-आगमन। वहाँ,

---

१. अधिपति चार हैं—(१) छन्दाधिपति (२) वीर्याधिपति (३) चित्ताधिपति और (४) मीमांसाधिपति।

२. देखिये पृष्ठ २४९।

माग में विपश्यना-आगमन होता है और फल में मार्ग-आगमन। अनात्म की अनुपश्यना शून्यता है, शून्यता की विपश्यना से मार्ग-शून्यता होता है। अनित्य की अनुपश्यना अनिमित्त है, अनिमित्त विपश्यना से मार्ग अनिमित्त होता है।

यह नाम अभिधर्म के पर्याय से नहीं होता है, सूत्रान्त के पर्याय से होता है। वहाँ, गोत्रभू-ज्ञान अनिमित्त निर्वाण को आलम्बन करके अनिमित्त नाम का हो स्वयं आने के योग्य स्थान में स्थित हो मार्ग को नाम देता है—ऐसा कहते हैं। उससे मार्ग अनिमित्त कहा गया है। मार्ग के आगमन से फल अनिमित्त होता है—यह युक्त ही है।

दुःख की अनुपश्यना संस्कारों में प्रणिधि को सुखाकर आने से अप्रणिहित है। अप्रणिहित विपश्यना से मार्ग अप्रणिहित है अप्रणिहित मार्ग का फल अप्रणिहित है। ऐसे विपश्यना अपना नाम मार्ग को देती है, और मार्ग फल को। यह आगमन से नाम का पड़ना है। इस प्रकार यह संस्कारोपेक्षा विमोक्ष की विशेषता को नियमित करती है।

अनुलोम-ज्ञान

उसे उस संस्कारोपेक्षा-ज्ञान का आसेवन करते हुए, भावना करते हुए, अभ्यास करते हुए अधिमोक्ष[१]-श्रद्धा प्रबलतर उत्पन्न होती है, वीर्य भली प्रकार प्रयत्नशील होता है, स्मृति भली प्रकार उपस्थित होती है, चित्त भली प्रकार एकाग्र होता है, संस्कारोपेक्षा बहुत ही तेज होकर उत्पन्न होती है।

'अब मार्ग उत्पन्न होगा' (ऐसा सोचकर) उसकी संस्कारोपेक्षा संस्कारों को अनित्य, दुःख या अनात्म के तौरपर विचार करके भवाङ्ग में उतर जाती है। भवाङ्ग के अनन्तर संस्कारोपेक्षा में किये हुए ढंग से ही संस्कारों को अनित्य, दुःख या अनात्म के तौरपर आलम्बन करते हुए मनोद्वारा-वर्जन उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् भवाङ्ग रुककर उत्पन्न हुए उसके क्रिया-चित्त के अनन्तर वीथि (= चित्त-प्रवर्ति) रहित चित्त की सन्तति को बनाये हुए उसी प्रकार[२] संस्कारों को आलम्बन करके पहला जवन-चित्त उत्पन्न होता है। जो **परिकर्म** कहा जाता है। उसके पश्चात् वैसे ही संस्कारों को आलम्बन करके दूसरा जवन-चित्त उत्पन्न होता है। जो **उपचार** कहा जाता है। उसके अनन्तर भी वैसे ही संस्कारों को आलम्बन करके तीसरा जवन-चित्त उत्पन्न होता है। जो **अनुलोम** कहा जाता है। यह इनका अलग-अलग नाम है।

साधारणतः ये तीन प्रकार के भी (मार्ग) आसेवन भी, परिकर्म भी, उपचार भी, अनुलोम भी कहे जाते हैं। किसके अनुलोम हैं? पूर्व का भाग पिछले भागों का। वह पूर्व के आठ विपश्यना-ज्ञानों और ऊपर के सैंतिस बोधिपाक्षिक[३] धर्मों के वैसे कृत्य के लिए अनुलोम करता है।

वह अनित्य-लक्षण आदि के अनुसार संस्कारों के प्रति प्रवर्तित होनेसे, उदय-व्यय होने वाले ही धर्मों के उत्पाद और व्यय को उदय-व्यय ज्ञान ने देखा, भङ्गानुपश्यना (ज्ञान) ने भङ्ग होने वाले ही के भंग को देखा, भयतोपस्थान के भय युक्त होने पर ही भय के तौर पर जान पड़ा,

१. आलम्बन में निश्चल रूप से रहने को अधिमोक्ष कहते हैं। उससे उत्पन्न श्रद्धा अधिमोक्ष-श्रद्धा है।

२. जैसे पहले आठ ज्ञानों की भावना करने के समय संस्कारों को आलम्बन किया, उसी प्रकार।

३. देखिये, बाईसवाँ परिच्छेद।

आदीनवानुपश्यना दोष-युक्त ही दोषों को देखा, निर्वेद प्राप्त होने योग्य में ही निर्वेद-ज्ञान निर्वेद को प्राप्त हुआ, छुटकारा पाने योग्य में ही मुञ्चितुकम्यता-ज्ञान छुटकारा पाने की इच्छावाला हुआ, जानने योग्य को ही प्रतिसंख्या-ज्ञान से जाना, और उपेक्षा करने योग्य को ही संस्कारोपेक्षा किया—ऐसे अर्थ से कहने के समान , उस प्रतिपत्ति से पाने के कारण, इन आठ ज्ञानों और ऊपर के सैंतिस बोधिपाक्षिक धर्मों के वैसे कृत्य के लिए अनुलोम करता है ।

जैसे धार्मिक राजा विनिश्चय करने के स्थानमें बैठा हुआ विनिश्चय करनेवाले महामात्यों के विनिश्चय (=फैसला) को सुन, अगतिगमन को त्याग कर मध्यस्थ हो, 'ऐसा हो' अनुमोदन करते हुए उनके विनिश्चय के अनुलोम करता है और पुराने राजधर्म के भी। ऐसा ही इसे भी जानना चाहिये ।

राजा के समान अनुलोम ज्ञान है। आठ विनिश्चय करनेवाले महामात्यों के समान आठ ज्ञान हैं। पुराने राजधर्म के समान सैंतिस बोधि-पाक्षिक (धर्म) हैं। वहाँ, जैसे राजा 'ऐसा हो' कहते हुए विनिश्चय करने वालों और राजधर्म के अनुलोम करता है, ऐसे यह अनित्य आदि के अनुसार संस्कारों के प्रति उत्पन्न होता हुआ आठों ज्ञानों और ऊपर के सैंतिस धर्मों के अनुलोम करता है, उसी से सत्य का अनुलोमिक-ज्ञान कहा जाता है ।

यह अनुलोम ज्ञान संस्कारों के आलम्बन वाली उत्थानगामिनी विपश्यना के अन्त में होता है, किन्तु सब प्रकार के गोत्रभू-ज्ञान उत्थानगामिनी विपश्यना का अन्त है ।

सूत्रों का उदाहरण

अब उसी उत्थानगामिनी विपश्यना के अ-संमोह के लिये यह सूत्रों का उदाहरण जानना चाहिये। जैसे यह उत्थानगामिनी विपश्यना **सळायतन विभङ्ग**[१] सूत्र में "भिक्षुओ ! अ-तन्मयता के द्वारा, अ-तन्मयता को लेकर, जो यह एकत्व वाली, एकत्व से सम्बद्ध उपेक्षा है, उसे छोड़ो, उसे अतिक्रमण करो।". ऐसे अ-तन्मयता कही गई है। **अलगद्द**[२] सूत्र में "निर्वेद को प्राप्त होते हुए विरक्त होता है, विराग से विमुक्त होता है।" ऐसे निर्वेद कही गयी है। **सुसीम**[३] सूत्र में "सुसीम ! पहले धर्म-स्थिति-ज्ञान होता है, पीछे निर्वाण में ज्ञान होता है।" ऐसे धर्म-स्थिति-ज्ञान कही गई है। **पोट्ठपाद**[४] सूत्र में "पोट्ठपाद ! पहले संज्ञा उत्पन्न होती है, पीछे ज्ञान उत्पन्न होता है।" ऐसे उत्तम संज्ञा कही गई है। **दसुत्तर**[५] सूत्र में प्रतिपदा-ज्ञानदर्शन विशुद्धि पारिशुद्धि प्रधानीय अङ्ग है।" ऐसे पारिशुद्धि प्रधानीय अङ्ग कही गई है। **पटिसम्भिदामग्ग** में "जो मुञ्चितुकम्यता है, जो प्रतिसंख्यानुपश्यना है और जो संस्कारोपेक्षा है—ये धर्म एक अर्थ वाले हैं, व्यञ्जन ही भिन्न हैं।" ऐसे तीन नामों से कही गई है। **पट्ठान** में "गोत्रभू के अनुलोम होता है, अवदान के अनुलोम होता है।" ऐसे तीन नामों से कही गई है।

---

१. मज्झिम नि० ३, ४, ७ ।
२. मज्झिम नि० १, ३, २ ।
३. संयुत्त नि० १२, ७, १० ।
४. दीघ नि० १, ९ ।
५. दीघ नि० ३, ११ ।

रथविनीत[1] सूत्र में "क्या आवुस ! प्रतिपदा-ज्ञान-विशुद्धि के लिये भगवान् के पास ब्रह्मचर्यवास करते हैं ?" ऐसे प्रतिपदा-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि कही गई है।

इति नेकेहि नामेहि कित्तिता या महेसिना।
वुट्ठानगामिनी सन्ता परिसुद्धा विपस्सना॥
वुट्ठातुकामो संसार-दुक्खपङ्का महब्भया।
करेय्य सततं तत्थ योगं पण्डितजातिको'ति॥

[इस प्रकार जो अनेक नामों से महर्षि (भगवान् बुद्ध) द्वारा शान्त, परिशुद्ध उत्थानगामिनी-विपश्यना कही गई है, महाभयानक संसार-दुःख रूपी कीचड़ से उठना चाहने वाला बुद्धिमान् व्यक्ति उसमें सर्वदा लगा रहे।]

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धि मार्ग में
प्रज्ञाभावना के भाग में प्रतिपदा-ज्ञानदर्शन
विशुद्धि निर्देश नामक इक्कीसवाँ
परिच्छेद समाप्त।

---

१. मज्झिम नि० १, ३, ४।

बाईसवाँ परिच्छेद

ज्ञानदर्शन-विशुद्धि-निर्देश

गोत्रभू ज्ञान

इसके पश्चात् गोत्रभू-ज्ञान होता है। वह मार्ग के आवर्जन के स्थान पर होने से न प्रतिपदा-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि होता है और न तो ज्ञानदर्शन-विशुद्धि। बीच में अव्यवहारिक ही होता है, किन्तु विपश्यना के स्रोत में पड़ने के कारण विपश्यना कहा जाता है।

स्रोतापत्ति मार्ग, सकृदागामी मार्ग, अनागामी मार्ग, अर्हत् मार्ग—इन चार मार्गों में ज्ञान ज्ञानदर्शन-विशुद्धि है।

प्रथम ज्ञान

इस प्रकार उत्पन्न हुए अनुलोम-ज्ञान के, उन-उन भी अनुलोम-ज्ञानों से अपने बल के अनुरूप स्थूल-स्थूल सत्य को ढँकने वाले अन्धकार को लुप्त करने पर सब संस्कारों में चित्त नहीं दौड़ता है, नहीं ठहरता है, नहीं अधिमुक्त होता है, नहीं रुकता है, नहीं लगता है, नहीं बँधता है, कमल के पत्ते से पानी के समान सिकुड़ जाता है, एकत्र हो जाता है, चारों ओर से एक जगह आ जाता है, सब निमित्त का आलम्बन भी, और सारा प्रवर्त्ति का आलम्बन भी विघ्न के तौर पर जान पड़ता है।

तब उसे सब निमित्त और प्रवर्त्ति के आलम्बन के विघ्न के तौर पर जान पड़ने पर अनुलोम ज्ञान के आसेवन करने पर अनिमित्त, अप्रवर्ति, संस्कार-रहित निर्वाण को आलम्बन करते हुए पृथग्जन के गोत्र, पृथग्जन के नाम और पृथग्जन की भूमिको अतिक्रमण करते हुए, आर्य-गोत्र, आर्य-नाम, और आर्य-भूमि में उतरते हुए निर्वाण के आलम्बन में प्रथम मनस्कार हुआ···मार्ग का अनन्तर, समानान्तर, आसेवन, उपनिश्रय, नास्ति, विगत के अनुसार छः आकारों से प्रत्यय होता हुआ शिखा-प्राप्त विपश्यना का श्रेष्ठभूत पुनः नहीं होने वाला गोत्रभू-ज्ञान उत्पन्न होता है। जिसके प्रति कहा गया है—"कैसे बाह्य उत्थान और विवर्तन में प्रज्ञा गोत्रभू-ज्ञान है? उत्पाद का अभिभव करता है, इसलिए गोत्रभू है, प्रवर्ति···उपायास का अभिभव करता है, इसलिए गोत्रभू है······बाह्य संस्कारों के निमित्त का अभिभव करता है, इसलिए गोत्रभू है, अनुत्पाद में प्रवेश करता है, इसलिए गोत्रभू है, अप्रवर्ति···अन्-उपायास निरोध-निर्वाण में प्रवेश करता है, इसलिए गोत्रभू है।"[१] सबका विस्तार करना चाहिये।

वहाँ, यह एक आवर्जन द्वारा एक वीथि में प्रवर्तित होते हुए भी अनुलोम और गोत्रभू के नाना आलम्बन में प्रवर्तित होने के आकार को प्रगट करने वाली उपमा है। जैसे बड़ी नहर को लाँघ कर दूसरे किनारे चले जाने की इच्छावाला पुरुष वेग से दौड़कर नहर के इस किनारे वृक्ष की शाखा में

१. पटिसम्भिदामग्ग।

बाँध कर लटकती हुई रस्सी या लाठी को पकड़, कूदकर दूसरे किनारे जाने के लिए झुके, ढले, लटके हुए शरीर वाला होकर दूसरे किनारे के ऊपरी भाग को पाकर उसे छोड़ काँपते हुए दूसरे किनारे गिरकर धीरे से खड़ा हो जाता है, ऐसे ही यह योगी भी भव, योनि, गति, स्थिति, निवास के दूसरे किनारे होने वाले निर्वाण में प्रतिष्ठित होना चाहते हुए, उदय-व्यय की अनुपश्यना आदि द्वारा वेग से दौड़कर आत्म-भाव रूपी वृक्ष की शाखा में बाँधकर लटकी हुई रूप की रस्सी या वेदना आदि में से किसी एक डण्डा को अनित्य है, दुःख है, अनात्म है,—इस प्रकारके अनुलोम के आवर्जन द्वारा पकड़ कर उसे नहीं छोड़ते हुए ही प्रथम अनुलोम चित्त से कूदकर द्वितीय से दूसरे किनारे जाने के लिए झुके, ढले, लटके हुए शरीर वाले के समान निर्वाण की ओर झुके, ढले, लटके हुए मन वाला होकर तृतीय से दूसरे किनारे के ऊपरी भाग को पाने के समान इस समय पाने योग्य निर्वाण के समीप होकर उस चित्त के निरोध से उस संस्कारों के आलम्बन को छोड़कर गोत्रभू-चित्त से संस्कार रहित दूसरा किनारा हुए निर्वाण में गिरता है, किन्तु एक आलम्बन में आसेवन को नहीं प्राप्त होने से प्रकम्पित होता हुआ उस पुरुष के समान उसी समय सुप्रतिष्ठित नहीं हो जाता है, प्रत्युत उसके बाद मार्ग-ज्ञान से प्रतिष्ठित होता है।

वहाँ, अनुलोम सत्य को ढँकने वाले क्लेश-अन्धकार को नाश कर सकता है, किन्तु निर्वाण को आलम्बन नहीं कर सकता है। गोत्रभू निर्वाण को ही आलम्बन कर सकता है, किन्तु सत्य को ढँकने वाले अन्धकार को नाश नहीं कर सकता है।

इस सम्बन्ध में यह उपमा है—एक चक्षुष्मान् पुरुष "नक्षत्रयोग को जानूँगा" (सोच) रात्रि में निकलकर चन्द्रमा को देखने के लिए ऊपर देखा। बादलों से ढँका हुआ होने से उसे चन्द्रमा नहीं दिखाई दिया। तब एक हवा आकर घने बादलों को उड़ा दी। दूसरी मध्यम और अन्य सूक्ष्म को भी। तत्पश्चात् वह पुरुष बादल रहित आकाश में चन्द्रमा को देखकर नक्षत्र-योग जाना।

वहाँ, तीन बादलों के समान सत्य को ढँकने वाला स्थूल, मध्यम और सूक्ष्म अन्धकार है। तीन हवाओं के समान तीन अनुलोम-चित्त हैं। चक्षुष्मान् पुरुष के समान गोत्रभू-ज्ञान है। चन्द्रमा के समान निर्वाण है। एक-एक हवा के क्रमशः बादलों को उड़ाने के समान ढँकने वाले अन्धकार को नाश करना है। बादलों से रहित आकाश में उस पुरुष के विशुद्ध चन्द्र को देखने के समान सत्य को ढँकने वाले अन्धकार के दूर हो जाने पर गोत्रभू-ज्ञान का विशुद्ध निर्वाण को देखना है।

जैसे तीन हवायें चन्द्रमा को ढँकने वाले बादलों को ही उड़ा सकती हैं, चन्द्रमा को नहीं देख सकती हैं, ऐसे अनुलोम सत्य को ढँकने वाले अन्धकार को ही नाश कर सकते हैं, निर्वाण को नहीं देख सकते हैं। जैसे वह पुरुष चन्द्रमा को ही देख सकता है, बादलों को उड़ा नहीं सकता है, ऐसे गोत्रभू ज्ञान निर्वाण को ही देख सकता है, क्लेश के अन्धकार को नाश नहीं कर सकता है। उसी से वह मार्ग का आवर्जन कहा जाता है।

वह आवर्जन नहीं होते हुए भी आवर्जन के स्थान पर स्थित हो 'ऐसे उत्पन्न हो' मार्ग को संकेत करके निरुद्ध होने के समान निरुद्ध होता है। मार्ग भी उसके द्वारा दिये संकेत को न छोड़कर ही वीचिरहित सन्तति के अनुसार उस ज्ञान के साथ चलते हुए पहले कभी नहीं विद्ध किये गये, पहले कभी नहीं नाश किये गये लोभ, द्वेष और मोह के स्कन्ध (=समूह) को विद्ध करते हुए ही, नाश करते हुए ही उत्पन्न होता है।

उस सम्बन्ध में यह उपमा है—एक धनुषधारी आठ ऋषभ[1] की दूरी पर सौ तख्तों को रखवा कर, वस्त्र से मुख को बाँध, बाण को (धनुष पर) चढ़ाकर चक्के पर खड़ा हो गया। दूसरा पुरुष चक्के को घुमाकर, जब तख्ता धनुषधारी के सामने होता, तब वहाँ डण्डे से संकेत करता था। धनुषधारी डण्डे के संकेत को न छोड़कर ही बाण चला कर सौ तख्तों को छेद देता था।

वहाँ, डण्डे के संकेत के समान गोत्रभू-ज्ञान है। धनुषधारी के समान मार्ग-ज्ञान है। धनुषधारी के डण्डे के संकेत को न छोड़कर ही सौ तख्तों को छेदने के समान मार्ग-ज्ञान का गोत्रभू-ज्ञान द्वारा दिये संकेत को न छोड़कर ही निर्वाण को आलम्बन करके पहले कभी नहीं विद्ध किये गये, पहले कभी नहीं नाश किये गये लोभ, द्वेष और मोह के स्कन्धों को विद्ध और नाश करता है।

केवल यह मार्ग लोभ-स्कन्ध आदि को ही विद्ध नहीं करता है, प्रत्युत अनादि संसार-चक्र के दुःख-समुद्र को सुखा देता है, सब अपाय के द्वारों को बन्द कर देता है। सात आर्य-धनों[2] को दिखलाता है। अष्टाङ्गिक मिथ्या-मार्ग[3] को छोड़ता है। सब वैर-भयों[4] को शान्त कर देता है। सम्यक् सम्बुद्ध का औरस पुत्र बनाता है और भी अनेक सौ आनृशंस की प्राप्ति के लिए होता है। ऐसे अनेक आनृशंस को देनेवाले स्रोतापत्ति मार्ग से युक्त ज्ञान **'स्रोतापत्ति मार्ग में ज्ञान'** है।

द्वितीय ज्ञान

इस ज्ञान के अनन्तर उसी के विपाक हुए दो या तीन फल-चित्त उत्पन्न होते हैं। लोकोत्तर कुशलों के अनन्तर में विपाक देने से ही "जो आनन्तरिक[5] समाधि कही गई है"[6] और 'आश्रवों के क्षय के लिये आनन्तरिक मन्द (समाधि) को पाता है"[7] आदि कहा गया है।

कोई-कोई एक, दो, तीन या चार फल-चित्तों को कहते हैं। उसे नहीं ग्रहण करने चाहिये। क्योंकि अनुलोमका आसेवन करने पर गोत्रभूज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिये सबसे अन्तिम परिच्छेद से (= कम से कम) दो अनुलोम-चित्त होने चाहिये। एक आसेवन प्रत्यय नहीं होता है। सात चित्तोंवाली एक जवन-वीथि होती है। इसलिये जिसे दो अनुलोम होते हैं, उसे तीसरा गोत्रभू, चौथा मार्ग-चित्त और तीन फल-चित्त होते हैं। जिसे तीन अनुलोम होते हैं, उसे चौथा

---

१. "मझले पुरुष के चार हाथ की लाठी से बीस लाठी की दूरी एक ऋषभ है। उससे आठ ऋषभ की दूरी पर। हाथ के अनुसार ६४० हाथ की दूरी पर।"—टीका।

किन्तु, अभिधानप्पदीपिका में—

"…………, विदत्थि ता दुवे सियुं ॥
रतनं, तानि सत्तेव, यट्ठि ता वीसतूसभं ॥"

—कहा गया है। उसके अनुसार ११२० हाथ की दूरी पर।

२. सात आर्य-धन हैं—(१) श्रद्धा (२) शील (३) ह्री (४) अत्रपा (५) श्रुत (६) त्याग और (७) प्रज्ञा। देखिये, अंगुत्तर नि० ७, १, ५-६।

३. अष्टाङ्गिक मिथ्या-मार्ग हैं—(१) मिथ्या दृष्टि (२) मिथ्या संकल्प (३) मिथ्या वाणी (४) मिथ्या कर्मान्त (५) मिथ्या आजीव (६) मिथ्या व्यायाम (७) मिथ्या स्मृति और (८) मिथ्या समाधि।

४. वैर-भयों के लिए देखिये, अंगुत्तर निकाय १०, ५, २।

५. अनन्तर में ही फल देने वाली।

६. सुत्त नि० २, १, ५।

७. अंगुत्तर नि० ४, २, २।

गोत्रभू, पाँचवाँ मार्ग-चित्त और दो फल-चित्त होते हैं। इसलिये कहा गया है—दो या तीन फल-चित्त उत्पन्न होते हैं।

कोई-कोई, जिसे चार अनुलोम होते हैं, उसे पाँचवाँ गोत्रभू, छठाँ मार्ग-चित्त और एक फल-चित्त होता है--ऐसा कहते हैं। वह, चूँकि चौथे या पाँचवें को प्राप्त होता है, भवाङ्ग के समीप होने से उसके पश्चात् नहीं--निषेध किया गया है, इसलिये उसे यथार्थ नहीं मानना चाहिये।

इतने से यह स्रोतापन्न नामक दूसरा आर्य-पुद्गल होता है। अत्यन्त प्रमादी भी होकर सात बार देव और मनुष्य (लोक) में दौड़कर, चक्कर काटकर दुःख का अन्त करने के लिए समर्थ होता है।

फल के अन्त में उसका चित्त भवांग में उतरता है। तत्पश्चात् भवांग को काट कर मार्ग का प्रत्यवेक्षण करने के लिए मनोद्वारावर्जन उत्पन्न होता है। उसके निरुद्ध हो जाने पर परिपाटी से सात मार्ग-प्रत्यवेक्षण के जवन। पुनः भवांग में उतर कर उसी प्रकार फल आदि का प्रत्यवेक्षण करने के लिए आवर्जन आदि उत्पन्न होते हैं, जिनकी उत्पत्ति से यह मार्ग का प्रत्यवेक्षण करता है, प्रहीण हो गये क्लेशों का प्रत्यवेक्षण करता है, अवशेष क्लेशों का प्रत्यवेक्षण करता है, निर्वाण का प्रत्यवेक्षण करता है।

वह 'मैं इस मार्ग से आया हूँ'—मार्ग का प्रत्यवेक्षण करता है। तत्पश्चात् 'यह मुझे आनृशंस मिला' फल का प्रत्यवेक्षण करता है। उसके बाद 'मेरे ये क्लेश प्रहीण हो गये'—प्रहीण हो गये क्लेशों का प्रत्यवेक्षण करता है। उसके बाद 'ये क्लेश अवशेष हैं' ऊपर के तीनों मार्गों से नाश होने वाले क्लेशों का प्रत्यवेक्षण करता है। और अन्त में 'यह धर्म मुझे आलम्बन से ज्ञात हुआ है'—अमृत निर्वाण का प्रत्यवेक्षण करता है। इस प्रकार स्रोतापन्न आर्यश्रावक के पाँच प्रत्यवेक्षण होते हैं।

और जैसे स्रोतापन्न के वैसे (ही) सकृदागामी तथा अनागामी के भी। किन्तु अर्हत् को अवशेष क्लेशों का प्रत्यवेक्षण नहीं होता है। ऐसे सब उन्नीस प्रत्यवेक्षण होते हैं। यह उत्कृष्ट ही परिच्छेद है। शैक्ष्यों को भी प्रहीण हो गये और अवशेष क्लेशों का प्रत्यवेक्षण होता है, अथवा नहीं भी होता है। उस प्रत्यवेक्षण के अभाव से ही **महानाम** ने भगवान् से पूछा—"कौन-सा धर्म मेरे भीतर से नहीं प्रहीण हुआ है, जिससे कि एक समय लोभ धर्म भी मेरे चित्त को पकड़ कर रहते हैं।"[1] सब विस्तार-पूर्वक जानना चाहिये।

ऐसे प्रत्यवेक्षण करके वह स्रोतापन्न आर्यश्रावक उसी आसन पर बैठा हुआ या दूसरे समय काम-राग और व्यापाद को निर्बल (= तनु) करने और दूसरी भूमि को पाने के लिए योग करता है। वह इन्द्रिय, बल, बोध्यंग को मिलाकर उन्हीं रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञानवाले संस्कारों को 'अनित्य, दुःख, अनात्म हैं'—ऐसे ज्ञान से परिमर्दन करता है, परिवर्तित करता है, विपश्यना की वीथि का अवगाहन करता है।

उसे ऐसे प्रतिपन्न होते हुए उक्त प्रकार से ही संस्कारोपेक्षा के अन्त में एक आवर्जन से अनुलोम, गोत्रभू के पश्चात् सकृदागामी मार्ग उत्पन्न होता है। उससे युक्त ज्ञान **सकृदागामी मार्ग में ज्ञान** है।

---

१. मज्झिम नि० १, २, ४।

तृतीय ज्ञान

इस भी ज्ञान के अनन्तर उक्त प्रकार से ही फल के चित्तों को जानना चाहिये। इतने से यह सकृदागामी नामक चौथा आर्य-पुद्गल होता है, जो एक बार ही इस लोक में आकर दुःख का अन्त करने में समर्थ होता है। उसके बाद प्रत्यवेक्षण उक्त प्रकार से ही।

ऐसे प्रत्यवेक्षण करके वह सकृदागामी आर्यश्रावक उसी आसन पर बैठा हुआ या दूसरे समय काम-राग और व्यापाद के सम्पूर्णतः प्रहाण और तीसरी भूमि को पाने के लिए योग करता है। वह इन्द्रिय, बल, बोध्यङ्ग को मिलाकर उन्हीं संस्कारों को अनित्य, दुःख, अनात्म हैं—ऐसे ज्ञान से परिमर्दन करता है, परिवर्तित करता है, विपश्यना की विधि का अवगाहन करता है।

उसे ऐसे प्रतिपन्न होते हुए उक्त प्रकार से ही संस्कारोपेक्षा के अन्त में एक आवर्जन से अनुलोम, गोत्रभू ज्ञानों के उत्पन्न होने पर, गोत्रभू के पश्चात् अनागामी मार्ग उत्पन्न होता है। इससे युक्त ज्ञान **अनागामी मार्ग में ज्ञान है।**

चतुर्थ ज्ञान

इस भी ज्ञान के अनन्तर उक्त प्रकार से ही फल के चित्तों को जानना चाहिये। इतने से यह अनागामी नामक छठाँ आर्य-पुद्गल होता है। (जो) औपपातिक (= देव) हो वहाँ (स्वर्ग लोक में) निर्वाण प्राप्त करने वाला, और प्रतिसन्धि के अनुसार पुनः इस लोक को नहीं आने वाला होता है। उसके बाद प्रत्यवेक्षण उक्त प्रकार से ही।

ऐसे प्रत्यवेक्षण करके वह अनागामी आर्यश्रावक उसी आसन पर बैठा हुआ या दूसरे समय रूप और अरूप राग, मान, औद्धत्य, अविद्या के सम्पूर्णतः प्रहाण और चौथी भूमि को पाने के लिए योग करता है। वह इन्द्रिय, बल, बोध्यङ्ग को मिलाकर उन्हीं संस्कारों को अनित्य, दुःख, अनात्म हैं--ऐसे ज्ञान से परिमर्दन करता है, परिवर्तित करता है, विपश्यना की वीथि का अवगाहन करता है।

उसे ऐसे प्रतिपन्न होते हुए उक्त प्रकार से ही संस्कारोपेक्षा के अन्त में एक आवर्जन से अनुलोम, गोत्रभू ज्ञानों के उत्पन्न होने पर, गोत्रभू के पश्चात् अर्हत् मार्ग उत्पन्न होता है। उससे युक्त ज्ञान **अर्हत् मार्ग में ज्ञान है।**

इस भी ज्ञान के अनन्तर उक्त प्रकार से ही फल के चित्तों को जानना चाहिये। इतने से यह अर्हत् नामक आठवाँ आर्य पुद्गल होता है। (जो) महाक्षीणास्रव, अन्तिम शरीर धारण करने वाला, फेंके हुए भार वाला, अपने अर्थ को पाया हुआ, भव के बन्धनों को तोड़ा हुआ, भली प्रकार जानकर विमुक्त, देवताओं के साथ (सारे) लोक का अग्र-दाक्षिणेय्य होता है।

जो कहा गया है—"स्रोतापत्ति मार्ग, सकृदागामी मार्ग, अनागामी मार्ग, अर्हत्-मार्ग—इन चार मार्गों में ज्ञान ज्ञानदर्शन-विशुद्धि है।"[१] वह ऐसे और इस अनुक्रम से पाने योग्य इन चार ज्ञानों के प्रति कहा गया है।

अब, इसी चार ज्ञान वाली ज्ञानदर्शन-विशुद्धि के अनुभाव को जानने के लिये—

परिपुण्णबोधिपक्खियभावो उट्ठानबलसमायोगो।
ये येन पहातब्बा धम्मा तेसं पहानञ्च॥

१, देखिये, पृष्ठ २६२।

किच्चानि परिञ्ञादीनि यानि वुत्तानि अभिसमयकाले।
तानि च यथासभावेन जानितब्बानि सब्बानी'ति ॥

[बोधिपाक्षिक (धर्मों) का परिपूर्ण होना, उत्थान और बल का समायोग, जो जिससे प्रहीण होने योग्य धर्म हैं, उनका प्रहाण और परिज्ञा आदि कृत्य, जो अभिसमय (= ज्ञान-प्राप्ति) के समय में कहे गये हैं, उन सबको स्वभाव के अनुसार जानना चाहिये ।]

[१] बोधिपाक्षिक धर्म

वहाँ, **परिपुण्णबोधिपक्खियभावो**—बोधिपाक्षिकों का परिपूर्ण होना। चार स्मृति-प्रस्थान, चार सम्यक् प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रिय, पाँच बल, सात बोध्यङ्ग, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग—ये सैंतिस धर्म बूझने (=जानने) के अर्थ से 'बोध' नाम से पुकारे जाने वाले आर्य-मार्ग के पक्ष में होने से बोधिपाक्षिक कहे जाते हैं। 'पक्ष में होने से'—इसका अर्थ है—उपकार करने वाले होने से।

चार स्मृति-प्रस्थान

उन-उन आलम्बनों में घुसकर, प्रवेश करके जानने से उपस्थान है। स्मृति ही उपस्थान है, इसलिए स्मृति-प्रस्थान कहा जाता है। काय, वेदना, चित्त और धर्मों में अशुभ, दुःख, अनित्य और अनात्म के आकार से ग्रहण करने और शुभ, सुख, नित्य, आत्म-संज्ञा के प्रहाण-कृत्य को सिद्ध करने के अनुसार इसकी प्रवर्ति से चार प्रकार का भेद होता है, इसलिए चार स्मृति-प्रस्थान कहे जाते हैं।

चार सम्यक् प्रधान

इससे प्रयत्न करते हैं, इसलिए प्रधान है। शोभन प्रधान सम्यक् प्रधान है। या सम्यक् रूपसे इससे प्रयत्न करते हैं, इसलिए सम्यक् प्रधान है। अथवा वह क्लेशों के कुरूप भाव को छोड़ने से सुन्दर है और श्रेष्ठ बनाने तथा उत्तम होने के हेतु द्वारा हित, सुख को पूर्ण करने से प्रधान है, इसलिए सम्यक् प्रधान है। यह वीर्य (= उद्योग, प्रयत्न) का नाम है। यह उत्पन्न और अनुत्पन्न अकुशलों को दूर करने और नहीं उत्पन्न होने देने के कृत्य तथा अनुत्पन्न और उत्पन्न कुशलों को उत्पन्न करने और बनाये रखने के कृत्य को सिद्ध करता है—ऐसे चार प्रकार का होता है। इसलिए चार सम्यक् प्रधान कहे जाते हैं।

चार ऋद्धिपाद

पहले कहे गये[1] सिद्ध होने के अर्थ से ऋद्धि है। आगे-आगे चलने के अर्थ से उससे युक्त और पूर्व भाग में हेतु होने से फल हुई ऋद्धि का पाद, ऋद्धिपाद है। वह छन्द आदि के अनुसार चार प्रकार का होता है, इसलिए चार ऋद्धिपाद कहे जाते हैं। जैसे कहा है—"चार ऋद्धिपाद हैं—(१) छन्द-ऋद्धिपाद, (२) वीर्य-ऋद्धिपाद (३) चित्त-ऋद्धिपाद (४) मीमांसा-ऋद्धिपाद।"[2] ये

---

१. देखिये बारहवाँ परिच्छेद।

२. विभङ्ग।

लोकोत्तर ही हैं। लौकिक "भिक्षु छन्द को अधिपति (= प्रधान) करके समाधि को प्राप्त करता है, चित्त की एकाग्रता को पाता है—इसे छन्द समाधि कहते हैं।"[1] आदि वचन से छन्दाधिपति के अनुसार प्राप्त हुए धर्म भी होते हैं।

इन्द्रिय और बल

अ-श्रद्धा, आलस्य, प्रमाद, विक्षेप, संमोह को पछाड़ने से, पछाड़ना कहलाने वाले अधिपति के अर्थ से इन्द्रिय है। और अ-श्रद्धा आदि से नहीं पछाड़े जाने से अविचलित होने के अर्थ से बल है। वे दोनों भी श्रद्धा आदि[2] के अनुसार पाँच प्रकार के होते हैं। इसलिए पाँच इन्द्रिय, पाँच बल कहे जाते हैं।

बोध्यङ्ग और मार्ग

ज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति के अङ्ग होने से स्मृति आदि सात बोध्यङ्ग हैं। निर्वाण तक पहुँचाने के अर्थ से सम्यक् दृष्टि आदि आठ मार्ग के अंग होते हैं, इसलिये कहा गया है—सात बोध्यङ्ग, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग।

इस प्रकार ये सैंतिस बोधिपाक्षिक धर्म, पूर्व भाग में लौकिक विपश्यना के होने पर चौदह प्रकार[3] से काय का परिग्रह करते हुए कायानुपश्यना-स्मृति-प्रस्थान, नव प्रकार[4] से वेदना का परिग्रह करते हुए वेदनानुपश्यना स्मृति-प्रस्थान, सोलह प्रकार[5] से चित्त का परिग्रह करते हुए चित्तानुपश्यना स्मृति-प्रस्थान, पाँच प्रकार[6] से धर्मों का परिग्रहण करते हुए धर्मानुपश्यना स्मृति-प्रस्थान, इस आत्म-भाव में पहले कभी नहीं उत्पन्न हुए दूसरे के उत्पन्न अकुशल को देखकर, उसके जैसे प्रतिपन्न होने पर यह उत्पन्न हुआ है, मैं वैसे नहीं प्रतिपन्न होऊँगा, इस प्रकार यह मुझे नहीं उत्पन्न होगा,—(सोचकर) उसको नहीं उत्पन्न होने के लिये प्रयत्न करने के समय पहला सम्यक् प्रधान, अपने द्वारा किये हुए अकुशल (= पाप) को देखकर उसको दूर करने के लिए प्रयत्न करने के लिए प्रयत्न करने के समय दूसरा, इस आत्म-भाव में पहले कभी नहीं उत्पन्न हुए ध्यान या विपश्यना को उत्पन्न करने के लिये प्रयत्न करने के समय तीसरा, उत्पन्न हुए जैसे नहीं नष्ट होते हैं, वैसे बार-बार उत्पन्न करने के समय चौथा सम्यक् प्रधान; छन्द को प्रधान करके कुशल उत्पन्न करने के समय

१. विभङ्ग।

२. श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा—ये पाँच श्रद्धा आदि हैं।

३. आनापान पर्व, ईर्य्यापथ पर्व, सम्प्रजन्य पर्व, प्रतिकूल मनस्कार पर्व, धातु मनस्कार पर्व, और नव शीवथिका पर्व—इन चौदह पर्वों के अनुसार। दे०, दीघ नि० २, ९।

४. "सुख वेदना का अनुभव करते हुए···दुःख वेदना···अदुःख-असुख···अथवा सामिष सुख, दुःख, अदुःख-असुख या निरामिष सुख, दुःख, अदुःख-असुख वेदना का अनुभव करते हुए।" ऐसे नव प्रकार से। दे०, दीघ नि० २,९।

५. "सराग चित्त, वीतराग चित्त, सद्वेष चित्त, वीत द्वेष चित्त, समोह चित्त, मोह रहित चित्त, संक्षिप्त (=संकुचित), विक्षिप्त, महद्गत, अ-महद्गत, स-उत्तर, अनुत्तर, समाहित (=एकाग्र), अ-समाहित, विमुक्त, अ-विमुक्त चित्त को जानता है।" ऐसे सोलह प्रकार से। दे० दीघनि० २,९।

६. नीवरण पर्व, स्कन्ध पर्व, आयतन पर्व, बोध्यङ्ग पर्व, सत्य पर्व—इन पाँच पर्वों के अनुसार। देखिये, दीघ नि० २,९।

छन्द-ऋद्धिपाद······मिथ्या वचन से विरत होने के समय सम्यक् वाणी—ऐसे नाना चित्तों में होते हैं, किन्तु इन चार ज्ञानों के उत्पन्न होने के समय एक चित्त में होते हैं। फल के क्षण को छोड़कर चार सम्यक् प्रधान में अवशेष तैंतिस होते हैं।

ऐसे एक चित्त में इनके होने पर एक ही निर्वाण के अवलम्बन वाली स्मृति काय आदि में शुभ होने के ख्याल आदि के ग्रहण करने के काम को करने के अनुसार चार स्मृति-प्रस्थान कही जाती है और एक ही वीर्य अनुत्पन्न (धर्मों) के अनुत्पाद आदि के काम को करने के अनुसार चार सम्यक् प्रधान कहा जाता है। शेष में घटाव-बढ़ाव नहीं है। फिर भी उनमें—

नव एकविधा एको द्वेधाथ चतु-पञ्चधा।
अट्ठधा नवधा चेव इति छधा भवन्ति ते॥

[नव एक प्रकार के, एक दो प्रकार का, चार-पाँच प्रकार का, आठ और नव प्रकार का,—ऐसे वे छः प्रकार के होते हैं।]

नव एक प्रकार के—छन्द, चित्त, प्रीति, प्रश्रब्धि, उपेक्षा, संकल्प, वचन, कर्मान्त, आजीव—ये नव छन्द ऋद्धिपाद के अनुसार एक प्रकार के ही होते हैं, अन्य भाग में सम्मिलित नहीं होते हैं। **एक दो प्रकार का**—श्रद्धा-इन्द्रिय और बल के अनुसार दो प्रकार से है। **चार-पाँच प्रकार का**—अन्य एक चार प्रकार का, अन्य एक पाँच प्रकार से हैं—यह अर्थ है। उनमें समाधि एक इन्द्रिय, बल, बोध्यङ्ग और मार्ग के अनुसार चार प्रकार से स्थित है। प्रज्ञा उन चारों और ऋद्धिपाद के भाग के अनुसार पाँच प्रकार से स्थित है। **आठ और नव प्रकार का**—दूसरा एक आठ प्रकार से और एक नव प्रकार से स्थित है—यह अर्थ है। चार स्मृति-प्रस्थान, इन्द्रिय, बल, बोध्यङ्ग और मार्गाङ्ग के अनुसार स्मृति आठ प्रकार से स्थित है। चार सम्यक् प्रधान, ऋद्धि-पाद, इन्द्रिय, बल, बोध्यङ्ग और मार्गाङ्ग के अनुसार वीर्य नव प्रकार से। ऐसे—

चुद्दसेव असम्भिन्ना होन्तेते बोधिपक्खिया।
कोट्ठासतो सत्तविधा सत्ततिंस पभेदतो॥
सकिच्चनिप्फादनतो सरूपेन च वुत्तितो।
सब्बे व अरियमग्गस्स सम्भवे सम्भवन्ति ते॥

[ग्रहण किये हुए को छोड़कर गिनने पर बोधिपाक्षिक (धर्म) चौदह[1] ही होते हैं। भाग से सात प्रकार[2] के होते हैं और प्रभेद से सैंतिस प्रकार के। वे सभी अपने कार्य को पूर्ण करने, स्वरूप और प्रवर्तित होने से आर्य मार्ग के होने पर ही होते हैं।]

इस प्रकार बोधिपाक्षिक धर्मों के परिपूर्ण होने को जानना चाहिये।

[२] उत्थान और बल का समायोग

वुट्ठानबलसमायोगो—उत्थान और बल का समायोग। लौकिक विपश्यना निमित्त के आलम्बन और प्रवर्ति के कारण समुदय के नाश नहीं होने से न तो निमित्त से ही और न प्रवर्ति से उठती है। गोत्रभू ज्ञान समुदय के नाश नहीं होने से प्रवर्ति से नहीं उठता है, किन्तु निर्वाण के

१. स्मृति, वीर्य, छन्द, चित्त, प्रज्ञा, श्रद्धा, समाधि, प्रीति, प्रश्रब्धि, उपेक्षा, संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका—इनके अनुसार चौदह।

२. स्मृति-प्रस्थान, सम्यक् प्रधान, ऋद्धिपाद, इन्द्रिय, बल, बोध्यङ्ग और मार्ग।

आलम्बन से निमित्त से उठता है, इसलिये एक से उत्थान होता है। उससे कहा है—"बाह्य (= संस्कार-निमित्त) से उठने और उलटने (परिवर्तित होने) में प्रज्ञा गोत्रभू ज्ञान है।"[१] वैसे (ही) "उत्पाद से मुड़कर अनुत्पाद में दौड़ता है, इसलिये गोत्रभू है, प्रवर्ति से उलट कर।"[२] ऐसे सब जानना चाहिये। ये चारों भी ज्ञान अनिमित्त आलम्बन वाले होने से निमित्त से उठते हैं, समुदय के नाश से प्रवर्ति से उठते हैं, इस प्रकार दोनों से उत्थान होते हैं।

उससे कहा गया है—"कैसे दोनों से उठने और परिवर्तित होने में प्रज्ञा मार्ग में ज्ञान है? स्रोतापत्ति मार्ग के क्षण देखने के अर्थ में सम्यक् दृष्टि मिथ्या-दृष्टि से उठती है, उनके अनुसार रहने वाले क्लेशों और स्कन्धों से उठती है, और बाह्य सब निमित्तों से उठती है, उससे कहा जाता है—दोनों से उठने और परिवर्तित होने में प्रज्ञा मार्ग में ज्ञान है। अभिनिरोपण करने के अर्थ में सम्यक् संकल्प, मिथ्या संकल्प से·····परिग्रह करने के अर्थ में सम्यक् वाणी, मिथ्या वाणी से,···उत्पन्न होने के अर्थ में सम्यक् कर्मान्त···पारिशुद्धि के अर्थ में सम्यक् आजीविका···प्रयत्न करने के अर्थ में सम्यक् व्यायाम···न भूलने के अर्थ में सम्यक् स्मृति···विक्षेप नहीं होने के अर्थ में सम्यक् समाधि, मिथ्या समाधि से उठती है। उनके अनुसार रहने वाले क्लेशों और स्कन्धों से उठती है और बाह्य सब निमित्तों से उठती है, इसलिये कहा जाता है—दोनों से उठने और परिवर्तित होने में प्रज्ञा मार्ग से ज्ञान है। सकृदागामी-मार्ग के क्षण देखने के अर्थ में सम्यक् दृष्टि··· विक्षेप नहीं होने के अर्थ में सम्यक् समाधि स्थूल काम-राग के संयोजन (= बन्धन) और प्रतिघ (= प्रतिहिंसा) संयोजन से, स्थूल काम-राग के अनुशय और प्रतिघ-अनुशय से उठती है······ अनागामी-मार्ग के क्षण देखने के अर्थ में सम्यक् दृष्टि···विक्षेप नहीं होने के अर्थ में सम्यक् समाधि अणु मात्र साथ रहने वाले काम-राग-संयोजन और प्रतिघ-संयोजन से, अणु मात्र साथ रहने वाले कामराग-अनुशय और प्रतिघ-अनुशय से उठती है···अर्हत् मार्ग के क्षण देखने के अर्थ में सम्यक् दृष्टि······विक्षेप नहीं होने के अर्थ में सम्यक् समाधि रूप राग, अरूप-राग, मान, औद्धत्य और अविद्या, तथा मान-अनुशय, भव-राग-अनुशय और अविद्या-अनुशय से उठती है। उनके अनुसार रहने वाले क्लेशों और स्कन्धों से उठती है और बाह्य सब निमित्तों से उठती है, इसलिये कहा जाता है—"दोनों से उठने और परिवर्तित होने में प्रज्ञा मार्ग में ज्ञान है।"[३]

लौकिक आठ समापत्तियों की भावना करने के समय शमथ का बल अधिक होता है। और अनित्यानुपश्यना आदि की भावना करने के समय विपश्यना का बल। किन्तु आर्य-मार्ग के क्षण वे धर्म एक-दूसरे का अतिक्रमण न करते हुए एक साथ प्रवर्तित होते हैं। इसलिए इन चारों भी ज्ञानों में दोनों बलों का समायोग होता है। जैसे कहा है—"औद्धत्य से युक्त क्लेशों और स्कन्धों से उठते हुए (योगी) के चित्त की एकाग्रता, अ-विक्षेप समाधि निरोध (= निर्वाण) के आलम्बन वाली है, और अविद्या से युक्त क्लेशों और स्कन्धों से उठते हुए (योगी) की अनुपश्यना के अर्थ में विपश्यना निरोध के आलम्बन वाली है। इस प्रकार उठने के अर्थ में शमथ और विपश्यना एक समान कृत्य वाली होती हैं, एक में जुती होती हैं, एक-दूसरे का अतिक्रमण नहीं करती हैं। उससे कहा जाता है—उठने के अर्थ में शमथ और विपश्यना की एक साथ भावना करता है।" इस प्रकार उत्थान और बल के समायोग को जानना चाहिये।

---

१. पटिसम्भिदा १, १।

२. पटिसम्भिदा १, २।

३. पटिसम्भिदा १, २।

[३] प्रहातव्य धर्म और उनका प्रहाण

ये येन पहातब्बा धम्मा तेसं पहानञ्च—इन चारों ज्ञानों में जो धर्म जिस ज्ञान से प्रहातव्य हैं, उनके प्रहाण को जानना चाहिये। ये यथायोग्य संयोजन, क्लेश, मिथ्यात्व, लोक-धर्म, मात्सर्य, विपर्यास, ग्रन्थ, अगति, आश्रव, ओघ, योग, नीवरण, परामर्श, उपादान, अनुशय, मल, अकुशल-कर्म-पथ, और अकुशल चित्तोत्पाद कहलाने वाले धर्मों का प्रहाण करने वाले हैं।

संयोजन

स्कन्धों से स्कन्धों को, फल से कर्म को, या दुःख से प्राणियों को जोड़ने से रूप-राग आदि दस धर्म संयोजन कहे जाते हैं। वे जबतक रहते हैं, तब तक ये बने रहते हैं। उनमें भी रूप-राग, मान, औद्धत्य, अविद्या—ये पाँच ऊपर उत्पन्न होने वाले स्कन्ध आदि के संयोजक होने से ऊर्ध्वभागीय संयोजन कहलाते हैं और सत्काय-दृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत-परामर्श, कामराग, प्रतिघ—ये पाँच नीचे उत्पन्न होने वाले स्कन्ध आदि के संयोजक होने से अधोभागीय संयोजन कहलाते हैं।

क्लेश

स्वयं संक्लिष्ट होने और अपने से युक्त धर्मों को भी संक्लिष्ट करने से लोभ, द्वेष, मोह, मान, दृष्टि, विचिकित्सा, स्त्यान, औद्धत्य, अ-ह्रीक, अनत्रपा— ये दस धर्म क्लेश कहलाते हैं।

मिथ्यात्व

मिथ्या रूप से प्रवर्तित होने से मिथ्या-दृष्टि, मिथ्या संकल्प, मिथ्या वाणी, मिथ्या कर्मान्त, मिथ्या आजीव, मिथ्या व्यायाम, मिथ्या स्मृति, मिथ्या समाधि—ये आठ धर्म, या मिथ्या-विमुक्ति और मिथ्या ज्ञान के साथ दस।

लोक-धर्म

लोक की प्रवर्तिके होने पर बने रहने से लाभ, अलाभ, यश, अयश, सुख, दुःख, निन्दा, प्रशंसा—ये आठ। यहाँ कारण से लाभ आदि वस्तु के अनुनय (= छन्द) और अलाभ आदि वस्तु के प्रतिघ (= विहिंसा) को लोक-धर्म के ग्रहण करने से ग्रहण किया गया है—ऐसा जानना चाहिये।

मात्सर्य

आवास-मात्सर्य, कुल-मात्सर्य, लाभ-मात्सर्य, धर्म-मात्सर्य, वर्ण-मात्सर्य,—ये आवास आदि में से किसी एक के सबके लिए साधारण होने को न सहने के आकार से प्रवर्तित होने वाले पाँच मात्सर्य।

विपर्यास

अनित्य, दुःख, अनात्मा, अशुभ ही वस्तुओं में नित्य, सुख, आत्मा, शुभ—ऐसे प्रवर्तित संज्ञा का विपर्यास (= उलटापन), चित्त का विपर्यास, दृष्टि का विपर्यास—ये तीन।

ग्रन्थ

नाम-काय और रूप-काय को बाँधने से अभिध्या आदि चार। वैसे ही वे "अभिध्या काय-ग्रन्थ, व्यापाद काय-ग्रन्थ, शीलव्रत-परामर्श काय-ग्रन्थ, 'यही सत्य है' ऐसा अभिनिवेश काय-ग्रन्थ।"[१] कहे गये हैं।

अगति

छन्द, द्वेष, मोह, भय से अकरणीय के करने और करणीय के नहीं करने का यह नाम है। वह आर्यों के नहीं जाने योग्य होने से अगति कही जाती है।

आश्रव, ओघ और योग

आलम्बन के अनुसार गोत्रभू तक से और भवाग्र तक से चूने से, या संयम रहित द्वारों से घड़े के छेद से पानी के समान चूने से, अथवा नित्य बहने के अर्थ में संसार-दुःख के बहने से काम-राग, भवराग, मिथ्या-दृष्टि, अविद्या का यह नाम है।

भव-सागर में खींचने और कठिनाई से तैरे जाने के अर्थ में ओघ भी, और आलम्बन के वियोग तथा दुःख के वियोग को नहीं प्रदान करने से योग भी उन्हीं का नाम है।

नीवरण

चित्त को आवरण करने, ढँकने और छा देने के अर्थ में कामच्छन्द आदि पाँच।

परामर्श

उस-उस धर्म के स्वभाव का अतिक्रमण कर बाह्य अ-यथार्थ स्वभाव को दृढ़ता पूर्वक ग्रहण करने के आकार से प्रवर्तित होने से मिथ्या-दृष्टि का यह नाम है।

उपादान

सब प्रकार के प्रतीत्य समुत्पाद निर्देश में कहे गये काम-उपादान आदि चार।

अनुशय

बल प्राप्त होने से कामराग-अनुशय, प्रतिघ, मान, दृष्टि, विचिकित्सा, भवराग, अविद्या-अनुशय—ऐसे कहे गये[२] कामराग आदि सात। वे बल-प्राप्त होने से बार-बार कामराग आदि की उत्पत्ति का कारण होकर सोते ही हैं, इसलिए अनुशय हैं।

मल

कँजरी (= तेलाञ्जन-कलल) के समान स्वयं अशुद्ध होने और दूसरों को भी अशुद्ध करने से लोभ, द्वेष, मोह तीन।

अकुशल कर्म-पथ

अकुशल कर्म और दुर्गति का पथ (= मार्ग) होने से प्राणातिपात, बिना दिये हुए लेना

---

१. विभङ्ग।

२. दीघनिकाय के संगीति सूत्र में कहे गये। दे दीघ नि० ३, १०।

(= चोरी), काम-भोगों में मिथ्या आचार (= व्यभिचार), झूठ बोलना, चुगलखोरी, कटुवचन, बकवाद, अभिध्या (= लालच), व्यापाद (= विहिंसा), मिथ्यादृष्टि—ये दस।

अकुशल चित्तोत्पाद

लोभ-मूल वाले आठ, द्वेष-मूल वाले दो और मोह-मूल वाले दो—ये बारह।

इस प्रकार इन संयोजन आदि धर्मों का ये यथायोग्य प्रहाण करने वाले हैं। कैसे? संयोजनों में सत्काय-दृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत-परामर्श और अपायगामिनी कामराग, प्रतिघ—ये पाँच धर्म प्रथम ज्ञान से नाश होने वाले हैं। शेष स्थूल कामराग और प्रतिघ द्वितीय ज्ञान से नाश होने वाले हैं। सूक्ष्म तृतीय ज्ञान से नाश होने वाले हैं। रूप आदि पाँचों भी चतुर्थ ज्ञान से ही नाश होने वाले हैं। आगे भी जहाँ-जहाँ 'ही' शब्द से निश्चित नहीं करेंगे, वहाँ-वहाँ जो जो 'ऊपरी ज्ञान से नाश होने वाला है'—कहेंगे, वह-वह पूर्व के ज्ञानों से अपायगमनीय आदि होने वाला न होकर ही ऊपरी ज्ञान से नाश होने वाला होता है—ऐसा जानना चाहिये।

क्लेशों में दृष्टि और विचिकित्सा प्रथम ज्ञान से नाश होने वाले हैं। द्वेष तृतीय ज्ञान से नाश होने वाला है। लोभ, मोह, मान, स्त्यान, औद्धत्य, अह्रीक, अनत्रपा चतुर्थ ज्ञान से नाश होने वाले हैं।

मिथ्यात्व में, मिथ्यादृष्टि, झूठ वचन, मिथ्या कर्मान्त और मिथ्या आजीव—ये प्रथम ज्ञान से नाश होने वाले हैं। मिथ्या संकल्प, चुगलखोरी, कटुवचन,—ये तृतीय ज्ञान से नाश होने वाले हैं। चेतना ही को यहाँ 'वचन' जानना चाहिये। बकवाद, मिथ्या व्यायाम, मिथ्या स्मृति, मिथ्या समाधि, मिथ्या विमुक्ति और मिथ्या ज्ञान चतुर्थ ज्ञान से नाश होने वाले हैं।

लोकधर्मों में, प्रतिघ तृतीय ज्ञान से नाश होने वाला है, अनुनय (=छन्द) चतुर्थ ज्ञान से नाश होने वाला है। कोई-कोई कहते हैं कि प्रशंसा और अनुनय चतुर्थ ज्ञान से नाश होने वाले हैं। मात्सर्य प्रथम ज्ञान से ही नाश होने वाले हैं।

विपर्यासों में अनित्य में, नित्य और अनात्मा में आत्मा मानने वाले संज्ञा, चित्त, दृष्टि के विपर्यास तथा दुःख में सुख, अशुभ में शुभ—ऐसे मानने वाले दृष्टि का विपर्यास—ये प्रथम ज्ञान से नाश होने वाले हैं। अशुभ में शुभ मानने वाले संज्ञा, चित्त के विपर्यास तृतीय ज्ञान से नाश होनेवाले हैं तथा दुःख में सुख मानने वाले संज्ञा और चित्त के विपर्यास चतुर्थ ज्ञान से नाश होनेवाले हैं।

ग्रन्थों में, शीलव्रत-परामर्श, 'यही सत्य है' ऐसा अभिनिवेश काय-ग्रन्थ प्रथम ज्ञान से नाश होने वाले हैं। व्यापाद-काय ग्रन्थ तृतीय ज्ञान से नाश होने वाला है। अन्य चतुर्थ ज्ञान से नाश होने वाला। अगति प्रथम ज्ञान से ही नाश होने वाली है।

आश्रवों में, दृष्टाश्रव प्रथम ज्ञान से नाश होने वाला है। कामाश्रव तृतीय ज्ञान और अन्य दो चतुर्थ ज्ञान से नाश होने वाले हैं। ओघ और योग में भी इसी प्रकार।

नीवरणों में, विचिकित्सा नीवरण प्रथम ज्ञान से नाश होने वाला है। कामच्छन्द, व्यापाद और कौकृत्य—ये तीन तृतीय ज्ञान से नाश होने वाले हैं। स्त्यान-मृद्ध और औद्धत्य चतुर्थ ज्ञान से नाश होने वाले हैं। परामर्श प्रथम ज्ञान से ही नाश होने वाला है।

उपादानों में, सभी लौकिक धर्मों के वस्तु-काम के अनुसार 'काम' होता है—ऐसे आने

से[1] रूप और अरूप राग भी काम-उपादान में आ जाता है, इसलिये वह चतुर्थ ज्ञान से नाश होने वाला है। शेष प्रथम ज्ञान से नाश होने वाले हैं।

अनुशयों में, दृष्टि और विचिकित्सा अनुशय प्रथम ज्ञान से ही नाश होने वाले हैं। काम-राग और प्रतिघ अनुशय तृतीय ज्ञान से नाश होने वाले हैं। मान, भवराग और अविद्या अनुशय चतुर्थ ज्ञान से नाश होने वाले हैं।

मलों में, द्वेष-मल तृतीय ज्ञान से नाश होने वाला है। अन्य चतुर्थ ज्ञान से नाश होने वाले हैं।

अकुशल कर्म-पथों में, प्राणातिपात, चोरी, व्यभिचार, झूठ-वचन, मिथ्यादृष्टि—ये प्रथम ज्ञान से नाश होने वाले हैं। चुगलखोरी, कटु-वचन और व्यापाद—तीन तृतीय ज्ञान से नाश होने वाले हैं। बकवाद और अभिध्या चतुर्थ ज्ञान से नाश होने वाले हैं।

अकुशल चित्तोत्पादों में, चार दृष्टि से युक्त और विचिकित्सा से युक्त—पाँच प्रथम ज्ञान से ही नाश होने वाले हैं। दो प्रतिघ से युक्त तृतीय ज्ञान से नाश होने वाले हैं। शेष चतुर्थ ज्ञान से नाश होने वाले हैं।

जो जिसके द्वारा नाश होने वाला है, वह उससे प्रहातव्य है। इसलिए कहा है—"इस प्रकार इन संयोजन आदि धर्मों को ये यथायोग्य प्रहाण करने वाले हैं।"

क्या ये भूत-भविष्यत् के इन धर्मों को त्यागते हैं या वर्तमान् के ? क्या यहाँ कहना है, यदि भूत-भविष्यत् का त्याग करेंगे, तो (सारा) प्रयत्न निष्फल होगा। क्यों ? प्रहातव्य (धर्मों) के नहीं होने से। तब वर्तमान् का; वैसे भी निष्फल होगा, प्रयत्न के साथ प्रहातव्य (धर्मों) के होने से। और मार्ग की भावना भी क्लेश युक्त हो जाती है, या क्लेशों का विप्रयुक्त होना, और वर्तमान् क्लेश चित्त-से विप्रयुक्त (= अलग) नहीं है।

यह कथन असाधारण[2] नहीं है। पालि में ही—"वह क्लेशों को त्यागता है, भूत के क्लेशों को त्यागता है, भविष्यत् के क्लेशों को त्यागता है, वर्तमान् के क्लेशों को त्यागता है।" कह कर पुनः "यदि भूत के क्लेशों को त्यागता है, तो क्षीण हो गये हुए (क्लेश) को क्षीण करता है, निरुद्ध हो गये का निरोध करता है, रहित हो गये को रहित करता है, अस्त हो गये को अस्त करता है, भूतकाल का जो नहीं है, उसे त्यागता है।" कह कर "भूत के क्लेशों को नहीं त्यागता है।" निषेध किया गया है। वैसे (ही)—"यदि भविष्यत् के क्लेशों को त्यागता है, तो अ-जात को त्यागता है,...नहीं उत्पन्न हुए को त्यागता है, अप्रगट हुए को त्यागता है, भविष्य का जो नहीं है, उसे त्यागता है।" कह कर "भविष्यत् के क्लेशों को नहीं त्यागता है" निषेध किया गया है। वैसे (ही) "यदि वर्तमान् क्लेशों को त्यागता है, तो अनुरक्त राग को त्यागता है, द्वेषी द्वेष को त्यागता है,...मोहित मोह को...अभिमानी मान को...दृढ़तापूर्वक ग्रहण किया हुआ दृष्टि को...विक्षेप प्राप्त औद्धत्य को...सन्देह में पड़ा हुआ विचिकित्सा को...बल-प्राप्त (क्लेश) वाला अनुशय को त्यागता है, कृष्ण-शुक्ल (= बुरे-भले) धर्म एक साथ रहते हैं और मार्ग-भावना क्लेश-युक्त होती है।" कह कर "भूत के क्लेशों को नहीं त्यागता है, वर्तमान् के क्लेशों को नहीं त्यागता है।" सबका

---

१. महानिद्देस में आने से। वहाँ कहा गया है—"सभी कामावचर धर्म, सभी रूपावचर धर्म, सभी अरूपावचर धर्म तृष्णा की वस्तु वाले हैं, तृष्णा के आलम्बन वाले हैं। कमणीय, रञ्जनीय और मदनीय होने से काम हैं, ये वस्तु-काम कहे जाते हैं।"

२. मंनगढ़न्त। पालि में नहीं आया हुआ कथन—टीका।

निषेध करके "तो मार्ग-भावना नहीं है, फल का साक्षात्कार नहीं है, क्लेशों का प्रहाण (=त्याग) नहीं है, ज्ञान की प्राप्ति नहीं है।" प्रश्न के अन्त में "मार्ग-भावना है… ज्ञान की प्राप्ति होती है।" स्वीकार करके "जैसे किसके समान?" कहने पर, यह कहा गया है "जैसे कि (कोई) अजात-फल तरुण वृक्ष हो, (कोई) पुरुष उसकी जड़ काटे, जो उस वृक्ष के अजात फल हैं वे अजात ही नहीं उत्पन्न होते हैं,…अनुत्पन्न ही नहीं उत्पन्न होते हैं, अप्रगट ही नहीं प्रगट होते हैं। ऐसे ही क्लेशों की उत्पत्ति के लिये उत्पादक ही हेतु है, उत्पाद ही प्रत्यय (=कारण) है। उत्पाद में आदीनव (= अवगुण) को देखकर अनुत्पाद (= निर्वाण) में चित्त दौड़ता है, अनुत्पाद में चित के दौड़ने से जो उत्पाद के प्रत्यय से क्लेश उत्पन्न होते, वे अजात ही नहीं उत्पन्न होते हैं…अप्रगट ही नहीं प्रगट होते हैं। ऐसे हेतु के निरोध से दुःख का निरोध होता है। प्रवर्ति हेतु है…निमित्त (=संस्कार निमित्त) हेतु है…आयूहन (= अगली प्रतिसन्धि का हेतु हुआ कर्म) हेतु है…अन्-आयूहन में चित्त के दौड़ने से जो आयूहन के कारण क्लेश उत्पन्न होते, वे अजात…अप्रगट ही नहीं प्रगट होते हैं। ऐसे हेतु के निरोध से दुःख का निरोध होता है। इस प्रकार मार्ग-भावना है, फल का साक्षात्कार है, क्लेशों का प्रहाण है, ज्ञान की प्राप्ति होती है।"[1]

इससे क्या बतलाया गया है? भूमि-लब्ध क्लेशों का प्रहाण (=त्याग) बतलाया गया है। भूमि-लब्ध क्या भूत-भविष्यत् के हैं या वर्तमान् के? उनका भूमि-लब्धोत्पन्न ही नाम है।

चार प्रकार के 'उत्पन्न'

उत्पन्न वर्तमान्, भूतापगत, अवकाशकृत और भूमि-लब्ध के अनुसार अनेक प्रकार का होता है। सभी उत्पाद, जरा और भङ्ग से युक्त **वर्तमानोत्पन्न** है। आलम्बन के रस का अनुभव करके निरुद्ध, होकर मिट गये कुशल और अकुशल तथा उत्पाद आदि तीनों को पाकर निरुद्ध, होकर मिट गये और शेष संस्कृत **भूतापगतोत्पन्न** है। "जो वे उसके पूर्व के किये कर्म होते हैं।"[2] ऐसे आदि प्रकार से कहा गया कर्म भूत भी होता हुआ, अन्य विपाक को हटाकर अपने विपाक के लिये अवकाश करके स्थित रहने से और वैसे अवकाश किये हुए विपाक के नहीं उत्पन्न होनेपर भी, इस प्रकार अवकाश करने पर निश्चय ही उत्पन्न होने से **अवकाशकृतोत्पन्न** है। उन-उन भूमियों में नाश नहीं किया गया अकुशल **भूमिलब्धोत्पन्न** है।

भूमि और भूमि-लब्ध

यहाँ भूमि और भूमि-लब्ध के अन्तर को जानना चाहिये। **भूमि** कहते हैं, विपश्यना के आलम्बन हुए तीनों भूमियों के पञ्च-स्कन्धों को। **भूमिलब्ध** कहते हैं, उन स्कन्धों में उत्पन्न होने वाले क्लेशों को। उनसे वह भूमि लब्ध (=प्राप्त) होती है, इसलिए भूमि-लब्ध कहा जाता है और वह भी आलम्बन के अनुसार नहीं। क्योंकि आलम्बन के अनुसार सभी भूत-भविष्य के जानने पर भी क्षीणाश्रवों के स्कन्धों के प्रति क्लेश उत्पन्न होते हैं। **महाकात्यायन, उत्पलवर्णा** आदि के स्कन्धों के प्रति **सोरेय्यश्रेष्ठी**[3], **नन्दमाणवक**[4] आदि के समान। यदि वह भूमि-लब्ध हो, तो

१. पटिसम्भिदामग्ग।
२. मज्झिम नि० ३, ४, ५।
३. सोरेय्य श्रेष्ठी ने महाकात्यायन स्थविर को देखकर "बहुत अच्छा होता कि स्थविर मेरी स्त्री होते" चित्त उत्पन्न किया। देखिये, धम्मपदट्ठकथा ३, ९।
४. नन्दमाणवक उत्पलवर्णा भिक्षुणी पर आसक्त होकर उनके साथ बलात्कार करके नरक में उत्पन्न हुआ। देखिये धम्मपदट्ठकथा ५, १०।

उसके प्रहीण न होने से कोई भी भव को न त्यागे। किन्तु[1] वस्तु के अनुसार भूमि-लब्ध जानना चाहिये।

जहाँ-जहाँ विपश्यना द्वारा नहीं जाने गये स्कन्ध उत्पन्न होते हैं, वहाँ-वहाँ उत्पाद से लेकर उनमें वर्त्तमूल (=संसार-चक्र में डालने की जड़) क्लेश (=अनुशय) सोता है, उसे अप्रहीण होने के अर्थ में भूमि-लब्ध जानना चाहिये।

जिस-जिस स्कन्ध में अप्रहीण होने के अर्थ में सोये हुए क्लेश हैं, उसे वे ही स्कन्ध उन क्लेशों की वस्तु हैं, न दूसरों के स्कन्ध। भूत के स्कन्धों में अप्रहीण, सोये हुए क्लेशों की भूत-स्कन्ध ही वस्तु है, दूसरे नहीं। इसी प्रकार भविष्यत् आदि में। वैसे (ही) कामावचर के स्कन्धों में अप्रहीण, सोये हुए क्लेशों की कामावचर के ही स्कन्ध वस्तु है, दूसरे नहीं। इसी प्रकार रूपावचर और अरूपावचर में।

स्रोतापन्न आदि में, जिस-जिस आर्य-पुद्गल के स्कन्धों में वह-वह वर्त्तमूल वाले क्लेश उस-उस मार्ग से प्रहीण हो गये हैं, उस-उस के वे स्कन्ध प्रहीण हुए उन-उन वर्त्तमूल वाले क्लेशों की अ-वस्तु (=अनुत्पत्ति) से भूमि नहीं कहे जाते हैं। पृथक्जन के एकदम वर्त्तमूल वाले क्लेशों के प्रहीण नहीं होने से, जो कुछ करते हुए कर्म कुशल या अकुशल होता है। इस प्रकार उसे कर्म-क्लेश के प्रत्यय से संसार-चक्र में चक्कर काटना पड़ता है।

उसका यह वर्त्तमूल रूप-स्कन्ध में ही होता है, वेदना स्कन्ध आदि में नहीं होता है, ···या विज्ञान स्कन्ध में ही होता है, रूपस्कन्ध आदि में नहीं होता—ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्यों ? साधारण रूप से पाँचों स्कन्धों में भी सोये रहने से। कैसे ? जैसे पृथ्वी का रस वृक्ष में।

जैसे बहुत बड़े वृक्ष के पृथ्वी-तल पर स्थिर होकर पृथ्वी-रस और जल-रस के सहारे, उसके प्रत्यय से जड़, स्कन्ध (= तना), डाली, टहनी, पल्लव, पत्ता, फूल और फल से बढ़ कर आकाश को पूर्ण कर कल्प के अन्त तक बीज की परम्परा से वृक्ष की प्रवेणी (= परम्परा) को मिलाते हुए रहने पर, वह पृथ्वी-रस आदि जड़ से ही होता है, स्कन्ध आदि में नहीं·········फल में ही होता है, जड़ आदि में नहीं—ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्यों ? साधारण रूप से सब जड़ आदि में गया हुआ होने से।

जैसे उसी वृक्ष के फूल-फल आदि के प्रति उदास (= अप्रसन्न) हुआ कोई पुरुष चारों दिशाओं में **मण्डूक-कण्टक**[2] नामक विषैले काँटे को गड़ा दे। तब वह वृक्ष उस विष के लगने पर पृथ्वी-रस और जल-रस के नाश हो जाने से नहीं फलने के स्वभाव वाला होकर फिर सन्तान (= प्रवर्ति) को उत्पन्न न कर सके। ऐसे ही स्कन्ध की प्रवर्ति में उदासीन कुलपुत्र उस पुरुष के चारों दिशाओं में वृक्ष में विष लगाने के समान अपने सन्तान में चारों मार्गों की भावना आरम्भ करता है। तब उसका वह स्कन्ध-सन्तान उन चारों मार्गों (की भावना) रूपी विष के लगने से सम्पूर्ण वर्त्तमूल के क्लेशों को नाश हो जाने से, किये जाने वाले काय-कर्म आदि सब कर्मों के क्रिया मात्र हो जाने पर आगे पुनर्भव में नहीं उत्पन्न होने वाले स्वभाव के कारण भवान्तर (= इस जन्म के पश्चात् दूसरे जन्म में) की सन्तति को उत्पन्न नहीं कर सकता है, केवल लकड़ी के नहीं

---

१. उत्पत्ति-स्थान के अनुसार—टीका।

२. "एक मछली का काँटा" कहते हैं—टीका।

होने पर अग्नि के समान अन्तिम विज्ञान के निरोध से उपादान[1] रहित होकर परिनृर्वृत हो जाता है। ऐसे भूमि और भूमि-लब्ध के अन्तर को जानना चाहिये।

दूसरे भी चार प्रकार के 'उत्पन्न'

दूसरे भी समुदाचार, आलम्बनाधिगृहीत, अविष्कम्भित, असमूहत के अनुसार चार प्रकार के 'उत्पन्न' होते हैं। उनमें वर्तमानोत्पन्न ही **समुदाचारोत्पन्न** है। चक्षु आदि के द्वार पर आये हुए आलम्बन के पूर्वभाग में नहीं उत्पन्न हुआ भी क्लेश आलम्बन के अधिगृहीत[2] होने से ही अपर-भाग में निश्चय ही उत्पन्न होने से **आलम्बनाधिगृहीतोत्पन्न** कहा जाता है। **कल्याण ग्राम**[3] में भिक्षाटन करते हुए **महातिष्य स्थविर** के कामोत्पत्ति के रूप को देखने से उत्पन्न हुए क्लेश के समान। शमथ और विपश्यना में से किसी एक के अनुसार नहीं दबाया गया क्लेश चित्त-सन्तति में नहीं आया हुआ भी उत्पत्ति का निवारण करने वाले हेतु के अभाव से **अविष्कम्भितोत्पन्न** कहा जाता है। शमथ और विपश्यना से दबाया गया भी आर्यमार्ग से नाश नहीं होने से उत्पत्ति के स्वभाव का अतिक्रमण न करने से **असमूहतोत्पन्न** कहा जाता है। आठ समापत्तियों के लाभी स्थविर के आकाश से जाते समय पुष्पित वृक्ष वाले उपवन में मीठे स्वर से गाकर पुष्प चुनती हुई स्त्री के गीत को सुनने से उत्पन्न हुए क्लेश के समान।

यह तीनों प्रकार का भी आलम्बनाधिगृहीत, विष्कम्भित और असमूहत उत्पन्न भूमि-लब्ध में ही संग्रहीत होता है—ऐसा जानना चाहिये।

इस प्रकार इस कहे गये प्रकार के उत्पन्न में जो कि वर्तमान्, भूतापगत, अवकाशकृत और समुदाचार कहा जानेवाला चार प्रकार का उत्पन्न है, वह मार्ग से नाश होनेवाला नहीं होने से किसी भी ज्ञान से प्रहातव्य नहीं होता है। जो कि भूमि-लब्ध, आलम्बनाधिगृहीत, अविष्कम्भित, असमूहत कहा जानेवाला उत्पन्न है, उसके उस उत्पन्न-भाव को विनाश करते हुए चूँकि वह-वह लौकिक और लोकोत्तर ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिये वह सभी प्रहातव्य होता है। ऐसे यहाँ जो जिससे प्रहातव्य धर्म हैं, (उन्हें) और उनके प्रहाण को जानना चाहिये।

> किच्चानि परिञ्ञादीनि यानि वुत्तानि अभिसमयकाले।
> तानि च यथासभावेन जानितब्बानि सब्बानी'ति ॥[4]

[४] परिज्ञा आदि कृत्य

सत्य के ज्ञान की प्राप्ति के समय इन चारों ज्ञानों में एक-एक के एक क्षण में, परिज्ञा, प्रहाण, साक्षात्कार, भावना—ये परिज्ञा आदि चार कृत्य कहे गये हैं, उन्हें स्वभाव के अनुसार जानना चाहिये। पुराने लोगों ने यह कहा है—"जैसे प्रदीप न आगे, न पीछे एक क्षण में ही चार

---

१. रूप आदि में से कुछ भी नहीं ग्रहण करते हुए—टीका।

२. अयोनिशः मनस्कार से ग्रहण करने से। दृढ़तापूर्वक ग्रहण करने से—यह अर्थ है—टीका।

३. इस नाम के गाँव में। रोहण (जनपद) (लंका) में सुन्दरी स्त्रियों का उत्पत्ति-स्थान होने से वह गाँव वैसा कहा जाता है—टीका।

४. अर्थ के लिये देखिये पृष्ठ २३६।

कृत्यों को करता है—बत्ती जलाता है, अन्धकार दूर करता है, आलोक फैलाता है, तेल समाप्त करता है। ऐसे ही मार्ग-ज्ञान न आगे-न पीछे एक क्षण में ही चार सत्यों का ज्ञान प्राप्त करता है—दुःख को परिज्ञा के ज्ञान से जानता है, समुदय को प्रहाण के ज्ञान से जानता है, मार्ग को भावना के ज्ञान से जानता है, निरोध को साक्षात्कार के ज्ञान से जानता है। क्या कहा गया है? निरोध को आलम्बन करके चारों भी सत्यों को प्राप्त करता है, देखता है, ज्ञान प्राप्त करता है।"

यह भी कहा गया है—"भिक्षुओ, जो दुःख को देखता है, वह दुःख के समुदय को भी देखता है, दुःख के निरोध को भी देखता है, दुःख-निरोध गामिनी प्रतिपदा को भी देखता है।"[1] सब जानना चाहिये। दूसरा भी कहा गया है—"मार्ग से युक्त (भिक्षु) का ज्ञान, दुःख में भी ज्ञान है, दुःख के समुदय में भी ज्ञान है, दुःख के निरोध में भी ज्ञान है।"[2]

वहाँ, जैसे प्रदीप बत्ती को जलाता है, ऐसे मार्ग-ज्ञान दुःख को जानता है। जैसे अन्धकार दूर करता है, ऐसे समुदय को त्यागता है। जैसे आलोक फैलाता है, ऐसे सहजात आदि प्रत्यय से सम्यक् संकल्प आदि धर्म कहलाने वाले मार्ग की भावना करता है। जैसे तेल समाप्त करता है, ऐसे नष्ट-क्लेश वाले निरोध (=निर्वाण) का साक्षात्कार करता है—इस प्रकार उपमा के मिलान को जानना चाहिये।

दूसरी विधि—जैसे सूर्य्य उदय होते हुये न आगे, न पीछे प्रगट होने के साथ चार कृत्यों को करता है, रूपों को प्रकाशित करता है, अन्धकार को नाश करता है, आलोक दिखलाता है, शीतलता को शान्त करता है, ऐसे ही मार्ग-ज्ञान···निरोध को साक्षात्कार के ज्ञान से जानता है। यहाँ भी जैसे सूर्य्य रूपों को प्रकाशित करता है, ऐसे मार्ग-ज्ञान दुःख को जानता है, जैसे अन्धकार को नाश करता है, ऐसे समुदय को त्यागता है, जैसे आलोक दिखलाता है, ऐसे सहजात आदि प्रत्यय से मार्ग की भावना करता है, जैसे शीतलता को शान्त करता है, ऐसे क्लेशों की शान्ति निरोध को साक्षात्कार करता है। इस प्रकार उपमा के मिलान को जानना चाहिये।

दूसरी विधि—जैसे नाव न आगे, न पीछे एक क्षण में (ही) चार कृत्यों को करती है—उरले तीर को छोड़ती है, स्रोत को काटती है, सामान को ढोती है, परले तीर को पहुँचाती है; ऐसे ही मार्ग-ज्ञान···निरोध को साक्षात्कार के ज्ञान से जानता है। यहाँ भी, जैसे नाव उरले तीर को छोड़ती है, ऐसे मार्ग-ज्ञान दुःख को जानता है, जैसे स्रोत को काटती है, ऐसे समुदय को त्यागता है, जैसे सामान को ढोती है, ऐसे सहजात आदि प्रत्यय से मार्ग की भावना करता है। जैसे परले तीर को पहुँचाती है, ऐसे परले तीरे हुए निरोध को साक्षात्कार करता है। इस प्रकार उपमा के मिलान को जानना चाहिये।

ऐसे सत्य के ज्ञान की प्राप्ति के समय एक क्षण में चार कृत्यों के अनुसार उसे प्रवर्तित ज्ञान के सोलह आकारों से यथार्थ स्वभाव से चारों सत्य एक में जाने गये होते हैं। जैसे कहा है—"कैसे यथार्थ स्वभाव से चारों सत्य एक में जाने गये होते हैं? सोलह आकारों से यथार्थ स्वभाव से चारों सत्य एक में जाने गये होते हैं। दुःख का पीड़ित करने का स्वभाव, संस्कृत होने का स्वभाव, सन्ताप करने का स्वभाव, परिवर्तित होने का स्वभाव।···समुदय का आयूहन करने का स्वभाव, निदान होने का स्वभाव, संयोग का स्वभाव, विघ्न करने का स्वभाव···। निरोध का

१. संयुत्त नि० ५४, ५।
२. पटिसम्भिदामग्ग।

निस्तार का स्वभाव, विवेक का स्वभाव, असंस्कृत का स्वभाव, अमृत का स्वभाव···। मार्ग का निर्य्याण का स्वभाव, हेतु का स्वभाव, दर्शन का स्वभाव, अधिपति होनेका स्वभाव···। इन सोलह आकारों से यथार्थ स्वभाव से चारों सत्य एक में जाने गये होते हैं।"

प्रश्न हो सकता है, जब दुःख आदि के अन्य भी रोग, गण्ड (=फोड़ा) आदि अर्थ हैं, तब क्यों चार ही कहे गये हैं ? उत्तर देते हैं—अन्य सत्य के दर्शन के अनुसार आविर्भाव से। "कौनसा दुःख में ज्ञान है ? दुःख के प्रति जो प्रज्ञा, प्रजानन उत्पन्न होता है।" आदि प्रकार से एक-एक सत्य के आलम्बन के अनुसार भी सत्य-ज्ञान कहा गया है—"भिक्षुओ, जो दुःख को देखता है, वह समुदय को भी देखता है।[1] आदि प्रकार से एक सत्य को आलम्बन करके शेषों में कृत्य के पूर्ण होने के अनुसार भी कहा गया है।

जब एक-एक सत्य को आलम्बन करता है, तब समुदय के दर्शन से स्वभाव से पीड़ित करने के लक्षण वाले भी दुःख का, चूँकि वह आयूहन के लक्षण वाले समुदय से आयूहित = संस्कृत= राशिकृत है, इसलिये उसका वह संस्कृत होने का स्वभाव प्रगट होता है। चूँकि मार्ग, क्लेश के सन्ताप को हरने वाला सुशीतल होता है, इसलिये मार्ग-दर्शन से सन्ताप का स्वभाव प्रगट होता है। आयुष्मान् नन्द के अप्सराओं को देखने से सुन्दरी के अभिरूप न होने के भाव के समान[2]। अपरिवर्तनशील स्वभाव वाले निरोध के दर्शन से परिवर्तनशील होने का स्वभाव प्रगट होता है—यहाँ कुछ कहना ही नहीं है।

वैसे (ही) स्वभाव से आयूहन लक्षण वाले भी समुदय का, दुःख के दर्शन से निदान होने का स्वभाव प्रगट होता है, विषम भोजन से उत्पन्न रोग के दर्शन से भोजन के रोग का निदान होने के समान, संयोग रहित हुए निरोध के दर्शन से संयोग होने का स्वभाव और निर्य्याण हुए मार्ग के दर्शन से विघ्न होने का स्वभाव।

वैसे (ही) निस्तार लक्षण वाले भी निरोध के अ-विवेक हुए समुदय के दर्शन से अ-विवेक होने का स्वभाव प्रगट होता है। मार्ग के दर्शन से असंस्कृत का स्वभाव। इसने अनादि संसारमें मार्ग को पहले कभी नहीं देखा है, वह भी प्रत्यय से युक्त होने से संस्कृत ही है—इस प्रकार प्रत्यय रहित धर्म असंस्कृत का होना अत्यन्त प्रगट होता है। दुःख के दर्शन से अमृत-स्वभाव प्रगट होता है, क्योंकि दुःख ही विष है, निर्वाण अमृत है।

वैसे (ही) निर्य्याण लक्षण वाले भी मार्ग के समुदय के दर्शन से "यह निर्वाण की प्राप्ति के लिए हेतु नहीं है, यह हेतु है" ऐसे हेतु का स्वभाव प्रकट होता है। निरोध के दर्शन से दर्शन का स्वभाव, अत्यन्त सूक्ष्म रूपों को देखते हुए 'मेरा चक्षु बहुत ही परिशुद्ध है'—ऐसे चक्षु के परिशुद्ध होने के समान। दुःख के दर्शन से अधिपति होने का स्वभाव, अनेक रोगों से आतुर निर्धन (=कृपण) व्यक्ति के दर्शन से धनी व्यक्ति के उदार होने के समान।

ऐसे यहाँ उसके लक्षण के अनुसार एक का, और अन्य सत्यों को देखने के अनुसार दूसरे के तीन-तीन आविर्भाव से एक-एक के चार-चार अर्थ कहे गये हैं। किन्तु मार्ग के क्षण ये सब अर्थ एक से ही दुःख आदि में चार कृत्य वाले ज्ञान से जाने जाते हैं। जो भिन्न-भिन्न समय पर ज्ञान की प्राप्ति मानते हैं, उनका उत्तर अभिधर्म में कथावत्थु[3] में कहा ही गया है।

---

१. संयुत्त नि० ५४, ५।

२. कथा के लिये देखिये, उदान ३, २, धम्मपदट्ठकथा १, ९।

३. कथावत्थुप्पकरण १, २, ९।

अब, जो वे परिज्ञा आदि चार कृत्य कहे गये हैं, उनमें—

तिविधा होति परिञ्ञा, तथा पहानम्पि सच्छिकिरियापि।
द्वे भावना अभिमता, विनिच्छयो तत्थ ञातब्बो॥

[परिज्ञा तीन प्रकार की होती है, वैसे ही प्रहाण और साक्षात्कार भी। भावना दो मानी गई हैं। वहाँ विनिश्चय जानना चाहिये।]

(१) तीन प्रकार की परिज्ञा

परिज्ञा तीन प्रकार की होती है—ज्ञात-परिज्ञा, तीरण परिज्ञा, प्रहाण-परिज्ञा—ऐसे परिज्ञा तीन प्रकार की होती है।

ज्ञात परिज्ञा

"अभिज्ञा की प्रज्ञा जानने के अर्थ में ज्ञान है।" ऐसे उद्देश करके "जो-जो धर्म अभिज्ञात होते हैं, वे-वे धर्म ज्ञात होते हैं।" ऐसे संक्षेप से, "भिक्षुओ, सब अभिज्ञेय है। भिक्षुओ, क्या सब अभिज्ञेय है? भिक्षुओ, चक्षु अभिज्ञेय है।" आदि प्रकार से विस्तारपूर्वक कही गयी ज्ञात-परिज्ञा है। प्रत्यय सहित नाम-रूप को जानना उसकी अलग भूमि है।

तीरण परिज्ञा

"परिज्ञा की प्रज्ञा तीरण (= निश्चित करना) के अर्थ में ज्ञान है।" ऐसे उद्देश करके "जो-जो धर्म परिज्ञात होते हैं, वे-वे धर्म तीरण किये गये होते हैं।" ऐसे संक्षेप से, "भिक्षुओ, सब परिज्ञेय है। भिक्षुओ, क्या सब परिज्ञेय है? भिक्षुओ, चक्षु परिज्ञेय है।" आदि प्रकार से विस्तारपूर्वक कही गयी तीरण परिज्ञा है। कलाप के सम्मसन से लेकर अनित्य, दुःख, अनात्म है—ऐसे तीरण करने के अनुसार प्रवर्तित होनेवाली उसकी अनुलोम तक अलग भूमि है।

प्रहाण परिज्ञा

"प्रहाण में परिज्ञा परित्याग करने के अर्थ में ज्ञान है।" ऐसे उद्देश करके "जो-जो धर्म प्रहीण होते हैं, वे-वे धर्म परित्यक्त होते हैं।" ऐसे विस्तारपूर्वक कही गयी "अनित्य की अनुपश्यना से नित्य होने की संज्ञा को त्यागता है।" आदि प्रकार से प्रवर्तित प्रहाण-परिज्ञा है। भङ्गानुपश्यना से लेकर मार्ग-ज्ञान तक उसकी भूमि है। यह यहाँ अभिप्रेत है।

या चूँकि ज्ञात और तीरण परिज्ञायें भी उस अर्थ (= प्रहाण) के लिए ही हैं और चूँकि जिन धर्मों को त्यागती हैं, वे नियमतः ज्ञात और तीरण किये गये होते हैं, इसलिये तीनों परिज्ञायें भी इस पर्याय से मार्ग-ज्ञान के कृत्य हैं—ऐसा जानना चाहिये।

(२) तीन प्रकार के प्रहाण

वैसे ही प्रहाण भी—प्रहाण भी विष्कम्भन प्रहाण, तदाङ्ग-प्रहाण, समुच्छेद-प्रहाण—ऐसे परिज्ञा के समान तीन प्रकार का ही होता है।

विष्कम्भन प्रहाण

जो सेवाल-युक्त पानी में डाले गये घड़े द्वारा सेवाल के समान उस-उस लौकिक समाधि

द्वारा नीवरण आदि प्रतिकूल धर्मों का दब जाना है, यह **विष्कम्भन प्रहाण** है। किन्तु पालि में "प्रथम ध्यान की भावना करते हुए नीवरणों का विष्कम्भण-प्रहाण होता है" नीवरणों का ही विष्कम्भन (= दब जाना) कहा गया है, वह प्रगट होने से कहा गया है—ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि नीवरण ध्यान के पूर्व भाग में भी पिछले भाग में भी सहसा चित्त में नहीं व्याप्त हो जाते हैं, किन्तु वितर्क आदि[1] प्राप्त होने के क्षण ही, इसलिए नीवरणों का निष्कम्भन प्रगट है।

तदाङ्ग प्रहाण

जो रात्रि में जलते हुए प्रदीप से अन्धकार के समान उस-उस विपश्यना के अवयव हुए ज्ञान से प्रतिकूल होने के अनुसार ही उस-उस प्रहातव्य धर्म का प्रहाण होता है, यह **तदाङ्ग प्रहाण** है। जैसे—नाम-रूप के परिच्छेद से सत्कायदृष्टि का, प्रत्ययों के परिग्रह से अहेतु-विषम-हेतु दृष्टि और कांक्षा के मल का, कलापों के सम्मसन से 'मैं' 'मेरा' (आदि के) समूह-ग्राह (= समूह के तौर पर ग्रहण करना) का, मार्गामार्ग के निरूपण से अमार्ग में मार्ग की संज्ञा का, उदय को देखने से उच्छेद दृष्टि का, व्यय (= लय = नाश) को देखने से शाश्वत दृष्टि का, भयतोपस्थान से भय-युक्त में अभय की संज्ञा का, आदीनव को देखने से आस्वाद की संज्ञा का, निर्वेदानुपश्यना से अभिरति की संज्ञा का, मुञ्चितुकम्यता से नहीं छुटकारा पाने की इच्छा का, प्रतिसंख्या से अप्रति-संख्या का, उपेक्षा से अपेक्षा का और अनुलोम से सत्य के प्रतिलोम ग्रहण करने का प्रहाण होता है।

या जो अठारह महाविपश्यनाओं में अनित्य की अनुपश्यना से नित्य-संज्ञा का, दुःख की अनुपश्यना से सुख-संज्ञा का, अनात्मा की अनुपश्यना से आत्म-संज्ञा का, निर्वेदानुपश्यना से नन्दी (= तृष्णा) का, विरागानुपश्यना से राग का, निरोधानुपश्यना से समुदय का, प्रतिनिःसर्गा-नुपश्यना से आदान (= ग्रहण करना) का, क्षयानुपश्यना से घन-संज्ञा का, व्ययानुपश्यना से आयूहन का, विपरिणामानुपश्यना से ध्रुव-संज्ञा का, अनिमित्तानुपश्यना से निमित्त का, अप्रणिहि-तानुपश्यना से प्रणिधि का, शून्यतानुपश्यना से अभिनिवेश का, अधिप्रज्ञा-धर्म-विपश्यना से सार को ग्रहण करने के अभिनिवेश का, यथार्थ ज्ञान-दर्शन से सम्मोह के अभिनिवेश का, आदीनव की अनुपश्यना से आलय (= राग) के अभिनिवेश का, प्रतिसंख्यानुपश्यना से अप्रतिसंख्या का, और विवृतानुपश्यना से संयोग के अभिनिवेश का प्रहाण होता है।" यह भी तदाङ्ग प्रहाण ही है।

जैसे अनित्य की अनुपश्यना आदि सात से नित्य-संज्ञा आदि का प्रहाण होता है, वह भङ्गानुपश्यना में कहा ही गया है।

क्षयानुपश्यना—घने को अलग-अलग करके "क्षय होने के अर्थ में अनित्य है," ऐसे क्षय को देखने वाला ज्ञान। उससे घन-संज्ञा का प्रहाण होता है। **व्ययानुपश्यना**—

> आरम्मणअन्वयेन उभो एकववत्थाना।
> निरोधे अधिमुत्तता वयलक्खणविपस्सना॥[2]

—ऐसे कही गई प्रत्यक्ष और अन्वय से संस्कारों के भङ्ग को देखकर उसी भङ्ग कहलाने

१. वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, रूप-संज्ञा आदि—टीका

२. अर्थ के लिये देखिये, पृष्ठ २३६।

वाले निरोध में अधिमुक्त होना। उससे आयूहन का प्रहाण होता है। जिनके लिये आयूहन करेगा, वे ऐसे नाश होने के स्वभाव वाले हैं—इस प्रकार विपश्यना करते हुए आयूहन में चित्त नहीं झुकता है।

विपरिणामानुपश्यना—रूप-सप्तक आदि के अनुसार उस-उस परिच्छेद[1] को अतिक्रमण करके अन्यथा प्रवर्ति को देखना, या उत्पन्न हुए का जरा और मृत्यु से—दो आकारों से विपरिणाम को देखना। उससे ध्रुव-संज्ञा का प्रहाण होता है।

अनिमित्तानुपश्यना—अनित्य की अनुपश्यना ही। उससे नित्य होने के निमित्त का प्रहाण होता है। **अप्रणिहितानुपश्यना**—दुःख की अनुपश्यना ही। उससे सुख की प्रणिधि और सुख की प्रार्थना (=चाह) का प्रहाण होता है। **शून्यतानुपश्यना**—अनात्म की अनुपश्यना ही। उससे 'आत्मा है' ऐसे अभिनिवेश का प्रहाण होता है। **अधिप्रज्ञा-धर्म-विपश्यना**—

> आरम्मणञ्च पटिसङ्खा भङ्गञ्च अनुपस्सति।
> सुञ्ञतो च उपट्ठानं अधिपञ्ञा-विपस्सना ॥[2]

—ऐसे कही गई, रूप आदि आलम्बन को जानकर उस आलम्बन और तदालम्बन वाले चित्त के भङ्ग को देखकर "संस्कार ही नाश होते हैं, संस्कारों की मृत्यु होती है, अन्य कोई नहीं है" भङ्ग के अनुसार शून्यता को लेकर प्रवर्तित विपश्यना। वह अधिप्रज्ञा भी है और धर्मों में विपश्यना भी—ऐसा करके अधिप्रज्ञा-धर्म-विपश्यना कही जाती है। उससे नित्य-सार और आत्म-सार का अभाव भली प्रकार देखा हुआ होने के सार को ग्रहण करने के अभिनिवेश का प्रहाण होता है।

यथार्थज्ञान-दर्शन—प्रत्यय के साथ नाम-रूप का परिग्रह। उससे "क्या मैं अतीतकाल में था ?"[3] आदि के अनुसार और "ईश्वर से लोक उत्पन्न होता है" आदि के अनुसार प्रवर्तित संमोह के अभिनिवेश का प्रहाण होता है।

आदीनवानुपश्यना—भयतोपस्थान के अनुसार उत्पन्न सब भव आदि में आदीनव को देखने का ज्ञान। उससे "कुछ भी आसक्त होने योग्य नहीं दिखाई देता है" ऐसे आलय के अभिनिवेश का प्रहाण होता है।

प्रतिसंख्यानुपश्यना—छुटकारा पाने के लिए उपाय करना प्रतिसंख्याज्ञान है। उससे अ-प्रतिसंख्या का प्रहाण होता है।

विवृतानुपश्यना—संस्कारोपेक्षा और अनुलोम। तब उसका चित्त थोड़े से ढालुवाँ कमल के पत्ते पर वर्षा की बूँद के समान सब संस्कारों से सिकुड़ जाता है, एकत्र हो जाता है, इधर-उधर नहीं फैलता है —कहा गया है। इसलिए उससे संयोग के अभिनिवेश का प्रहाण होता है। काम-संयोग आदि क्लेश-अभिनिवेश की क्लेश प्रवर्ति का प्रहाण होता है—अर्थ है। ऐसे विस्तार से तदाङ्ग-प्रहाण को जानना चाहिये। किन्तु पालि में—"निर्वेध-भागीय-समाधि[4] की भावना करते हुए दृष्टिगत (=मिथ्या-दृष्टि) का तदाङ्ग प्रहाण होता है।" संक्षेप से ही कहा गया है।

---

१. आदान-निक्षेप आदि के उस-उस परिच्छेद को।

२. अर्थ के लिए देखिए पृष्ठ २३६।

३. मज्झिम नि० १,१,२।

४. विपश्यना-समाधि कही गई है—टीका।

समुच्छेद प्रहाण

जो बिजली गिरने से नष्ट हुए वृक्ष के समान आर्य-मार्ग के ज्ञान के संयोजन आदि धर्मों का, जैसे फिर नहीं प्रवर्तित होते हैं, वैसे प्रहाण होना है, यह **समुच्छेद प्रहाण** है। जिसके प्रति कहा गया है—"लोकोत्तर क्षयगामी मार्ग की भावना करते हुए समुच्छेद प्रहाण होता है।"

इस प्रकार इन तीन प्रहाणों में से समुच्छेद प्रहाण ही यहाँ अभिप्रेत है। या चूँकि उस योगी के पूर्व भाग में विष्कम्भन और तदाङ्ग प्रहाण भी उसी अर्थ (=समुच्छेद) के लिए हैं, इसलिये तीनों भी प्रहाणों को इस पर्याय से मार्ग-ज्ञान का कृत्य जानना चाहिये। वैरी राजा को मार कर राज्य पाने पर जो भी उससे पूर्व का किया होता है, (वह) सब यह, यह राजा द्वारा किया गया है—ही कहा जाता है।

(३) तीन प्रकार का साक्षात्कार

साक्षात्कार भी—लौकिक साक्षात्कार और लोकोत्तर साक्षात्कार—दो प्रकार का होते हुए भी दर्शन और भावना के अनुसार प्रभेद से तीन प्रकार का ही होता है।

"प्रथम ध्यान को मैं साक्षात्कार कर प्रथम ध्यान का लाभी हूँ, वशी प्राप्त हूँ"[१] आदि प्रकार से आया हुआ प्रथम ध्यान आदि को स्पर्श कर लौकिक साक्षात्कार है। स्पर्श का अर्थ है—प्राप्त करके 'इसे मैंने प्राप्त कर लिया' प्रत्यक्ष से ज्ञान के स्पर्श से छूना। इसी अर्थ के प्रति "साक्षात्कार-प्रज्ञा स्पर्श करने के अर्थ में ज्ञान है" उद्देश करके "जो-जो धर्म साक्षात्कार किये होते हैं, वे-वे धर्म स्पर्श किये गये होते हैं।" साक्षात्कार-निर्देश कहा गया है।

और भी, अपने सन्तान (=चित्त-प्रवर्ति) में नहीं उत्पन्न करके भी जो धर्म केवल दूसरे सहायक ज्ञान से जाने गये हैं, वे साक्षात्कार किये गये होते हैं। उसी से "भिक्षुओ, सब साक्षात्कार करना चाहिये। भिक्षुओ, क्या सब साक्षात्कार करना चाहिये? भिक्षुओ, चक्षु का साक्षात्कार करना चाहिये।" आदि कहा गया है। दूसरा भी कहा गया है—"रूप को देखते हुए साक्षात्कार करता है, वेदना को···विज्ञान को देखते हुए साक्षात्कार करता है। चक्षु को···जरा-मरण को··· अमृत-गत निर्वाण को देखते हुए साक्षात्कार करता है। जो-जो धर्म साक्षात्कार किये होते हैं, वे-वे धर्म स्पर्श किये गये होते हैं।"

प्रथम-ज्ञान के क्षण निर्वाण को देखना दर्शन-साक्षात्कार है। शेष मार्गों के क्षण भावना-साक्षात्कार। वह दोनों प्रकार का भी यहाँ अभिप्रेत है। इसलिये दर्शन और भावना के अनुसार निर्वाण का साक्षात्कार इस ज्ञान का कृत्य जानना चाहिये।

(४) दो प्रकार की भावना

भावना दो मानी गई है—भावना लौकिक-भावना और लोकोत्तर-भावना दो ही मानी गई है। लौकिक शील, समाधि, प्रज्ञा को उत्पन्न करना, और उनसे चित्त-सन्तति का परिपोषण होना लौकिक भावना है। लोकोत्तरों को उत्पन्न करना और उनसे चित्त-सन्तति का परिपोषण होना लोकोत्तर भावना है। उनमें से यहाँ लोकोत्तर अभिप्रेत है। क्योंकि लोकोत्तर (– भावना) शील

---

१. पाराजिका पालि।

आदि चार प्रकार के भी इस ज्ञान को उत्पन्न करती है और उनके सहजात आदि[1] प्रत्यय होने से, उनसे चित्त-सन्तति का परिपोषण करती है। लोकोत्तर भावना ही इसका कृत्य है। ऐसे—

> किच्चानि परिञ्ञादीनि यानि वुत्तानि अभिसमयकाले।
> तानि च यथासभावेन जानितब्बानि सब्बानी'ति ॥[2]

इतने से—

> "सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो
> चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।"[3]

इस प्रकार स्वरूप से ही आई हुई प्रज्ञा-भावना के विधान को दिखलाने के लिए जो कहा गया है "मूल हुई दो विशुद्धियों का सम्पादन करके शरीर हुई पाँच विशुद्धियों का सम्पादन करते हुए भावना करनी चाहिये।"[4] वह विस्तारपूर्वक वर्णित है। और 'कैसे भावना करनी चाहिये?' इस प्रश्न का भी उत्तर दे दिया गया है।

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धि मार्ग में
प्रज्ञाभावना के भाग में ज्ञानदर्शन-विशुद्धि
निर्देश नामक बाईसवाँ
परिच्छेद समाप्त।

---

१. सहजात, अन्योन्य, निश्रय, अस्ति और अविगत प्रत्यय से।
२. अर्थ के लिए देखिये पृष्ठ २६६।
३. देखिये अर्थ पहला भाग, पृष्ठ १।
४. देखिये चौदहवाँ परिच्छेद।

तेईसवाँ परिच्छेद

प्रज्ञा-भावना का आनृशंस-निर्देश

जो कहा गया है—'प्रज्ञा की भावना करने का कौन-सा आनृशंस (=गुण) है?' उस सम्बन्ध में कहते हैं—यह प्रज्ञा-भावना अनेक आनृशंस वाली है। दीर्घकालमें भी उसके आनृशंस को विस्तारपूर्वक प्रकाशित करना सरल नहीं है। किन्तु संक्षेप में इसका—(१) नाना क्लेशों का विध्वंस करना (२) आर्य-फल के रस का अनुभव करना (३) निरोध समापत्ति को समापन्न होने का सामर्थ्य (४) आह्वान करने के योग्य होने आदि की सिद्धि—यह आनृशंस जानना चाहिये।

(१) क्लेशों का विध्वंस करना

जो नाम-रूप के परिच्छेद से लेकर सत्काय-दृष्टि आदि के अनुसार नाना क्लेशों का विध्वंस करना कहा गया है, यह लौकिक प्रज्ञा-भावना का आनृशंस है। जो आर्यमार्ग के क्षण संयोजन आदि के अनुसार नाना क्लेशों का विध्वंस करना कहा गया है, यह लोकोत्तर प्रज्ञा-भावना का आनृशंस जानना चाहिये।

भीमवेगानुपतिता असनीव सिलुच्चये।
वायुवेग समुट्ठितो अरञ्ञमिव पावको॥
अन्धकारं विय रवि सतेजुज्जलमण्डलो।
दीघरत्तानुपतितं सब्बानत्थविधायकं॥
किलेसजालं पञ्ञा हि विद्धंसयति भाविता।
सन्दिट्ठिकमतो जञ्ञा आनिसंसमिमं इध॥

[भयानक वेग से पर्वत पर गिरी हुई अशनि के समान, वायु के वेग से जंगल में लगी हुई आग के समान, अन्धकार को शत-तेज से उज्ज्वल अन्धकार के समान दीर्घकाल से पड़े हुए सब अनर्थों को उत्पन्न करने वाले क्लेश-जाल को भावना की हुई प्रज्ञा विध्वंस कर देती है। प्रत्यक्ष रूप से इसके इस आनृशंस को जाने।]

(२) आर्य-फल के रस का अनुभव

केवल क्लेशों का विध्वंस करना ही नहीं, प्रत्युत आर्य-फल के रस का अनुभव करना भी प्रज्ञाभावना का आनृशंस है। आर्य-फल स्रोतापत्ति-फल आदि श्रामण्य-फल को कहा जाता है। दो प्रकार से उसके रस का अनुभव होता है, मार्गवीथि और फल-समापत्ति के अनुसार प्रवर्ति में। उसकी मार्गवीथि में प्रवर्त्ति बतलाई ही गई है।[1]

फिर भी, जो 'संयोजनों का प्रहाण मात्र ही फल है, अन्य कोई धर्म (फल) नहीं हैं' कहते

१. देखिये, बाईसवाँ परिच्छेद।

हैं[1], उनके अनुनय के लिये इस सूत्र[2] को भी दिखलाना चाहिये—"कैसे प्रयोग प्रतिप्रश्रब्धि-प्रज्ञा फल में ज्ञान है? स्रोतापत्ति-मार्ग के क्षण दर्शन के अर्थ में सम्यक्-दृष्टि मिथ्यादृष्टि से उठती है, उसके अनुसार रहने वाले क्लेशों तथा स्कन्धों से उठती है, और बाह्य सब निमित्तों से उठती है, उसके प्रयोग के शान्त हो जाने से सम्यक् दृष्टि उत्पन्न होती है, यह मार्ग का फल है।" विस्तार करना चाहिये।

"चार आर्य-मार्ग और चार-फल—ये धर्म अप्रमाण्य-आलम्बन वाले हैं। महद्गत धर्म अप्रमाण-धर्म का अनन्तर प्रत्यय से प्रत्यय होता है।" आदि इस प्रकार के भी उदाहरण हैं।

फल-समापत्ति में प्रवर्ति को दिखलाने के लिये यह प्रश्न-कर्म[3] होता है—

(१) फल-समापत्ति क्या है?
(२) कौन उसे समापन्न होते हैं?
(३) कौन नहीं समापन्न होते हैं?
(४) क्यों समापन्न होते हैं?
(५) कैसे उसका समापन्न होना होता है?
(६) कैसी स्थिति है?
(७) कैसा उत्थान (= उठना) है?
(८) क्या फल का अनन्तर है?
(९) किसका फल अनन्तर है?

जो आर्य-फल के निरोध की अर्पणा है, वह फल-समापत्ति है।·········सब पृथग्जन उसे नहीं समापन्न होते हैं। क्यों? प्राप्त नहीं होने से। किन्तु सभी आर्य समापन्न होते हैं। क्यों? प्राप्त होने से। ऊपर वाले निचले को व्यक्ति-विभिन्नता से शान्त होने से नहीं समापन्न होते हैं और निचले भी नहीं प्राप्त होने से ऊपर वाले को। अपने-अपने ही फल को समापन्न होते हैं—यह निश्चित है।

कोई-कोई—"स्रोतापन्न, सकृदागामी भी नहीं समापन्न होते हैं, ऊपर वाले दो ही समापन्न होते हैं"—कहते हैं और यह उनका प्रमाण है—"ये समाधि को परिपूर्ण करने वाले हैं" किन्तु पृथग्जन के भी अपनी प्राप्त लौकिक-समाधि को समापन्न होने से वह युक्त नहीं है। यहाँ प्रमाण, अ-प्रमाण का विचार ही करना क्या है, पालि में ही नहीं कहा गया है? "कौन-से दस गोत्रभू धर्म विपश्यना के अनुसार उत्पन्न होते हैं? स्रोतापत्ति-मार्ग की प्राप्ति के लिए उत्पाद, प्रवर्ति·········उपायास और बाह्य-संस्कारों के निमित्त का अभिभव करता है, इसलिये गोत्रभू है, स्रोतापत्ति-फल की समापत्ति के लिये, सकृदागामी·········अर्हत्-फल की समापत्ति के लिये ·········शून्यता-विहार की समापत्ति के लिये, अनिमित्त-विहार की समापत्ति के लिये, उत्पाद·········और बाह्य-संस्कारों के निमित्त का अभिभव करता है, इसलिये गोत्रभू है।"[4] इसलिये सभी आर्य अपने-अपने फल को समापन्न होते हैं—ऐसा मानना चाहिये।

१. आंध्रवासी आदि कहते हैं—टीका।
२. पटिसम्भिदामग्ग पालि के सूत्र को।
३. प्रश्नोत्तर द्वारा अर्थ को स्पष्ट करना।
४. पटिसम्भिदा पालि, ञाण कथा।

दृष्टि-धर्म-सुख-विहार के लिये इसे समापन्न होते हैं। जैसे राजा राज्य-सुख और देवता दिव्य-सुख का अनुभव करते हैं, ऐसे आर्य लोग आर्य-लोकोत्तर सुख का अनुभव करेंगे—(सोच) काल का परिच्छेद करके चाहे हुए क्षण-समापत्ति को समापन्न होते हैं।

......दो आकारों से उसका समापन्न होना होता है, निर्वाण से अन्य आलम्बन को मन में नहीं करने और निर्वाण को मन में करने से। जैसे कहा है—"आवुस ! अनिमित्त चेतो-विमुक्ति की समापत्ति के लिये दो प्रत्यय हैं सारे निमित्तों को मन में नहीं करना; और अनिमित्त धातु को मन में करना।"[1]

यह समापन्न होने का क्रम है—फल-समापत्ति के इच्छुक आर्यश्रावक को एकान्त में जाकर एकाग्र-चित्त हो उदय-व्यय के अनुसार संस्कारों को देखना चाहिये। उसे क्रमशः प्रवर्तित विपश्यना वाले का संस्कारों के आलम्बन वाले गोत्रभू-ज्ञान के अनन्तर फल-समापत्ति के अनुसार निरोध में चित्त पहुँच जाता है। और फल-समापत्ति की ओर झुके होने से शैक्ष्य को भी फल ही उत्पन्न होता है, मार्ग नहीं। किन्तु जो कहते हैं—"स्रोतापन्न फल-समापत्ति को समापन्न होऊँगा (सोच), विपश्यना करके सकृदागामी होता है और सकृदागामी अनागामी।" उन्हें कहना चाहिये—'ऐसा होनेपर अनागामी अर्हत् हो जायेगा, अर्हत् प्रत्येकबुद्ध, और प्रत्येक-बुद्ध बुद्ध। इसलिये यह कोई पालि के अनुसार ही नहीं विरोध किया गया है—ऐसा भी (सोचकर) नहीं ग्रहण करना चाहिये। इसको ही ग्रहण करना चाहिये—"शैक्ष्य को भी फल ही उपत्न्न होता है, मार्ग नहीं। फल भी यदि उसे प्रथम ध्यान वाला मार्ग प्राप्त होता है, तो प्रथम ध्यानवाला ही उत्पन्न होता है। यदि द्वितीय आदि में किसी एक को प्राप्त होता है, तो द्वितीय आदि में से किसी एक ध्यान वाला ही। ऐसे उसका समापन्न होना होता है।"

"आवुस ! अनिमित्त चेतो-विमुक्ति की स्थिति के लिए तीन प्रत्यय हैं—(१) सारे निमित्तों को मन में न करना, (२) अनिमित्त-धातु को मन में करना, और (३) पूर्व का अभिसंस्कार।"[2] वचन से उसकी तीन प्रकार से स्थिति होती है।

वहाँ, **पूर्व का अभिसंस्कार** का अर्थ है समापत्ति से पूर्व काल का परिच्छेद। अमुक समय में उठूँगा"—ऐसा परिच्छेद होने से जब तक वह समय नहीं आता है, तब तक स्थिति होती है—ऐसे उसकी स्थिति होती है।

"आवुस ! अनिमित्त-चेतो-विमुक्ति के उत्थान के लिए दो प्रत्यय हैं—(१) सारे निमित्तों को मन में करना; और (२) अनिमित्त-धातु को मन में न करना।"[3] वचन से उसका दो प्रकार से उत्थान होता है।

वहाँ, **सारे निमित्तों** का अर्थ है रूप-निमित्त, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान निमित्तों को। यद्यपि इन सबको एक साथ मन में नहीं करता है, तथापि सबके संग्रह के अनुसार यह कहा गया है। इसलिये जो भवाङ्ग का आलम्बन होता है, उसे मन में करते हुए फल समापत्ति से उत्थान होता है। ऐसे उसके उत्थान को जानना चाहिये।

......फल का फल ही अनन्तर होता है या भवाङ्ग। किन्तु फल मार्ग के अनन्तर होता है, फल के अनन्तर होता है, गोत्रभू के अनन्तर होता है, नैवसंज्ञानासंज्ञायतन के अनन्तर होता है,

१. मज्झिम नि० १, ५, ३।
२. मज्झिम नि० १, ५, ३।
३. मज्झिमनि० १, ५, ३।

वह मार्ग की वीथि में मार्ग के अनन्तर होता है, पहले-पहले का पिछला-पिछला फलानन्तर होता है, फल-समापत्तियों में पहला-पहला गोत्रभू के अनन्तर होता है।

गोत्रभू यहाँ अनुलोम को जनाना चाहिये। **पट्ठान में** यह कहा गया है—"अर्हत् का अनुलोम फल-समापत्ति का अनन्तर प्रत्यय से प्रत्यय होता है। शैक्ष्यों का अनुलोम फल-समापत्ति का अनन्तर प्रत्यय से प्रत्यय होता है।[1]" जिस फल से निरोध से उत्थान होता है, वह नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन के अनन्तर होता है। मार्ग-वीथि में उत्पन्न फल को छोड़कर अवशेष सब फल-समापत्ति के अनुसार-प्रवर्तित होने वाला है। ऐसे यह मार्ग-वीथि में या फल-समापत्ति में उत्पन्न होने के अनुसार :—

पटिप्पस्सद्धदरथं अमतारम्मणं सुभं।
वन्तलोकामिसं सन्तं समाञ्ञफलमुत्तमं॥
ओजवन्तेन सुचिना सुखेन अभिसन्दितं।
येन साततिसातेन अमतेन मधुं विय॥
तं सुखं तस्स अरियस्स रसभूतमनुत्तरं।
फलस्स पञ्ञं भावेत्वा यस्मा विन्दति पण्डितो॥
तस्मारिय-फलस्सेतं रसानुभवनं इध।
विपस्सनाभावनाय अनिसंसोति वुच्चति॥

[क्लेश-पीड़ा की शान्ति, अमृत (=निर्वाण) का आलम्बन, शुभ, लोक के आमिष से रहित, शान्त, उत्तम श्रामण्य-फल, ओजवान पवित्र अमृत मधु के समान जिस अत्यन्त मधुर सुख से व्याप्त है, वह सुख उस आर्य का अनुत्तर-रस हुआ है। चूँकि प्रज्ञाकी भावना करके पण्डित उस सुख को प्राप्त करता है, इसलिये यह आर्य-फल के रस का अनुभव यहाँ विपश्यना- भावना का आनृशंस कहा जाता है।]

(३) निरोध-समापत्ति को समापन्न होने का सामर्थ्य

न केवल आर्य-फल के रस के अनुभव करने का ही, प्रत्युत इस निरोध-समापत्ति को समापन्न होने के सामर्थ्य को भी इस प्रज्ञा-भावना का आनृशंस जानना चाहिये। निरोध-समापत्ति का वर्णन करने के लिये यह प्रश्न-कर्म होता है—

(१) निरोध-समापत्ति क्या है ?
(२) कौन उसे समापन्न होते हैं ?
(३) कौन नहीं समापन्न होते हैं ?
(४) कहाँ समापन्न होते हैं ?
(५) क्यों समापन्न होते हैं ?
(६) कैसे इसका समापन्न होना होता है ?
(७) कैसी स्थिति है ?
(८) कैसा उत्थान है ?
(९) उठे हुए के चित्त का झुकाव किधर होता है ?
(१०) मृत और समापन्न में कौन-सा अन्तर है ?

१. पट्ठान-पञ्हवार।

(११) निरोध-समापत्ति क्या संस्कृत है ? असंस्कृत है ? लौकिक है ? लोकोत्तर है ? निष्पन्न है ? अनिष्पन्न है ?

जो क्रमशः निरोध होने के अनुसार चित्त-चैतसिक धर्मों की अप्रवर्ति है, उसे **निरोध-समापत्ति** कहते हैं ।

···सभी पृथग्जन, स्रोतापन्न, सकृदागामी और शुष्कविपश्यक अनागामी तथा अर्हत् इसे नहीं समापन्न होते हैं । आठ समापत्तियों को प्राप्त हुए अनागामी और क्षीणाश्रव समापन्न होते हैं । "दो बलों से युक्त होने और तीन संस्कारों की शान्ति से सोलह ज्ञान-चर्य्या और नव समाधि-चर्य्या से वशीभाव को प्राप्त प्रज्ञा निरोध-समापत्ति में ज्ञान है ।"[१] कहा गया है । चूँकि यह सम्पदा आठ समापत्तियों के प्राप्त अनागामी और क्षीणाश्रव के अतिरिक्त दूसरे को नहीं है, इसलिए वे ही समापन्न होते हैं, अन्य नहीं ।

'कौन से दो बल हैं ?·········कौन-सा वशीभाव है ?' इस सम्बन्ध में हमें कुछ कहना नहीं है, यह सब इसके उद्देश के निर्देश में कहा ही गया है । जैसे कहा है—"**दो बलों से**=बल दो हैं—शमथ-बल और विपश्यना-बल । शमथ-बल क्या है ? नैष्क्रम्य के अनुसार चित्त की एकाग्रता अविक्षेप शमथ-बल है । अ-व्यापाद के अनुसार·········आलोक-संज्ञा के अनुसार······अविक्षेप के अनुसार·········प्रतिनिःसर्गानुपश्यी आश्वास के अनुसार·········प्रतिनिःसर्गानुपश्यी प्रश्वास के अनुसार चित्त की एकाग्रता=अ-विक्षेप शमथ-बल है । किस अर्थ में शमथ बल है ? प्रथम ध्यान से नीवरणों में नहीं प्रकम्पित होता है, इसलिये शमथ-बल है । द्वितीय ध्यान से वितर्क-विचार में·········नैवसंज्ञानासंज्ञायतन समापत्ति से आकिंचन्यायतन संज्ञा में नहीं प्रकम्पित होता है, इसलिये शमथ-बल है । औद्धत्य, औद्धत्य-सहगत क्लेश और स्कन्धों में नहीं प्रकम्पित होता है, नहीं चलता है, नहीं हिलता है; इसलिये शमथ-बल है । **यह समथ-बल है ।** विपश्यना-बल क्या है ? अनित्य की अनुपश्यना विपश्यना-बल है । दुःख की अनुपश्यना······अनात्म की अनुपश्यना······निर्वेद की अनुपश्यना······विराग की अनुपश्यना······निरोध की अनुपश्यना······प्रतिनिःसर्गानुपश्यना विपश्यना-बल है । रूप में अनित्य की अनुपश्यना······रूप में प्रतिनिःसर्गानुपश्यना विपश्यना-बल है । वेदना में······संज्ञा में······संस्कारों में······विज्ञान में······चक्षु में······जरा-मरण में अनित्य की अनुपश्यना······जरामरण में प्रतिनिःसर्गानुपश्यना विपश्यना-बल है । किस अर्थ में विपश्यना-बल है ? अनित्य की अनुपश्यना से नित्य-संज्ञा में नहीं प्रकम्पित होता है, इसलिये विपश्यना बल है । दुःख की अनुपश्यना से सुख-संज्ञा में नहीं प्रकम्पित होता है·········अनात्म की अनुपश्यना से आत्म-संज्ञा में नहीं प्रकम्पित होता है······निर्वेद की अनुपश्यना से नन्दि (= चाह) में नहीं प्रकम्पित होता है·········विराग की अनुपश्यना से राग में नहीं प्रकम्पित होता है·········निरोध की अनुपश्यना से समुदय में नहीं प्रकम्पित होता है·········प्रतिनिःसर्ग की अनुपश्यना से आदान (= ग्रहण करना) में नहीं प्रकम्पित होता है, इसलिये विपश्यना-बल है । अविद्या, अविद्या-सहगत क्लेश और स्कन्ध में नहीं प्रकम्पित होता है, नहीं चलता है, नहीं हिलता है, इसलिये विपश्यना-बल है । **यह विपश्यना-बल है ।**

तीन संस्कारों की शान्ति से—किन तीन संस्कारों की शान्ति से ? (१) द्वितीय-ध्यान प्राप्त (व्यक्ति) के वितर्क-विचार वाचिक-संस्कार शान्त होते हैं, (२) चतुर्थ-ध्यान प्राप्त के आश्वास-

---

१. पटिसम्भिदा पालि, ञाण कथा ।

प्रश्वास काय-संस्कार शान्त होते हैं, (३) संज्ञा-वेदयित-निरोध को प्राप्त हुए (व्यक्ति) के संज्ञा, वेदना और चित्त-संस्कार शान्त होते हैं, इन तीन संस्कारों की शान्ति से ।

सोलह ज्ञान-चर्य्या से—किन सोलह ज्ञान-चर्य्या से ? अनित्यानुपश्यना ज्ञान-चर्य्या, दुःख ···अनात्म···निर्वेद···विराग···निरोध···प्रतिनिःसर्ग···विवृतानुपश्यना ज्ञान-चर्य्या स्रोतापत्ति-मार्ग ज्ञान-चर्य्या, स्रोतापत्ति फल-समापत्ति ज्ञान-चर्य्या, सकृदागामी-मार्ग···अर्हत्-फल-समापत्ति ज्ञान-चर्य्या । इन सोलह ज्ञान-चर्य्या से ।

नव समाधि चर्य्या से—किन नव समाधि-चर्य्या से ? प्रथम-ध्यान समाधि-चर्य्या, द्वितीय-ध्यान समाधि-चर्य्या,···नैवसंज्ञानासंज्ञायतन-समापत्ति समाधि-चर्य्या, प्रथम-ध्यान की प्राप्ति के लिए वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और चित्त की एकाग्रता···नैवसंज्ञानासंज्ञायतन-समापत्ति की प्राप्ति के लिए वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और चित्त की एकाग्रता । इन नव समाधि-चर्य्या से ।

वशी—वशी पाँच हैं—(१) आवर्जन-वशी (२) समापन्न होने की वशी (३) अधिष्ठान-वशी (४) उत्थान-वशी और (५) प्रत्यवेक्षण-वशी ।

प्रथम-ध्यान को जहाँ चाहता है, जब चाहता है और जितना चाहता है, आवर्जन करता है । आवर्जन करने में मन्दता नहीं होने से आवर्जन-वशी होती है ।

प्रथम-ध्यान को जहाँ चाहता है, जब चाहता है और जितना चाहता है समापन्न होता है । समापन्न होने में मन्दता नहीं होने से **समापन्न होने की वशी** होती है ।

अधिष्ठान करता है, अधिष्ठान में·········उठता है, उत्थान में·········प्रत्यवेक्षण करता है, प्रत्यवेक्षण करने में मन्दता नहीं होने से **प्रत्यवेक्षण-वशी** होती है । द्वितीय········· नैवसंज्ञानासंज्ञायतन-समापत्ति को जहाँ चाहता है, जब चाहता है, जितना चाहता है आवर्जन करता है·········प्रत्यवेक्षण करता है, प्रत्यवेक्षण करने में मन्दता नहीं होने से प्रत्यवेक्षण-वशी होती है । ये पाँच वशी हैं ।

यहाँ, "सोलह ज्ञान-चर्य्या से"—यह उत्कृष्ट-निर्देश है । अनागामी को चौदह ज्ञान-चर्य्या से होता है । यदि ऐसा है तो सकृदागामी को बारह और स्रोतापन्न को दस से क्या नहीं होता है ? नहीं होता है, समाधि के विघ्नकारक पाँच काम-गुण वाले राग के नहीं प्रहीण होने से । क्योंकि वह उनका प्रहीण नहीं होता है, इसलिए शमथ-बल परिपूर्ण नहीं होता है । उसके परिपूर्ण न होने पर दो बलों से समापन्न होने योग्य समाधि-समापत्ति बल के विकल होने से समापन्न नहीं हो सकते हैं । किन्तु अनागामी का वह प्रहीण होता है, इसलिये यह परिपूर्ण बल वाला होता है, परिपूर्ण बल वाला होने से (समापन्न हो) सकता है । इसीसे भगवान् ने कहा है—"निरोध से उठने वाले का नैवसंज्ञानासंज्ञायतन-कुशल फल-समापत्ति का अनन्तर प्रत्यय से प्रत्यय होता है ।"[1] यह **पट्ठान-महाप्रकरण** में अनागामी के ही निरोध से उठने के प्रति कहा गया है ।

पञ्च-अवकार-भव में समापन्न होता है । क्यों ? क्रमशः समापत्ति के होने से । चतु-अवकारभव में प्रथम ध्यान आदि की उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिये वहाँ नहीं समापन्न हो सकते हैं । कोई-कोई "वस्तु[2] के अभाव से" कहते हैं ।

·········संस्कारों की प्रवर्ति-भेद में उदास होकर दृष्ट-धर्म में चित्त-रहित होकर निरोध निर्वाण को पाकर सुख-पूर्वक विहरने के लिये इसे समापन्न होते हैं ।

---

१. पट्ठान, पञ्हवार विभङ्ग
२. हृदय-वत्थु ।

शमथ-विपश्यना के अनुसार ऊपर-ऊपर जाकर पूर्व कृत्य को करके नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को निरोध करते हुए समापन्न होना होता है।·········जो शमथ के ही अनुसार ऊपर-ऊपर जाता है, वह नैवसंज्ञानासंज्ञायतन-समापत्ति को पाकर रुक जाता है, किन्तु जो विपश्यना के अनुसार ही ऊपर-ऊपर जाता है, वह फल-समापत्ति को पाकर रुकता है और जो दोनों के ही अनुसार ऊपर-ऊपर जाकर पूर्व कृत्य को करके नैवसंज्ञानासंज्ञायतन का निरोध करता है, वह उसे समापन्न होता है—यह संक्षेप (वर्णन) है।

किन्तु यह विस्तार है—भिक्षु निरोध को समापन्न होना चाहते हुए भोजन-कृत्य करके हाथ-पैर भली-भाँति धोकर एकान्त-स्थान में भली-प्रकार बिछे हुए आसन पर पालथी मारकर शरीर को सीधा करके, स्मृति को सामने रखकर बैठता है। वह प्रथम ध्यान को समापन्न होकर, (उससे) उठ, वहाँ संस्कारों की अनित्य, दुःख, अनात्म के तौर पर विपश्यना करता है। यह विपश्यना तीन प्रकार की होती है—(१) संस्कारों का परिग्रहण करने वाली विपश्यना (२) फल-समापत्ति-विपश्यना (३) निरोध-समापत्ति-विपश्यना। संस्कारों का परिग्रहण करने वाली विपश्यना मन्द हो या तीक्ष्ण, मार्ग का पदस्थान होती ही है। फल-समापत्ति विपश्यना तीक्ष्ण ही होनी चाहिये, मार्ग-भावना के समान। किन्तु निरोध-समापत्ति विपश्यना न अति मन्द और न अति तीक्ष्ण होनी चाहिये। इसलिये यह न अति मन्द और न अति तीक्ष्ण विपश्यना से उन संस्कारों की विपश्यना करता है। तत्पश्चात् द्वितीय-ध्यान को समापन्न होकर (उससे) उठ, वहाँ संस्कारों की वैसे ही विपश्यना करता है। तत्पश्चात् तृतीय-ध्यान······तत्पश्चात् विज्ञानन्त्यायतन को समापन्न होकर (उससे) उठ, वहाँ संस्कारों की वैसे ही विपश्यना करता है। वैसे ही आकिंचन्यायतन को समापन्न होकर (उससे) उठ, चार प्रकार के पूर्व कृत्य को करता है (१) नानाबद्ध का अविकोपन (२) संघ की बुलाहट (३) शास्ता की पुकार और (४) काल का परिच्छेद।

नानाबद्ध का अ-विकोपन—जो इस भिक्षु के साथ एकाबद्ध नहीं होता है, नानाबद्ध होकर रहनेवाला पात्र-चीवर, चौकी-चारपाई, निवास-गृह या अन्य कोई परिष्कार होता है, वह जैसे नष्ट नहीं होता है, अग्नि, जल, वायु, चोर, चूहे आदि द्वारा नाश नहीं होता है, वैसे अधिष्ठान करना चाहिये।

यह अधिष्ठान करने की विधि है—"यह, यह इस सप्ताह में अग्नि से मत जले, जल से न बहे, वायु से विध्वंस मत हो, चोरों द्वारा न हरण किया जाय, चूहों द्वारा मत खाया जाय।" ऐसे अधिष्ठान करने पर उस सप्ताह में कोई विघ्न नहीं होता है। किन्तु अधिष्ठान नहीं करने वाले का अग्नि आदि से विनष्ट हो जाता है **महानाग स्थविर** के समान।

महानाग स्थविर की कथा

स्थविर माँ उपासिका के गाँव में भिक्षाटन के लिये प्रवेश किये। उपासिका ने यवागु देकर **आसन-शाला** में बैठाया। स्थविर निरोध को समापन्न होकर बैठ गये। उनके बैठने पर आसन-शाला में आग लग गई। शेष भिक्षु अपने-अपने बैठे हुए आसन को लेकर भाग गये। ग्रामवासी एकत्र हो स्थविर को देखकर "आलसी श्रमण है, आलसी श्रमण है" कहने लगे। आग तृण, बाँस, काष्ठ को जलाकर स्थविर को घेर ली। मनुष्य घड़ों से पानी लाकर (आग) बुझा, राख को हटा, परिशुद्ध करके पुष्पों को बिखेर कर नमस्कार करते हुए खड़े हो गये।

स्थविर परिच्छेद किये हुए समय के अनुसार उठकर, उन्हें देख "मैं प्रगट हो गया हूँ" (सोच) आकाश में उड़कर प्रियङ्गु-द्वीप चले गये।

यह नानाबद्ध का अ-विकोपन है।

किन्तु जो एकाबद्ध पहनने-बिछाने का वस्त्र या बैठने का आसन होता है, उसके लिये अलग अधिष्ठान-कृत्य नहीं है। समापत्ति के अनुसार ही उसकी रक्षा होती है **आयुष्मान् सञ्जीव** के समान। यह कहा भी गया है—"आयुष्मान् सञ्जीव की समाधि-विष्फार-ऋद्धि है, आयुष्मान् सारिपुत्र की समाधि-विष्फार-ऋद्धि है।"[1]

संघ की बुलाहट—संघ का आवर्जन करना। जब तक यह भिक्षु आता है, तब तक संघ-कर्म को नहीं करना—यह अर्थ है। यहाँ बुलाहट इसका पूर्व-कृत्य नहीं है, किन्तु बुलाहट का आवर्जन पूर्व-कृत्य है, इसलिये ऐसे आवर्जन करना चाहिये—"यदि मेरे सप्ताह भर निरोध को समापन्न होकर बैठने पर संघ ज्ञप्ति-कर्म आदि में से किसी काम को करना चाहता हो, तो जब तक मुझे कोई भिक्षु आकर नहीं बुलाये, तभी उठ जाऊँगा।" ऐसा करके समापन्न हुआ (भिक्षु) उस समय उठता ही है, किन्तु जो ऐसा नहीं करता है और संघ एकत्र होकर उसे नहीं देखते हुए 'अमुक भिक्षु कहाँ है?' (पूछकर) "निरोध को समापन्न है' कहने पर संघ किसी भिक्षु को भेजता है—'जाओ उसे संघ के वचन से बुलाओ।' तब उस भिक्षु द्वारा सुनाई देने योग्य स्थान पर खड़ा होकर "आवुस! तुझे संघ बुला रहा है।" कहने मात्र में ही उठना होता है। ऐसी भारी संघ की आज्ञा होती है! इसलिये उसका आवर्जन करके जैसे स्वयमेव उठे, ऐसे समापन्न होना चाहिये।

शास्ता की पुकार—यहाँ भी शास्ता की पुकार का आवर्जन करना ही इसका कृत्य है, इसलिये उसका भी ऐसे आवर्जन करना चाहिये—"यदि मेरे सप्ताह भर निरोध को समापन्न होकर बैठने पर शास्ता वस्तु के आ पड़ने पर शिक्षा-पद का प्रज्ञापन करें, अथवा उस प्रकार की अर्थोत्पत्ति से धर्मोपदेश दें, तो जब तक मुझे कोई आकर न पुकारे, तभी उठ जाऊँगा।" ऐसा करके बैठा हुआ उसी समय उठता है। किन्तु जो ऐसा नहीं करता है और संघ के एकत्र हो जाने पर शास्ता उसे नहीं देखते हुए 'अमुक भिक्षु कहाँ है?' (पूछकर) 'निरोध को समापन्न है' कहने पर किसी भिक्षु को भेजते हैं—"जाओ, मेरे वचन से बुला लाओ।' तब उस भिक्षु द्वारा सुनाई देने योग्य स्थान पर खड़ा होकर "आयुष्मान् को शास्ता आमन्त्रित कर रहे हैं।" कहते मात्र ही उठना होता है। ऐसी भारी शास्ता की पुकार होती है! इसलिये उसका आवर्जन करके जैसे स्वयमेव उठता है, ऐसे समापन्न होना चाहिये।

काल का परिच्छेद्—जीवन-काल का परिच्छेद। इस भिक्षु को काल-परिच्छेद में कुशल होना चाहिये। अपने आयु-संस्कार सप्ताह भर प्रवर्तित होंगे या नहीं प्रवर्तित होंगे—(ऐसा) आवर्जन करके ही समापन्न होना चाहिये। यदि सप्ताह भर के भीतर निरुद्ध होनेवाले आयु-संस्कारों का आवर्जन नहीं करके ही समापन्न होता है, तो उसकी निरोध-समापत्ति मृत्यु को नहीं हटा सकती है, निरोध के बीच मृत्यु के नहीं होने से बीच ही में समापत्ति से उठता है, इसलिये इसका आवर्जन करके ही समापन्न होना चाहिये। अवशेष का आवर्जन नहीं भी किया जा सकता है, किन्तु इसका आवर्जन करना ही चाहिये—ऐसा कहा गया है[2]।

---

१. पटिसम्भिदामग्ग; इद्धिकथा।

२. अट्ठकथा में—टीका।

वह ऐसे आकिंचन्यायतन को समापन्न होकर (उससे) उठ, इस पूर्व-कृत्य को करके नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को समापन्न होता है। तब एक या दो चित्त की वारी का अतिक्रमण करके चित्तरहित हो जाता है। निरोध का स्पर्श करता है।

क्यों उसके दो चित्तों के ऊपर चित्त नहीं प्रवर्तित होते हैं ? निरोध के प्रयोग से। यह इस भिक्षु का दो शमथ-विपश्यना-धर्मों को एक साथ करके आठ-समापत्तियों में चढ़ना क्रमशः निरोध का प्रयोग है, न कि नैवसंज्ञानासंज्ञायतन-समापत्ति का। इसलिये निरोध के प्रयोग से दो चित्तों के ऊपर नहीं प्रवर्तित होते हैं, किन्तु जो भिक्षु आकिंचन्यायतन से उठकर, इस पूर्व-कृत्य को नहीं कर के नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को समापन्न होता है, वह पीछे चित्त-रहित नहीं हो सकता है, लौटकर पुनः आकिंचन्यायतन में ही प्रतिष्ठित होता है। पहले कभी मार्ग नहीं गये हुए पुरुष की उपमा यहाँ कहनी चाहिये—

पथिक की उपमा

एक पुरुष पहले कभी नहीं गये हुए मार्ग में जल से भरी हुई कन्दरा या गहरे पानी के कीचड़ को लाँघकर रखे हुए कड़ी धूप से सन्तप्त पाषाण को पाकर धोती-चादर को नहीं सम्हाल कर ही कन्दरा में उतरा हुआ परिष्कार के भींगने के डर से फिर किनारे आ जाता है, पाषाण पर पैर रखकर भी पैर के गर्म हो जाने से फिर इस भाग में चला आता है।

वहाँ, जैसे वह पुरुष धोती-चादर को नहीं सम्हाले होने से कन्दरा में उतरते मात्र ही और तप्त पाषाण पर पैर रखते मात्र ही लौटकर इस पार चला आता है, ऐसे योगी भी पूर्व-कृत्य को नहीं करने से नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को समापन्न होते मात्र ही लौटकर आकिंचन्यायतन में चला आता है। जैसे पहले भी उस मार्ग में गया हुआ पुरुष उस स्थान को पाकर एक वस्त्र को कसकर पहन, दूसरे को हाथ से लेकर कन्दरा को पार कर या तप्त पाषाण पर पैर रखना मात्र ही करके उस पार चला जाता है, ऐसे ही पूर्व-कृत्य को किया हुआ भिक्षु नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को समापन्न होकर ही पीछे चित्त-रहित होकर निरोध का स्पर्श करके विहरता है।

ऐसे समापन्न हुई (निरोध) समापत्ति की काल-परिच्छेद के अनुसार और बीच में आयु-क्षय, संघ की बुलाहट तथा शास्ता की पुकार के अनुसार स्थिति होती है।

अनागामी का अनागामी-फल की उत्पत्ति और अर्हत् का अर्हत्-फल की उत्पत्ति से इसका उत्थान होता है। ऐसे दो प्रकार से उत्थान होता है।

उठे हुए का चित्त निर्वाण की ओर झुका होता है। यह कहा गया है—"आवुस विशाख ! संज्ञा-वेदयित-निरोध समापत्ति से उठे हुए भिक्षु का चित्त विवेक (= एकान्त चिन्तन) की ओर झुका हुआ, नमा हुआ······होता है[1]।"

'मृत और समापन्न में कौन-सा अन्तर है ?' यह बात भी सूत्र में कही गई ही है। जैसे कहा है—"आवुस ! यह जो मरा हुआ, काल-कृत है, उसके काय-संस्कार निरुद्ध हो गये हैं, शान्त हो गये हैं, वाक्-संस्कार···चित्त-संस्कार निरुद्ध हो गये हैं, शान्त हो गये हैं, आयु क्षीण हो गई है, उष्मा शान्त हो गई है, इन्द्रियाँ उच्छिन्न हो गई हैं। जो वह संज्ञा-वेदयित-निरोध में अवस्थित भिक्षु है, उसके भी काय-संस्कार निरुद्ध हो गये हैं, शान्त हो गये हैं काय-संस्कार···वाक्-

१. मज्झिम नि० १, ५, ४।

संस्कार''चित्त-संस्कार निरुद्ध हो गये हैं, शान्त हो गये हैं, किन्तु आयु क्षीण नहीं है, उष्मा शान्त नहीं है, इन्द्रियाँ निर्मल होती हैं[1]।"

निरोध-समापत्ति क्या संस्कृत है ? असंस्कृत है ? आदि प्रश्नों में संस्कृत भी, अ-संस्कृत भी, लौकिक भी, लोकोत्तर भी नहीं कहनी चाहिये। क्यों ? स्वभावतः नहीं होने से। चूँकि वह समापन्न होनेवाले के अनुसार समापन्न होती है, इसलिये निष्पन्न कही जा सकती है, अनिष्पन्न नहीं।

इति सन्तं समापत्तिं इमं अरियसेवितं।
दिट्ठेव धम्मे निब्बानमिति सङ्खं उपागतं।
भावेत्वा अरियं पञ्ञं समापज्जन्ति पण्डिता॥
यस्मा तस्मा इमिस्सापि समापत्तिसमत्थता।
अरियमग्गेसु पञ्ञाय आनिसंसोति वुच्चती' ति॥

[इस प्रकार इस आर्यों द्वारा सेवित, दृष्ट-धर्म में 'निर्वाण' कहलाने वाली शान्त समापत्ति की, चूँकि भावना करके आर्य-प्रज्ञा को पण्डित प्राप्त करते हैं, इसलिये इस समापत्ति के सामर्थ्य को भी आर्य-मार्गों में प्रज्ञा का आनृशंस कहा जाता है।]

(४) आह्वान करने के योग्य होने आदि की सिद्धि

न केवल निरोध-समापत्ति के समापन्न होने के सामर्थ्य को ही, प्रत्युत इस आह्वान करने के योग्य होने आदि की सिद्धि को भी इस लोकोत्तर प्रज्ञा-भावना का आनृशंस जानना चाहिये। साधारणतः चार प्रकार की भी इसकी भावना करने से, प्रज्ञा की भावना किया हुआ व्यक्ति देवताओं के साथ लोक का आह्वान करने के योग्य होता है, पाहुन बनाने के योग्य होता है, दान देने के योग्य होता है, हाथ जोड़ने के योग्य होता है और लोक के लिये पुण्य बोने का सर्वोत्तम क्षेत्र होता है।

विशेषतः प्रथम मार्ग की प्रज्ञा की भावना करके मन्द विपश्यना से आया हुआ मुदित-इन्द्रिय वाला भी 'सत्तक्खत्तुपरम' होता है। सात सुगति-भव में घूमकर दुःख का अन्त करता है। मध्यम विपश्यना से आया हुआ मध्यम-इन्द्रिय वाला 'कोलंकोल' होता है। वह दो या तीन कुलों में घूमकर दुःख का अन्त करता है। तीक्ष्ण विपश्यना से आया हुआ तीक्ष्ण-इन्द्रिय वाला 'एकबीजी' होता है। एक ही मानुष-भव में उत्पन्न होकर दुःख का अन्त करता है।

द्वितीय-मार्ग की प्रज्ञा की भावना करके सकृदागामी होता है। एक बार ही इस लोक में आकर दुःख का अन्त करता है।

तृतीय-मार्ग की प्रज्ञा की भावना करके अनागामी होता है। वह इन्द्रियों की विशेषता के अनुसार (१) अन्तरा परिनिब्बायी (२) उपहच्च परिनिब्बायी (३) असंखार परिनिब्बायी (४) ससंखार परिनिब्बायी और (५) उद्धंसोतो अकनिट्ठगामी—इस लोक को छोड़कर पाँच प्रकार से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

---

१. मज्झिम नि० १, ५, ३।

अन्तरा-परिनिब्बायी शुद्धावास-भव में जहाँ कहीं उत्पन्न होकर आयु के मध्य भाग को बिना पाये हुए ही परिनिर्वृत हो जाता है।

उपहच्च परिनिब्बायी आयु के मध्य भाग को बिताकर परिनिर्वृत होता है।

असङ्खार परिनिब्बायी अ-संस्कार = अ-प्रयोग[1] से ऊपर वाले मार्गों को उत्पन्न करता है।

ससङ्खार परिनिब्बायी स-संस्कार = स-प्रयोग से ऊपर वाले मार्गों को उत्पन्न करता है।

उद्धंसोतो-अकनिट्ठगामी (= ऊर्ध्व स्रोत-अकनिष्ठगामी) जहाँ उत्पन्न होता है, वहाँ से ऊपर अकनिष्ठ-भव तक जाकर वहाँ परिनिर्वृत होता है।

चतुर्थ-मार्ग की प्रज्ञा की भावना करके कोई (१) **श्रद्धा-विमुक्त** होता है, (२) कोई **प्रज्ञा-विमुक्त** होता है, (३) कोई **उभय-भाग-विमुक्त** होता है, (४) कोई **त्रैविद्य** होता है, (५) कोई **षड्भिज्ञ** होता है और (६) कोई प्रतिसम्भिदा के प्रभेदों को प्राप्त **महाक्षीणाश्रव** होता है, जिसके प्रति कहा गया है—"मार्ग के क्षण यह उस जटा को काटता है। फल के क्षण कटी हुई जटा वाला हो, देवताओं के साथ (सारे-) लोक का अग्र-दाक्षिणेय होता है[2]।"

एवं अनेकानिसंसा अरियपञ्ञाय भावना।
यस्मा तस्मा करेय्याथ रतिं तत्थ विचक्खणो॥

[ऐसे अनेक आनृशंस वाली चूँकि आर्य-प्रज्ञा की भावना है, इसलिये बुद्धिमान् (भिक्षु) उसमें अभिरुचि करे।]

यहाँ तक—

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो,
चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु,
सो इमं विजटये जटं॥

इस गाथा द्वारा शील, समाधि और प्रज्ञा के अनुसार कहे गये विशुद्धिमार्ग में आनृशंस के साथ प्रज्ञा-भावना प्रकाशित है।

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धि मार्ग में प्रज्ञा-भावना
के भाग में प्रज्ञा-भावना का आनृशंस निर्देश
नामक तेईसवाँ परिच्छेद समाप्त।

निगमन

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो,
चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु,
सो इमं विजटये जटं॥

---

१. बिना किसी सहायता से।

२. देखिये, पहला भाग, पृष्ठ ३।

इस गाथा को कह कर जो हमने कहा—

"अब महर्षि द्वारा कही गई इस गाथा का-
शील आदि के भेदों से ठीक-ठीक अर्थ बताते हुए,
बुद्ध-धर्म में अत्यन्त दुर्लभ प्रव्रज्या को पाकर,
विशुद्धि के लिये कल्याणकर, सीधे मार्ग, शील आदि के संग्रह को-
ठीक-ठीक नहीं जानते हुए शुद्धि को चाहने वाले भी योगी,
बहुत उद्योग करते हुए, उसे नहीं पाते हैं।
उनको प्रसन्न करने वाले, बिल्कुल परिशुद्ध-
महाविहारवासी (भिक्षु लोगों) के विनिश्चय के साथ,
देशना के न्यायों के आश्रित विशुद्धिमार्ग को कहूँगा।
उस मेरे सत्कार पूर्वक कहते हुए को विशुद्धि चाहने वाले,
सभी साधु-जन आदर के साथ सुनें॥"

वह कह दिया गया। वहाँ—

"उन शील आदि के भेदों के अर्थों का जो विनिश्चय,
पाँचों भी निकायों की अट्ठकथाओं में कहा गया है।
प्रायः उस सब विनिश्चय को लाकर,
सब शंकर-दोषों से रहित चूँकि प्रकाशित किया गया है।
इसलिये विशुद्धि को चाहने वाले शुद्ध-प्रज्ञ योगियों को,
इस विशुद्धिमार्ग का आदर करना चाहिये॥"

"विभक्त करके कहने वाले श्रेष्ठ यशस्वी स्थविरवादी-
महाविहार-वासी (भिक्षु लोगों) के वंशज-
पवित्रता और संलेख-वृत्ति वाले, विनय के आचार से युक्त,
और प्रतिपत्ति में लगे हुए, क्षान्ति, सुहृदयता, मैत्री आदि गुणों से विभूषित-
चित्त वाले, विद्वान् भदन्त संघपाल की आज्ञा को मानकर,
सद्धर्म की (चिर-) स्थिति चाहते हुए, मुझे इसके लिखने से,
जो पूर्ण संचय हुआ है, उसके प्रताप से सारे प्राणी सुखी हों॥"

"यह विशुद्धिमार्ग यहाँ बिना विघ्न के-
जैसे अनठावन भाणवार-पालि में समाप्त हो गया है।
वैसे ही लोक के सारे कल्याण-युक्त-
मनोरथ बिना विघ्न के शीघ्र से शीघ्र पूर्ण हों॥"

प्रणिधि[1]

"इससे जो पुण्य सिद्ध हुआ है और जो मैंने अन्य पुण्य किया है,
इस पुण्य-कर्म से दूसरे जन्म में-
शील और आचार के गुणों में लगे हुए तावतिंस में प्रमोद करते,
पाँच काम (भोगों) में नहीं लगते हुए प्रथम फल को पाकर,

---

१. यह पाठ केवल सिंहल के ही ग्रन्थों में मिलता है।

अन्तिम जन्म में सब प्राणियों के हित में लगे हुए-
मुनियों में श्रेष्ठ लोक के अग्र व्यक्ति भगवान् मैत्रेय को-
देखकर, और उस धीर के सद्धर्मोपदेश को सुनकर,
अग्र-फल को प्राप्त कर बुद्ध-शासन में सुशोभित होऊँ ।।"

ताव तिट्ठतु लोकस्मिं लोकनित्थरणेसिनं ।
दस्सेन्तो कुलपुत्तानं नयं सीलविसुद्धिया ।।
याव बुद्धोति नामम्पि सुद्धचित्तस्स तादिनो ।
लोकम्हि लोकजेट्ठस्स पवत्तति महेसिनो'ति ।।

[लोक में लोक के निस्तार की गवेषणा करने वाले कुलपुत्रों को शील-विशुद्धि के न्याय को दिखलाते हुए, यह विशुद्धिमार्ग ग्रन्थ तब तक रहे, जब तक शुद्ध चित्त वाले और इष्टानिष्ट में समान रहने वाले, लोक के ज्येष्ठ महर्षि का "बुद्ध" नाम भी लोक में प्रवर्तित हो ।]

।। इति ।।

विशुद्धिमार्ग समाप्त ।

परिशिष्ट

१. उपमा-सूची

२. कथा-सूची

३. ग्रन्थ-सूची

४. नाम-अनुक्रमणी

शब्द-अनुक्रमणी

इ

ई

उ

छ

द

ध

म

श

ह